ज़ाकिर हुसैन

अध्यापक जो राष्ट्रपति पद पर हुआ आसीन

ज़ाकिर हुसैन

अध्यापक जो राष्ट्रपति पद पर हुआ आसीन

संपादक

सैयदा सैय्यदैन हमीद

सहसंपादक

प्रो. मुजीब रिज़वी

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

हर-आनंद प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

नई दिल्ली

आभार प्रकाशन

यह पुस्तक उन अनेक सज्जनों के अथक परिश्रम का फल है जिन्होंने मिलजुल कर डा. ज़ाकिर हुसैन के जीवन की एक ज्वलंत झांकी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । सभी लेखकों ने, जिन्होंने अपने लेखों द्वारा इसमें अपना योगदान दिया है, इस आशा से उत्कृष्ट प्रयास किया है कि डा. ज़ाकिर हुसैन की थाथी के वह तत्व प्रकाशित हो जाएं जिन्हें भावी पीढ़ियाँ समकालिक जीवन के विकराल यथार्थ से जूझने में काम में ला सकें । इसमें अपना बहुमूल्य समय लगाने के लिये मैं उन सबके प्रति आभार प्रकट करती हूँ । मैं कर्नाटक के राज्यपाल श्री ख़ुरशीद आलम खाँ की अत्यधिक आभारी हूँ जिन्होंने इस योजना के प्रारंभिक चरण से ही इसमें व्यक्तिगत रूप से दिल्चस्पी ली है और अनेक समस्याओं से घिरी इस योजना को समस्त बाधाओं से भली-भांति निपटने और इसके समापन को निश्चित बनाने में अत्यधिक सहायता की है ।

सम्पादक मंडल के अध्यक्ष श्री शार्दा प्रसाद और मंडल के अन्य सदस्यों की मैं आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन और सफल समापन में अविरत रूचि ली है । यही तो ज़ाकिर साहब को उनकी श्रद्धांजलि है ।

अनेक विद्वानों, लेखकों ने अनुवाद करने और प्रूफ़शोधन और अन्य दूसरे तरीक़ों से इस पुस्तक की तैयारी के दौरान सहायता प्रदान की है । मैं उन सबकी और विशेष रूप से डा. सुग़रा मेहदी, डा. नैयर जहाँ और समीना मिश्रा की आभारी हूँ ।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद ने इस योजना का कुशलतापूर्वक प्रायोजन किया जिसका उद्देश्य डा. ज़ाकिर हुसैन जन्म शताब्दी समारोह को रेखांकित करना था । अनेक कारणों से इसके प्रकाशन में विलंब हुआ । फिर भी देरी ने इसकी प्रासंगिकता को कदापि कम नहीं किया क्योंकि विचार कालजयी होते हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी अपने शक्तिशाली प्रभाव प्रसारित करते हैं । इस संबंध में भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद के महानिदेशक श्री हिमाचल सोम् के प्रयत्न सराहनीय हैं ।

मित्रों ने आद्योपांत मेरी सहायता की है : प्रो. शकील अख़्तर फ़ारूक़ी ने अपने पिता के चित्रों के संकलन को सहर्ष उपलब्ध कराया है । श्रीमती रेहाना मिश्रा ने (डा. ज़ाकिर हुसैन की नातन) समस्त पारिवारिक चित्र अल्बम और अभिलेखीय सामग्री मुझे दी है । श्री ए.एस. भसीन ने मुझे प्रोत्साहित किया है और इस परियोजना के कठिन अवसरों पर मुझे सावधानी से कार्य करते रहने पर उत्सुक किया है । श्री ओ.पी. शर्मा ने चित्रों को

तैयार करने और उनकी सज्जा में अपनी कलात्मकता, विधिवत्ता और तत्परता का प्रदर्शन किया है ।

इस परियोजना को पूर्ण कराने में प्रकाशक हस्आनंद का बहुत योगदान है जिसके लिए मैं उनके प्रति आभार प्रकट करती हूँ । भारत के उपराष्ट्रपति और भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद के अध्यक्ष श्री कृष्ण कांत की मैं इस योजना से उनकी व्यक्तिगत प्रतिबद्धता के लिये कृतज्ञ हूँ ।

इन महानुभावों के अतिरिक्त अनेक व्यक्ति हैं जो सशरीर तो उपस्थित नहीं रहे किन्तु जिन्होंने इस कार्य को प्रभावित अवश्य किया है । शारीरिक रूप से अनुपस्थिति की क्षतिपूर्ति उनकी प्रेरणाशक्ति ने पर्याप्त मात्र में की है । यह है ज़ाकिर साहब के तीन आजीवन मित्र, सहकर्मी और सहचर - ख़्वाजा ग़ुलामुस्सैय्यदैन, डा. आबिद हुसैन और सालेहा आबिद हुसैन । मेरे जीवन को इनका गहन प्रभाव उन सारे दिनों और रातों में उत्प्रेरित करता रहा है जो मैंने इस पुस्तक के निर्माण में लगाए हैं ।

राष्ट्रपति
भारत गणतंत्र
PRESIDENT
REPUBLIC OF INDIA

भूमिका

डॉक्टर ज़ाकिर हुसैन न केवल भारतीय गणतंत्र के राष्ट्रपति थे बल्कि वह हिन्दुस्तानी समविंत संस्कृति के अद्वितीय नमूना भी थे। वह ऐसे मनुष्य थे जिसके व्यक्तित्व में इस्लामी परंपराएँ और इस्लाम के आध्यात्मिक मूल्य समाहित थे। परंतु इसी के साथ उनका दृष्टिकोण अर्वाचीन और धर्मनिरपेक्ष था। वह विद्वान थे किन्तु अपने ज्ञान और विद्वता को प्रदर्शित करना पसंद नहीं करते थे। इसीलिए देश का जब उच्चतम सम्मान उन्हें प्राप्त हुआ तो उसे अत्यंत नम्रतापूर्वक किंतु सगरिमा उन्होंने स्वीकार किया। ज़ाकिर साहिब पहले राज्यपाल बने, पुन: उन्हें गणतंत्र का उपराष्ट्रपति नियुक्त किया गया और अंततोगत्वा वह भारतीय गणतंत्र के राष्ट्रपति पद पर पदासीन हुए। विचारणीय बात यह है कि वह इन पदों पर राजनीति के माध्यम से नहीं, शिक्षा के मार्ग से पहुँचे थे। एक ऐसे शिक्षक और शिक्षाविद के रूप में वह इस उच्च शिखर तक पहुँचे जिसने अपना संपूर्ण जीवन शिक्षा प्रसार के लिए समर्पित कर दिया था। यही कारण है कि राष्ट्रपति के पद और गोपनीयता के शपथ ग्रहण समारोह के तत्पश्चात् दिए गए अपने प्रथम भाषण में उन्होंने कहा था: ''मुझे आशा है कि आप सब सज्जन मुझे क्षमा करेंगे यदि मैं कहूँ कि इस पद के लिए मेरा चयन कुछ हद तक ही नहीं संपूर्णतया इसलिए किया गया है कि मैं दीर्घकाल से भारतवासियों की शिक्षा के कार्य में रत रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि शिक्षा वह शस्त्र है जिसे हम राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति में उपयुक्त कर सकते हैं। हमारे देश का शैक्षणिक स्तर ही हमारे राष्ट्रीय स्तर का निर्धारण करेगा।''

डॉक्टर ज़ाकिर हुसैन असाधारण प्रतिभासंपन्न शिक्षक और शिक्षाविशारद थे। गाँधी जी के असहयोग आंदोलन के प्रभावाधीन उन्होंने स्वयं को जामिया मिल्लिया इस्लामिया से संबद्ध कर लिया था। इस संस्था के संबंध में पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कहा था: ''जामिया असहयोग आंदोलन का स्वस्थ और चौंचाल बच्चा है।''

जामिया से स्वयं को सम्बद्ध करने के अपने निर्णय के बारे में ज़ाकिर साहिब कहा करते थे कि ''वह मेरे जीवन का प्रथम और अंतिम निर्णय था जो मैंने सविवेक किया था। यही मेरे जीवन की आधारशिला है जिस पर जीवनरूपी भवन का निर्माण हुआ है।'' ज़ाकिर साहिब बारम्बार इस बात को दुहराते रहे और इस पर उनको पूर्ण विश्वास था ''कि हमारे राष्ट्रीय पुनरुत्थान के आगमन के लिए राजनीति के संकीर्ण द्वारों की नहीं बल्कि शिक्षा के विस्तृत और खुले हुए दरवाज़ों की आवश्यकता है।''

ज़ाकिर साहिब की शैक्षणिक अवधारणाओं का आधार था जर्मन शिक्षा का आदर्श। वह गाँधीजी के विचारों से भी प्रभावित थे। 1937 में राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन में उन्होंने गाँधीजी द्वारा प्रस्तावित उस शिक्षा योजना पर टिप्पणी की थी जिसमें हाथ के काम को केन्द्रीय स्थान दिया गया था। गाँधी जी उनकी शैक्षणिक सूझ-बूझ के बहुत प्रशंसक थे। इसीलिए उन्होंने ज़ाकिर साहिब को वर्धा शिक्षा योजना की पाठयक्रम सम्बंधी समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया था। राष्ट्रीय शिक्षा को सुयोजित करने में डा. ज़ाकिर हुसैन ने जो भूमिका निभाई है उसकी गाँधी जी ने खुले दिल से न केवल सराहना की बल्कि यहाँ तक कहा कि "यदि ज़ाकिर हुसैन न होते तो शायद मुझे अपनी शिक्षा योजना को त्यागना पड़ता।"

ज़ाकिर साहिब ने बुनियादी शिक्षा को जामिया में कार्यान्वित किया। गाँधी जी और पंडित नेहरू के अतिरिक्त अन्य राष्ट्रीय नेताओं ने भी जामिया में बुनियादी शिक्षा के सफल प्रयोगों को सराहा। गाँधीजी का जामिया से कितना निकट सम्बन्ध था इसका अनुमान उनकी इस बात से लगाया जा सकता है: "मैं जब जामिया आता हूँ, मुझे लगता है मैं अपने घर आया हूँ।" जामिया गम्भीर आर्थिक संकटों का सामना कर रही थी और सोचा जा रहा था कि इसे बंद कर दिया जाए। तब गाँधी जी ने कहा था: "जामिया बंद मत करो, मैं इसके लिए देश से भीख मांगूँगा।"

जामिया मिल्लिया इस्लामिया एक ऐसा सजीव और ऐतिहासिक संस्थान है जो ज़ाकिर साहिब के शैक्षणिक सजीव विवेक का उदाहरण है। एक बात और बताना चाहता हूँ कि डा. साहब नारी शिक्षा के समर्थक थे और कहा करते थे कि "नारी शिक्षा की समस्या का समाधान मेरी हार्दिक इच्छा है।" ज़ाकिर साहिब इस बात से अत्यंत खिन्नमन थे कि मुसलमान शिक्षा की ओर ध्यान नहीं देते और यह शिक्षा आंदोलन जिसे सर सैय्यद अहमद खाँ ने आरंभ किया था उसके तहत शिक्षा केवल मुसलमानों के एक विशेष वर्ग तक सीमित रह गयी। एक बार उन्होंने राज्य सभा में कहा था: "शिक्षा जनतांत्रिक देश की सांस है। शिक्षा ही हमें भविष्य की समन्वित कल्पना दे सकती है जिसकी प्राप्ति के लिए हम प्रयत्नशील हैं।" यह एक आश्चर्यजनक बात है कि महात्मा गाँधी, पं. नेहरू, ज़ाकिर साहिब व अन्य समाज सुधारक वर्षों से निरंतर शिक्षा की महत्ता पर बल देते रहे हैं किन्तु आज भी हम संसार की तुलना में शिक्षा के क्षेत्र में बहुत पीछे हैं। इसीलिए यदि हम सब तन-मन-धन से शिक्षा प्रसार में संलग्न हो जाएं तो यह ज़ाकिर साहिब को याद करने का सबसे उत्कृष्ट ढंग होगा और यही उनके लिए हमारी भावभीनी श्रद्धांजली होगी।"

आज जब विश्व बहुत तीव्र गति से परिवर्तित हो रहा है, उसमें नित्य नवीन तबदीलियाँ आ रही हैं, विचारों और अवधारणाओं में परिवर्तन हो रहा है तो भी ज़ाकिर साहिब का चिंतन और उनकी अवधारणाएँ आज भी उतनी ही उपयोगी हैं जितनी कि उनके समय में थीं। नवीन सिद्धान्तों और पद्धतियों के दार्शनिक कह रहे हैं कि अब तक जो नसली द्वन्द्व

है वह सभ्यताओं के द्वन्द्व में परिवर्तित होता जा रहा है । ऐसा होना अनिवार्य है । परन्तु ज़ाकिर साहिब का कहना था कि "संस्कृतियाँ नहीं टकरातीं, मनुष्यों की दानवता टकराती है और यह टकराव, यह द्वन्द्व, कभी भी उत्पन्न न हो यदि लोग अपने भीतर की पशुता पर नियत्रंण कर लें और मिलजुल कर रहें । अपने सांस्कृतिक मूल्यों को आपस में लेन देन करें ।"

प्रो. सैमुवल इनकटिंकटन के "संस्कृतियां के द्वन्द्व" के सिद्धान्त का यह मुंह तोड़ जवाब है जो ज़ाकिर साहिब ने बहुत पहले दिया था ।

ज़ाकिर साहिब एक सुसभ्य और उचित अर्थों में एक अच्छे इंसान थे । इसीलिए संभवत: गाँधी जी ने जामिया के रजत जयन्ती समारोह के अवसर पर कहा था: "एक अच्छे इंसान की अच्छाई ही उसकी वास्तविक जुबली है ।"

ज़ाकिर साहिब जीवन की सुन्दर वस्तुओं से उल्लासित होते थे । गुलाबों का वह उद्यान, जो उन्होंने, 6, मौलाना आज़ाद रोड वाले अपने निवास स्थान में लगाया था, को देखकर आज भी एक विलक्षण हर्ष का आभास होता है । उन्होंने राष्ट्र को जो मानवीय मूल्य प्रदान किए हैं वह बहुत मूल्यवान हैं । डा. ज़ाकिर हुसैन ने 1960 में मावलंकर स्मारक लेकचर में अभिभाषण करते हुए जो शब्द कहे थे उन्हीं पर मैं अपनी बात समाप्त करूँगा । यह वह बातें हैं जिनकी अनदेखी करना विनाश को निमंत्रण देना है । उन्होंने कहा था: "आज कल राजनीतिज्ञ और लोक सेवा के सदस्य चर्चा का विशेष रुप से विषय बने हुए हैं और इनके सम्बंध में जो बातें कही जाती हैं वह बहुत अच्छी नहीं हैं । एक तरफ़ तो मेरा यह विचार है कि इनकी जो छबि हम प्रस्तुत करते हैं उसमें कुछ अधिक मात्रा में ही चोखे रंग भर देते हैं । दूसरी ओर मैं यह भी सोचता हूँ कि इन लोगों का अपने कर्तव्यों के पालन में जो लापरवाही का रवैय्या है उसे इन्हें बदलना चाहिए । अनुचित बातों की अनदेखी करना, और फिर उनके लिए नाना प्रकार के कारण खोजना, और पुन: उनके विरुद्ध क्रियाशील होना, यह उचित दृष्टिकोण नहीं है । कभी कभी तो स्थिति ऐसी होती है कि उससे इन्हें व्याकुल होना चाहिए और तुरंत ही उसका समाधान करना चाहिए । यह हमारा नैतिक दायित्व है ।"

के.आर. नारायणन
(राष्ट्रपति)

वंशवृक्ष

हुसैन ख़ाँ
अहमद हुसैन
मुहम्मद हुसैन
ग़ुलाम हुसैन
अता हुसैन
फ़िदा हुसैन
मुज़फ़्फ़र हुसैन
आबिद हुसैन
ज़ाकिर हुसैन
ज़ाहिद हुसैन
यूसुफ़ हुसैन
जाफ़र हुसैन
महमूद हुसैन
ख़दीजा बेगम
इम्तियाज़ हुसैन
मसऊद हुसैन
राशिदा
अजमल हुसैन
मेहरू
सफ़िया
सईदा
अनवर हुसैन

अनुक्रम

प्राक्कथन

अंग्रेज़ों की दीर्घकालीन दासता से जब भारत स्वतंत्र हुआ तो उस समय यहाँ पंडित जवाहर लाल नेहरू, मौलाना अबुलकलाम आज़ाद, वल्लभभाई पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, डॉक्टर अम्बेडकर जैसे मूर्धन्य नेता विद्यमान थे। यह अत्यंत प्रतिभाशाली और गुण संपन्न व्यक्ति थे। शिक्षा के क्षेत्र में इनके निकट सहयोगी डा. राधाकृष्णन और डा. ज़ाकिर हुसैन जैसे महान शिक्षाविद् भी उपस्थित थे। इन के अतिरिक्त और बहुत से सक्षम और उच्च गुण संपन्न विभूतियाँ भी देश सेवा के लिए मौजूद थीं। डा. राधाकृष्णन और डा. ज़ाकिर हुसैन ने कालांतर में देश की सत्ता के चरमशिखर बिंदु राष्ट्रपति पद पर आसीन होकर इस पद की गरिमा बढ़ाई। फिर भी इसके बावजूद हम भारत से निरक्षरता, भुखमरी और रोगों को उस सीमा तक दूर नहीं कर सके जिस हद तक कुछ अन्य देशों ने इन्हें दूर करने में सफलता प्राप्त कर ली। इन महान नेताओं के सभी जीवनी लेखकों ने इन के संबंध में लिखा है कि दीर्घकाल तक उच्च पदों को शोभायमान करते रहने और वैभवशाली कारनामे निष्पन्न करने के बावजूद अपने जीवन के अंतिम दिनों में यह निराशा से पीड़ित और कुंठित से प्रतीत होते हैं। इसका कारण यह था कि यह उन कार्यों को उस प्रकार पूर्ण न कर सके जैसा वह चाहते थे। शेक्सपियर ने हेमलेट में लिखा है कि "डेंमार्क के राज्य में सब कुछ ठीक नहीं था।" इन के मन में भी क्षोभ था कि भारत में सब कुछ ठीक नहीं है। एस.एस. गिल पंडित नेहरू की मानसिक पीड़ा का उल्लेख करते हुए लिखते हैं: "एक संवेदनशील सुसभ्य और एकांतप्रिय मनुष्य राष्ट्रीय जीवन के आवर्तन में अपने स्वभाव के अनुकूल नहीं था। यदि लक्ष्य इतना महान न होता-देश को स्वतंत्र कराना-तो वह इस आंदोलन में संमिलित न होते। राजनीति की ओर उन का झुकाव नहीं था। परंतु परिस्थितिवश यह उनका भाग्य बन गया।"

सरदार पटेल के संबंध में उनके जीवनी लेखक राजमोहन गाँधी ने लिखा है कि मणि बहन का कहना था कि अंतिम दिनों में अकबर इलाहाबादी की यह पंक्ति बार-बार उच्चरित करते थे:

"ज़िंदगी का यह तमाशा चंद रोज़"

उन का जीवन राजनैतिक संघर्षों से परिपूर्ण था। इसमें किसी अन्य प्रकार की अभिरूचि के लिए कोई स्थान ही नहीं था-ईश्वर के लिए और न ही मनुष्य के लिए। वह जब देह बंधन से मुक्त हुए तो न उन्होंने कोई मधुर संगीत सुना, न कोई पुस्तक खोली।

राज गोपालाचार्य के नाती इन के संबंध में लिखते है कि "जब उनके विचार पलटा खाते और वह भारत की प्रशासन व्यवस्था पर केन्द्रित होते तो विचित्र प्रकार की बेज़ारी (अवसाद) का भाव उन की मुखमुद्रा को आच्छादित कर लेते। जब वह घृणात्मक राजनैतिक कार्यव्यापार और उच्च श्रेणी के व्यक्तियों में भ्रष्टाचार को फैलते देखते तो कुंठाग्रस्त हो जाते।"

मौलाना आज़ाद के बारे में उन के जीवनीकार ने लिखा है कि "वह इस काल (1947-1958) में निरंतर अवसाद भाव से ग्रस्त रहते थे क्योंकि उन्हें उस हिन्दुस्तान में रहना पड़ रहा था जो उनके उन स्वप्नों के अनुरूप नहीं था, जो उन्होंने अपने देश के लिए देखे थे, यह अधूरे रह गए थे, जिन उद्देश्यों का आजीवन उन्होंने पोषण किया उन्हें एतिहासिक प्रक्रिया ने मिट्टी में मिला दिया था।"

ज़ाकिर साहिब के निकटवर्ती मित्र और सहकर्मी प्रो. मुहम्मद मुजीब ने उनके शैक्षणिक आदर्श और अवधारणाओं के संबंध में लिखा है कि "ज़ाकिर साहिब की त्रासदी यह थी कि अध्यापक के रूप में जो कार्मिक शक्ति थी वह उन्हें हर क्षण कर्मरत रहने पर उकसाती थी किन्तु परिवेश से उन्हें उसके अनुकूल सहायता नहीं मिल पाई। उनमें योजना बनाने की और परिस्थितियों का ठीक-ठीक अनुमान लगाकर उसके अनुसार क़दम उठाने की असाधारण क्षमता थी। वह एक कार्यपद्धति निर्धारित करते और समुत्साहपूर्ण उस कार्य के करने में व्यस्त हो जाते। जामिया में उन के साथ काम करने वाले भी यह सोचते थे कि इनकी तरह काम करना और इन्हें संतुष्ट करना संभव नहीं और वादविवाद द्वारा उनको अपने मत से सहमत कराना सरल नहीं है। इसलिए वह जो काम देते उसे यह लोग बेदिली से करते और साथ साथ उन कठिनाइयों को उनके सम्मुख प्रस्तुत करते रहते जो साधारणत: वास्तविकता पर आधारित होतीं और कभी अपनी त्रुटियों को छिपाने का एक बहाना होतीं। जामिया के अनुपातत: सीमित परिवेश से बाहर कम ऐसे लोग उन्हें मिले जो उनके संकल्पों को समझते और उनका साथ देते। इसलिए उनकी कर्मणाशक्ति को जैसे जैसे प्रत्यक्षत: निश्चिंता के अवसर प्राप्त हुए उनका विषाद बढ़ता गया।" मुहम्मद मुजीब की बौद्धिक ईमानदारी पर संदेह करना संभव नहीं है। उन्होंने ज़ाकिर साहिब के व्यक्तित्व का यह अत्यंत समुचित विश्लेषण किया है। ज़ाकिर साहिब के जीवन वृत्तांत और जामिया से बाहर व्यतीत तीस वर्षों की घटनाओं से तो यह दृष्टिकोण पूर्णतया प्रमाणित होता है। इस विश्लेषण और उपरोक्त विभूतियों के बारे में उनके जीवनी लेखकों ने जो विश्लेषण किया है उनमें अत्याधिक समानता है। यह सब वह लोग थे जिन्हें सार्वजनिक जीवन में यश प्राप्त हुआ। इनके कारनामों की सराहना हुई किन्तु वैयक्तिक जीवन में यह सब अंत में संतप्त रहे। इनको अनुपलब्धि का एहसास रहा और यही इन सब की त्रासदी है। यह इन सब की जीवन लीला की दुखांतिका है।

डा. ज़ाकिर हुसैन ने 1959 ई. में जब वह बिहार के राज्यपाल थे अब्दुलमाजिद

दरियाबादी के अनुरोध पर लिखे गए अपने पत्र में 1947 की चर्चा सविस्तार की है जब वह लुधियाना स्टेशन पर दंगाइयों के हाथों मारे जाते यदि उनके पुराने परिचित कुंदन लाल कपूर के कहने पर एक सैनिक पदाधिकारी ने उन्हें बचा न लिया होता । उस समय वह बाल बाल बचे । वास्तविकता यह है कि यदि मौत से मनुष्य बच भी जाए किंतु उस संताप से वह नहीं बच सकता जो उसे अपनी अवधारणाओं और अपने लक्ष्यों को धूलिधूसरित होते देखकर होता है ।

अपने इसी पत्र में उन्होंने लिखा था कि ''अपनी जान बचने पर नहीं कह सकता कि खुश हूँ कि शर्मिंदा (लज्जित) । दुबारा यह नेमत दी गई और उससे कुछ काम न लिया, इस पर नदामत (लज्जा) ही ज़्यादा है । दुआ फ़रमाइये (प्रार्थना कीजिए) कि जो बाक़ी (शेष) है वह ठीक कटे और खात्मा (अंत) बिलख़ैर (शुभ) हो ।''

पराजय का यही भाव उनकी कुछ अन्य रचनाओं और पत्रों में भी परिलक्षित होता है । केवल एक आशा की किरण जो प्रत्येक स्थिति में उनके संग रही वह एक अध्यापक की आशा थी ।

नवम्बर 1962 ई. में कश्मीर विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए उपदेश दिया कि वह राजतंत्र की विचारधारा और आक्रमणशील राष्ट्रीयता से अपने को पृथक रखें । सभ्य जीवन व्यतीत करने के लिए कम से कम उन्हें यह प्रयत्न करना चाहिए कि देश से गरीबी, वंचना, निरक्षरता, और रोग दूर हों । महात्मा गाँधी के जन्मदिवस 2 अक्टूबर 1967 ई. को उन्होंने मृदुल और सुसंस्कृत ढंग से इस बात की कमी की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया कि अस्पर्शता समाप्त करने के लिए भारत में जितना प्रयास होना चाहिए था वह नहीं हो पाया । इसी प्रकार शराबबंदी, पारस्पारिक फूट, अव्यवस्था और स्त्री-पुरुष के बीच भेदभाव में अधिक कमी नहीं हुई । उन्होंने कहा कि इसका दायित्व केवल सरकार पर नहीं बल्कि स्वंय देशवासियों पर है ।

इस ग्रंथ में उनके इसी प्रकार के भाषणों का चयन संमिलित किया गया है और इस बात की कोशिश की गई है कि जाकिर साहिब को उनके भाषणों और उनकी रचनाओं के दर्पण में एक नवीन दृष्टि से देखा जाए । इसीलिए इस विचार के अनुकूल इस पुस्तक का नामकरण ''अध्यापक और राष्ट्रपति'' किया गया है ।

यह मेरा सौभाग्य है कि अपने बचपन से ही मैं डॉक्टर ज़ाकिर हुसैन को जानती थी । हमारे परिवार में जब कोई महत्वपूर्ण प्रसंग होता तो वह उसमें अवश्य संमिलित होते । हमारे घर वाले उनके इन्द्रजालिक व्यक्तित्व से मंत्रमुग्ध थे । हम बच्चे इस अनुराग की गहराई का अनुमान नहीं लगा सकते थे और आश्चर्यचकित होते थे । हमारे परिवार में यह चलन था कि हर सप्ताह यमुना तट पर स्थित जामिया हम लोग ज़रूर जाते । यह एक उजाड़ बस्ती थी जहाँ न बिजली न पानी। हम बच्चे यहाँ से कन्नी काटते किंतु हमारे माता-पिता हमें ज़बरदस्ती साथ लाते और हम सोचते कि इस उजाड़ बस्ती में आख़िर हम क्या

करेंगे । हम जो कांवेंट में पढ़ते थे उन्हें उसकी तुलना में जामिया का वातावरण बहुत पिछड़ा हुआ, निर्जन सा लगता । जब हमारी कार जामिया के ऊबड़ खाबड़ रास्तों पर धक्के खाती चलती तो हम लोग मुँह बनाते । चारों ओर कीकर के पेड़, भूमि पर बजरी बिछी हुई । दुर्भाग्य यह था कि उस समय यह सोच भी नहीं सकते थे कि हमारे यह विचार कितने खोखले हैं । काश कोई या ज़ाकिर साहिब ही हमें यह एहसास दिलाते कि हम स्वयं ही जंगली हैं कि हमें जामिया ऐसे शिक्षालय की महानता का आभास नहीं है । हम पब्लिक स्कूल की शैक्षणिक मूल्यों के कारण महद्‌भाव ग्रंथि से पीड़ित थे । यह कहना अनुचित न होगा कि हमें इस बात का गर्व था कि हम पब्लिक स्कूल में पढ़ रहे हैं । एक ओर मेरी यह पृष्ठभूमि और दूसरी ओर ज़ाकिर साहिब की महानता और प्रेमभाव का चित्र जो बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों और साधारण जन के मन पर समानरूपेण अंकित है । मैंने उनकी जन्म शताब्दी के अवसर पर इस ग्रंथ के संकलन का कार्य अपनी क्षुद्रता के एहसास के साथ अपने ज़िम्मे लिया । जब मैंने यह कार्य आंरभ किया तो अपने पूर्वजों के विपरीत ज़ाकिर साहिब के व्यक्तित्व और उनकी उपलब्धियों से नितांत अपरिचित थी । परन्तु इन वर्षों में इस कार्य के दौरान मैंने ज़ाकिर साहिब को जितना जाना उसे केवल अंग्रेज़ी के कवि कीट्स के शब्दों में ही कह सकती हूँ:

मैंने तारकदर्शियों के समान आकाश में झाँका तो
एक नवीन तारा मेरी आँखों में घूम रहा था ।

मैं जैसे जैसे ज़ाकिर साहिब की रचनाओं और अभिभाषणों को पढ़ती गई मुझ पर नित्यनवीन वास्तविकताएँ प्रगट होती गईं और उनके मित्रों और साथियों के निबंधों द्वारा मुझ पर उनके तहदार व्यक्तित्व की परतें खुलती गईं और मैं उनके व्यक्तित्व के जादू में खोने लगी । इस तथ्य का उदाहरण प्रो. मुहम्मद मुजीबा के निबंध (एक कोमल हृदय चिंतक और मित्र) का यह उद्धरण है जिससे अनुमान होता है कि ज़ाकिर साहिब का किस प्रकार का प्रभाव लोगों पर पड़ता है । वह यह गुर जानते थे कि कब, कहाँ और किन शब्दों का उपयोग किया जाए जिससे लोग प्रभावित हों और यह प्रभाव दीर्घकाल तक बना रहे ।

मुजीब साहब लिखते हैं कि: "ज़ाकिर साहिब यदि कभी अपने बारे में कोई बात करते भी तो बिल्कुल सरसरी ढंग से । उदाहरणतया उन्होंने यह घटना मुझे इस प्रकार सुनाई कि जैसे कोई रोचक कहानी हो । कहने लगे आप को एक बात बताऊँ । कुछ साल हुए मैं पंजाब विश्वविद्यालय के लिए गुरु गोविंद सिंह पर एक भाषण लिख रहा था कि अकस्मात मुझे आभास हुआ कि कागज़ पर पानी की बूँदें टपक रही हैं । मैं आश्चर्यचकित रह गया। फिर महसूस किया कि यह तो मेरे आँसू हैं । मैंने उन्हें पोंछा और पुन: लिखने लगा । फिर यह विचार आया कि यदि भाषण देते समय भी यही स्थिति उत्पन्न हुई तो मैं क्या करूँगा ।" मैंने पूछा "फिर हुआ क्या ।" मुस्करा कर बोले "हाँ,

हाँ वहाँ भी आँसू निकले । मुझे अटपटा सा लग रहा था । किंतु सोचा कौन देखेगा । परन्तु उपस्थित लोगों पर मैंने नज़र डाली तो देखा कि सब लोग रो रहे थे ।" "अच्छा यह भाषण मुझे दीजिएगा", मैंने कहा । बोले "ज़रूर, मैं अपने सेक्रेटरी से कह दूँगा कि वह आप को भेज दे । किंतु इसमें ऐसी कोई विशेष बात नहीं कि आप इसे पढ़ें ।"

इस स्मारक ग्रंथ को तीन खंडो में विभाजित किया गया है । पहले खंड में ज़ाकिर साहिब के निबंध और भाषण हैं, दूसरे में उनके सुप्रसिद्ध समकालीन व्यक्तियों और साथियों के लेख हैं । तीसरे खंड में सत्ताइस लेख संमिलित हैं जो इस स्मारक ग्रंथ के लिए विशेषरूप से लिखे गए हैं । यह सब प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं जिन्हें ज़ाकिर साहिब से श्रद्धा है और इन्हें ज़ाकिर साहिब का नैकट्य भी प्राप्त रहा है । यह ज़ाकिर साहिब से भली भांति परिचित हैं । ज़ाकिर साहिब के लेखन को एतिहासिक क्रमानुसार संकलित किया गया है । इसमें सब से पहला लेख तो वह है जो उन्होंने चौदह वर्ष की आयु में लिखा था जब वह इटावा इस्लामिया हाई स्कूल में पढ़ते थे । इस लेख को पढ़ कर इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि इन के उस आदर्श का, जो कालांतर में उनके सार्वजनिक जीवन काल में सामने आये, शिलान्यास चौदह वर्ष की आयु में हो चुका था । इस लेख का शीर्षक है "एक विधार्थी का जीवन ।"

इस लेख में यह दर्शाया गया है कि एक विद्यार्थी को क्या करना चाहिए और क्या नहीं? इसमें बताया गया है कि विद्यार्जन का उद्देश्य धन कमाना नहीं बल्कि अनपढ़ भाइयों को ज्ञानधन से मालामाल करना है और एक उत्कृष्ट नैतिक स्तर को प्राप्त करना है । यदि कोई विद्यार्थी धन कमाने के लिए विद्यार्जित करता है तो यह न उसकी प्रतिष्ठा के अनुकूल है और न ही मानवता के लिए उपयोगी । इसी लेख में नहीं बल्कि लगभग अपने सभी भाषणों और समस्त लेखन में उन्होंने बार-बार इसी बात पर बल दिया है कि हमें कोई कार्य केवल अपने संकीर्ण स्वार्थ के लिए नहीं करना चाहिए । इसके विपरीत दूसरों के हित और उपकार को अपना ध्येय बनाना चाहिए । यह सूफ़ी-संतों का मार्ग है जो उन्होंने अपने पीर हसन शाह से प्राप्त किया था । हसन शाह पहुँचे हुए सूफ़ी थे और एकात्मवाद में विश्वास रखते थे । ज़ाकिर साहिब का संपूर्ण परिवार इनके प्रभावाधीन था । इस संकलन में संमिलित बहुधा लेखों में इनका बारंबार उल्लेख हुआ है ।

1937 ई. में मुस्लिम एजूकेशन कान्फ्रेन्स में बोलते हुए उन्होंने इस बात की कड़ी निंदा की कि वर्तमान काल में शैक्षणिक संस्थाओं में जो शिक्षा दी जा रही है उस का लक्ष्य स्वार्थपरता है और बस । उन्होंने ऐसे शिक्षित व्यक्तियों के जीवन का सार अकबर इलाहाबादी की इस पंक्ति में प्रस्तुत किया है:

बी.ए. किया, नौकर हुए, पेंशन मिली और मर गए ।

इसी त्रुटि को वर्तमान शिक्षा प्रणाली से समूल निकाल फेंकने पर ज़ाकिर साहिब ने बार-बार बल दिया और ऐसी शिक्षाप्रणाली प्रचलित करनी चाही जिसके माध्यम से आज

की पीढ़ी के नवयुवकों में समाज कल्याण और उपकार का भाव जाग्रत हो । ग़रीबी, निरक्षरता और रोगों को देश से उन्मूलित करने के अभियानरत होने का भाव उनमें उत्पन्न हो । यह केवल प्रवचन मात्र नहीं था और यह बातें लोगों को अपने प्रभावाधीन करने के लिए नहीं कही गई थीं । यह ज़ाकिर साहिब के अंतस्तल की गहराइयों से निकली आवाज़ थी ।

अपने इन विचारों को उन्होंने किस प्रकार कार्यान्वित किया इसका विवरण आप को इस संकलन के पृष्ठों में उपलब्ध होगा जिनमें अधिकांशत: वह अभिभाषण हैं जिनका विषय शिक्षा है और जिनमें उन्होंने अपने विचार अलग अलग स्थानों पर और भिन्न भिन्न मंचों से प्रस्तुत किए हैं । 1934 में देहली में आयोजित आल इंडिया एजूकेशनल कांफ्रेंस (अखिल भारतीय शैक्षणिक सम्मेलन) में उन्होंने अपना पहला भाषण दिया । दूसरा भाषण उन्होंने तीन वर्ष पश्चात इसी सम्मेलन में दिया । इस श्रृंखला में तीसरा वह एतिहासिक भाषण है जो उन्होंने 1941 ई. में जामिया में आयोजित दूसरी बुनियादी शिक्षा कांफ्रेंस में दिया था । इस भाषण में उन्होंने देश के नेताओं से ऐसे देश की नीव रखने की अपील की थी जिस में एक संप्रदाय के सदस्यों का दूसरे संप्रदाय के लोगों पर विश्वास हो, उन में पारस्परिक एकता हो । प्रत्येक मनुष्य को अपनी क्षमताओं की उन्नति करने और आगे बढ़ने का अवसर प्राप्त हो । डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद से, जो इस सम्मेलन का उद्घाटन करने वाले थे, उन्होंने अध्यापकों की ओर से कहा था ''ख़ुदा के लिए शीघ्रातिशीघ्र ऐसे राज्य का शिलान्यास कीजिए जिसमें एक जाति अन्य जाति पर भरोसा कर सके, बलहीन को बलिष्ट का भय न हो, निर्धन धनवान की ठोकरों से बचा रहे, जिसमें संस्कृतियाँ निष्द्वंद्व साथ-साथ फल फूल सकें । हर एक पर दूसरे के सद्‌गुण उजागर हों, जहाँ प्रत्येक वह बन सके जिसके बनने की क्षमता उसमें है और वह बन कर अपनी समस्त शक्ति को समाज के कल्याण और विकास में लगा दे ।''

एक अध्यापक वर्तमान परिस्थितियों में मानवीय मानस का प्रशिक्षण किस प्रकार कर सकता है ? इस विषय पर डा. ज़ाकिर हुसैन ने प्रकाश डाला है । आज की परिस्थितियों ने प्रत्येक व्यक्ति को इतना व्याकुल कर दिया है कि वह भयभीत है, न कुछ समझ सकता है और न ही किसी को समझा सकता है । अपने उसी भाषण में, जो बुनियादी शिक्षा के विषय पर अत्यंत महत्वपूर्ण समझा जाता है, ज़ाकिर साहिब ने कहा था कि ''हम शिक्षकों की स्थिति दयनीय है । हम कब तक राजनैतिक मरूभूमि में हल चलाएँ, कब तक आशंका और अविश्वास के धुएँ से शिक्षा को दम घुट घुट कर सिसकते देखें, कब तक हम इस डर से थर्राते रहें कि हमारी उम्र भर की मेहनत को, हमारी जीवन भर की अर्जित कमाई को किसी की मूढ़मत्ता, कोई एक राजनैतिक हटधर्मी भस्म कर देगी । हमारा काम कोई फूलों की सेज तो है नहीं । इस काम में भी बहुत निराशाएँ होती हैं । बहुधा दिल टूटता है। फिर जब हमारे क़दम डगमगाएँ तो हम कहाँ सहारा ढूँढें । क्या उस समाज में

जहाँ भाई एक दिल दिखाई नहीं देते, कोई मूल्य अंतिम मूल्य मालूम नहीं होता, जिसमें कोई गीत नहीं जो सब मिल कर गाएँ, कोई त्योहार नहीं जो सब मिलकर मनाएँ। कोई शादी नहीं जो सब मिल कर रचाएँ, कोई दुख नहीं जिसे सब बटाएँ।''

ज़ाकिर साहिब का चयन महात्मा गाँधी ने शिक्षा प्रसार के लिए किया था। जामिया इसीलिए बुनियादी शिक्षा की प्रयोगशाला बन गई। यहाँ नाना प्रकार की योजनाएँ बना कर उनका कार्यान्वयन किया गया। इन योजनाओं का विवरण बुनियादी शिक्षा के केन्द्रों में भेजा गया। गाँधीजी को यह विश्वास था कि जामिया यह कार्य अवश्य निष्पन्न कर लेगी। इसलिए कि उन्हें ज़ाकिर साहिब पर भरोसा था कि उन के नेतृत्व में यह काम हो सकेगा। मोर्गन ज़िलियाकस, डा. जोवेट, और मिस्टर वुड जैसे दुनिया भर के शिक्षा विशारद जामिया आए और यहाँ की शिक्षा पद्धति और बुनियादी शिक्षा संबंधी कार्यों को देखकर बहुत प्रभावित हुए। जामिया ज़ाकिर साहिब के ''भविष्य के स्कूल'' का एक प्रतिरूप थी। यह ऐसा नमूना थी जिस की उपमा लहरें मारती नदी से दी जा सकती है। कुछ ऐसी ही बात ज़ाकिर साहिब ने 1941 में उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा सम्मेलन में कही थी:

''नदी के प्रवाह में एक प्रकार का वैभव है, उसकी गहराई में रहस्य है। परंतु यही छोटा सा जलस्रोत जो कंकरों और पत्थरों के चारों ओर बहता है, आप का मन मोह लेता है। भविष्य के स्कूलों का भी यही हाल है। यदि आपके मानस में इसका धूमिल सा विचार भी हो तो आप इस पर मोहित हो उठेंगे।''

ज़ाकिर साहिब के बाद के लेखन में, विशेषत: जो लेखन उन्होंने चौथी दशाब्दी के मध्य में किया है, आकस्मिक परिवर्तन का आभास होता है। इस का कारण यह है कि भारत में दोनों समुदायों में द्वेष उत्पन्न हो गया था और इस का परिणाम देश विभाजन के रूप में सामने आ गया। यह परिवर्तन ज़ाकिर साहिब, उनके मित्रों और सहकर्मियों के यहाँ भी परिलक्षित होता है। वह सब अपने ढंग से इससे निपटे। ज़ाकिर साहिब ने उस समय की राजनैतिक स्थिति से भविष्य में उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों से देश को अवगत कराया। देशवासियों के प्रति अपने विक्षोभ को अभिव्यक्ति प्रदान की। उनका यह लेखन चाहे संक्षिप्त हो या विस्तृत किन्तु है बहुत ही प्रभावोत्पादक। हमने उन्हें इस संकलन में स्थान दिया है ताकि ज़ाकिर साहिब के उस संताप का अनुमान लगाया जा सके जिससे वह और उन से सहमत उनके समकालीन सभी लोग पीड़ित हैं। 1946 ई. में जब जामिया अपनी रजतजयंती मना रही थी तो ज़ाकिर साहिब के व्यक्तित्व का यह चमत्कार था कि इस अवसर पर मुस्लिम लीग और काँग्रेस के नेतागण एक ही मंच पर एकत्रित हुए क्योंकि यह सभी ज़ाकिर साहिब का आदर करते थे। शैक्षणिक समुदाय की ओर से ज़ाकिर साहिब ने उपस्थित महानुभावों से अपील की:

''आप सब राजनीति-आकाश के तारे हैं। लाखों नहीं कोटि कोटि जनों के हृदय में आप के लिए स्थान है। यहाँ आप की उपस्थिति से लाभ उठा कर मैं शिक्षा कार्यरत लोगों

की ओर से अत्यंत दुख के साथ कुछ शब्द आप के सम्मुख कहना चाहता हूँ । आज देश में पारस्परिक घृणा की जो आग भड़क रही है उस में हमारा चमनबंदी का काम दीवानापन मालूम होता है । यह आग शालीनता और सहृदयता की भूमि को झुलसे देती है । इसमें सुशील और संतुलित विभूतियों के नवीन पुष्प कैसे खिलेंगे ? पशुओं से भी अधिक निम्न स्तरीय मानवीय नैतिक स्तर को हम कैसे सँवार सकेंगे । बर्बरता के युग में सभ्यता को कैसे बचा सकेंगे । आप को क्या बताएँ कि हम पर क्या बीतती है जब हम सुनते हैं कि निर्दयता के इस संकट काल में निरीह बालक भी सुरक्षित नहीं हैं । खुदा के लिए सर जोड़ कर बैठिए और इस आग को बुझाइए । यह समय छानबीन का नहीं है कि आग किसने लगाई, कैसे लगाई ।''

''नई रोशनी'' में उन्होंने अनेक लेख लिखे हैं जिनमें विशेष रूप से मुसलमानों को संबोधित किया है । कभी उन्होंने उन्हें उपदेश दिया, कभी उन्हें प्रोत्साहित किया, कभी उन्हें डाटा है, कभी झिंझोड़ा है ताकि वह नींद से चौंकें । अधिक स्थानों पर उन्होंने दोनों समुदायों से अपील की है और ''भाइयो, दोस्तो, साथियो'' के शीर्षक के अंतर्गत नई रोशनी में प्रकाशित उन का भाषण इसी बात का उदाहरण है:

''अब जबकि आज़ादी का सूरज निकल आया है हमारे दिल क्यों एक दूसरे से अजनबी होते जा रहे हैं । हमारी आँखों ने एक दूसरे को पहचानना क्यों छोड़ दिया है । दोस्तो दोस्ती के नियम बरतो, दोस्तों को दुश्मन मत जानो । शताब्दियों की दोस्ती को अस्थायी उन्माद की स्थिति में समूल न उखाड़ फेंको ।''

इस प्रकार के भाषणों में निराशा भी है और आशा भी । कभी प्रवचन के पश्चात् बचे खुचे मुसलमानों को ढारस देते हैं ताकि अपनी मातृभूमि में, जहाँ उनके पिता-पितामह रहते आए हैं, अपने विभक्त जीवन को एकत्रित कर सकें । इस का उदाहरण ''क़रार या फ़रार'' शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित उनका वह भाषण है जो उन्होंने बिना किसी तैयारी के जामिया बिरादरी को संबोधित करते हुए 2 अक्तूबर 1947 ई. को दिया था:

''समुदायों के जीवन में कभी कभी ऐसे संकट के अवसर आते है । यह समय परीक्षा का होता है । अब आपके सामने यह सवाल है कि आप इस आज़माइश (परीक्षा) से गुज़रना चाहते हैं या इससे बच कर भाग निकलना चाहते हैं । अगर आप का फैसला भाग निकलने का है तो बिस्मिल्लाह ... पाकिस्तान का रास्ता खुला हुआ है । जो जाना चाहे शौक़ से जाए । मगर याद रखिए मौत आप का पीछा वहाँ भी न छोड़ेगी । कितने होंगे जो रास्ते में मारे जाएँगे । कितने होंगे जो रेल के बंद डब्बों में घुट कर मर जाएँगे । लेकिन अगर आप का फ़ैसला उस आज़माइश से गुज़रने का हो तो यहाँ डट जाइए । यह याद रहे कि बहुत मुमकिन है कि आप मार डाले जाएँ । लेकिन आप का यह क़त्ल रायगाँ (व्यर्थ) नहीं जाएगा । बाज़ (कुछ) क़त्ल ऐसे होते हैं जिन पर क़ातिल शर्माते हैं और मक़तूल (मारे जाने वाले) फ़ख़्र (गर्व) करते हैं । बाज़ क़त्ल ऐसे होते हैं जो पूरी ज़िंदगियों पर

भारी होते हैं । बाज़ क़त्ल गिरती हुई क़ौमों (समुदायों) को सँभाल लेते हैं, गिरती हुई क़ौमों को उठाकर खड़ा कर देते हैं ।''

ज़ाकिर साहिब का संबंध उस पीढ़ी से था जिस की मान्यता थी कि शक्ति निर्बल के हाथ में होनी चाहिए । यह लोग गाँधी जी के सिद्धांतों का पालन करते थे । बाहुबल के विश्वासी नहीं थे । जामिया के लोगों में विलक्षण नैतिक शक्ति थी जो बड़ी से बड़ी सत्ता को झुका सकती थी । खद्दर की शेरवानियों और गाँधी टोपी में पुरुषों और बुर्क़ों में महिलाओं में जो मनोबल था उस का अनुमान लगाना कठिन है । इन की इस स्थिति का वर्णन दो शब्दों में किया जा सकता है - लगन और उन्माद । इसका एक उदाहरण गेर्डा फ़िलिप्सबोर्न थीं । यह जर्मनमूल की विवेकी और सुंदर महिला थीं जिनसे ज़ाकिर साहिब की भेंट जर्मनी में हुई थी । उन्होंने निश्चय किया कि वह ज़ाकिर साहिब के साथ काम करके उनकी लक्ष्यप्राप्ति के लिए अपना शेष जीवन लगा देंगी । यह जामिया बिरादरी में आपा जान कही जाती थीं, कंधे से कंधा मिलाकर जामिआ के कामों में व्यस्त रहीं । इनका देहावसान 1943 ई. में हुआ । मुजीब साहब इस महिला के साथ जर्मनी और जामिया में रहे हैं । वह इनसे भली भांति परिचित थे । अपनी पुस्तक ''ज़ाकिर हुसैन'' में उन्होंने ने इनका उल्लेख जिस स्थान पर किया है उसे भी हमने इस संकलन में संमिलित किया है । मुजीब साहब ने एक लेख भी इन पर लिखा था जो जामिया की पत्रिका 'जौहर' में प्रकाशित हुआ था । इसमें भी उन्होंने आपा जान के त्याग की चर्चा अत्यंत प्रभावशाली शैली में किया है । अभी हाल में प्रो. सुग़रा मेहदी ने भी बच्चों के लिए एक छोटी सी पुस्तिका ''आपा जान'' लिखी है । ज़ाकिर साहिब की इस भक्त पर और अधिक कार्य होना चाहिए ।

यह ज़ाकिर साहिब का करिश्मा था कि इतनी कठिनाइयों के बाद भी जामिया के लोग प्रसन्न और संतुष्ट थे । संगीत सभाएँ होतीं, मुशाएरे आयोजित होते, नाटक मंचन, बैतबाज़ी (अंताक्षरी) आदि में जामिया के लोग आगे आगे थे ।

डा. आबिद हुसैन जामिया में दर्शनशास्त्र के प्रोफ़ेसर थे और ज़ाकिर साहिब के निकटवर्ती मित्र भी । उन्होंने 1947 ई. में निर्णय किया कि वह साप्ताहिक पत्र ''नई रोशनी'' निकालेंगे जो हिन्दुस्तान में मुसलमानों के लिए मार्गदर्शक का कार्य करेगा । जब उसका प्रथम अंक निकला तो ज़ाकिर साहिब अपनी आँख के आप्रेशन के लिए स्वीटज़र्लैंड में थे । अपनी रुग्णावस्था में उन्होंने ने आबिद साहब को एक पत्र लिखा और इस बात पर खेद प्रकट किया कि वह ''नई रोशनी'' का प्रथम अंक अपनी आँखों से नहीं देख सकेंगे । उनमें यही आकर्षण था जिसके कारण लोग उन्हें चाहते थे, यही उनका हथियार था, अत्यंत अचूक हथियार । ज़ाकिर साहिब ने अपने पत्र में कामना की थी:

''मुझे विश्वास है कि परीक्षा का यह समय भी बीत जाएगा और हिंदी समाज (भारतीय समाज) को एक नैतिक समाज बनाने का काम आपके-मेरे जैसे कमज़ोर हाथ ही मिल कर करेंगे ।''

इस "कमज़ोरी" में जो मनोबल निहित था वही जामिया की आत्मा थी । ज़ाकिर साहिब का यह प्रयास कि अपने संप्रदाय को राष्ट्रीय धारे में लाएँ, उन के प्रत्येक लेखन और हर एक भाषण में परिलक्षित होता है । 1946 ई. तक वह इस चेष्टा में व्यस्त दिखाई देते हैं कि देश विभाजित न हो और मुसलमानों को इस विपदा से बचाएँ । परंतु जब देश विभाजित हो गया तो यहाँ रह जाने वाले मुसलमानों के घावों पर उन्होंने मरहम लगाया । जब लुधियाना रेलवे स्टेशन पर घातक प्रहार उन पर हुआ था पर और जो सिपाही डयूटी पर थे वह इसे देख कर भी अनजान बने हुए थे उसका उल्लेख ज़ाकिर साहिब ने अब्दुलमाजिद दरियाबादी को लिखित अपने पत्र में किया है । हमने उस पत्र को भी इस संकलन में स्थान दिया है । ज़ाकिर साहब को उस समय भी अपने प्राण से अधिक चिंता इस बात की थी कि सिपाहियों को यह स्मरण कराएँ कि उन्हें यहाँ लोगों की जान बचाने के लिए नियुक्त किया गया है और वह अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर रहे हैं । वह मूलत: अध्यापक थे जिस का धर्म यह है कि वह पहले लोगों को उचितानुचित का भेद बताए और तत्पश्चात् अपने जीवन के बारे में सोचे । ज़ाकिर साहिब उस समय मौत के मुँह से निकल आए, किंतु लौट कर आए तो वह अत्यंत अवसादपूर्ण स्थिति में रहे । वह मुजीब साहब के घर के एक कमरे में बंद हो गए । उस कमरे से वह तब निकले जब उन्हें मालूम हुआ कि जामिया में भय का वातावरण उत्पन्न हो गया है । यह सुन कर वह घबरा कर कमरे से निकले, अपने स्वभाव के विपरीत बिना शेरवानी, टोपी के केवल कुरता पायजामा धारण किए निकल खड़े हुए और जामिया स्कूल के कमरे में जा बैठे जहाँ जामिया के त्रासित और भयभीत लोग एकत्रित थे ।

ज़ाकिर साहिब और उनके सारे मुसलमान साथियों की त्रासदी यह थी कि नए देश में बसने के स्थान पर उन्होंने हिन्दुस्तान में रहने का निर्णय किया । फिर भी उन पर संदेह किया गया और उन्हें वतन से वफ़ादारी का प्रमाण देना पड़ा । जब वह मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति थे तो विनोबा भावे की उपस्थिति में स्ट्रेची हाल में कट्टरपंथी हिन्दुओं से बहुत सख़्ती से उन्होंने यह बात पूछी कि वह मुसलमानों की वफ़ादारी पर संदेह क्यों करते हैं । विनोबा जी का स्वागत करते हुए उन्होंने अवसर का लाभ उठाते हुए लोगों का ध्यान आकृष्ट किया कि मुसलमानों की देशभक्ति संदिग्ध क्यों है । इन्हें बारंबार इसे प्रमाणित क्यों करना पड़ता है:

"आज मैं साफ़ साफ़ यह बात कहना चाहता हूँ कि मैं इस प्रकार की ग़लत बातों को सहन नहीं कर सकता । हम भी इस देश से उतना ही प्यार करते हैं जितना हिन्दू करते हैं । मातृभूमि का कण-कण हमारी देशभक्ति और हमारी देशसेवा का साक्षी है । जब तक हम वास्तविकता को विश्वसनीय न बना दें हम चैन से बैठने वाले नहीं । हमें भी हिन्दुस्तान में वही अधिकार प्राप्त हैं जो और हिन्दुस्तानियों को हैं । हमसे यह क्यों कहा जाता है कि हम स्वयं को हिन्दुस्तानी समझें । किसी कट्टरपंथी हिन्दुस्तानी को यह अधिकार नहीं है कि वह हमसे हमारी हिन्दुस्तानियत छीने या हमसे वफ़ादारी का प्रमाणपत्र माँगे ।"

ज़ाकिर साहिब के जीवन का उद्देश्य यह था कि हिन्दुस्तान में सब मिल जुल कर रहें। किन्तु जब उनसे ही उनकी वफ़ादारी का प्रमाण माँगा जाने लगा तो उन्हें बहुत दुख हुआ। चंचल सरकार के लेख में, जो इस संकलन में संमिलित है, ज़ाकिर साहिब की इस व्यथा और खिन्नता का उल्लेख है । 1965 ई. में हिन्दुस्तान-पाकिस्तान युद्ध के समय जब राजनीतिक हल्क़ों में यह अफ़वाह गर्म हुई कि ज़ाकिर साहिब को नज़रबंद कर दिया गया है और उनका वायुयानचालक पुत्र वरिष्ठ सैनिक पदधिकारियों को ले कर पाकिस्तान जाने की चेष्टा कर रहा था तो इस बात को सुनकर ज़ाकिर साहिब ने अत्यंत दुखद शब्दों में कहा था : ''चंचल तुम तो जानते हो कि मेरा कोई बेटा नहीं है ।'' उन पर इसी प्रकार के हमले होते रहे किन्तु देशभक्ति और देश की एकता और अखंडता पर जो उन की आस्था थी उसमें किंचितमात्र भी अंतर नहीं आया ।

ज़ाकिर साहिब के यहाँ धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्मविहीनता नहीं है किंतु इसमें सांप्रदायिकता और जाति-पांति संबंधी भेदभाव के लिए भी कोई स्थान नहीं है । इस पुस्तक में ज़ाकिर साहिब का वह भाषण भी संकलित है जो उन्होंने राज्यसभा में उस समय दिया था जब बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय संशोधन बिल पर चर्चा हो रही थी । कुछ लोगों का कहना था कि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय और मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़ के अधिनियम से यह प्रावधान समाप्त कर दिया जाए कि मुस्लिम विश्वविद्यालय के कोर्ट के सदस्य केवल मुसलमान हो सकते हैं और हिन्दू विश्वविद्यालय के कोर्ट के सदस्य केवल हिन्दू । ज़ाकिर साहिब ने इस संशोधन का विरोद्ध किया था और अपने भाषण में कहा था : ''यह प्रावधान धर्मनिरपेक्षता के प्रतिकूल नहीं है । भारत के संविधान में जिस धर्मनिरपेक्षता का उल्लेख है वह हमें मात्र हिन्दू या मात्र मुसलमान होने से नहीं रोकता है। एक धर्मनिरपेक्ष गणतंत्र में हिन्दू विश्वविद्यालय और मुस्लिम विश्वविद्यालय केन्द्रीय विश्वविद्यालय हैं । यह सहनशीलता, उदारता और दूरदर्शिता एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के कारण ही है क्योंकि धर्मनिरपेक्ष गणतंत्र धर्मविमुख नहीं है ।'' इस का संबंध किसी एक धर्म या किसी एक संप्रदाय से नहीं है । इस लोकतांत्रिक राज्य में मात्र सहनशीलता ही नहीं है बल्कि उदारता है । इस का लक्ष्य एक स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन को विकसित करना है। इसलिए बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दू धर्म की शिक्षा दी जाएगी और मुस्लिम विश्वविद्यालय में मुस्लिम धर्मशास्त्र और इस्लामी अध्ययन के पठन-पाठन की व्यवस्था होगी ।''

धर्मनिरपेक्षता की ज़ाकिर साहिब और जामिया में उनके सहयोगियों की अवधारणा यही थी । मैंने अपने परिवारजनों से कुछ इसी प्रकार की बातें सुनी हैं जबकि वह लोग भी धर्मनिष्ठ थे । वस्तुत: यह अवधारणा विशेष परिस्थितियों और युग की देन थी । इन लोगों के पश्चात् इस प्रकार का विचार रखने वाले अब यदि अनुपलब्ध नहीं तो अत्यंत कम संख्या में अवश्य हैं ।

ज़ाकिर साहिब के लेखन का अंतिम भाग उनके व्यक्तित्व के अन्य पहलुओं पर प्रकाश डालता है । वह एक अध्यापक थे जो बड़ों और बच्चों दोनों को अपने भाषण से मुग्ध करते थे, कहानियाँ सुनाने की कला भी जानते थे । इस ग्रंथ में उनकी सात कहानियाँ संकलित हैं । बच्चों के लिये कहानियाँ लिखने की प्रेरणा उन्हें अपनी बेटी रुक़ैय्या रेहाना से मिली थी । वह चार- पाँच वर्ष की आयु में इस संसार से चल बसीं । इन कहानियाँ में इन के वैयक्तिक दुख की झलक भी मिलती है । इनमें से अधिकांश उन्होंने जामिया में लिखी थीं । इस काल में वह जिन बातों के बारे में सोचते थे उनकी प्रतिछाया भी इन कहानियों में उपस्थिति है -एक तो हर क़ीमत पर स्वाधीनता प्राप्ति, दूसरे उत्कृष्ट मूल्यों पर आधारित शिक्षा, तीसरे मानवमात्र की सेवा । इन में बाल साहित्य लेखन का स्वाभाविक गुण था । इस का एक कारण बच्चों के प्रति उनकी अभिरुचि थी । बालकों के संबंध में उन का निरीक्षण अद्भुत था । 1967 ई. में एक बाल पुस्तकालय का उद्घाटन करते हुए उन्होंने बताया था कि बालकों की कल्पनाशक्ति को किस प्रकार उत्प्रेरित किया जा सकता है: ''बच्चों के लिये लिखने वालों को मैं एक गुर की बात बताना चाहता हूँ कि आप उस समय तक बाल साहित्य का लेखन नहीं कर सकते हैं जब तक लिखते समय आप में ऐसा उत्साह न हो जो आपको न दुखी बना सके और न ही उल्लसित कर सके ।''

ज़ाकिर साहिब ने बच्चों के लिए जो कहानियाँ लिखी हैं वह अत्यंत रोचक हैं । इस संकलन में दो लेख ऐसे हैं जिनसे इस बात का अनुमान होता है कि ज़ाकिर साहिब को बाल साहित्य के प्रति कितनी रुचि थी । एक गुलाम हैदर का ''ज़ाकिर साहिब और बाल साहित्य'' है जिसमें ज़ाकिर साहिब की सारी कहानियों का मूल्यांकन किया गया है । और दूसरा लेख अब्दुल्लाह वली बख़्श क़ादरी का है । इस का शीर्षक है ''ज़ाकिर साहिब, एक शिक्षक'' जिसमें उन्होंने ज़ाकिर साहिब की एक दीर्घकथा ''कछुवा और ख़रगोश'' का विश्लेषण किया है । अधिकांशत: कहानियों का वर्ण्य विषय स्वधीनता का महत्व है । गुलाम हैदर ने अपने लेख में इन सब कहानियों का लेखनकाल 1927 ई.- 1947 ई. के मध्य बताया है ।

इसीलिए इनमें से अधिकांश कहानियों में स्वाधीनता के महत्व को प्रकाशित किया गया है । ''अब्बू ख़ाँ की बकरी'' शीर्षक के अंतर्गत ज़ाकिर साहिब ने एक कहानी लिखी थी । कहानियों के संकलन का शीर्षक भी यही है । अब्बू ख़ाँ ने एक छोटी से सुंदर बकरी चाँदनी पाली थी, जिसे वह बहुत चाहते थे । इसकी देखभाल अत्यंत प्रेमपूर्वक करते थे । परंतु इसने अब्बू ख़ाँ के यहाँ के हर प्रकार के सुख-सुविधा और ऐश्वर्य की तुलना में पहाड़ों के प्रांगण में स्वतंत्र जीवन को आवश्यक समझा । वह जानती थी कि भेड़िया इस की घात में है किन्तु वह फिर भी पहाड़ पर गई । रात भर वह भेड़िये से जूझती रही और अंततोगत्वा प्रात: होते होते मर गई । घाटी के समक्ष पक्षी एकमत थे कि चाँदनी हार गई । परन्तु एक बूढ़ी चिड़िया इस बात पर अड़ गई कि चाँदनी विजयी हुई । स्वाधीनता की यह

चाह बाज़ की कहानी ''उक़ाब'' में भी पाई जाती है । बाज़ आसमान पर उड़ता और हिमाच्छादित पर्वत शिखरों से बातें करता । वह बंदी जीवन की तुलना में मृत्यु को उत्कृष्ट समझता है । एक बिल्ली का बच्चा उसे बहुत प्रिय है और उसके आग्रह पर वह उसे पहाड़ की चोटी से नीचे उसे छोड़ने मनुष्यों की एक बस्ती में पहुँचता है क्योंकि बिल्ली का वह बच्चा वहाँ ही रहना चाहता है । किन्तु अंत में वह इस के मोहजाल को भी तोड़ डालता है क्योंकि वह एकाकी और स्वतंत्र जीवन व्यतीत करना चाहता है ।

'आख़िरी क़दम' एक शिक्षाप्रद कथा है । इसमें एक ऐसे व्यक्ति का चरित्र चित्रण किया गया है जो जन समूह द्वारा कंजूस कहा जाता है । परंतु वास्तविकता यह है कि वह अपनी सारी पूँजी लोगों के हितार्थ व्यय करता रहता है । वह ऐसा इतने गुप्तरूप से करता है कि किसी को कानों कान ख़बर नहीं होती थी । कभी वह इस बात पर खिन्नमन भी होता कि लोग उसे इतना ग़लत क्यों समझते हैं । उसने एक डायरी ''अमानत का लेखा-जोखा'' बना रखी थी । इसमें उन ख़र्चों का विवरण लिखित था जो वह दानरूप में किया करता था। इसे वह दिन में एक बार देख लेता और सोचता कि उसके मरणोपरांत लोग इस डायरी का अवलोकन करेंगे तो मुझे क्षमा कर देंगे । किंतु जब वह मरणशैया पर लेटा हुआ है तो उसे एक ज्योति दिखाई पड़ती है और वह उस डायरी को जलने के लिए आग में फेंक देता है । तभी उस का प्राणपक्षी शरीर के पिंजरे से उड़ जाता है । कुछ लोगों का विचार है कि यह कहानी स्वंय ज़ाकिर साहिब की आत्मकथा है । मुहम्मद हफ़ीज़उद्दीन का लेख ''कीमियागर'' इस पुस्तक के दूसरे खंड में संकलित है । इस लेख में हफ़ीज़उद्दीन ने लिखा है कि जब ज़ाकिर साहिब बच्चे थे तो बड़ों का जो काम करते थे उस का मेहनताना ले लिया करते थे और इससे निर्धनों की सहायता किया करते थे । पड़ोसी बच्चे इन्हें कृपण, धनाढय परिवार का कंजूस बच्चा कहते । यह सुन कर उन का मन चाहता था कि वह बता दें कि वह कृपणता करते हैं दूसरों की सहायता के लिए । परन्तु ''आख़िरी क़दम'' के नायक के समान स्वंय को ऐसा करने से रोकते थे । हफ़ीज़ साहब का विचार है कि इस कहानी में ज़ाकिर साहिब का उद्देश्य इस्लाम के इस सिद्धांत से भी लोगों को अवगत कराना था जिसमें दान का प्रावधान यह है कि वह इस प्रकार किया जाए कि दाँए हाथ से जो कुछ दिया जाए तो बाएँ हाथ को उसकी जानकारी न हो ।

मुजीब साहब ने अपने विभिन्न लेखों में इस बात का उल्लेख किया है कि ज़ाकिर साहिब किस प्रकार इस्लामी नियमों का पालन करते थे । उन्होंने लिखा है कि ''एक बार हम लोग मुसलमान को पारिभाषित करने का प्रयत्न कर रहे थे तो उन्होंने ने क़ुरान की एक आयत पढ़ी जिसमें सयंमी पुरुष की पहचान यह बताई गई है कि वह रात के अंतिम पहर में ईश्वर के सम्मुख खड़े होकर अपने पापों के लिए क्षमा-याचना करता है । ज़ाकिर साहिब स्वयं इसका पालन करते थे । सूफ़ियों के यहाँ इसे एकांत उपासना कहा जाता है । इसके बावजूद कि ज़ाकिर साहिब अत्यंत धार्मिक व्यक्ति थे वह इसे अपनी बात से प्रकट

नहीं करते थे और अपनी आस्था और आराधना को गोपनीय रखते थे। उनके व्यक्तित्व का वाह्यांतर एक आकर्षक उपवन के समान था जिसमें सोल्लास सैर के लिए प्रविष्ट हों किंतु हमें वहाँ एक उपासना गृह भी दिखाई पड़े।"

"कछुवा और ख़रगोश" बच्चों की कहानी नहीं है। इसमें उन्होंने प्रचलित शिक्षा प्रणाली पर व्यंग्य किया है और विद्या को अलग अलग ख़ानों में बाँट कर इसमें दक्षता प्राप्त करने का जो रोग है उसकी त्रुटियों को, कछुवा और ख़रगोश में दौड़ की जो प्रतियोगिता हुई थी और कौन जीता था के माध्यम से अपने मनोभाव को अभिव्यक्त किया है। कछुवे का प्रश्न और उसे मिलने वाले उत्तरों द्वारा उन्होंने उन शिक्षा शास्त्रियों की उस मान्यता पर प्रहार किया है जो विद्या को विभिन्न ख़ानों में बाँटने के पक्षपाती हैं और अपने परिवेश से अनभिज्ञ हैं। इस कहानी में उन्होंने विशेषज्ञोन्मुख शिक्षा की कटुआलोचना की है। उनके मतानुसार इस प्रकार के विभाजन से शिक्षा का उद्देश्य ही प्रायः लुप्त हो जाता है। फ़िदा हुसैन ने इस कहानी के पात्रों प्रोफ़ेसर चपक़ाक़, मौलवी ग़ुफ़रान, पंडित कछुवा राम के जो रेखाचित्र बनाए हैं उन्होंने इस कहानी को अमर कर दिया है। इस कहानी से कम ही लोग परिचित हैं। हमने इस के भी कुछ अंश इस पुस्तक में संकलित किए हैं।

इस पुस्तक के द्वितीय खंड में तेरह लेख ज़ाकिर साहिब के ऐसे समकालीन व्यक्तियों के द्वारा लिखित संकलित हैं जो अपने अपने कार्य क्षेत्र में सुप्रसिद्ध हैं और ज़ाकिर साहिब से इनके निकटवर्ती संबंध थे। मुजीब साहब ज़ाकिर साहिब के साथ बर्लिन में भी रहे और जामिया में भी उन के साथ काम किया है और आजीवन उन्हें ज़ाकिर साहिब का नैकट्य प्राप्त रहा है, उन्होंने ज़ाकिर साहिब की जीवनी "ज़ाकिर हुसैन" लिखी है जिसका विशेष महत्व है। इस पुस्तक से कुछ अंश चयन करके उन्हें दो भागों में विभाजित कर दिया गया है। प्रथम भाग वह है जिसमें आरंभिक काल से लेकर जामिया के रजत जयंती समारोह तक वृत्तांत हैं। यह समारोह 1946 में आयोजित हुआ था। दूसरा वह भाग है जो इस पुस्तक का पाँचवाँ अध्याय है और जिसका विषय ज़ाकिर साहिब के शैक्षणिक चिंतन और अवधारणाएं हैं। पहला लेख जो इतिहास क्रमानुसार पहले होना चाहिए रशीद अहमद सिद्दीक़ी द्वारा लिखित है। रशीद साहब अलीगढ़ में ज़ाकिर साहिब के विद्यार्थी जीवन काल के मित्र थे और उर्दू के सुविख्यात हास्य- व्यंग्य रचनाकार थे। ज़ाकिर साहिब से उनकी कितनी घनिष्टता थी इस का अनुमान उन वृत्तांतों से लगाया जा सकता है जिन का उल्लेख रशीद अहमद सिद्दीक़ी ने अपने लेख में किया है।

इस के पश्चात् दो लेख उनके अत्यंत घनिष्ठ मित्रों और साथियों के हैं। पहला डॉक्टर आबिद हुसैन द्वारा लिखित है जो जर्मनी से उन के साथ थे और फिर भारत लौट कर उन्होंने और मुजीब साहब ने अस्सी रुपये मासिक वेतन पर जामिया में काम किया था। अंत काल तक इनसे ज़ाकिर साहब से घनिष्ट संबंध रहे। दूसरा लेख ख़्वाजा ग़ुलामुस्सैयदैन का है जो आबिद साहब और मुजीब साहब के समान उनके जामिया में

सहकर्मी तो नहीं थे किंतु ज़ाकिर साहिब के मित्र और प्रंशसक थे और जामिया से बाहर रहकर वह जो कुछ कर सके उन्होंने जामिया की सेवा की । उन्होंने बुनियादी शिक्षा के प्रचार प्रसार में भी ज़ाकिर साहिब के साथ महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । दो लेख ज़ाकिर साहिब के परिवारजनों के हैं । सईदा ख़ुरशीद उनकी बेटी हैं और यह सदैव उनके साथ रही हैं । इन्होंने सुरोचक ढंग से और सविस्तार ज़ाकिर साहिब के घरेलू जीवन पर प्रकाश डाला है । इससे ज्ञात होता है कि ज़ाकिर साहब अपने परिवारजनो के साथ किस प्रकार व्यवहार करते थे । दूसरा लेख ज़ाकिर साहिब के सबसे बड़े भाई मुज़फ़्फ़र हुसैन के पुत्र डा. मसऊद हुसैन ख़ां की आत्मकथा ''वरूदे मसऊद'' से चयनित है । मसऊद हुसैन विख्यात भाषा वैज्ञानिक हैं । इनका बचपना और प्राथमिक शिक्षा काल जाकिर साहिब के साथ जामिया में व्यतीत हुआ है । इन दोनों लेखों से हमें ज़ाकिर साहिब और उनके परिवार के संबंध में पूर्ण विवरण प्राप्त होता है ।

तुर्की की सुप्रसिद्ध रचनाकार अदीब ख़ानम ने भारत में अपने निवास काल में एक पुस्तक ''हिन्दुस्तान में'' नाम से लिखी थी । वह पर्याप्त समय तक डा. मुख़तार अहमद अंसारी के साथ रही है । इस पुस्तक में एक अध्याय जामिया के बारे में भी है । हमने उसे भी इस संकलन में संमिलित कर लिया है । मौलवी हफ़ीज़उद्दीन का लेख ''प्यामे तालीम'' पत्रिका से लिया गया है जिस में उन्होंने ज़ाकिर साहिब के व्यक्तित्व को एक रूपक के रूप में प्रस्तुत किया है ।

ख़्वाजा हमीद की ज़ाकिर साहिब से घनिष्टता उनके जामिया के मित्रों ही जैसी थी । केवल अंतर इतना था कि वह बंबई में रहते थे । उनका लेख ''एक देरीना दोस्त की यादें (एक पुराने मित्र की स्मृतियाँ)'' हमने इस पुस्तक में संकलित किया है जो ज़ाकिर साहिब के देहावसानोपरांत इलस्ट्रेटेड वीकली के ज़ाकिर हुसैन विशेषांक में प्रकाशित हुआ था । ख़्वाजा हमीद ने ज़ाकिर साहिब को जर्मनी जाने का परामर्श दिया था । वह वहाँ उनके साथ रहे । 1925 में वह ज़ाकिर साहिब, मुजीब साहब और आबिद साहब के साथ वियाना में हकीम अजमल खां और डा. अंसारी से मिलने भी गए थे और जामिया में काम करने का वचन भी दिया था । इस लेख में उन विभिन्न चाय पार्टियों का भी उल्लेख है जो डा. संडेरमीर (विदेशी भाषाओं के संस्थान के निदेशक) के घर पर होती थी । ज़ाकिर साहिब इन पार्टियों में स्फूर्ति उत्पन्न करने वाले व्यक्ति थे । उनकी फ्रेंचकट दाढ़ी के कारण उनके सब जर्मन मित्र उन्हें ईसा मसीह कहने लगे थे ।

इस पुस्तक में संमिलित अठ्ठाइस लेख उन लोगों के हैं जो ज़ाकिर साहिब से भली भांति परिचित थे । जामिया में उनके तत्वाधान में कार्य कर चुके हैं या उनके शिष्य रह चुके हैं । अब्दुस्सत्तार 1930 ई. में जामिया आए थे, डा. मुहम्मद इकराम जामिया के शिक्षा विभाग में पढ़ाते रहे हैं, डा. सलामत उल्लाह 1941 में बुनियादी शिक्षा सम्मेलन में उनके साथ संमिलित हुए थे । प्रोफ़ेसर सदीकुर्रहमान क़िदवाई उनके प्रिय मित्र और सहयोगी

शफ़ीक़ुर्रहमान क़िदवाई के सुपुत्र हैं । दूसरे लेखक वह हैं जो शिक्षा क्षेत्र में उनके साथ कार्यरत थे । इन में सुशीला नायर, चित्रानायक, अब्दुल्लाह वली बख़्श क़ादरी, सादिक़ अली उल्लेखनीय नाम हैं । ज़ाकिर साहिब की अभिरुचि का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत था । इनके मित्रों में चित्रकार भी थे और वैज्ञानिक भी, पत्रकार भी थे और साहित्यकार भी । इसीलिए इस स्मारक ग्रंथ में सुविख्यात कवि जगन्नाथ आज़ाद, पत्रकार हिरेन मुखरजी, चंचल सरकार, चित्रकार राम कुमार और वैज्ञानिक डा. ज़हूर क़ासिम के लेख संकलित हैं।

एक लेख ज़ाकिर साहिब के दामाद ख़ुरशीद आलम खाँ का है जो विख्यात राजनीतिज्ञ और कर्नाटक के राज्यपाल हैं । यह लेख एक प्रकार से अनोखा है । इसमें उनके वैयक्तिक भाव हैं । इसके अतिरिक्त नटवर सिंह, राजमोहन गाँधी, ए.जी. नूरानी, एल.पी. सिंह और रफ़ीक़ज़करिया के लेखों से अनेक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं । ख़लीक़ अहमद निज़ामी और मुहम्मद यूनुस के लेख ज्ञानवर्धक भी हैं और वैयक्तिक भी । हमने इस स्मारक पुस्तक में उन भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, जिनके आधार पर विभिन्न लोगों ने ज़ाकिर साहिब का मूल्यांकन किया है, ताकि उनका सर्वांगीण व्यक्तित्व हमारे सम्मुख आ जाए । 1987 ई. में जामिया ने ज़ाकिर साहिब की नव्वे साला वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में समारोह आयोजित किया था । इस अवसर पर एक पुस्तक "नज़्रे ज़ाकिर" के नाम से प्रकाशित हुई थी । इसमें विभिन्न लोगों के लेख संकलित हैं जिनसे ज़ाकिर साहिब के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू प्रकाशित होते हैं । इस पुस्तक का प्रथम लेख "अच्छा उस्ताद" स्वंय ज़ाकिर साहिब का लिखा हुआ है । इसकी प्रस्तावना में लिखा है कि ज़ाकिर साहिब आद्योपांत एक शिक्षक रहे । उनके इस स्वाभाविक गुण से न केवल जामिया लाभावित हुई बल्कि अलीगढ़ में जहाँ वह कुलपति रहे, बिहार में जहाँ वह राज्यपाल रहे वह शिक्षक ही बने रहे । उपराष्ट्रपति और राष्ट्रपति पद पर आसीन होने के समय भी वह एक शिक्षक का धर्म निभाते रहे । ज़ाकिर साहिब को शिक्षा के प्रति कितना घनिष्ट लगाव था इसका अनुमान उनके लेख "अच्छा उस्ताद" के अंतिम अनुच्छेद से होता है जो उस काल के लोगों के लिए मार्गदर्शक था किंतु आज हो सकता है कि बहुत से लोगों ने इस का नाम भी न सुना हो । शिक्षक के संबंध में ज़ाकिर साहब ने लिखा है:

"यह वहाँ आशावान रहता है जहाँ दूसरे हताश हो जाते हैं, वहाँ स्फूर्तिमान रहता है जहाँ दूसरे थक जाते हैं । इसे वहाँ प्रकाश दिखाई देता है जहाँ दूसरे अँधेरे की शिकायत करते हैं । यह जीवन की पतनावस्था को देखता है लेकिन इस कारण से उसके उत्थानावस्था को नहीं भूल जाता । वह बड़े की अपेक्षा में छोटे की उपेक्षा नहीं करता । महापुरुषत्व की अवधारणा भी रखता है किंतु अबोध बच्चे की सेवा को अपने जीवन का गौरव समझता है और बच्चे की ओर से जब सारी दुनिया निराश हो जाती है तो केवल दो लोग ऐसे हैं जिन के सीने में आशा की ज्योति शेष रहती है-उसकी माँ और अच्छा उस्ताद (शिक्षक)"

ज़ाकिर साहिब को अपने जीवन में पदे पदे निराशाओं का सामना करना पड़ा। परंतु उनके भीतर जो "शिक्षक" था, जो भारत गणतंत्र का राष्ट्रपति भी बना, उसने बच्चे के प्रति उनके मन में आशा की जो ज्योति थी उसे कभी बुझाने नहीं दिया।

सैय्यदा सैय्यदैन हमीद

नई दिल्ली
22 फ़रवरी, 1998 ई.

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1. डाइनेस्टी-एस.एस. गिल; हार्पर कोलिंज़ 1996 ई.
2. पटेल ए लाइफ़-राजमोहन गाँधी, नवजीवन, 1990 ई.
3. दी राजाजी स्टोरी-राजमोहन गाँधी, भारतीय विद्या भवन, 1984 ई.
4. इस्लामिक सील आन इंडियाज़ इंडिपेंडेंस-अबुलकलाम आज़ाद-ए फ्रेश लुक-सैय्यदा सैय्यदैन हमीद, आक्सफ़ोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1998 ई.

भाग - 1

व्याख्यान और रचनाएं

तालिबइल्म की ज़िंदगी
(विद्यार्थी का जीवन)

इसमें कोई शक (संदेह) नहीं कि हर एक शख़्स (व्यक्ति) का तालीम (शिक्षा) पाने का कोई न कोई मक़सद (उद्देश्य) ज़रूर होता है। एक शख़्स वकालत के लिये तालीम पाता है, दूसरा डॉक्टरी के लिये, तीसरा आम सरकारी नौकरी के लिये और आम ख़्याल यह है कि तालिबइल्म की ज़िन्दगी का मक़सद यह है कि वह ज़्यादा दौलत (सम्पत्ति) पैदा करे। यह मक़सद इब्तदा (आरम्भ) से ही तालिबइल्म के इस क़दर (इतनी मात्रा में) पेशेनज़र (ध्यान में) नहीं रहता जिस क़दर उसके वालिदैन (माता-पिता) के। हर तालिबइल्म का यह फ़र्ज़ (कर्तव्य) है कि अगर अपने ख़ानदान (परिवार) की परवरिश (पालन-पोषण) उस पर मुन्हेसर (निर्भर) हो तो उसको अपने वालिदैन के गुज़ारे के लिये पढ़ना चाहिये और यह कहना भी सही है कि हर शख़्स की माली तरक़्क़ी (आर्थिक उन्नति) से क़ौम की (राष्ट्र की) मजमूई तरक़्क़ी (सामूहिक उन्नति) होती है। मगर तालिबइल्म होने की वजह से सिर्फ़ दौलत पैदा करने और पेट भरने को अपना मक़सद क़रार (निर्धारित) देना सिर्फ़ तालिबइल्म की ही नहीं बल्कि इन्सानीयत की भी ज़िल्लत (अनादर) है। अगर तालिबइल्म का पढ़ने से यह मक़सद हो कि मैं अच्छे-अच्छे कोट पहनूँगा, गाड़ी पर बैठूँगा, हुक्काम (सरकारी पदाधिकारियों) से हाथ मिलाऊँगा तो वह तालिबइल्म कहलाए जाने का मुस्तहक़ (अधिकारी) नहीं। अलग़रज़ (तात्पर्य यह) दौलत पैदा करना तालिबइल्म की ज़िन्दगी का बदतरीन (निष्कृष्टतम) मक़सद है या जो हो सकता है।

जिस तरह तैहसीले दौलत (धन प्राप्ति) तालिबइल्म की ज़िन्दगी का मक़सद नहीं उसी तरह आरामतलबी से भी उसको किनाराकशी करनी जरूरी है क्योंकि आरामतलबी एक ऐसी चीज़ है जो सब आदमियों को उमूमन (साधारणतया) और तालिबइल्मों को ख़ुसूसन (विशेषतया) तरक़्क़ी करने से रोकती है। अब तक मैंने मुख़्तसर तौर से (संक्षिप्त रूप से) इन चीज़ों का बयान (चर्चा) किया है जो तालिबइल्म की ज़िन्दगी का मक़सद न होना चाहिये। अब मैं उन चीज़ों का बयान करूँगा जो तालिबइल्म को करनी चाहिये और जो उस पर फ़र्ज़ हैं। इन चीज़ों का ज़िक्र (चर्चा) करने से पहले बेजा (अनुचित) न होगा अगर मैं तालिबइल्म की मुख़्तसर तारीफ़ (संक्षिप्त परिभाषा) कर दूँ।

तालिबइल्म से मुराद (अभिप्राय) वह शख़्स है जो अपनी तबियत (रूचि) को मौजूदा हालत (वर्तमान स्थिति) से बेहतर करना चाहता है, जो अपनी क़ुव्वतों (क्षमताओं) को जहाँ तक उनमें बढ़ने की ताक़त हो वहाँ तक, और बढ़ाना चाहता है, जो इल्म (ज्ञान) ख़्यालात (विचारों) के उन खज़ानों से, जो हज़ारों बरस में सैकड़ों नस्लें अपने आइन्दा आने वाले वारिसों (उत्तराधिकारी) के लिये छोड़ गई थीं, फ़ायदा हासिल करना चाहता है, जो इस बात का ख़ाहिशमंद (इच्छुक) हो जहाँ से अक़्ल (बुद्धि) का सबक़ (सीख) उसको मिले, जहाँ से उम्दा (उत्कृष्ट) बातें उसे मालूम हों, जहाँ से दानिश (ज्ञान-विज्ञान) और आला ख़्यालात (उच्च विचार) उसको मयस्सर (प्राप्त) आ सकें, जहाँ से उसे दुनिया की बाबत (संबंध में) और ख़ुद (स्वयं) अपनी बाबत ऐसी बातें मालूम हों जो उसे नहीं मालूम और जिनके मालूम करने से उसको दुनिया में मदद मिलेगी वहाँ से इन सब को हासिल करे। तालिबइल्म होने के लिये कम से कम इतनी अक़्ल ज़रूर होनी चाहिये कि वह नेक व बद (अच्छाई-बुराई) में, मुफ़ीद व मुज़िर (लाभदायक और हानिकारक) में, क़ाबिले पसन्द (रूचिकर) और क़ाबिले नफ़रत (घृणा योग्य) बातों में तमीज़ (भेद) कर सके। उसको चाहिये कि मेहनत व मशक़्क़त (परिश्रम) से तालीम हासिल करे, उसको चाहिये कि तालीम से अपने दिल में ग़ौर व फ़िक्र (चिन्तन-मनन) का माद्दा (योग्यता) पैदा करे, उसको चाहिये कि वह ग़ौर व फ़िक्र के ज़रिये से उन अच्छी बातों को हासिल करने की कोशिश करे जो इंसान के लिये मुमकिन हैं। लेकिन इस दुनिया में कुछ तरक़्क़ी नहीं कर सकता, वह अपना असर (प्रभाव) दूसरों पर नहीं डाल सकता जब तक कि वह इस्तक़लाल (दृढ़ता) के साथ अपनी इख़्लाक़ी (नैतिक) सतह (स्तर) दुनिया की मुश्किलों में बुलन्द न रखे। वह शख़्स हरगिज़ तालिबइल्म कहलाने का मुस्तहक़ (पात्र) नहीं जो अपने फ़राएज़ (कर्तव्यों) को इस्तक़लाल और संजीदगी (गंभीरता) से पूरा न करे। उसको हरगिज़ अपने दिल में यह न समझना चाहिये कि वह कुछ नहीं कर सकता क्योंकि अगर वह ऐसा ख़्याल करेगा तो वह कुछ भी न कर सकेगा बल्कि उसको हिम्मत के साथ किये जाना चाहिए क्योंकि वह ऐसा करेगा तो ज़रूर अपने काम में कामयाब होगा:

हिम्मत बुलंददार कि पेशे ख़ुदा व ख़ल्क़
बाशद बक़द्रे हिम्मत तव एतेबारे तव

(अपना साहस ऊँचा रखो क्योंकि ख़ुदा और लोगों की दृष्टि में तेरा विश्वास उतना ही होता है जितनी तेरी हिम्मत होती है।)

तालिबइल्म की ज़िंदगी का मक़सद यह होना चाहिये कि जो अवहाम (अंधविश्वास) व ताअस्सुबात (घृणा) उसमें हों उन पर ग़ालिब (विजयी) आ जाए और उसको चाहिये कि ज़लील आदतों (कुत्सित प्रवृतियों) को छोड़ दे और उसका फ़र्ज़ है कि वह अपने जाहिल (निरक्षर) भाइयों में तालीम की इशाअत (प्रसार) करे और इशाअते तालीम

(शिक्षा प्रसारण) को भी अपनी तालीम का जुज़्व (अंश) समझे। उसको इल्म को, इल्म के लिये पढ़ना चाहिये और साथ ही उसको ज़िंदगी की ज़रूरत से भी ग़ाफ़िल (बेपरवाह) नहीं होना चाहिये। अगर वह बुनियादी ज़रूरियात (मौलिक आवश्यकताओं) से ग़ाफ़िल होगा तो वह अपने ख़ानदान को संभाल नहीं सकता और वह बनीएनौअ इंसान (मानवजाति) के लिये मुफ़ीद (लाभदायक) नहीं हो सकता। अगर वह पढ़ा हुआ न हो तो वह आदमी नहीं और वह दुनिया में कुछ अच्छे काम नहीं कर सकता।

नोट: 1911 ई. में जब डा. ज़ाकिर हुसैन आटवीं कक्षा में पढ़ते थे तो उन्होंने यह लेख लिखा था। लगता है किसी अवसर पर भाषण करने के लिए यह लिखा गया होगा।

तालिबइल्म की ज़िंदगी
(विद्यार्थी का जीवन)

इसमें कोई शक (संदेह) नहीं कि हर एक शख़्स (व्यक्ति) का तालीम (शिक्षा) पाने का कोई न कोई मक़सद (उद्देश्य) ज़रूर होता है। एक शख़्स वकालत के लिये तालीम पाता है, दूसरा डॉक्टरी के लिये, तीसरा आम सरकारी नौकरी के लिये और आम ख़्याल यह है कि तालिबइल्म की ज़िन्दगी का मक़सद यह है कि वह ज़्यादा दौलत (सम्पत्ति) पैदा करे। यह मक़सद इब्तदा (आरम्भ) से ही तालिबइल्म के इस क़दर (इतनी मात्रा में) पेशेनज़र (ध्यान में) नहीं रहता जिस क़दर उसके वालिदैन (माता-पिता) के। हर तालिबइल्म का यह फ़र्ज़ (कर्तव्य) है कि अगर अपने ख़ानदान (परिवार) की परवरिश (पालन-पोषण) उस पर मुन्हेसर (निर्भर) हो तो उसको अपने वालिदैन के गुज़ारे के लिये पढ़ना चाहिये और यह कहना भी सही है कि हर शख़्स की माली तरक़्क़ी (आर्थिक उन्नति) से क़ौम की (राष्ट्र की) मजमूई तरक़्क़ी (सामूहिक उन्नति) होती है। मगर तालिबइल्म होने की वजह से सिर्फ़ दौलत पैदा करने और पेट भरने को अपना मक़सद क़रार (निर्धारित) देना सिर्फ़ तालिबइल्म की ही नहीं बल्कि इन्सानीयत की भी ज़िल्लत (अनादर) है। अगर तालिबइल्म का पढ़ने से यह मक़सद हो कि मैं अच्छे-अच्छे कोट पहनूँगा, गाड़ी पर बैठूँगा, हुक्काम (सरकारी पदाधिकारियों) से हाथ मिलाऊँगा तो वह तालिबइल्म कहलाए जाने का मुस्तहक़ (अधिकारी) नहीं। अलग़रज़ (तात्पर्य यह) दौलत पैदा करना तालिबइल्म की ज़िन्दगी का बदतरीन (निष्कृष्टतम) मक़सद है या जो हो सकता है।

जिस तरह तेहसीले दौलत (धन प्राप्ति) तालिबइल्म की ज़िन्दगी का मक़सद नहीं उसी तरह आरामतलबी से भी उसको किनाराकशी करनी जरूरी है क्योंकि आरामतलबी एक ऐसी चीज़ है जो सब आदमियों को उमूमन (साधारणतया) और तालिबइल्मों को ख़ुसूसन (विशेषतया) तरक़्क़ी करने से रोकती है। अब तक मैंने मुख़्तसर तौर से (संक्षिप्त रूप से) इन चीज़ों का बयान (चर्चा) किया है जो तालिबइल्म की ज़िन्दगी का मक़सद न होना चाहिये। अब मैं उन चीज़ों का बयान करूँगा जो तालिबइल्म को करनी चाहिये और जो उस पर फ़र्ज़ हैं। इन चीज़ों का ज़िक्र (चर्चा) करने से पहले बेजा (अनुचित) न होगा अगर मैं तालिबइल्म की मुख़्तसर तारीफ़ (संक्षिप्त परिभाषा) कर दूँ।

तालिबइल्म से मुराद (अभिप्राय) वह शख़्स है जो अपनी तबियत (रूचि) को मौजूदा हालत (वर्तमान स्थिति) से बेहतर करना चाहता है, जो अपनी क़ुव्वतों (क्षमताओं) को जहाँ तक उनमें बढ़ने की ताक़त हो वहाँ तक, और बढ़ाना चाहता है, जो इल्म (ज्ञान) ख़्यालात (विचारों) के उन खज़ानों से, जो हज़ारों बरस में सैकड़ों नस्लें अपने आइन्दा आने वाले वारिसों (उत्तराधिकारी) के लिये छोड़ गई थीं, फ़ायदा हासिल करना चाहता है, जो इस बात का ख़्वाहिशमंद (इच्छुक) हो जहाँ से अक़्ल (बुद्धि) का सबक़ (सीख) उसको मिले, जहाँ से उम्दा (उत्कृष्ट) बातें उसे मालूम हों, जहाँ से दानिश (ज्ञान-विज्ञान) और आला ख़्यालात (उच्च विचार) उसको मयस्सर (प्राप्त) आ सकें, जहाँ से उसे दुनिया की बाबत (संबंध में) और ख़ुद (स्वयं) अपनी बाबत ऐसी बातें मालूम हों जो उसे नहीं मालूम और जिनके मालूम करने से उसको दुनिया में मदद मिलेगी वहाँ से इन सब को हासिल करे। तालिबइल्म होने के लिये कम से कम इतनी अक़्ल ज़रूर होनी चाहिये कि वह नेक व बद (अच्छाई-बुराई) में, मूफ़ीद व मुज़िर (लाभदायक और हानिकारक) में, क़ाबिले पसन्द (रूचिकर) और क़ाबिले नफ़रत (घृणा योग्य) बातों में तमीज़ (भेद) कर सके। उसको चाहिये कि मेहनत व मशक़्क़त (परिश्रम) से तालीम हासिल करे, उसको चाहिये कि तालीम से अपने दिल में ग़ौर व फ़िक्र (चिन्तन-मनन) का माद्दा (योग्यता) पैदा करे, उसको चाहिये कि वह ग़ौर व फ़िक्र के ज़रिये से उन अच्छी बातों को हासिल करने की कोशिश करे जो इंसान के लिये मुमकिन हैं। लेकिन इस दुनिया में कुछ तरक़्क़ी नहीं कर सकता, वह अपना असर (प्रभाव) दूसरों पर नहीं डाल सकता जब तक कि वह इस्तक़लाल (दृढ़ता) के साथ अपनी इख़्लाक़ी (नैतिक) सतह (स्तर) दुनिया की मुश्किलों में बुलन्द न रखे। वह शख़्स हरगिज़ तालिबइल्म कहलाने का मुस्तहक़ (पात्र) नहीं जो अपने फ़राएज़ (कर्तव्यों) को इस्तक़लाल और संजीदगी (गंभीरता) से पूरा न करे। उसको हर्गिज़ अपने दिल में यह न समझना चाहिये कि वह कुछ नहीं कर सकता क्योंकि अगर वह ऐसा ख़्याल करेगा तो वह कुछ भी न कर सकेगा बल्कि उसको हिम्मत के साथ किये जाना चाहिए क्योंकि वह ऐसा करेगा तो ज़रूर अपने काम में कामयाब होगा:

हिम्मत बुलंददार कि पेशे ख़ुदा व ख़ल्क़
बाशद बक़द्रे हिम्मत तव एतेबारे तव

(अपना साहस ऊँचा रखो क्योंकि ख़ुदा और लोगों की दृष्टि में तेरा विश्वास उतना ही होता है जितनी तेरी हिम्मत होती है।)

तालिबइल्म की ज़िंदगी का मक़सद यह होना चाहिये कि जो अवहाम (अंधविश्वास) व ताअस्सुबात (घृणा) उसमें हों उन पर ग़ालिब (विजयी) आ जाए और उसको चाहिये कि ज़लील आदतों (कुत्सित प्रवृतियों) को छोड़ दे और उसका फ़र्ज़ है कि वह अपने जाहिल (निरक्षर) भाइयों में तालीम की इशाअत (प्रसार) करे और इशाअते तालीम

(शिक्षा प्रसारण) को भी अपनी तालीम का जुज़्व (अंश) समझे। उसको इल्म को, इल्म के लिये पढ़ना चाहिये और साथ ही उसको ज़िंदगी की ज़रूरत से भी ग़ाफ़िल (बेपरवाह) नहीं होना चाहिये। अगर वह बुनियादी ज़रूरियात (मौलिक आवश्यकताओं) से ग़ाफ़िल होगा तो वह अपने ख़ानदान को संभाल नहीं सकता और वह बनीएनौअ इंसान (मानवजाति) के लिये मुफ़ीद (लाभदायक) नहीं हो सकता। अगर वह पढ़ा हुआ न हो तो वह आदमी नहीं और वह दुनिया में कुछ अच्छे काम नहीं कर सकता।

नोट: 1911 ई. में जब डा. ज़ाकिर हुसैन आठवीं कक्षा में पढ़ते थे तो उन्होंने यह लेख लिखा था। लगता है किसी अवसर पर भाषण करने के लिए यह लिखा गया होगा।

तालीम और आज़ादी-ए-फ़िक्र
(शिक्षा एवं विचारों की स्वतंत्रता)

शिक्षा सामान्यत: वर्तमान परिस्थितियों की पक्षधर और प्रत्येक मूलभूत बदलाव अथवा परिवर्तनों के विरोध में सबसे महान शक्ति होती है । वर्तमान सामाजिक पद्धति जब अपने को संकट में पाती है तो तुरन्त (यदि अभी उसकी प्रभुसत्ता विद्यमान है) शैक्षिक प्रणाली पर अधिकार जमा लेती है और अल्प आयु के बच्चों के प्रभाव ग्रहण करने वाले मन-मस्तिष्क में अपने गुणों का विश्वास और उनकी महानता को बैठाने लगती है । उधर सुधारकगण उन लोगों को इस मोर्चे से हटाना चाहते हैं । ग़रीब बच्चों का दोनों पक्षों में से कोई ध्यान नहीं करता । यह मानो बिना सीखे सिपाही होते हैं जिन्हें चाहे इस टुकड़ी में सम्मिलित कर लिया जाए चाहे उसमें । यदि बच्चों का ध्यान रखा जाए तो शिक्षा का उद्‌देश्य यह न हो, कि बच्चे उस वर्ग के साथ हों या दूसरे पक्ष के संग अपितु उन्हें इस योग्य बनाया जाए कि वह समझदारी के साथ दोनों पक्षों में से किसी एक का चयन कर सकें । शिक्षा का उद्‌देश्य यह भी न हो कि बालक वह सोचें जो उनके गुरू व शिक्षक सोचते हैं अपितु उनमें स्वयं चिंतन-मनन, सोच विचार की भावना उत्पन्न कराई जाए । अत: यदि बच्चों के अधिकारों का ध्यान हो तो शिक्षा का अस्तित्व एक राजनैतिक यंत्र की दृष्टि से बाक़ी न रहे ।

न्याय और स्वतंत्रता के वह दो सिद्धांत जो सामाजिक अथवा सामुदायिक रूपरेखा की नवीन संरचना में बहुत सी चीज़ों पर छाए हुए हैं शिक्षा के क्षेत्र में आकर यह स्वयं अपने स्थान पर पूर्ण उपयोगी नहीं रहते । न्याय, यदि इसे अधिकारों की समानता के अर्थ में लिया जाए, तो स्पष्ट है कि बच्चों के मामले में सम्भव नहीं । रही स्वतंत्रता तो पहली बात यह है कि वास्तव में यह एक नकारात्मक वस्तु है । यह आज़ादी में हर यथासम्भव हस्तक्षेप की विरोधी है किन्तु इससे कोई सकारात्मक एवं सृजनात्मक सिद्धांत हाथ नहीं आता । शिक्षा में एक सीमा तक अधिकार और प्रभुत्व से बचना संभव नहीं । हाँ शिक्षकों को इस प्रभुत्व व अधिकार के प्रयोग का एक ऐसा रास्ता खोज निकालना है जो आज़ादी की इच्छा के अनुरूप हो । जहाँ प्रभुत्व से बचना संभव न हो वहां आवश्यकता होती है आदर-सम्मान की । जो व्यक्ति बच्चों को वास्तव में अच्छी शिक्षा देना चाहता है और उनके गुणों को प्रकाष्ठा प्रदान करने का इच्छुक है उसे इसी आदर तथा मान-सम्मान की

भावना से ओत-प्रोत होना चाहिए । मशीन में ढले हुए लोहे जैसी कठोर सामाजिक प्रणाली के प्रमुखों में यह भावना सिरे से होती ही नहीं है । स्वतंत्रता, पूंजीवाद, फ़ाशिस्टवाद, साम्यवाद की और हुकमी जमाअतें और वह समस्त कारागार व बन्दी गृह जो उपदेशकों, समाज सुधारकों और उनके विरोधीगणों ने मानव आत्मा को बन्दी बनाने या क़ैद करने के लिए बनाए हैं इसी श्रेणी में आते हैं । इस शिक्षा में, जिसके नियम-सिद्धांत सरकारी कार्यालयों से निकलते हों और साथ ही अपने बड़े बड़े वर्गों अथवा जमाअतों के निर्धारित पाठ्यक्रमों और सर्वाधिक कार्य से थके हुए शिक्षकों तथा अपने इस इरादे के कारण कि एक ही ढंग की नपी-तुली योग्यता के लोग पैदा कर दिये जाएं, मान-सम्मान की यह कमी सारभौमिक व सर्वव्यापी है । इस मान-सम्मान अथवा आदर के लिए आवश्यकता है विचारों और जीवन की गरमाहट की । और फिर जिनकी शक्ति या वास्तव में जिनकी उपलब्धियां सबसे न्यूनतम हैं उन्हीं के विषय में सबसे अधिक ध्यान देना आवश्यक है । बच्चा कमज़ोर होता है और प्रत्यक्ष रूप से मूर्ख शिक्षक बलिष्ट होता है और आम भाषा में बच्चे से अधिक समझदार, विद्धवान । एक आदरहीन शिक्षक या मानहीन कार्यालय पद्धति का रसिया शिक्षक बड़ी सहजता व आसानी से बच्चे को उसकी कमज़ोरियों के कारण हेय दृष्टि से देखने लगता है और अपने घमंड में यह समझता है कि मेरा कर्तव्य है कि बच्चे को फलॉ सांचे में ढालूँ । यह अपने विचारों में स्वयं को एक कुम्हार समझता है जिसके हाथ में बच्चा मानो मिट्टी के समान है और वह बच्चे को कोई अनैतिक अप्राकृतिक रूप दे देता है जो आयु बढ़ने के साथ साथ पक्का होता जाता है । फिर मानसिक तनाव और आत्मिक बेचैनियां टपकने लगती हैं और उनसे ईर्ष्या, द्वेष, निर्दयता प्रकट होने लगती है । यह विश्वास भी बढ़ता जाता है कि दूसरों को भी इस कठिन अथवा रंग रूप बिगाड़ने वाली मंज़िल को पार करने पर मजबूर करना चाहिए । जिस शिक्षक या गुरू में आदर भाव पाया जाता है वह बच्चे को किसी सांचे में ढालने का ध्यान न करेगा । वह तो प्रत्येक जानदार या ज़िन्दा वस्तुओं में, विशेष रूप से मानव अस्तित्व में और फिर इस में भी सबसे अधिक बच्चे में एक पावन, असीम, अवर्णनीय वस्तु, उससे सम्बन्धित एक विचित्र मोल की वस्तु अर्थात् दुनिया की एक छोटी सी वस्तु के एक विद्यमान कण के अस्तित्व का बोध कराता है । बच्चे के समक्ष ऐसा शिक्षक एक ऐसा शिष्टाचार, जिसे शब्दों में बयान नहीं किया जा सकता, का अनुभव करता है एक ऐसी नम्रता जो विवेक के कारणों से सुगमतापूर्वक मान्य न सही लेकिन फिर भी इस सहूलतपसन्द ग़लत विश्वास की अपेक्षा ज्ञान व प्रज्ञा से निकटतर है जो अधिकांश माता-पिताओं और शिक्षकों में पाए जाते हैं । बच्चे की लाचारी और किसी का सहारा ढूंढने का अनुरोध उसमें एक अमानत की ज़िम्मेदारी का अहसास पैदा करती है । उसका सोच विचार उसे बताता है कि बच्चा अच्छाई व बुराई दोनों के लिए कैसी-कैसी सम्भावनाएं अपने भीतर रखता है, उसकी भावनाएं किस किस प्रकार से पोषण पा सकती हैं या किस

प्रकार दबाई जा सकती हैं, उसकी इच्छाएं अकांक्षाएं किस प्रकार मुरझा जाएंगीं । उसका जीवन किस प्रकार कम ज़िन्दा रह जाएगा, उसकी अमानत किस प्रकार घायल और उसकी इच्छाएं किस प्रकार इरादे में बदल जाएंगी यह सभी भावनाएं मिलकर उसमें एक इच्छा जागृत करती हैं कि वह इस संदर्भ में बच्चे की मदद करे । वह बच्चे को किसी बाहरी उद्देश्य के लिए नहीं (जो राज्य ने निर्धारित किये हों या किसी और सामुहिक अत्याचार ने) अपितु स्वयं उन उद्देश्यों की ख़ातिर बल प्रदान करना, सशक्त बनाना और हथियारों से लैस कराना चाहता है जिन्हें बच्चे की आत्मा गुप्त रूप से तलाश कर रही है। जिस व्यक्ति में यह अहसास हो वह गुरू के अधिकार के स्वतंत्रता सिद्धांत को तोड़े बिना ही प्रयोग में ला सकता है ।

जब तक शिक्षा का उद्देश्य सोच और विचार के स्थान पर विश्वास और भक्ति पैदा करना बाक़ी रहेगा, शोध की स्वतंत्रता का ख़ून होता रहेगा । शिक्षा का उद्देश्य सच्चाई की इच्छा की परवरिश होनी चाहिए न कि यह विश्वास पैदा करना कि कोई ख़ास धर्म सच्चा है । लेकिन समस्या यह है कि धार्मिक एकता ही लोगों को अतिक्रमण पद्धति में बांधे रख सकता है । जितना धर्म पर विश्वास दृढ़ और अटूट होगा उतना ही संघर्ष में प्रगति अधिक होगी । विश्वास की यह दृढ़ता और कार्यकुशलता की प्रगतिशीलता को उत्पन्न करने के लिए बच्चे के स्वभाव को पीछे डाल दिया जाता है और उसकी सोच के दायरे को तंग अथवा संकुचित कर दिया जाता है । लेकिन विचारों की स्वतंत्रता को दबा कर संघर्ष और लड़ाई में जो सफलता प्राप्त होती है वह बहुत ही सस्ती और तुच्छ है । अंततोगत्वा सफलता के लिए भी मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति उतनी ही आवश्यक है जितनी कि एक सुन्दर सुखमय और सौभाग्यपूर्ण जीवन के लिए । दुर्भाग्य से शिक्षा के प्रति यह धारणा कि यह शारीरिक व्यायाम का एक रूप है, ग़ुलामी के माध्यम से कार्य में एकता अथवा समरूपता उत्पन्न कराने का एक माध्यम है, बहुत ही प्रचलित है और विशेष रूप से इस धारणा की पुष्टि इस बात से की जाती है कि यह सफलता प्राप्ति का एक माध्यम है । प्राचीन इतिहास की पौराणिक कथाओं के रसिया इसकी पुष्टि और समर्थन में एथिन्स पर इस्पारटा की विजय का उदाहरण देगें परन्तु यह स्मरण रहे कि लोगों के विचारों पर अथवा मन मस्तिष्क पर न तो एथिन्स का शासन रहा न ही इस्पारटा का, आज हममें से प्रत्येक व्यक्ति यदि वह किसी बीते हुए काल में जन्म ले सकता तो एथिन्स में जन्म लेना चाहता, इस्पारटा में नहीं ।

शिक्षकगण सामान्य रूप से कुछ आदतों को अपनाने का सुझाव देते हैं जैसे आज्ञाकारिता, अनुशासन, सांसारिक सफलता की बेपनाह कशमकश, विरोधियों से घृणा और नफ़रत, बिना तर्क वितर्क के विश्वास करने का स्वभाव व आदत और शिक्षक की बुद्धि अथवा विवेक पर आधारित विश्वास । यह सारी की सारी आदतें जीवन के विपरीत हैं । आज्ञाकारिता और अनुशासन के स्थान पर हमें आवश्यकता पड़ती है स्वतंत्र रूप से

कार्य करने की और आंतरिक उथल-पुथल के सुरक्षा की । कठोरता, निर्दयता अथवा बेरहमी की शिक्षा के स्थान पर शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए कि वह सोच विचार में न्याय की परवरिश करे । अनादर, अपमान के स्थान पर उसे आदर-सम्मान पैदा करना चाहिये, समझने और समझाने की कोशिश में यह आवश्यक नहीं कि दूसरों की राय अथवा विचारों से तालमेल पैदा किया जाए बल्कि यदि विचारों में भिन्नता हो तो उस व्यक्ति के साथ जिस से विचारों की भिन्नता है विरोध के कारणों का स्पष्ट बोध शामिल हो । तुरन्त विश्वास कर लेने की धारणा के स्थान पर सृजनात्मक एवं रचनात्मक भ्रम तथा मानसिक महत्वपूर्ण रूचियों को गति प्रदान करना और उन बहुरंगीय लोकों का अहसास पैदा कराना चाहिये जो विचारों के साहस और चिंतन-मनन की जुरअत से विजित किये जा सकते हैं ।

हमारी शिक्षा संस्थाओं में अनुशासन और आत्मसयमं पर जो बल दिया जाता है वह अधिकार का एक ऐब है । आत्मसयंम की एक वह प्रकार है जो प्रत्येक उद्देश्य प्राप्ति के लिए अनिवार्य है, परन्तु आत्मसयंम की यह बढ़िया व सुन्दर अनुभुति स्वयं भीतर से उत्पन्न होती है और एक दूरस्थ उद्देश्य के लिए निरंतरता के साथ प्रयत्न करने तथा उस के मार्ग में बहुत सी वस्तुओं को त्यागने और बहुत से जोखिम उठाने से अभिप्रेरित है । इसमें बहुत से छोटे-छोटे उफानों और कामनाओं को इरादे के अधीन करना पड़ता है और इसके लिए शानदार सृजनात्मक अथवा रचनात्मक आकांक्षाओं के माध्यम से कर्म का मार्गदर्शन करना होता है । ऐसे अवसरों पर भी, कि यह आकाक्षाएं स्वयं देदीप्यमान होकर जाग न उठें नियंत्रण होना चाहिए । इस रोक एवं आत्मसयंम के बिना कोई हौसला चाहे वह अच्छा हो या बुरा पूरा नहीं हो सकता । यह निग्रह स्वयं अपने इरादे से पैदा होता है न कि किसी बाहरी अथवा विवशता के कारण। लेकिन यह अनुभति जो बुरी नहीं, इसी पर शिक्षा संस्थाओं में ज़ोर नहीं दिया जाता ।

आर्थिक खींचा-तानी अथवा संकट में कठोरता और अत्याचार की शिक्षा से उस समय बचा नहीं जा सकता है ताकि हमारी सामाजिक पद्धति की बनावट में परिवर्तन न हो । यह बात विशेष रूप से मध्यम वर्गीय स्कूलों में और भी पाई जाती है क्योंकि स्कूल की सफलता का आधार माता-पिता में उसकी नेकनामी पर है और यह नेकनामी विद्यार्थियों की सफलता के प्रचार प्रसार पर निर्भर है । यह उन समस्त स्थितियों की एक कड़ी है जिसमें किसी राज्य के मुक़ाबले में आगे बढ़ जाने की प्रणाली अपना नुक़सान स्वयं करती है । विद्या, ज्ञान, अथवा शिक्षा की प्राकृतिक व खोट रहित सच्ची अभिलाषा बच्चों में कुछ कम नहीं पाई जाती । और कुछेक परिस्थितियों में जहां यह इच्छा दबी होती है उसे उभारा जा सकता है । लेकिन शिक्षक इसे बहुत बेदर्दी और कठोरता से कुचलते हैं इसलिए कि उन्हें प्रमाण में श्रेष्ठता एवं परीक्षा का ध्यान होता है । प्राथमिक विद्यालय में प्रवेश से लेकर उच्च शिक्षा के समापन तक योग्य लड़कों को चिंतन और मानसिक अभिरूचियों के

पालन पोषण का अवसर ही नहीं मिलता। आरभं से अन्त तक परीक्षा के लिए संदर्भ ग्रंथों और पाठ्य पुस्तकों में लिखित तथ्यों की एक लम्बी सूची के अतिरिक्त और कुछ होता ही नहीं। विद्यार्थियों में जो सबसे बुद्धिमान या कुशल होते हैं वह अन्त में शिक्षा से घबरा जाते हैं और इसे किसी प्रकार भुला करके कर्म की दुनिया में प्रवेश पाने के इच्छुक रहते हैं। लेकिन यहाँ भी आर्थिक ढांचा उन्हें बांधे रखता है। और उनकी सभी प्राकृतिक इच्छाएं धूमिल और नष्ट हो जाती हैं।

शिक्षक के विवेक और उस की बुद्धिमत्ता पर आश्रित होकर बिना किसी तर्क के हर बात को मान लेना बहुधा लड़के-लड़कियों के लिए बहुत सरल काम है, इसमें अपने विचार और विवेक की आवश्यकता नहीं पड़ती। और फिर बात भी तर्कसंगत जान पड़ती है कि उस्ताद अपने शागिरदों से अधिक जानता है। इसके अतिरिक्त यदि उस्ताद असाधारण व्यक्ति नहीं तो उसकी दृष्टि में अच्छा बनने का यह भी एक माध्यम है। लेकिन मान लेने अथवा स्वीकार करने का यह दोषयुक्त स्वभाव आगे चल कर बहुत घातक प्रभाव उत्पन्न करता है। यह इंसानों में एक मार्गदर्शक की इच्छा को जागृत कर देता है। और फिर जो कोई इस रूप में मिलता है उसे यह अपना मार्गदर्शक स्वीकार कर लेते हैं। गिरजाघरों, हुकुमतों, राजनीतिक गुटबंदियों, और उन समस्त प्रणालियों अथवा सामाजिक पद्धतियों की शक्तियाँ जो भोले भाले इंसानों को अपने और अपनी क़ौम के उद्देश्य के विपरीत पुरानी पद्धतियों और प्राचीन सामाजिक सिस्टम के अनुमोदन, समर्थन पर तैयार करती हैं इसी आदत से पैदा होती हैं। संभव है कि यथासंभव प्रयत्न के बावजूद विचारों की आज़ादी बहुत आम न होगी।

परन्तु उस समय की तुलना में वस्तुत: अधिक होगी। यदि लड़के से कुछेक परिणामों अथवा बातों को स्वीकार कराना उद्देश्य न हो अपितु उसमें चिन्तन की आदत उत्पन्न कराना अपेक्षित हो तो शिक्षा, मेरा विश्वास है, बिल्कुल दूसरे ढंग से दी जाये, जैसे पढ़ाने की यह तीव्रता कम हो और चर्चाएं अधिक हों। विद्यार्थियों को विचारों के प्रकटन के अधिक अवसर प्राप्त हों। और शिक्षा उन वस्तुओं से अधिक सम्बन्ध रखने का प्रयास करे जिनमें विद्यार्थी को दिलचस्पी हो और इन सब बातों से बढ़ कर यह कि मानसिक उत्साह ही रूचि को गति प्रदान करने और उभारने का साधन हो। यह जगत जिसमें हम रहते हैं बहुत ही आश्चर्यवर्धक और रंगा-रंग है। कुछ चीज़ें तो बहुत सादा व आसान प्रतीत होती हैं, विचार करो तो उतनी ही कठिन दिखाई देती हैं।

बहुत सी वस्तुएं जिनका पता चलाना असंभव प्रतीत होता है, उन्हें मेहनत और बुद्धिमत्ता प्रकट कर देती है। विचार और चिंतन की शक्ति वह विशाल मैदान है जिसे यह जीत लेता है और वह अति विशाल मैदान जिनका एक धुंधला सा चित्र यह मनन और चिन्तन शक्ति द्वारा प्रस्तुत करता है। यह वस्तुएं उन लोगों को, जो रोज़मर्रा (दैनिक दिनचर्या) से ज़रा परे पहुंच गए हैं, उन्हें एक विचित्र बहुमूल्य पूंजी उपलब्ध कराती है

और उन्हें आये दिन की कम हैसियत और धुंधला देने वाली छोटी छोटी बातों से मुक्ति दिला देती है जिससे उनका पूरा जीवन, जीवन की रंगीनियों, दिलचस्पियों से भर जाता है और साधारण जीवन के कारागार की दीवार टूट कर गिर जाती है । वही उत्साह, हौसला मंदी, शौक़ और उमंग जो लोगों को दक्षिणी ध्रुव ले जाता है, जो बल के एक निर्णय के परीक्षण के लिये बहुतों को संघर्षरत बना देता है, वही चिन्तन-मनन में अपने लिये एक रास्ता निकाल सकता है जो न घातक रूप से हानिकारक हो, न कठोर, न निर्दय अपितु मानव जीवन और उस देदीप्यमान लावण्य एवं सौन्दर्य को सम्मिलित करके जो इंसानी आत्मा "अनजानी" बुलंदियों से ला रही है, मानवता की मर्यादा में बढ़ोतरी का कारण हो । इस आनन्द को थोड़ा या बहुत हर उस व्यक्ति तक पहुंचा देना, जो उसकी क्षमता एवं योग्यता रखता है असली और वास्तविक उद्देश्य है जिसके लिये मानसिक उत्साह की खुशी अनिवार्य रूप से दुर्लभ होगी, बहुत कम लोग हैं जो इससे लाभान्वित और आनन्दविभोर हो सकेंगे । पर साधारण शिक्षा इस बहुमूल्य गुण का किस प्रकार ध्यान कर सकती है । मेरा यह मत नहीं कि मानसिक हौंसलामंदी का आनन्द जवानों में बूढ़ों से अधिक प्रचलित और बच्चों में तो बहुत ही आम है । पर बाद की जिन्दगी में इसलिये अनोखा और दुर्लभ हो जाता है कि शिक्षा के माध्यम से इसके कत्ल (हत्या) का हर सभव प्रयास किया जाता है । मानव जितना ख्याल से डरता है दुनिया में और किसी वस्तु से नहीं डरता, न विनाश से, यहां तक कि मृत्यु से भी नहीं । विचार इन्क़लाब लाने वाला होता है और विनाशकारी भी, बरबाद व तबाह करने वाला भी, और डरावना एवं भयानक भी । यह प्रचलित रीतियों, रिवाजों, सुविधाओं, सहुलियतों आरामदायक आदतों, स्वभावों आदि किसी पर भी दया नहीं करता । यह आरजकताप्रिय है और सिद्धांत अथवा संविधान से मुक्त । यह अधिकार, सत्ता और अत्याचार की ओर से बेपरवाह है और शताब्दियों के जाने, परखे विवेक, समझ, बुद्धिमत्ता से भी निश्चिंत है । ख़्याल, भावना, विचार नर्क की अन्धेरी गहराईयों तक में झांकता है और डरता नहीं । यह उस नीच, अधर्म, दुर्बल इन्सान को ख़ामोशी की गहराईयों में घिरा हुआ देखता है पर एक गर्व की दृष्टि से। इस प्रकार, बिना प्रभाव ग्रहण किये हुए, झेल जाता है मानो यही पूरी सृष्टि का स्वामी है। विचार और भावना महान हैं, गतिशील हैं और स्वतंत्र, इस दुनिया का प्रकाश हैं और मानव की प्रतिभा एवं विशेष शान।

परन्तु यदि ख़्याल को केवल कुछेक लोगों के अधिकार के स्थान पर, बहु संख्यक की मिलकियत होना है तो हम को भय की ओर से मुंह मोड़ लेना चाहिये । डर ही इंसानों को रोकता है । इसका डर कि कहीं उनके प्रिय मत धोखा न साबित हों । इसका डर कि जिन मूलभूत परिस्थितियों में वह जीवन बिताते हैं वह घातक एवं अहितकर न ठहराई जायें । इसका डर कि कहीं वह स्वयं मान-सम्मान के इससे कम के हक़दार न निकलें जितना वह समझा किये हैं ।

क्या मज़दूर सम्पत्ति के प्रति स्वतंत्र रूप से सोचें। फिर हम अमीरों की क्या स्थिति होगी। क्या नौजवान मर्द-औरतें अपने आपसी सम्बन्धों के विषय में स्वतंत्रता से सोचें। फिर शिष्टाचार, नैतिकता की क्या गति होगी ? सिपाही युद्ध के प्रति विचारों की स्वतंत्रता रखें तो सैनिक शासन की क्या स्थिति होगी ? नहीं, ख़्याल से बाज़ आ जाओ, अर्थात ख़्याल को छोड़ दो, ख़ुदा की पनाह। फिर पक्षपात के अंधेरों में लौट चलो कि कहीं सम्पत्ति, इख़लाक (शिष्टाचार) और जंग (युद्ध)ख़तरे में न पड़ जायें। अच्छा है कि इन्सान बेशऊर (अबोध) रहे, आलसी रहे, अत्याचारी रहे पर उसका ख़्याल आज़ाद न हो। यदि उसका ख़्याल आज़ाद हुआ तो सम्भव है यह इस प्रकार न सोचे जैसे हम सोचते हैं और यह वह विपदा है जिसके टालने के लिये हर क़ीमत कम है। अपनी आत्मा की अचेत गहराइयों में ख़्याल की स्वतंत्रता के विरोधी यह प्रमाण प्रस्तुत करते हैं और इसी के अनुरूप अपने गिरजाघरों, अपनी हुकुमतों, अपने स्कूलों और क्लबों में कार्यरत रहते हैं।

कोई नीव या आधार जिसकी सिंचाई डर से हुई हो वह जीवन की सहयोगी नहीं हो सकती। इंसान के मामलों का रचनात्मक व सृजनात्मक नियम आशा है न कि भय। वह सब कुछ जिसने मनुष्य को बड़ा बनाया अच्छाई और नेकी की प्राप्ति के प्रयासों से जन्मा है। बुराई को दूर करने की कशमकश से नहीं। आधुनिक शिक्षा में चूंकि बहुत कम किसी बड़ी आशा की रूह (आत्मा) होती है इसीलिए उससे अच्छे परिणाम कम निकलते हैं। बच्चों के शिक्षकों के मन-मस्तिष्क पर भविष्य की रचना की तुलना में भूतकाल की विद्यमानता का विचार अधिक छाया और सिर चढ़ा होता है। परन्तु शिक्षा केवल घिसी पिटी निर्जीव घटनाओं पर आधारित दोषयुक्त ज्ञान नहीं होना चाहिए। इसे एक क्रियाशील प्रक्रिया होना चाहिए जिसकी दिशा इस संसार की ओर हो जिसे हमारे प्रयत्न प्रक्रिया पैदा करेंगे। इसकी रूह यूनान और पुनर्जागरण के मिटते सौन्दर्य एवं हुस्न की दुःख भरी भूख न होनी चाहिए अपितु वर्ग और समूह के स्वीकार्य भविष्य सम्बन्धी रूप का एक उज्जवल दृश्य होना चाहिए। इन उपलब्धियों, सफलताओं का स्मरण, जो आने वाला ख़्याल प्राप्त करेगा, और पूरी सृष्टि पर मनुष्य की दृष्टि का दिनों दिन बढ़ने वाला और प्रत्येक क्षण विशालता ग्रहण करने वाला क्षितिज प्रमाणित होगा।

— ज़ाकिर हुसैन ख़ाँ (बर्लिन)

नोट: रिसालए 'जामिया', जुलाई, 1923 ई., न. 1

जामिया के चिन्ह (मोटो)

"जानते हो इस निशान का मतलब क्या है ? देखो इसमें सब से ऊपर एक सितारा है, जिसमें लिखा है अल्लाहोअकबर । जब अंधेरी रात में ग़रीब मुसाफ़िर जंगल बयाबान में सफ़र करते हुए राह भटक जाते हैं, कोई राह बताने वाला नहीं होता तो वह सितारों को देख कर रास्ता निकालते हैं । जामिया वालों को रास्ता बताने वाला सितारा यही अल्लाहोअकबर का सितारा है । उनकी नज़र इसी पर जमी है । यही दुनिया की अंधियारी में उन्हें राह बताता है, इसलिए कि ये जताता है कि अल्लाह ही सब से बड़ा है । जिस ने उस के आगे सिर झुकाया उस ने सच्ची ज़िन्दगी का पता पाया । उस के सामने झुककर फिर यह सिर किसी और के सामने कैसे झुक सकता है । इस चमकते हुए हिदायत (मार्गदर्शन) के तारे के नीचे एक किताब है जिस पर लिखा है अल्लमाइंसाना मालम यालम । ये किताब क़ुरान पाक है । इससे ख़ुदा ने अपने बंदों को अपनी मर्ज़ी (इच्छा) का पता दिया कि वह क्या चाहता है । किस तरह नेकी करके आपस में एक-दूसरे को भाई-भाई जान कर, ग़रीब - अमीर का फ़र्क (अन्तर) मिटा कर रंगो रूप की तमीज़ (भेद) हटा कर आक़ा (स्वामी) और ग़ुलाम (दास) की तक़सीमें (विभाजन) मिटा कर, उसके बंदे अच्छे - सच्चे बंदे बन सकते हैं । इस किताब ने आदमियों को तारीकी (अंधकार) से रोशनी (प्रकाश) में पहुँचाया और जो राह भटक गये थे उन्हें भी सीधी राह बताई । और इस किताब के लाने वाले ने अपनी पाक (पवित्र) ज़िन्दगी की मिसाल (उदाहरण) से, अपनी आँखों की तासीर और दिल की गर्मी से एक ग्रोह (दल) ऐसे नेक आदमियों का तैयार कर दिया जिस ने दुनिया से तरह - तरह की बुराइयों को मिटा दिया और इसमें ख़ुदा की सच्ची बिरादरी क़ायम की ।

इस निशान के दोनों तरफ़ खजूर के दो पेड़ हैं । ये क्या हैं ? ये उस देश का निशाना हैं जहाँ ख़ुदा का ये आख़िरी (अंतिम) पयाम लाने वाला पैदा हुआ । इस बंजर वादी (घाटी) का निशान जिसमें यूँ तो कुछ उगता न था, पर जहाँ दीने इलाही (ईश्वरीय मार्ग) के पौधे ने जड़ पकड़ी । जो लोग नामुआफ़िक़ हालात (प्रतिकूल परिस्थितियां से) अपने कामों में घबरा जाते हैं उनके लिए ये दरख़्त ढारस का सामान हैं कि इस देश से जहाँ इन खजूरों के सिवा फूल - बूटा नाम को न था हिदायत के चश्मे (स्रोत) उबल पड़े जिन से दिलों की बस्तियाँ सैराब (सिंचित) हो गईं । फिर तुम ज़ाहिरी हालात (प्रत्यक्ष परिस्थितियां) को देख कर क्यों थुड़ोले होते हो ।

सब से नीचे एक पतला - सा हिलाल (नवोदित चन्द्रमा) है जिसमें लिखा है "जामिया मिल्लिया इस्लामिया"। ये हिलाल अभी छोटा - सा है लेकिन जैसे हिलाल (द्विज का चंद्रमा) बढ़ कर चौदहवीं रात का चाँद बन जाता है, उसी तरह ये जामिया जिस के काम की अभी शुरूआत है इंशाअल्लाह (ईश्वर ने चाहा) बढ़ कर रौशन चाँद बनेगी और देखने वालों की आँखों का सुरूर (आनंद) होगी।"

नोट : बच्चों की पत्रिका 'पयामे तालीम' के पाठकों के लिए लेख।

ऑल इंडिया मुस्लिम एजूकेशनल कान्फ्रेंस

मार्च 1937 में अलीगढ़ में होने वाले अखिल भारतीय मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन में अपने अभिभाषण में उन्होंने विचार रखा था:

अक्सर कहा जाता है कि मुसलमानों की आधुनिक शिक्षा का, जो शिक्षा के सरकारी तंत्र पर ही निर्भर है और उसी के आदेश पर चलती है, कोई आदर्श ही नहीं है । मैं यह नहीं मानता । यह ज़रूरी नहीं है कि किसी आदर्श को निर्धारित शब्दों में लिपिबद्ध किया जाए । इतना ही काफ़ी है कि वह शिक्षा देने वालों, उसकी व्यवस्था करने वालों और शिक्षा दिलाने वालों के, दिमाग़ में मौजूद रहे और उनके कामों से ज़ाहिर होता रहे ।

''हाँ, वह आदर्श क्या था ? यही कि इस देश के उच्च और मध्यम वर्गों के मुसलमान जितनी ज़्यादा संख्या में अपना पेट पाल लें, सरकारी नौकरी पा कर आराम की ज़िंदगी बिता सकें, सरकारी नौकरी पाकर किसी प्रकार सत्ताधारी होने का दावा कर सकें, उतना ही अच्छा हो । ये थोड़े से व्यक्ति अपने जीवन-स्तर को जितना ज़्यादा बढ़ाते जाएंगे, उतनी ही मात्रा में हमें मुस्लिम संप्रदाय को भी अधिक समृद्ध मानना चाहिये । इस तरह के लोगों को जिन तमाम मुश्किलों का सामना करना पड़ता है उन्हें हर तरह से घटाया जाना चाहिये, यहीं, और इसी वक्त, साफ़ तौर पर जो फ़ायदे मिल सकते हैं उनमें किसी बेहतर भविष्य के लिये बनाई जाने वाली अविश्वसनीय योजनाएं दख़ल न दें, व्यक्तिगत जीवन के आराम में राष्ट्रीय नियति की धारणाएं बाधा न डालें । पुराना रास्ता ग़लत है, इसलिये ग़लत है कि वह एक ऐसे बहुमान्य राष्ट्र के रास्तों से अलग है जिसका हम पर आधिपत्य है । राजनीति से दूर रहना चाहिये, क्योंकि यही साफ़ नहीं है कि उन्नति और ऊंची हैसियत पाने की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा को आगे बढ़ाने के लिये मुस्लिम संप्रदाय का राजनीतिक शक्ति प्राप्त करना ज़रूरी है; सरकार का रूप चाहे जैसा हो, ज़रूरी सिर्फ़ इतना है कि वह विधिव्यवस्था बनाए रखे, अपनी प्रजा के बीच होने वाले झगड़ों और मतभेदों को न्यायपूर्वक और निष्पक्षता के साथ निपटाती रहे, कुछ व्यक्तियों को ऊंचे ओहदे दे दे, ताकि वह अपने ही लक्ष्यों को पूरा कर सकें और हमें एक हैसियत दे सकें । मज़हब को तो नहीं छोड़ा जा सकता, क्योंकि सदियों से वह सांप्रदायिक जीवन का केंद्रबिन्दु रहा है, उसे तो क़ायम रखना ही है, लेकिन इस तरह कि सांसारिक लक्ष्यों के साथ उसका कोई संघर्ष न हो, या प्रगति के मार्ग में वह बाधक न बनने पाए । दूसरों के साथ संबंध रखने के बारे में उसकी जो शिक्षाएं हैं और उन में जो समझदारी भरी है उन्हें ज़्यादा सामने न लाया

जाए, इस दुनियां में जो जातियां ज़्यादा आगे बढ़ी हुई हैं उन्हीं के तौर-तरीक़ों को चुपचाप अपना लिया जाए। धर्म में आस्था रखने के और धार्मिक आदेशों का पालन करने के और इस में भी कोई हर्ज नहीं कि धार्मिकता का भ्रम बनाए रखने के लिये धर्म के उन पहलुओं पर, जो तर्क के क्षेत्र से परे हैं, बौद्धिक और दार्शनिक चर्चाएं चलती रहें।

''इस आदर्श की प्राप्ति के लिये जो शिक्षा-पद्धति आवश्यक थी उसे स्थापित किया गया-कुछ तो हमारी अपनी ही कोशिशों से, लेकिन और भी कहीं ज़्यादा विदेशी मदद से। यह तो साफ़ ही है कि इस शिक्षा-पद्धति का एकमात्र उद्देश्य यही हो सकता था कि नौजवान पढ़ना और लिखना सीख लें, अपने गुज़ारे के लिये सरकारी नौकरियां पा जाएं, अपनी ज़िंदगी को एक तरह से पश्चिम के लोगों की ज़िंदगी के नमूने पर ढाल लें, धर्म को बिलकुल छोड़ तो न दें, लेकिन अगर चाहें तो उसके उत्साहवर्द्धक और शक्तिदायक प्रभाव से अपने को अछूता रखें, और राजनीतिक झंझटों से अलग रहें। वक़्त ख़ुद उन्हें सिखा देगा कि अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये राष्ट्रीय हित की बात किस तरह और कब उठाई जाए। दूसरे शब्दों में, शिक्षा का मतलब इतना ही माना जाता था कि कुछ छोटे-मोटे हुनर हाथ में आ जाएं, आज्ञाकारिता के कुछ ढंग दिल में बैठ जाएं, और व्यक्तिगत महत्वकांक्षाओं और प्रतिस्पर्धा वाली प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया जाए।

''अब ज़रा उन संस्थाओं की ओर नज़र डाली जाए जो ख़ासतौर से मुसलमानों के ही फ़ायदे के लिये खोली गई हैं और जिन पर हम ने अपने वक़्त, अपनी शक्ति और अपने साधनों को लुटाया है। क्या वे भी ठीक इसी आदर्श पर नहीं चलती आई हैं ? अकबर इलाहाबादी ने किसी शिक्षित व्यक्ति के जीवन का जो संक्षिप्त ब्यौरा पेश किया है, कि

बी.ए. किया नौकर हुए,
पेंशन मिली, और मर गए

वह क्या इन्हीं मुस्लिम संस्थाओं में पढ़े-लिखे लोगों पर नहीं लागू होता ? तो फिर किन अर्थों में हम इन संस्थाओं को मुस्लिम संस्था कहते हैं ? क्या इस्लाम ने समाज की परिकल्पना व्यक्तियों के एक ऐसे समूह के रूप में की है जो स्वार्थ से प्रेरित होकर संयोगवश एकत्र हो गए हों ? इस्लाम में जिस धार्मिकता की बात है वह क्या उतनी ही औपचारिक और बाह्य है जितनी कि इन संस्थाओं में होने वाले अमल से प्रकट होता है ? क्या इस्लामी राज्यतंत्र का मतलब यही है कि अपने पर आंच न आने दी जाए और जो हमें चाहिये उस की भीख मांगते फिरें ? क्या इस्लाम यही कहता है कि हम सामाजिक परिवेश तथा सामाजिक लक्ष्यों के प्रति उदासीन रहें और अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये दौड़ें - जैसा कि हम ने शिक्षित करने के अपने प्रयत्नों द्वारा अब तक सीखा है? नहीं, हज़ार बार नहीं। ''हमारे ये नए स्कूल, निस्संदेह, मुस्लिम स्कूल होंगे जिन के आदर्श इस्लामी आदर्श होंगे। लेकिन इन आदर्शों की कोई संकीर्ण या ग़लत व्याख्या करके इन्हें संप्रदायवाद और सांप्रदायिक स्वार्थपरता के प्रजननकेंद्र नहीं बनने दिया जाएगा। अनुचित राग-द्वेष उन्हें इस

यथार्थ की ओर से आंख नहीं मूंदने देगा कि अगर, मुसलमान होने के नाते, हम आज़ादी हासिल करने और उसे क़ायम रखने के लिये वचनबद्ध हैं, अगर हमारे लिये यही आदेश है कि पृथ्वी पर से हर प्रकार की ग़ुलामी को हम मिटा कर रहें, अगर हम एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था चाहते हैं जहां अमीर और गरीब के बीच किये जाने वाले भेदभाव की वजह से अधिकांश लोगों को मानव प्रतिष्ठा और मानव अधिकारों से वंचित न किया जा सके, अगर हम समाज में दौलत को नहीं धार्मिकता को उच्च पद और मर्यादा देना चाहते हैं, अगर हम जाति और रंग संबंधी द्वेषभाव को जड़मूल से उखाड़ फेंकना अपना कर्त्तव्य मानते हैं, तो सबसे पहले हमें अपने इन सारे कर्त्तव्यों को अपने ही प्यारे वतन में पूरा कर के दिखाना होगा और इन आदर्शों को यहीं प्राप्त करना होगा। इस देश की ही मिट्टी ने हमें बनाया है और इसी मिट्टी में हमें फिर मिल जाना है।

"इसलिये हमारे ये नए स्कूल हमारे नौजवानों के दिलों में समाज सेवा के लिये इतना जोश पैदा कर देंगे कि उन्हें तब तक सुख की नींद नहीं आ पाएगी जब तक कि उनके इर्दगिर्द और उनके अपने घरों में ग़ुलामी और ग़रीबी, तकलीफ और जहालत (निरक्षरता), बीमारी और अनैतिकता, क्षुद्रता और निराशा क़ायम हैं, और इन बुराइयों को दूर करने में, वे अपने समय को और अपने मानसिक और भौतिक साधनों को खपा देंगे। अपने गुज़ारे के लिये ज़रूर वे कोई काम करेंगे, लेकिन उनका वह रोजगार पेट की ख़ातिर की जाने वाली किसी की ग़ुलामी नहीं होगी। यह रोजगार धर्म और देश की सेवा के लिये होगा, ऐसा रोजगार जो न सिर्फ़ भूख की तड़प को शांत करेगा बल्कि हृदय और आत्मा की आकांक्षाओं की भी बड़े सुंदर ढंग से पूर्ति करेगा। अपने देश की सेवा का व्रत वे अपने धार्मिक आदर्शों के कारण ही लेंगे–उस देश की सेवा का व्रत, जिसे कभी दुनिया ने स्वर्ग का ही प्रतिबिंब बताया था, लेकिन आज जो अगणित मनुष्यों के लिये नरक से भी गया गुज़रा है। अपनी सेवा के ज़रिये वे इस देश की इस तरह कायापलट कर देंगे कि उसके भूखे, बीमार, दुखी, निराश और ग़ुलाम निवासियों के बीच, जिन्हें कि कुछ लोगों की ज़्यादतियों और क्रूरताओं ने, और कुछ दूसरों की कमियों और उपेक्षा भाव ने, इस बुरी हालत पर पहुंचा दिया है कि उनका कुंठित अस्तित्व मानव जाति के जनक परमात्मा के नाम पर भी धब्बा लगाता है, वे परमात्मा के सामने अपना माथा झुकाते वक्त शर्मिंदगी नहीं महसूस करेंगे, जिसे कि रहीम व करीम (दयालु और कृपालु), रोज़ी देने में सख़ी (उदार), बाक़ी (संद्रूप) और अबदी (शाश्वत) कहते हैं।

"केवल इतना ही नहीं। ये नौजवान, अपनी निःस्वार्थ सेवा के ज़रिये, अपने देशवासियों को अंधविश्वासपूर्ण कट्टर देशभक्ति के घृणित परिणामों से भी रक्षा करेंगे, अपने देश को मानव जाति तथा विश्व की सेवा का साधन बनाएं गे। हमारा देश अपनी समृद्धि के लिये कभी भी दूसरों को मुसीबत में नहीं डाले गा, अपनी उन्नति के ख़ातिर दूसरों का कभी दमन नहीं करेगा, दूसरों की ताक़त छीन कर अपने को ताक़तवर नहीं

बनाएगा और न अपनी स्वाधीनता को सुरक्षित रखने के लिये उन्हें ग़ुलाम बनाएगा।'"

आप कहेंगे कि ये शख़्स हमें भविष्य के काल्पनिक क़िस्से क्यों सुना रहा है। क्षमा कीजिये। इस लिये सुनाता हूँ कि इस ओर उम्मीद की एक झलक नज़र आती है और हर जगह "शायद" इस लिये लगाता हूँ कि अपने आस-पास इन उम्मीदों के पूरा होने के मार्ग में जो बाधाएँ हैं उन का अनुमान भी लगाता हूँ। लेकिन एक बात यक़ीन (विश्वास) के साथ कह सकता हूँ और वह यह कि अगर मुसलमानों को इस देश में एक स्वाभिमानी और स्वतंत्र समुदाय के रूप में जीवित रहना है तो उन को अपनी क़ौमी (सामुदायिक) ज़िन्दगी के पिछले पौने-सौ-साल पर सख़्ती के साथ नज़र डालनी होगी, पिछली कोशिशों की तह में जो लक्ष्य मौजूद थे उन पर दोबारा नज़र डालनी होगी और अगर उस से भी महान् लक्ष्य उन के हाथ आ गया जैसा कि मेरा विश्वास है कि ज़रूर आएगा, तो फिर उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये दूसरी चीज़ों के साथ अपनी एक विशेष शिक्षा-प्रणाली तैयार करनी होगी जो किसी अन्य अपूर्ण व्यवस्था की भोंडी नक़्ल नहीं होगी बल्कि विशेष रूप से वह हमारी बनाई हुई होगी। हमें माध्यामिक शिक्षा प्रणाली से पहले सामान्य प्रारंभिक शिक्षा प्रणाली बनाना और जारी करना होगा, फिर माध्यामिक शिक्षा के लिये एक साथ विशेष प्रकार के, संभवत: चार-पाँच प्रकार के स्कूल क़ायम करने होंगे, इन स्कूलों में अपनी संस्कृति के अलावा, जो हर स्कूल का शिक्षा माध्यम होगी, अपने दीन, अपने इतिहास और अपनी भाषा की शिक्षा का पाठ्यक्रम निर्धारित करने और उस के अध्यापकों की तैयारी में विशेष ध्यान देना होगा, मानसिक विकास में व्यक्तिगत तरीक़े के साथ स्कूलों के अन्दर और बाहर सामुदायिक सेवा के मौक़े निकालने होंगे, किताबें पढ़ाने के साथ-साथ अमली नमूनों पर भी ज़ोर देना होगा और केवल ज्ञान देने के स्थान पर मानसिक प्रशिक्षण और केवल शिक्षा के स्थान पर अच्छे चरित्र के निर्माण को प्राथमिकता देनी होगी। और अपने स्कूलों को राष्ट्रीय जीवन के साथ संबद्ध करने का उपाय निकालना होगा।

मैं ने दुश्वार (दुष्कर) कामों की एक लम्बी सूची तैयार कर दी, परंतु यह केवल उन कामों के नाम मात्र हैं, इन की व्याख्या और स्पष्टता को बहुत कुछ छान-बीन की आवश्यकता है, और फिर इस के लिये साधन की तलाश। उन पर आप के बेहतरीन दिमाग़ों की, सालों-साल की कोशिशों की ज़रूरत होगी। यह सब मुश्किल काम हैं, लेकिन करने के काम हैं, और मैं समझता हूँ कि अगर कोई जमाअत (दल) इन्हें करना चाहे तो करने वाले भी मिल सकते हैं। मेरी कामना है कि ये कॉनफिरेन्स अपने आगामी व्यवहारिक रूपरेखा में इन हक़ीक़ी (वास्तविक) कामों को अंजाम (पूर्ण) देने का लक्ष्य भी शामिल कर ले, लेकिन मुझे मालूम नहीं कि ऐसा हो सकेगा या नहीं। अगर न हो सका तो आज हम तो इस कान्फ्रेंस के पचास वर्षीय वजूद (अस्तित्व) पर ख़ुशी मना रहे हैं, डर है कि आगामी पचास वर्ष बाद इस का सोग मनाने वाले भी मौजूद न होंगे।

राष्ट्रीय शिक्षा की त्रुटियाँ शायद क़ौम के वजूद ही को ख़त्म कर दें। और फिर याद उन्हें ही किया जाता है जो मुश्किल काम अपने सर लेते हैं, या तो तूफ़ान में तूफ़ान का मुक़ाबला करते हैं या तूफ़ान से पहले उस के मुक़ाबले की तैयारी। हमारे पिछले काम करने वालों ने जो काम उठाया था वह उस वक़्त बहुत सरल काम न था और इसके बावजूद कि हम धीरे-धीरे अपने पचास साल के काम से असंतुष्ट होते जाते हैं और उस का लक्ष्य आज हमें तुच्छ दिखाई पड़ रहा है, लेकिन जिन लोगों ने इस काम को शुरू किया था उन के ज़माने की बेहिसी को याद कीजिये, और क़ौमी ज़िन्दगी के पन्नों को जिस तरह बिखरते हुए उनकी आँखों ने देखा उस का ख़्याल कीजिये, और उन की उन कोशिशों में भी जो आज हमें ज़्यादा नहीं जचतीं, क़ौम का विरोध और प्रतिकूल स्थिति का अनुमान लगाइये तो पता चलता है कि बौनों की एक भीड़ में यह लोग देव थे, देव। उन के काम की आलोचना, भविष्य का मार्ग तलाश करने के लिये बेशक ज़रूरी और फ़ायदामंद है और इस से हरगिज़ न झिझकना चाहिये। लेकिन उन लोगों की महानता, उन का दृढ़ संकल्प, उन की नियतों की निःस्वार्थता, दुश्मन को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थीं। उन के कामों की आलोचना कीजिए, परंतु उन के साहस और इरादे और निःस्वार्थ सेवा की याद पर एहसानमंदी के दो फूल ज़रूर चढ़ाते जाइये:

आवाज़ए ख़लील ज़बुनियादे काबा नेस्त
मश्हूर गश्त ज़ाँ कि दर आतश निकोनिशस्त

(हज़रत इबराहीम की ख्याति इस कारण से नहीं है कि उन्होंने काबा की आधारशिला रखी थी। उनकी ख्याति तो आग में बैठने की वजह से है।)

काश ! आज की बदली हुई स्थिति में हम भी इसी निश्चय और साहस का सबूत दे सकें और अपनी क़ौमी जिन्दगी की सुरक्षा और विकास के लिये एक नई शिक्षा-पद्धति की बुनियाद डालने का कठिन मगर ज़रूरी काम शुरू कर दें।

[1]बी.एस. माथुर (संपादक) : "ज़ाकिर हुसैन : एडुकेशनिस्ट ऐंड टीचर" (ज़ाकिर हुसैन : शिक्षाविद् एवं शिक्षक), आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, पृ. 59।

'तालीमी खुतबात' (शिक्षा संबंधी भाषणों का संग्रह), मकतबा जामिया नई दिल्ली, 1942, पृ. 42-45।

जामिया के पच्चीस साल

20, अक्टूबर 1920 को देवबन्द के सरदार शैख़ुलहिन्द (उपाधि) मौलाना महमूदुल हसन मरहूम व मग़फ़ूर (जिन पर ख़ुदा की अपार कृपा है और जिन्हे ख़ुदा ने बख़्श दिया है) के हाथों सैय्यद अहमद ख़ान के दारुल उलूम (शिक्षा संस्था) की जामा मस्जिद में इस काम का इफ़्तेताह (उदघाटन) हुआ। अजब ज़माना था वह साहिबो। जवानी के नशे में सरमस्त, नौजवानों पर पहली बार वह मुख़लिसाना (सच्ची) दीनी कैफ़ीयत (धार्मिक स्थिति) तारी थी जिसका एक लमहा (क्षण) कभी कभी सारी ज़िन्दगी का रंग बदल देता है। जुर्मानों के डर से नमाज़ पढ़ने वाले अब रातों को रोते और गिड़गिड़ाते सुनाई देते थे। ख़ुदग़रज़ियों (स्वार्थों) की हर वक़्त जकड़ी रहने वाली ज़ंजीरें ऐसा मालूम होता था कि ढीली हो रही हैं, टूट रही हैं। मुलाज़मत (नौकरी) के मुतलाशी (इच्छुक) सिफ़ारिशों के लिए सरगरदाँ (इधर उधर फिरना), अपने पेट के अलावा और सब हक़ीक़तों से नाआशना (अपरिचित) नौजवान बेताब थे कि अपने वजूद (अस्तिव) को वजूदे मिल्ली में (राष्ट्रीयास्तित्व) गुम कर दें और अपनी सारी क़ुव्वतों को इसकी ख़िदमत के लिए वक़्फ़ कर दें। लेकिन उम्र भर ख़ुदगरज़ी की तकरार से बेग़रज़ कामों की मश्क़ (अभ्यास) तो नहीं होती। इसके ग़रज़ों का रुख़ जाज़िबे- तवज्जुह हगांमों (आकर्षित करने वाले द्वंद्वों) की तरफ़, गलों में झोलियाँ डाल कर निकल खड़े होने की तरफ़, तक़रीरों की तरफ़, नई नई वज़ा के (ढंग) लिबासों की तरफ़ ही जाता है। ख़ुदा का शुक्र है कि चन्द नौजवानों के इसरार (आग्रह) पर क़ौम के सरबरआवुर्दा (वरिष्ठ) लोगों ने उस वक़्त उस जोश और ख़ुलूस (निष्ठा) को एक पायदार (ठोस) काम में लगाने का फ़ैसला किया और मुझे वह वक़्त याद है और मेरे मुतअद्दिद (अनेक) साथियों को भी जब अलीगढ़ कालेज की मस्जिद में एक वजूदे मुक़द्दस (पावन व्यक्ति) क़ैद, जलावतनी (देश निकाला) अलालत (बीमारी) और तफ़क्कुराते मिल्ली (राष्ट्र की चिंता) ने जिसकी हड्डियाँ पिघला दी थीं, जिसके चेहरे की ज़र्दी से मालूम होता था कि ग़म की आँच ने खून का एक एक क़तरा खुश्क कर दिया है। लेकिन जिसकी रौशन आंखें इस यक़ीन की ग़म्माज़ी (दर्शाना) कर रही थीं कि अगर सब कुछ बिगड़ा हुआ दिखाई देता है लेकिन मर्दों की तरह हिम्मत की जाए तो मददे ख़ुदावन्दी (खुदा की मदद) से बहुत कुछ बन सकता है। यह वजूदे मुक़द्दस दीवार का सहारा लिए बैठा है। नातवानी (कमज़ोरी) के बाइस (कारण) मजमे को मुख़ातब (संबोधित) भी नहीं कर सकता और उसका प्याम उसके शागिर्द रशीद

(शिष्य) मौलाना शब्बीर अहमद साहब उसमानी सुनाते हैं । साहिबो याद रहे वह जिस दीवार का सहारा लिए बैठे थे वह ख़ाली ईंट-पत्थर की दीवार न थी । वह ईमाने मुहकम (दृढ़ विश्वास) और उस ईमान के नतीजे यानी एक अज़ीमुश्शान मिल्ली माज़ी (वैभवशाली अतीत) की दीवार थी । और वह सिर्फ़ उन नौजवानों को मुख़ातब न फ़रमा रहे थे जो उनके सामने थे । उनका रुए सुख़न (संबोधन) क़ौम की सारी आने वाली नसलों की ओर था । उस वक्त किसी बड़े मकान का संगेबुनियाद (नींव) नहीं रखा गया था । किसी इमारत का इफ़्तेताह (उद्घाटन) न हो सकता था, चन्दों का एलान भी न हुआ था कि यह क़ाफ़िला सरल और साफ़ मार्ग छोड़कर बेसरोसामानी की ओर रवां हो रहा था । यह वक़्ती फ़ायदों के बदले वक़्ती नुक़सान का सौदा कर रहा था । इसे आजिला (तुरंत प्राप्त) के मुक़ाबले में आख़िरा (अतंत:प्राप्त) ज़्यादा अज़ीज़ था । वह मेहनत और मशक़्क़त का अज़्म लेकर तामीरे नौ (नवनिर्माण) के लिए निकला था । और उसकी कुलफ़तों और मेहनतों को दूसरी सहूलतों और तनआसानियों को ज़्यादा अज़ीज़ रखना चाहता था । यूँ और इस फ़िज़ा (वातावरण) में जामिया मिल्लिया इस्लामिया का काम शुरु हुआ था 29, अक्तूबर सन 1920 को ।

इस काम के साथ मुसलमानों के बेहतरीन दिल और दिमाग़ रखने वाले वाबस्ता रहे । हकीम अजमल ख़ान मरहूम इसके पहले अमीरे जामिया (कुलाधिपति) मुक़र्रर हुए और मौलाना मुहम्मद अली मरहूम पहले शैख़ुलजामिया (कुलपति). । हकीम साहब मरहूम ने हम नौजवानों को मतानत (गंभीरता), रवादारी और ख़ामोश ख़िदमत का सबक़ दिया । हकीम साहब की ज़हनी जड़ें मुसलमानों के इल्मी और फ़न्नी (कलात्मक) माज़ी में बहुत गहरी पैवस्त (चुभी) थीं और उनकी नज़र हाल (वर्तमान) की तरक़्क़ियों और मुस्तक़बिल के इमकानात (भविष्य की संभावनाएँ) को इस तरह साफ़ देखती थीं जैसे शायद ही कोई नामनिहाद (तथाकथित) जदीद तालीम याफ़्ता (पढ़ा लिखा) देख सकता हो । हमने उनके क़दीम और जदीद के (पुराने और नए) हमआहगं बनाने और समोने का सबक़ सीखा । हकीम साहब अपने दिली कर्ब (दिल की बेचैनी) अपने दिलफ़रेब (मन मोहक) तबस्सुम (मुस्कान) के परदे में यूँ छुपाना जानते थे जिसे सिर्फ़ एक हमआहंग (संतुलित) शख़सियत जानती है । तकलीफ़ में भी मुसकुराने की आदत भी हम ने उनसे सीखी ।

फिर कुछ अरसे बाद हकीम अजमल ख़ाँ साहब का साया हमारे सर से हट गया । इस जगह जामिया की ज़िन्दगी के एक ख़ास वाक़ए (घटना) का ज़िक्र मुनासिब होगा । इस से जामिया के काम की रुह (आत्मा) और उसके असलूबेकार (कार्यपद्धति) पर रोशनी पड़ती है । हकीम साहब के इनतक़ाल के बाद डा. मुख़तार अहमद अंसारी हमारे अमीरे जामिया मुक़र्रर हुए । उन की मुहब्बत और शफ़क़त (स्नेह) उनकी फ़राख़ दिली (हृदय विशालता) और इनसानी हमदर्दी, उनकी बुराई से बेज़ारी (घृणा) और नेकी की हर रंग

में एआनत (मदद) का जज़्बा (भाव), हम कारकुनों (कार्यकर्ताओं) की तरबीयत में अपना असर छोड़ गया है और हम शुक्रगुज़ारी (कृतज्ञता) के साथ हमेशा उसे याद रखेंगे। डा. साहब मरहूम ने अमीरेजामिया (कुलाधिपति) का काम जब संभाला तो हमारी माली हालत बहुत सक़ीम (ख़राब) थी। शुरु शुरु में जामिया के तमाम मसारिफ़ (ख़र्चे) का बार (बोझ) जमीयते खिलाफ़त उठाती थी। लेकिन सियासी दरिया के उतार ने इस सूरत को मुम्किन न रखा। हकीम साहब तनहा अपनी ज़ाती (निजी) कोशिश से जामिया के काम के लिए वसायल (साधन) फ़राहम (उपलब्ध) करते थे। आख़िरी ज़माने में मुसलसल (लगातार) अलालत और ग़ैरमामूली (असाधारण) मसरुफ़ियत (व्यस्तता) के बाइस माह-ब-माह (प्रत्येक मास) फ़राहिमेज़र (धनोपार्जन) के काम में ख़लल (बाधा) पड़ता रहा। और जब हकीम साहब सिधारे तो जामिया पर ख़ासा क़र्ज़ था। हम कारकुनों (कार्यकर्ताओं) हत्ता कि डा. अंसारी साहब मरहूम तक को यह इल्म (जानकारी) न थी कि हकीम साहब कहाँ से हमारे लिए रुप्या फ़राहम करते थे। जब वह रुख़सत हो गए तो समझ में न आता था कि क्या किया जाए। मैंने ख़ुद डा. अंसारी मरहूम के मश्वरे (परामर्श) से उनकी ख़िदमत में एक मुरासला (पत्र) भेजा कि जामिया के काम को जारी रखने का क़स्द (इरादा) हो तो फ़राहमीए ज़र की तरफ़ अमनाए जामिया (जामिया कार्यकारिणी परिषद्) तवज्जुह फ़रमाए या इसके बन्द करने का फ़ैसला करे तो मुझे इस फ़ैसले के ऐलान से कुछ पहले आगाह फ़रमा दें ताकि अगर अपने साथ काम करने वालों की मदद से मैं इस इदारे (संस्था) का कोई छोटा सा हिस्सा भी क़ायम रख सकूँ तो इस की कोशिश करूँ।

डा. साहब ने मेरा यह मुरासला अमना की ख़िदमत में भेजा और उन्हें फ़ैसले की फ़ौरी ज़रुरत की तरफ़ मुतवज्जेह (ध्यानाकृष्ट) फ़रमाया। ज़माना बहुत बुरा था सियासी रद्देअमल (राजनैतिक प्रतिक्रिया) ने सारी उमंगें दबा दी थीं। एक आम इन्तशारी हालत (व्यग्रता की स्थिति) थी। तालीम के एक ऐसे काम के लिए जिसे हकूमते वक़्त (समकालीन सरकार) भी तसलीम (स्वीकार) न करती हो, जो अपनी बेसरोसामानी के बाइस ख़ुद भी ज़ाहिरबीन नज़रों (बाहर से उसे देखने वाली निगाहों) को अपनी तरफ़ मुतवज्जह न कर सके, उसे कौन रुप्या देने पर तैयार नज़र आता। चुनांचें हमारे अमना की बहुत बड़ी अकसरियत (बहुमत) ने बलकि पाँच, छ: को छोड़कर सब ने जवाब दिया कि जामिया को बन्द कर देना चाहिए, रुप्या फ़राहम नहीं किया जा सकता और बहुत सों ने कि शख़सी तौर (व्यक्तिगत रूप से) पर मेरे और मेरे साथियों के हमदर्द और ख़ैरख़ाह (शुभचिंतक) थे यह मशविरा दिया कि इसके किसी हिस्से को जिन्दा रखने का ख़्याल क़ाबिले तारीफ़ (प्रशंसनीय) तो है मगर क़ाबिले अमल (व्यवहारिक) नहीं। इस ख़्याल को छोड़ो और कोई और मुफ़ीद काम करो। इस फ़ैसले और मशविरे में तजरुबा, ज़मानाशनासी (जमाने की पहचान), मसलेहत (नीतिपरकता) और एहतियात

(सावधानी) कितनी भी हो यक़ीन और जुरअत की कभी ज़रुर थी लेकिन यह चीज़ें अल हमदो लिल-लाह कि क़ौम के नौजवानों में मौजूद थीं । मैंने इस ख़त के साथ जिसका ज़िक्र किया है एक ख़त अपने उन साथियों को भी लिखा था जो जामिया में काम किया करते थे । उन्हें बताया था कि ग़ालिबन (संभवत:) अमना का फ़ैसला यही होगा कि जामिया को बंद कर दो । क्या आप-हम मिलकर इसके किसी हिस्से को बचाएं । रुप्या नहीं है, क़र्ज़ है, जल्द रुप्या मिलने की कोई तवक़्क़ो (आशा) भी बज़ाहिर (प्रत्यक्षत:) नहीं है । मकान किराए के हैं । बच्चों को बुलाकर कम से कम तालीमी साल के ख़त्म होने से पहले वापस करना बहुत बेजा होगा । कहिए क्या राय है । उनका जवाब आया, सबका, बिलाइसतसना (निरापवाद) कि काम को जारी रखना चाहते हैं- रुप्या न होगा तो बिला मुआवेज़ा (बिना वेतन) काम करेंगे । एक दूसरे को सहारा देंगे लेकिन एक बार कोशिश करके ज़रुर देखेगें । इस बाहिम्मत (साहसपूर्ण) जवाब के बाद, बेयक़ीनी का जो जज़्बा काम को बंद करने के लिए ज़रुरी था वह मैंने अपने अंदर नहीं पाया । लेहाज़ा काम जारी रहा । उन साथियों की हिम्मत का इमतेहान ख़ूब ख़ूब हुआ । महीनों किसी को एक पैसा मुआवेज़े का न दिया जा सका । लेकिन हमने जामिया के इन्तज़ाम में एक बुनियादी तबदीली कर ली । वह सब जिनका तअल्लुक़ रस्मी (औपचारिक संबंध) था इस से अलग हो गए । वह सब जिन के दिल को लगी थी इस काम के ज़िम्मेदार बन गए । एक अनजुमन: अनजुमने तालीमे मिल्ली (राष्ट्रीय शिक्षा समिति) के नाम से क़ायम की गई जिसमें चंद बुनियादी अमना (प्रारंभिक कार्यकारिणी के सदस्य) के इलावा, जो हमारे साथ रहने पर आमादा थे, 11, साथियों ने हयाती रुक्न (आजीवन कार्यकर्ता) बनना क़बूल किया इस शर्त पर कि वह बीस साल तक या ताहयात, अगर ज़िन्दगी बीस साल से पहले ख़त्म हो जाए, जामिया की ख़िद्मत करेंगें और अपनी ख़िदमत का सिला 150 रुप्ये से ज़्यादा तलब न करेंगे । हालात ने आज तक किसी हयाती रुक्न को यह मुआवज़ा भी नहीं लेने दिया है ।

दूसरे इस अजुंमन के क़ियाम से ग़ैरसरकारी तालीमी काम के लिए एक नई राह निकली है । तालीमी आज़ादी (शैक्षणिक स्वतंत्रता) का वह ख़्याल जो पहले दिन से जामिया की जान है इस अन्जुमन के क़याम से (स्थापना) और वाज़ेह (स्पष्ट) हो गया है यानी यही नहीं कि तालीम हुकूमत के असर से आज़ाद हो, सियासी जमाअतों के असर से आज़ाद हो, बल्कि नावाक़िफ़ शख़्सियतों (अज्ञानी व्यक्तियों) और ग़ैरतालीमी रुजहानात रखने वाली टोलियों के असर से भी पाक हो । ग़ैर-सरकारी मदारिस (स्कूलों) की इन्तज़ामी (प्रबंधकों) जमाअतों और उसके मुलाज़िमों (कर्मचारियों) यानी वाक़ई तालीमी काम करने वालों की रोज़ की कशाकश (द्वंद्व), वकीलों और ताजिरों और ओहदेदारों के अनमेल, बेजोड़ मजमूअे (गठजोड़) जो उस्तादों को ख़रीदते हैं और ज़र ख़रीद चीज़ की तरह उपयोग करते हैं और उन उस्तादों को, जो अपने को जिनसे बाज़ारी (बिकाऊ वस्तु)

की तरह बेचते हैं, तालीमगहों में यकजा (शिक्षालयों में एकत्रित) करके सही तहज़ीबी और तालीमी मरकज़ (सांस्कृतिक और शैक्षणिक केंद्र) कैसे बन सकते हैं। तालीम का काम सिर्फ़ उन्हें करना चाहिए जो उसे अपना हक़ीक़ी काम समझते हों, जो उसके बग़ैर बेचैन रहें, जो उसकी अंजामदेही को अपनी ज़िन्दगी का हासिल समझें और जो इस काम की अहमियत और अपनी इसके साथ वाबस्तगी के बाइस ख़ुद अपना एहतराम (सम्मान) करते हों, अपने काम को अपनी बसीरत (विवेक) के मुताबिक बेहतरीन तरीक़े पर अंजाम दें। मेरा ख़्याल है कि अनजुमने जामिया मिल्लिया इसलामिया मुसलमानों की इस क़िस्म की पहली अनजुमन है। और मेरी दुआ है कि ऐसी मुतआद्दिद (अनेक) अनजुमनें जल्द वजूद में आएं। और हमारी तालीम का काम किराए के काम की जगह इबादत (उपासना) की एक शक्ल बन जाए। वाक़ई काम करने वालों ने अनजुमने जामिया मिल्लिया की शक्ल में इस कार्य को अपने हाथ में लिया तो उन्होंने माली वसायल (साधन) की फ़राहमी का भी एक नया ढंग डाला है। सरकारी इमदाद (अनुदान) का तो सवाल ही न था, मुतमौव्वल तबक़े (धनी वर्ग) की मदद कमयाब (अनुपलब्ध) थी, अहले सरवत (धनाढय) सरकारी बेएतनाई (उपेक्षा) बल्कि मुख़ालिफ़त की सूरत में एक तालीमगाह को, जिसके काम ने भी अभी अपनी साख पैदा न की थी, कैसे अपनाते। और हम कि अपनी आज़ादी की क़द्र शुरु से करना चाह रहे थे, अपने वजूद और अपने तरज़ेकार (कार्यपद्धति) को कैसे इस क़िस्म की मदद पर मुनहसर (निर्भर) करने पर राज़ी हो जाते ? हमने चन्द ख़वास (विशिष्टजनों) की जगह जमहूर मिल्लत (समुदाय के साधारणजनों) को अपना मददगार बनाना चाहा और सन 1932 में हमदर्दों ने जामिया के नाम से एक हलक़े की तनज़ीम (संघटन) शुरु की जिसमें होते होते दस हज़ार हमदर्द हो गए हैं जो हमें माहाना या सालाना छोटी छोटी रक़में मरहमत फरमाते (देते हैं) हैं लेकिन एक बार नहीं बल्कि बार बार मरहमत (प्रदान) फ़रमाते रहते हैं। वह हमारे काम से नाख़ुश होते हैं तो अपनी मदद बन्द कर देते हैं। ख़ुश होते हैं तो और दूसरे दोस्तों को भी इस हलक़े में शामिल करते हैं। हमारा तअल्लुक़ दो चार साहिबाने सरवत नहीं बल्कि हज़ारों हमदर्दों से बंधा रहता है और हमें यह डर नहीं होता कि किसी एक आदमी के नाख़ुश होने से हमारा काम रुक जाएगा। बल्कि हमारी मदद सिर्फ़ उस वक़्त बन्द होगी जब हम इतने बुरे हों कि जमहूरे उम्मत (संपूर्ण जनता) हम से मुत्तफ़ेक़ा तौर पर (एक मत से) नाख़ुश हो जाए। उस वक़्त बेशक यह मदद बंद हो भी जानी चाहिए और हमें सोचना चाहिए कि हम क्यों अपने हमदर्दों की हमदर्दी क़ायम न रख सके।

आज जामिया एक छोटा सा इक़ामती (आवासीय) कालेज चला रही है जिसके मुतआद्दिद फ़ारिग़ुल तहसील (शिक्षा प्राप्त) जामिया के काम में अपनी सारी क़ुव्वतें वक़्फ़ कर रहे हैं और मुल्क के मुख़तलिफ़ गोशों में इलमी, तालीमी, सहाफ़ती (पत्रकारिता), तिजारती, सियासी कामों में नेकनामी के साथ मसरुफ़ हैं। उसने एक छोटा

सा कोई 25 हज़ार मुजल्लेदात (पुस्तकें) पर मुश्तमल (आधारित) कुतुबख़ाना (पुस्तकालय) जमा कर लिया है, एक अक़ामती मदरसा सानवी (माध्यमिक) एक अक़ामती मदरसा इबतदाई (प्राथमिक) चला रही हैं जिन में जदीद तरीक़हाए तालीम (आधुनिक शिक्षा पद्धति) पर तजुरबे किए जा रहे हैं और उन्हें अपनी क़ौमी ज़रुरतों के लिए मुफ़ीद बनाने की कोशिश की जा रही है । एक इदारा तालीमी मरकज़ के नाम से शहरे देहली में चल रहा है जो एक मिडिल स्कूल, एक उमूमी दारुल मुतालेआ (सार्वजनिक वाचनालय) आम इजतेमाआत (सार्वजनिक सभा) के लिए एक हाल, पड़ोस के शहरियों के लिए एक क्लब पर मुशतमल है और अपना काम बड़ी ख़ूबी से अंजाम दे रहा है । तालीमे बालिगां (प्रौढ़ शिक्षा) के तरीक़ों पर तजरुबा हासिल करने के लिए इदार-ए-तालिमो तरक़्क़ी के ज़ेरे एहतिमाम (प्रबंध के अंतर्गत) तजरुबाती मरकज़ (केन्द्र) क़ायम है । और दूसरे काम करने वालों के लिए, तरीक़ेकार (कार्य पद्धति) से मुतअल्लिक़ लिट्रेचर शाया (प्रकाशित) करने के अलावा उसने बालिग़ मुबतदियों (नौसिखयों) के लिए डेढ़ सौ से ऊपर रिसाले (पुस्तकाएँ) शाया किए हैं । एक उस्तादों की तालीमो तरबियत (शिक्षा-दीक्षा) का एहतमाम है । उर्दू में अशाअत (प्रकाशन) का काम वसी (विशाल) पैमाने पर मकतबा जामिया (जामिया प्रकाशन गृह) अंजाम दे रहा है और आज उर्दू के ख़ादिमों (सेवियों) की सफ़ अव्वल (प्रथम पंक्ति) में अपने लिए अच्छी जगह पैदा कर चुका है। एक छोटा सा शोबा (विभाग) मसनूआते जामिया (बनी वस्तुएं) के मदरसए-सानवी के मुआम्मिले (प्रयोगशाला) साईंस से मुतआल्लिक़ (संबंधित) है और रोज़मर्रा के इस्तेमाल की बहुत सी चीज़ें तैय्यार करता है । इन मुख़तलिफ़ इदारों के कुछ काम का अन्दाज़ा आपको जुबली की नुमाईश के मुलाहिज़े से हो सकेगा ।

ग़रज़ ख़ासा फैला हुआ काम है और इस पर हम ख़ुदा का लाख शुक्र अदा करते हैं। लेकिन सब छोटा छोटा काम है । इबतदाई (प्रारंभिक) हालत में है । हर पहलू से इसलाह व तरक़्क़ी का प्यासा है । और बिना किसी बेजा इनकिसार (नम्रता) के निहायत ख़ुलूस के साथ आप से अर्ज़ (निवेदन) करता हूँ कि इन कामों की तफ़सील ब्यान करने में फ़ख्र (गर्व) का शाइबा (अंश) भी नही कि शर्म से आंखें उठाने का भी यारा (साहस) नहीं । 25 साल की क़ौमी सई (प्रयास) और इतना हक़ीर (तुच्छ) सा नतीजा । 25 साल की कोहकनी और यह जूए कमआब (पहाड़ की खुदाई और यह पतली सी पानी की नहर), जानता हूँ कि बेसब्री (उतावलापन) का हक़ नहीं । जानता हूँ कि काम की माहियत (धर्मिता) में हर पुख़्ता काम की तरह सुस्त रफ़्तारी (मंदगति) है । जानता हूँ कि तालीमो तरबियत के काम में हथेली पर सरसों नहीं जमती । जानता हूँ कि यह काम आग नहीं कि पल मारते ही फैल जाए और सारे माहौल को ख़ाकिस्तर बना दे । चमन बंदी है, माद्दी वसायल (भौतिक साधनों) की नहरों से मुद्दत तक इसे सीचंना होता है । दहक़ान

(कृषक) को अपनी परेशानी का पसीना एक बार नहीं रोज़ उसमें मिलाना होता है। और हाँ ख़ूनेजिगर की कुछ छींटें भी देनी होती हैं लेकिन अगर यह आरज़ू बेचैन करे कि वसायल (साधन) की नहर कुछ कुशादा (विस्तृत) होगी, पसीना बहाने की आमादगी (तत्परता) भी ज़रा ज़्यादा लोगों में पाई जाएगी और ख़ूनेजिगर का भी अकाल न होगा तो क्या यह बेसब्री और नाशुक्री (कृतघ्नता) है। अगर यह तमन्ना सताती है कि क़ौमी सई के तामीरी (रचनात्मक) नतायज क़ौमी शान के शायान होते तो क्या यह जल्द बाज़ी है। अगर उम्र के इन थोड़े से दिनों में, जो शायद अभी हमारे हिस्से में हो, इस छोटे से इदारे को एक ऐसी तालीमी बस्ती की हैसियत देने का इरादा बार बार दिल में उकसे जहां लोग सच्ची इसलामी ज़िन्दगी देख सकें, देख कर सीख सकें, बरत कर अपना सकें और संवार सकें, जहाँ उनके बेशुमार तालीमी और तमद्दुनी (सांस्कृतिक) मसअलों पर फ़िक्रो अमल (चितंन और कर्म) की रोशनी पड़ सके, जिसके तजरुबे क़ौम के ज़हनी सवालों का जवाब दे सकें। जहाँ शख़सियत की नश्वोनुमा, का सामान हो, जहाँ मिलजुल कर काम करना मामूल हो (रोज़ का नियम), जहाँ क़ौम की नई नस्ल दर्स (अध्यापन) और ज़िन्दगी की हमआहंग फ़िज़ा (संतुलित वातावरण) में परवरिश पाए और रहमतुल-लिल,-आलमीन (जगत कृपानिधान) के चमन के नौनिहाल बारआवर (फलदायी), सायादार दरख़त बनें, यूँ फलें- फूलें कि उनके फ़ैज़ (सद्कर्मो) से उनका सारा माहौल मुसतफ़ीज़ (लाभान्वित) हो। और हर जगह से हिकमत को लें कि उनका खोया हुआ माल है और हर तरफ़ अपनी तहक़ीक़ (अनुसंधान) और अपनी अच्छी ज़िन्दगी के मोती बिखेरें कि यह दौलत लुटाने ही से बढ़ती है। आला हज़रत (श्रीमन्) अकाबिरे क़ौम (क़ौम के वरिष्ठ लोगो) और बलंद हिम्मत दोस्तो, और अज़ीज़ो! अगर यह इरादा हम नाचीज़ कारकुनाने जामिया के दिल में पैदा हो तो क्या वह ख़्वाब होगा जिसकी ताबीर (व्याख्या) न हो सकेगी। इस सब का एक जवाब हम कारकुन देगें और वह यह है कि अल्लाह चाहेगा तो यह इरादा पूरा होकर रहेगा। लेकिन इस का एक जवाब आप सब के ज़िम्मे भी है।

जैसा कि आप साहिबान, आला हज़रत की ज़बान से अभी सुन चुके हैं कि मंसूबे को एक क़दम और आगे बढ़ाने के लिए हमने अगले चन्द साल में बाज़ काम शुरु करने का क़स्द (इरादा) कर ही लिया है। तालिबइल्मों और उस्तादों की बढ़ती हुई आबादी के लिए होस्टल और मकान फ़ौरन बनवाने हैं। छोटे बच्चों की तालीम के लिए अच्छा किडंर गारटन बनाना है। सानवी (माघयमिक) तालीम में ज़रुरी तिजारती मदरसा क़ायम करना है। लड़कियों की तालीमोतराबियत के लिए अक़ामती दर्सगाह (आवासीय शिक्षालय) क़ायम करनी है। इल्मी तहक़ीक़ के इदारे क़ायम करने हैं जिन में सब से पहले इस्लामी ओलूम के तहक़ीकाती इदारे बैतुलहिकमत, (अनुसंधानभवन) को सही और मज़बूत बुनियादों पर क़ायम करना है। अपने मरहूम अमीरे जामिया डा. मुख़तार अहमद असंारी

की यादगार के तौर पर एक शफ़ाख़ाना बनाना है । कुतुबख़ाने के लिए इमारत बनवाना है और इस में ख़ुसूसन इस्लाम और हिन्दुस्तान से मुतअल्लिक़ किताबों का एक अच्छा ज़ख़ीरा (संग्रह) फ़राहम करना है । और इस नई आबादी के मरकज़ में इस के क़ल्ब (हृदय) की हैसियत से एक मस्जिद तामीर करानी है । इन कामों के लिए मैंने अपनी नातजरुबेकारी (अनुभव हीनता) में दस लाख का अंदाज़ा किया था, इस उम्मीद पर कि जंग के बाद क़ीमतें कुछ तो अपनी साबिक़ा हालत (पूर्वस्थिति) के क़रीब आएँगीं लेकिन यह ख़्याल ग़लत निकला और अब इस काम के लिए तक़रीबन 30 लाख का अंदाज़ा किया जा रहा है । हमने क़ौम से जुबली के मौक़े पर दस लाख रुपया मांगा । दस लाख से ज़्यादा बारह लाख रुप्या फ़राहम करने का इन्तज़ाम क़ौम ने कर दिया है । लेकिन अब इन 18 लाख का इन्तज़ाम भी इसी को करना होगा । मै जानता हूँ कि यह इन्तज़ाम भी हो जाएगा । लेकिन जल्द हो या देर में, हमने काम शुरु करते वक़्त कब पहले रुप्या जमा कने का काम किया था कि अब इसके मुनतज़िर (प्रतीक्षार्थी) रहेगें । यह काम तो ख़ुदा ने चाहा तो होगा ही। अगर यह अच्छा काम है तो ख़ुदा ने चाहा तो होगा, अगर यह अच्छा काम है तो ख़ुदा आप सब को इसकी तकमील (पूर्ती) की सआदत (सौभाग्य) में शिरकत की तौफ़ीक़ अता (उत्साह प्रदान) फ़रमाए ।

फिर क़ायदे आज़म मुहम्मद अली जिन्नाह और इमामुलहिन्द अबुलकलाम आज़ाद का तहेदिल (हार्दिक) से शुक्रगुज़ार हूँ कि उन्होंने इस जश्न में शिरकत फ़रमाकर हमें मुफ़तख़र (गौरवांवित) फ़रमाया । आपकी क़ौम के चन्द बूढ़ों और नौजवानों ने ख़ामोश तालीमी काम का एक नमूना इस जामिया में पेश करना चाहा है । आप से बेहतर कौन जान सकता है कि क़ौमी वजूद और क़ौमी तहज़ीब का तहफ़्फ़ुज़ (परिरक्षण) सिर्फ़ इसे बिगड़ने से बचाकर नहीं हो सकता बलकि इसे बनाते रहने का तालिब होता है । आज़ादी हो या नमपज़ीर (उगने की क्षमता रखने वाली) हयाते तमद्दुनी (सांस्कृतिक जीवन) या अक़दारे आलिया मुतलक़ा (शाश्वत उच्च मूल्य) यह बस एक बार हासिल करने और सौंप कर रख देने की चीज़ें नहीं हैं । यह उन्हीं को मिलती हैं और उन्हीं के पास रह सकती हैं जो हरदम उनके अज़सरे नौ हुसूल (प्राप्ति) और हरदम अज़सरे नौ तख़लीक़ (सर्जना) की दुश्वारियां अंगेज़ने (सहन) पर तैय्यार हों । छोटा मुंह बड़ी बात है लेकिन हम हिन्दुस्तानी मुसलमानों में इस तख़लीक़ के नुमाईन्दे बनना चाहते हैं । हमें उम्मीद है कि आप हमारे काम को पसन्द फ़रमाएगें । आप की पसंद हमारी मेहनतों का बड़ा इनाम होगी ।

फिर पं. जवाहर लाल नेहरु और दीगर वज़राए हुकूमते हिन्द (भारत सरकार के अन्य मंत्रीगण) का शुक्रिया अदा करता हूँ कि अपनी गूँनागूँ (विभिन्न) मसरुफ़ियतों (व्यस्तता) के बावजूद उन्होंने हमारी इस तक़रीब (समारोह) में शिरकत के लिए वक़्त निकाला । आप सब साहिबान आसमाने सियासत (राजनीतिक क्षितिज) के तारे हैं, लाखों नहीं

करोड़ों आदमियों के दिल में आप के लिए जगह है। आपकी यहाँ मौजूदगी से फ़ायदा उठाकर मैं तालीमी काम करने वालों की तरफ़ से बड़े ही दुख के साथ चन्द लफ़्ज़ अर्ज़ करना चाहता हूँ। आज मुल्क में जो बाहमी (आपसी) नफ़रत की आग भड़क रही है उस में हमारा चमन बन्दी का काम दीवानापन मालूम होता है। यह आग शराफ़त और इनसानियत की सरज़मीन को झुलसे देती है। इस में नेक और मुतवाज़न (संतुलित) शख़्सियतों (व्यक्तित्व) के ताज़ा फूल कैसे पैदा होंगें। हैवानों से भी पस्त तर सतहे इख़लाक़ पर हम इनसानी इख़लाक़ को कैसे सँवार सकेंगें। बरबरीयत के दौर में तहज़ीब को कैसे बचा सकेंगें। इसके नए ख़िदमतगुज़ार (सेवक) कैसे पैदा कर सकेंगे। जानवरों की दुनिया में इनसानियत को कैसे संभाल सकेंगें। यह लफ़्ज़ शायद कुछ सख़्त मालूम होते होंगे लेकिन इन हालात के लिए, जो रोज़ ब-रोज़ हमारे चारों तरफ़ फैल रहे हैं, इस से सख़्त लफ़्ज़ भी बहुत नरम होते। हम जो अपने काम के तक़ाज़ों से बच्चों का एहतराम (सम्मान) करना सीखते हैं, आप को क्या बताएं कि हम पर क्या गुज़रती है जब हम सुनते हैं कि बहीमियत (जानवरपन) के इस बुहरान (संकट) में मासूम बच्चे भी महफ़ूज़ नहीं हैं। हिन्दी शायर ने कहा था कि हर बच्चा जो दुनिया में आता है अपने साथ प्याम लाता है कि ख़ुदा अभी इनसान से पूरी तरह मायूस नहीं हुआ, मगर क्या हमारे देश का इनसान अपने से इतना मायूस हो चुका है कि इन मासूम कलियों को भी खिलने से पहले मसल देना चाहता है ? ख़ुदा के लिए सर जोड़ कर बैठिए और इस आग को बुझाइए। यह वक़्त इस तहक़ीक़ का नहीं है कि आग किसने लगाई, कैसे लगी। आग लगी हुई है, इसे बुझाइए। यह मसअला इस क़ौम और उस क़ौम के ज़िन्दा रहने का नहीं है। मुहज़्ज़ब इनसानी ज़िन्दगी और वहशियाना दरिन्दगी में इन्तेख़ाब का है। खुदा के लिए इस मुल्क में मुहज़्ज़ब (सभ्य) ज़िन्दगी की बुनियादों को यूँ न खुदने दीजिए। आख़िर में आला हज़रत! मैं चन्द लम्हों के लिए अपने को जामिया के कारकुनों की सफ़ से अलग करके अपनी क़ौम की तरफ़ से शुक्रिया अदा करना चाहता हूँ। जामिया के असातेज़ा (अध्यापकगण) और कारकुनों का। हुज़ूर वाला ने अपने इरशादते सदारत में (अध्यक्षीय भाषण) मुझ नाचीज़ के मुतआल्लिक़ जो फ़रमाया है उसका शुक्रिया कैसे अदा करुं। काश मैं इसका मुसतहिक़ होता। हुज़ूर, जामिया में अगर कोई तारीफ़ का मुस्तहक़ (पात्र) है तो वह मैं बिलकुल नहीं हूँ, मेरे वह साथी हैं जो अपना नाम किसी को नहीं बताते, और दिन रात इस इदारे की ख़िदमत में अपनी जान खपाते हैं। मैं शहादत (गवाही) देता हूँ कि इन जैसे कारकुन (कार्यकर्ता) मुश्किल से किसी इदारे को नसीब होंगे। इन्होंने इस पच्चीस साल में बहुत कुछ सख़्तियाँ उठाईं हैं और कभी हर्फ़ेशिकायत ज़बान पर नहीं लाए। यह क़ौम के बच्चों के लिए अपनी जानें खपाते रहे हैं और ख़ुद इनके बच्चे अच्छी ग़िज़ा (भोजन) और अच्छे लिबास के लिए तरसे हैं। यह क़ौम की ज़हनी ज़िन्दगी के लिए अपना सब कुछ तज चुके हैं और ख़ुद इन की ज़हनी ग़िज़ा की

फ़राहमी का ठीक इन्तज़ाम न हो सका। यह किताबों को तरस्ते हैं। तहक़ीक़ी रिसायल (पत्रिका) को तरसते हैं, इन्हें महीनों इनके हक़ीर मुआवज़े (पारिश्रमिक) नहीं मिलते। और फिर कहीं से रुप्या आ जाता है तो यह पहले जामिया के लिए ज़मीन खरीदवा देते हैं और अपने मुतालेबात (मांगों) को मुवख़्ख़र (पीछे) कर देते है। यह हमारी क़ौम के मुस्तक़बिल के लिए एक फ़ाले नेक (शुभ) हैं। इन्होंने बहुत तकलीफ़ें उठाई हैं लेकिन तकलीफ़ें उठाकर क़ौमी तरक़्क़ी के रास्ते को साफ़ कर दिया है। कांटों की हर नोक को इन्होंने अपने दिल के ख़ून में डूबो कर सहरा (बीहड़-बंजर) की बाग़बानी का कानून मुरत्तब किया है:

आग़श्ता अंद हर सरे ख़ार बख़ूने दिल
क़ानूने बाग़बानी-ए-सहरा नविश्ता अंद

(हर काँटे की नोक को दिल के ख़ून में डुबा कर मरुस्थली में बाग़बानी की नियमावली लिख दी है।)

मैं क़ौम की तरफ़ से इन का शुक्रिया अदा करता हुं।

क़रार या फ़रार
(टिकना या भागना)

(ये डा. ज़ाकिर हुसैन की उस ऐतिहासिक तक़रीर (भाषण) की रिपोर्ट है जो उन्हों ने 2, अक्टूबर 1947 ई. को गाँधीजी के जन्मदिन के समारोह में जामिआ मिल्लिया के छोटे से समूह के सामने की थी। यह वह समय था जब उत्तर की ओर से मशीनगनों की आवाज़ आ रही थी। दक्षिण की ओर से सशस्त्र बलवाइयों के आक्रमण की आशंका थी, पूर्व की ओर से सताये हुए, सहमे हुए देहाती आकर जामिआ में शरण ले रहे थे और पश्चिम की ओर से हुमायूँ के मक़बरे का, और वहाँ से पाकिस्तान का रास्ता खुला हुआ था।)

आप जानते हैं कि उस बुज़ुर्ग (महानुभाव) का जिस की सालगिरह मनाने को आप यहाँ जमा हुए हैं, जामिआ से क्या ताल्लुक़ है ! उसी की दावत (निमंत्रण) पर कुछ सरफिरे नौजवान मौलाना मुहम्मद अली की क़यादत (नेतृत्व) में मुस्लिम युनिवर्सिटी की शानदार इमारतों को छोड़ कर उन कच्चे-पक्के मकानों और ख़ेमों में आ कर पड़ गए थे जिन का नाम जामिआ मिल्लिया था। इसी के सहारे हकीम अजमल ख़ाँ और डा. अंसारी जामिआ के नीमजान मरीज़ (अधमरे रोगी) को दिल्ली ले कर आए थे और उसी की सलाह और मदद से दोनों बुज़ुर्गों ने उस की चाराफ़रमाई (देख-भाल) की थी और उसे तदुंरूस्त और तनोमन्द (शक्तिशाली) बनाया था। उस वक़्त तक गाँधी जी मुसलमानों के सच्चे दोस्त और मोहसिन (उपकारक) समझे जाते थे। उस के बाद वह दौर आया कि जब मुसलमानों के नये दोस्त और मोहसिन पैदा हो गए और उन्होंने उन को सिखाया कि गाँधी तुम्हारा नम्बर एक का दुश्मन है। यह झूठ इस क़द्र (इतना) फैला कि मुसलमानों के दिलों के दरवाज़े गाँधी जी पर बंद हो गए। मगर गाँधीजी के दिल का दरवाज़ा उन के लिए हमेशा खुला रहा। वह अपने मुसलमान दोस्तों और रफ़ीक़ों (साथियों) के ज़रिये से और जामिआ मिल्लिया के ज़रिये (माध्यम) से बराबर कोशिश करते रहे कि मुसलमानों के दिल हाथ में लें। आज दोस्त, दुश्मन की पहचान का दिन आ गया है। आप देख रहे हैं कि आप का सच्चा पक्का दिली दोस्त एक ही है, जो आपका पुश्तपनाह (सहायक) और सीनासिपर है। आज मुसलमान गाँधीजी को मान गए हैं। इस लिए कि मुसलमान और चाहे जो कुछ हों एहसान-फ़रामोश (कृतघ्न) हरगिज़ नहीं हैं।

यह क़यामत (भयंकर संकट) जो आप आज देख रहे हैं, एक वक़्ती जुनून का नतीजा है जिस में सभी मुब्तला (लिप्त) हैं। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख सब ने जी भर के गुनाह

परिवार के सदस्य

बैठे हुए : आबिद हुसैन, अता हुसैन (चाचा) फ़िदा हुसैन (पिता) मुजफ़्फ़र हुसैन

खड़े हुए : (पीछे) ज़ाकिर हुसैन, ज़ाहिद हुसैन

खड़े हुए : (आगे) युसुफ़ हुसैन
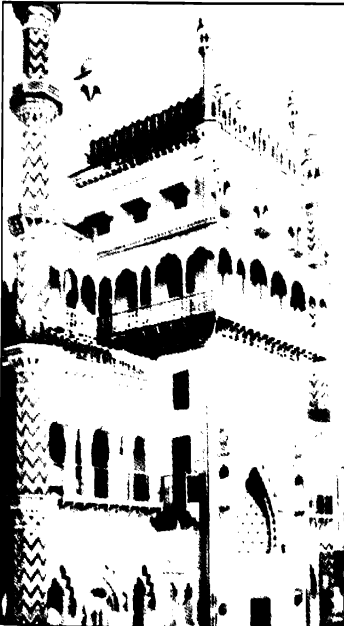
इस्लामिया हाई स्कूल, इटावा

ज़ाकिर हुसैन सात वर्ष की आयु में

बी.ए. की डिग्री लिए हुए

जर्मनी में मित्रों के बीच
पहली पंक्ति में के.ए. हमीद, ज़ाकिर हुसैन दो मित्रों के साथ
दूसरी पंक्ति में पहले से दायें आबिद हुसैन

डॉ. ज़ाकिर हुसैन

जामिया की रजत जयंती, 1946 ई.
ज़ाकिर हुसैन, शेख़ अब्दुल क़ादिर, के.ए. हमीद
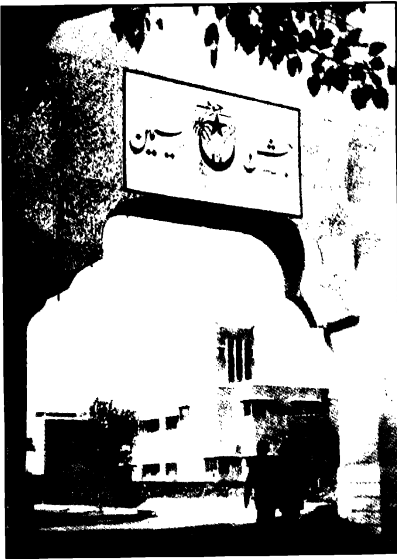
रजत जयंती (सिल्वर जुब्ली)
जामिया का गेट (बाबे जौहर)

जुब्ली के लिए आते हुए
लियाक़त अली ख़ाँ, आबिद हुसैन, ज़ाकिर हुसैन,
मु. अली जिन्नाह, फ़ातिमा जिन्नाह

नवाब भोपाल, ज़ाकिर हुसैन, जुब्ली समारोह के अवसर पर
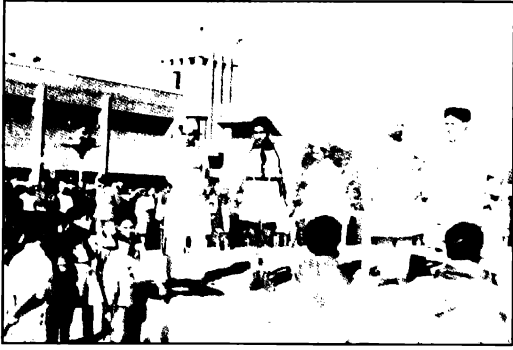
रजत जयंती समारोह
(बायें से दायें) : अब्दुल लतीफ़ आज़मी, अखलास अहमद सिद्दीकी, सैय्यद हसन, ज़ाकिर हुसैन, ए.एम. ख़्वाजा

तालीमी मर्कज़, क़रौल बाग़, 1933 ई.
पहली पंक्ति में बैठे हुए (दायें से बायें) : मास्टर अब्दुल हई, एच. अख़्तर फ़ारूक़ी, इलियास अहमद मुजीबी, हाफ़िज़ फ़य्याज़ अहमद
दूसरी पंक्ति में कुर्सी पर बैठे हुए (बायें से दायें)

(1)	(2) र्गिडा फ़िलिप्स बॉर्न
(3)	(4)
(5) डा. मुख़्तार अहमद अंसारी	(6) ख़्वाजा हसन निज़ामी
(7)	(8) असलम जैराजपुरी
(9)	(10)

पहली पंक्ति में खड़े हुए - आबिद हुसैन, ज़ाकिर हुसैन, हसीन हस्सान
दूसरी पंक्ति में खड़े हुए - अब्दुल वाहिद सिंधी, अजहर अब्बास हामिद अली ख़ाँ, अब्दलु हफ़ीज़, हकीम मीरन

(बायें से दायें) : ए.एम. ख़्वाजा, ज़ाकिर हुसैन, मौलवी अब्दुल हक़
डॉ. मुख़्तार अहमद अंसारी
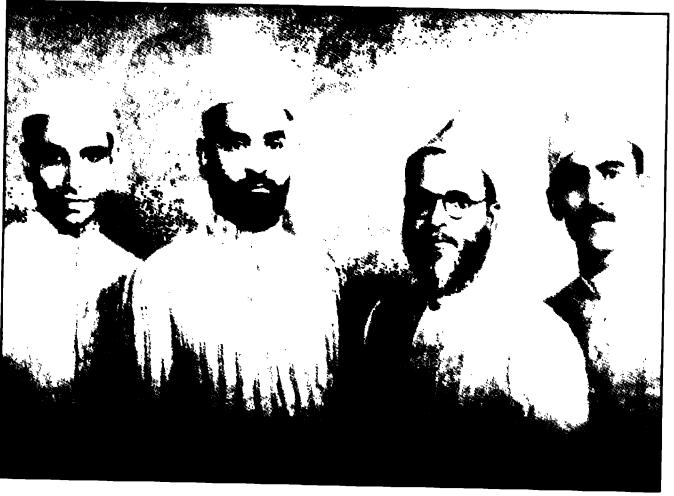
मुइनुद्दीन हारिस, ज़ाकिर हुसैन, शफ़ीकुर्रहमान क़िदवाई,
गुलाम अहमद काश्मीरी
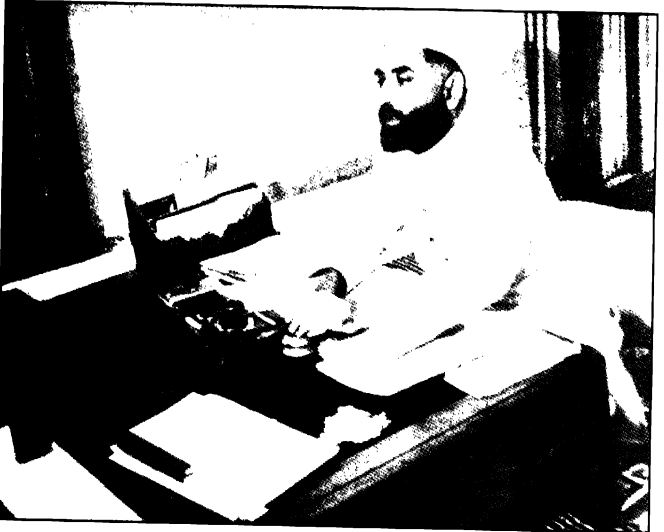
ज़ाकिर हुसैन फ़र्शी नशिस्त (नीचे बैठे हुए) जामिया

किये हैं। सब ने अपने दीन (धर्म) के, अपने ईमान (निष्ठा) के गले पर छुरी फेरी है। गाँधी जी सब को उनके गुनाह का एहसास दिला रहे हैं, तौबा (प्रायश्चित) की तरफ़ बुला रहे हैं, सब को उस हलाकत, मार-काट, के गढ़े से आगाह कर रहे हैं जिस की तरफ़ वह तेज़ी से बढ़ते चले जा रहे हैं। अगर लोग गाँधीजी की पुकार सुन लेंगे, अपने करतूतों पर शर्माएँगे, अपने गुनाहों से तौबा करेंगे तो बच जाएँगे, वरना फिर वह हैं और जिस्म (शरीर) और रूह (आत्मा) की मौत, दीन और दुनिया की हलाकत।

मगर मुझे यक़ीन है कि गाँधीजी की आवाज़ अपना असर करके रहेगी और वह हमारे दिलों से उस आरज़ी वहशत (अस्थाई बर्बरता) और बहमियत (राक्षसता) को दूर कर देंगे। हमारी इन्सानियत को जगा देंगे। वह हिंदुस्तान जो आज इस क़द्र नीचे गिर गया है, एक बार फिर उठेगा और एक बार फिर दुनिया को अमन और तहज़ीब (सभ्यता) का पयाम पहुँचाएगा। हिन्दुस्तानी क़ौम के उस मुसलेह (उद्धारक) पर सिर्फ़ एक ही क़ौम नहीं बल्कि सब क़ौमें फख़्र (गर्व) करेंगी, पूरी इन्सानियत (मानवता) फ़ख़्र करेगी।

आप दिल्ली की और आस-पास की फ़ज़ा (वातावरण) को देख कर ख़ाइफ़ (भयभीत) और परेशान, मायूस (निराश) और दिलशिकस्ता (विक्षुब्ध) न हों। ख़ुदा पर भरोसा कीजिये और उस के कमज़ोर बंदे पर भरोसा कीजिए जिन का नाम मोहनदास करमचन्द गाँधी है। अपने मुल्क की हुकूमत पर भरोसा कीजिये जिस की बाग-डोर आप के उम्र भर के आज़माए हुए लीडरों के हाथ में है। क्या आप समझते हैं कि जिन लोगों ने बर्तानिया जैसी अज़ीमुश्शान सलतनत (विराट साम्राज्य) के दाँत खट्टे कर दिये वह उन फ़साद की क़ूवतों (शक्तियों) से जो आज उभर आई हैं शिकस्त (मात) खा जाएँगे। अभी उन लोगों को हुकूमत का काम अपने हाथों में लिये चंद ही रोज़ हुए हैं। उन को ये अन्दाज़ा न था, किसी को यह अन्दाज़ा न था कि एक दम से ये क़यामत टूट पड़ेगी, फ़साद के पहले हल्ले ने अचानक आ लिया। अब वह संभल गए हैं, अपनी क़ुव्वत (बल) को जमा कर रहे हैं और इस फ़ित्ने का सर कुचलने की कोशिश कर रहे हैं।

मगर आप लोग यह न समझ लीजिये कि ख़तरा टल गया है। ख़तरा अभी सर पर मंडला रहा है और जो कुछ अब तक हुआ है उस से भी बदतर हालात पेश आ सकते हैं। यह आग सारे मुल्क में फैल सकती है। अपने को धोके में न रखिये। मैं यह नहीं चाहता कि आप को बेफ़िक्री का इतमीनान दिलाया जाए। मैं आप को वह इतमीनान दिलाना चाहता हूँ जो ख़तरे का पूरा एहसास रखने के बावजूद होता है। क़ौमों की ज़िन्दगी में कभी-कभी ऐसे नाज़ुक मौक़े आते हैं, यह वक़्त क़ुदरत (ईश्वर) की तरफ़ से आज़माईश का होता है। अब आप के सामने यह सवाल है कि आप इस आज़माईश से गुज़रना चाहते हैं या उस से बच कर भाग निकलना चाहते हैं। अगर आप का फ़ैसला भागने का है तो बिस्मिल्लाह, पाकिस्तान का रास्ता खुला हुआ है। जो जाना चाहे शौक़ से जाए। मगर याद रखिए मौत आप का पीछा वहाँ भी न छोड़ेगी। कितने होंगे जो रास्ते में मारे जाएँगे।

कितने रेल के बंद डब्बों में घुट कर मर जाएँगे । लेकिन अगर आप का फ़ैसला इस आज़माईश से गुज़रने का हो तो फिर यहाँ डट जाइये । यह याद रखिए कि बहुत मुम्किन है आप मार डाले जाएँ । लेकिन आप का यह क़त्ल रायगाँ (व्यर्थ) नहीं जाएगा । कुछ क़त्ल ऐसे होते हैं जिन पर क़ातिल (बधिक) शर्माते हैं और मक़तूल (बधित) फ़ख़्र करते हैं । कुछ क़त्ल ऐसे होते हैं जो पूरी ज़िन्दगियों पर भारी होते हैं । कुछ क़त्ल गिरती हुई क़ौमों को संभाल लेते हैं, गिरी हुई क़ौमों को उठा कर खड़ा कर देते हैं । जामिआ के लोग अगर ऐसे मक़तूलों में दाख़िल (संमिलित) हो जाएँ तो वह काम कर जाएँगे जो पिछले सब कामों पर भारी होगा ।

जो लोग मौत के स्वागत के लिये तैयार रहते हैं उन के लिये ज़िन्दा रहने की राहें भी निकल आती हैं । क्या अजब (अचंभा) है कि हिन्दुस्तानी मुसलमानों की नाव जिस को ग़लत रहनुमाई (नेतृत्व) ने इस भँवर में डाल दिया है, आप के कमज़ोर हाथों से पार लग जाए । क्या अजब है कि ख़ुदा आप ही के हाथ से मुसलमानों की तंज़ीम (संगठन) का काम ले जिस की बुनियाद ख़ुदा के ख़ौफ़ और अल्लाह तआला के मख़्लूक़ (सृष्टि) की मुहब्बत, वतन की वफ़ादारी और वतन वालों की ख़िदमत पर रखी गई हो । और कुछ न सही तो आप अपनी मिसाल से इस वक़्त दिल्ली के लोगों की हिम्मत बँधाएँगे । अब भी जो मुसलमान अपने - अपने मुहल्ले में डटे हुए हैं वह भागने वालों से ज़्यादा आराम में हैं । उन ही की वजह से दिल्ली बच जाए गी । आप भी उस के बचाने में हिस्सा लीजिये--

आप में से जो लोग हुमायूँ के मक़बरे में मुसीबत में फँसे लोगों की ख़िदमत कर रहे हैं वह इसे छोटा काम न समझें । इस वक़्त मौत और ज़िन्दगी का सवाल हैं । अगर आप ने हुमायूँ के मक़बरे को बचा लिया तो दिल्ली को बचा लिया । और दिल्ली को बचाने का काम कीजिये तो आप की अमल की क़ुव्वत (कर्मठता) दस गुनी हो जाएगी । बस ये समझ लीजिये कि यही काम इस वक़्त करने का है और आप ही इस के करने वाले हैं ।

अब मुझे कुछ लफ़्ज़ औरतों से कहने हैं- आप के इस रोने-धोने से आप को, दूसरों को क्या फ़ायदा पहुँचेगा । यह वक़्त रोने का नहीं बल्कि काम का है और जो काम हमारे सामने है उसमें आप को भी मर्दों का हाथ बटाना है । अब सर्दी आने वाली है । आप अपने को बहुत तकलीफ़ में समझती हैं, मगर कम-से-कम आप के सिर पर छत तो है । उन मुसीबत के मारों का ख़्याल कीजिये जो आसमान की छत के नीचे ज़मीन के फ़र्श पर रहते हैं । अपने ओढ़ने-बिछोनों को कम कर के ज़्यादा-से-ज़्यादा गद्दे, तोशकें, लिहाफ़, हुमायूँ के मक़बरे तक पहुँचाइये । पुराने कपड़ों की मरम्मत कर के उन को इस्तेमाल के क़ाबिल बनाइये ।

बस यही कुछ बातें मुझे कहनी थीं । इन पर ग़ौर कीजिये, अपने दिल मज़बूत रखिये । अपनी तरफ़ से कोशिश करते रहिये । अंजाम (परिणाम) को ख़ुदा पर छोड़ दीजिये।

नोट: 1. 2 अक्तूबर, 1947 को गाँधी जी के जन्मदिन पर जामिआ में आयोजित समारोह में भाषण ।

नूरे उम्मीद
(आशा की किरण)

ये ज़ाकिर साहिब का पत्र है जो उन्होंने अपनी आँखों के ऑपरेशन के बारहवें दिन लिखा था। आँखों पर पट्टी बंधी हुई थी मगर दिल की आँखें रोशन थीं, हाथ की जुंबिश दृष्टि की सहायता के बिना, परिज्ञान का संदेश पहुँचाने की कोशिश कर रही थी। काग़ज़ पर टेढ़े-मेढ़े नक़्श बने और आपस में गडमड भी हो गए। बड़ी मुश्किल से पढ़े गए, मगर पढ़ लिये गए।

बीमारिस्तान (चिकित्सालय) ''लाकुलेन'' जेनिवा

16, जून

आबिद साहब,

आज शायद बारहवाँ दिन है कि दोनों आँखें बंद किये इस बीमारिस्तान में बिस्तर पर पड़ा हूँ, करवट लेने की भी इजाज़त (अनुमति) नहीं। इस वक़्त रात है, न जाने क्या बजा होगा। तारीकी (अंधकार) और रोशनी के अदल-बदल से नाआश्ना (अनजान) को इस का पता उस सन्नाटे से चलता है जिस में क़रीब का दरिया ऐसा मालूम होता है कि मेरे कमरे के नीचे आ गया है और बस मुझ से ही बातें कर रहा है, और चाहता है कि मैं उस की सुनता रहूँ। मगर मेरा जी चाहता है कि इस वक़्त आप से बातें करूँ। बिस्तर से लगी हुई एक छोटी-सी मेज़ है, जिसे छू सकता हूँ और टटोल कर उस पर से चीज़ें उठा सकता हूँ। इस के दराज़ में आपरेशन से पहले एक पेंसिल और काग़ज़ का एक पैड रख दिया था। वह इस वक़्त काम आया। नाबीना (अंधी) आँखों के बावजूद लिखने की ये पहली कोशिश है। *सतर पर सतर तो शायद चढ़ जाए, मगर कुछ न-कुछ तो पढ़ा जाएगा ज़रूर।

इस हालत में ख़त लिखने को यूँ जी चाहा कि शाम होते आप का ख़त मिला था जिस में आप ने लिखा था कि शायद ''नई रोशनी'', 16 को निकल आएगा। 9 बजे से जब सोने का वक़्त समझ कर सब रफ़ीक़ (साथी) और मददगार चले जाते हैं, कुछ उसी का ध्यान बंध गया है। आज वह पर्चा निकला होगा और मैं न जाने कब उसे देख सकूँगा ? न जाने कब उस के लिये कुछ लिख सकूँगा ? यह पर्चा कैसी परेशानी के वक़्त निकला

है। आप के अपने और सब कामों की तरह इस की बेसरोसामानी का हाल भी जानता हूँ। चल भी सकेगा या नहीं ? क्या पैसा बनाने का काम किये राय बनाने का काम हो सकेगा ? लोग इसे गद्दारों की साज़िश समझें गे या साथियों, हमसफ़रों (सहयात्रियों) के दिल की आवाज़ ? यह आम मज़ाक़ (सामान्य रुचि) को सुधार सकेगा या आम बदमज़ाक़ी का शिकार हो जाए गा ? यह हक़ (सच्चाई) की तल्ख़ (कड़ुहाहट) से कतराएगा तो नहीं? नशा पिला कर लोगों को बदहवास और बेअक़्ल बनाने का चलता कारोबार तो नहीं करने लगेगा ? न जाने क्या-क्या सवाल दिल में उठते हैं। मायूसकुन (निराशाजनक) से मायूसकुन ख़्याल आता है मगर ठहरता नहीं, जमता नहीं। न जाने क्या बात है कि उस वक़्त के हालात का, मेरे अपने ज़ाती (निजी) और वतन के आम हालात का तक़ाज़ा (माँग) यासअफ़ज़ूं (निराशावर्धक) होना चाहिये। अपने सीने को उम्मीद से मामूर (परिपूर्ण) पाता हूँ। आप को ताज्जुब होगा, आबिद साहब कि इन पिछले बारह दिनों में जागते में मुझे कभी एक लम्हे (क्षण) को तारीकी का एहसास नहीं हुआ। दिन हो या रात, मेरी बंद आँखे बराबर कमरे को रौशन पाती हैं। इस रौशनी की कुछ बेरब्तियाँ (अनियमिता) भी महसूस करता हूँ। मसलन मेरे कमरे का दरवाज़ा जो मेरे बाऐं तरफ़ दीवार के बीच में है मुझे दूर के कोने में दिखाई देता है। लेकिन फिर भी यह रौशनी इसी तरह की रौशनी है, अलबत्ता ज़रा धीमी-धीमी जैसी खुली आँखों से देखता था। इस रौशनी में फैले हुए खेत देखता हूँ, हल की लीख साफ़ दिखाई देती है, इस के एक तरफ़ रौशनी, एक तरफ़ साया तक महसूस होता है ? बड़े-बड़े मकान बनते देखता हूँ। आस-पास कसरत (बड़ी संख्या में) से तामीर (निर्माण) का सामान। इस की तिब्बी (वैद्यक) वजह मुझे मालूम नहीं। न उस के पता चलाने की मुझे फ़िक्र है। आप से इस का ज़िक्र इस लिये किया कि हालात की तारीकी में मेरे दिल का भी यही हाल है। इस लिये कि इस उम्मीद की वजह भी सही मालूम नहीं, उर्फ़ी का शेर वजह नहीं बतलाता लेकिन कैफ़ियत (प्रभाव) की सही तस्वीर ज़रूर पेश करता है :

दिलम बकूये तो बा सदहज़ार नाउम्मीदी
बईं ख़ुश अस्त कि उम्मीददार मीगुज़रद

मुझे यक़ीन है कि आज़माइश (परीक्षा) का यह वक़्त भी गुज़र जाएगा और हिन्दी समाज को एक अख़्लाक़ी (नैतिक) समाज बनाने का काम आप के, मेरे जैसे कमज़ोर हाथ ही मिल कर करेंगे। और एक सालह (सयंमित) आदिल (न्यायप्रिय) समाज बनाने की कठिन मुहिम (संघर्ष) बनाने का मौक़ा भी हाथ आए गा। इस मुहिम में राहनुमा (मार्गदर्शक) रौशनी की हर क़दम पर ज़रूरत होगी। जी चाहता है कि आप का पर्चा यह रौशनी मुहैया करे, जी कहता है कि यह ऐसा कर सकेगा। आप ने इस का नाम "नई रौशनी" ख़ूब रखा है। मेरी दूरी और बेबसी से यह न समझिये कि इस दिये की लौ को रौशन रखने के लिये मैं अपने-आप को पिघलाने से बच निकलूँ गा।

समझता हूँ कि अब बस करूँ। शायद अब सुबह होने वाली है। अभी कुछ देर हुई मुर्ग़ ने बाँग दी थी। अब वह चिड़िया बोली जो रोज़ मेरी खिड़की के क़रीब दरख़्त पर बोलती है। पहले ज़रा आहिस्ता-आहिस्ता, ठहर-ठहर कर जैसे आज़माती हो कि और भी जागते हैं या नहीं। फिर चंद मिनट बाद जहाँ कोई और हमनवा (सहचर) मिला तो ज़रा जल्द-जल्द और तेज़-तेज़। कोई आध घंटे में सारा बाग़ गूंज उठता है और नग़मे (कलरव) का एक ऐसा तूफ़ान होता है कि बयान नहीं कर सकता। मालूम होता है कि चिड़ियाँ ही नहीं दरख़्तों की हर पत्ती और चमन (वाटिका) का हर फूल भी इस कोरस में शरीक हो गया है। मगर जब दिन चढ़े आदमियों का शोरोग़ुल, डाक्टरों की आमद (आगमन), नर्सों की मुस्तैदी (तत्पर्ता) इस जश्ने मौसीक़ी (संगीत सभा) को दबा देती है, उस वक़्त भी मुझे इस चिड़िया की आवाज़ बार-बार याद आती है, सुनाई देती है, जो पहले-पहल रूक-रूक कर ज़रा आहिस्ता-आहिस्ता बोली थी और आज ऐसा लगता है कि शायद इस चिड़िया ही का नाम ''नई रौशनी'' है।

भाइयो ! दोस्तो ! साथियो !

भाइयो ! दोस्तो ! साथियो ! मैं ने ये तीनों लफ़्ज (शब्द) जान कर बोले हैं । आदमी को आदमी का भाई क़ुदरत (ईश्वर) बनाती है । हम को तुम को क़ुदरत ने एक देश में पैदा किया है । इसी मिट्टी से हम सब बने हैं । इसी की मिट्टी में हम सब मिलते रहे हैं, इसी में पले बढ़े हैं और इसी में मरते जलते, गड़ते हैं । इसी के तारों से सरगोशियाँ (मरमर) करने वाले पहाड़ों की ताक़त और मज़बूती, इस के मैदानों को मुद्दत के बाद ज़िदंगी बख़्शने वाले दरियाओं का फ़ैज़ (लाभ) पहुँचाने वाला बहाव, इस के जगंलों का साँस लेना, इस की चिड़ियों की चहक, इस के फूलों की महक, यह सब तुम जानो कि न जानो, हमारे-तुम्हारे सब के रोएँ-रोएँ में बसे हुए हैं । हमने, तुमने, सबने इस के हर आराम और इस के हर दुख में एक-सा हिस्सा पाया है । इस की नसीम (समीर) ने सब से एक-सी अठखेलियाँ की हैं और इस की लौ ने हम सब को एक-सा झुलसाया है । इस की ज़मीन ने जो उगला है उस से हम सब ने पेट पाला है और इस के अकालों और क़हतों (सूखा) ने हम से कभी नहीं पूछा कि तुम हिन्दू हो या मुसलमान हो या सिक्ख ? इस के जानवरों ने तुम्हारी-हमारी सब की मदद की है, और हाँ इस के साँपों ने तुम को, हम को, हाँ तुम को और हम को एक तरह से डसा है और हम तुम को एक ही तरह से फ़ायदा पहुँचाया है । क़ुदरत ने जो रिश्ता जोड़ा है उसे तोड़ने पर क्यों तुले हुए हो ?

हाँ, तुम शायद कहो कि आदमी ख़ाली (केवल) क़ुदरत (प्रकृति) का ही है कि क़ुदरत ने जो बना दिया वही रहे । ये आदमी है । अपनी दुनिया आप भी बनाता-बिगाड़ता है । तो यह बिल्कुल सच है । इसी लिये तो मैं ने तुम्हें दोस्त कह कर पुकारा है । हम को तुम को क़ुदरत ने ही एक देश में पैदा कर के भाई नहीं बनाया है बल्कि हम अपनी ख़ुशी से मिल-जुल कर सदियों साथ रहे हैं । गम-शादी (सुख-दुख) में एक-दूसरे के शरीक रहे हैं । आपस में सुलूक (व्यवहार) किये हैं, एक-दूसरे के ऐबों (दोषों) पर पर्दे डाले हैं, हुनर (अच्छाई) ढूँढे हैं, सीखे हैं, सिखाए हैं । एक ने अपनी कमी दूसरे से पूरी की है । एक-दूसरे को बरता है, परखा है, समझा है, मुहब्बत की है, वफ़ादारी की सब रस्में निबाही हैं । एक-दूसरे के जानोदिल (आत्मा) में दख़ील (प्रविष्ट) रहे हैं । ग़ुलामी की लम्बी अंधेरी रात को किसी टिमटिमाते दिये के सहारे काट कर सहर (प्रात:) की है । आज़ादी का रोशन सूरज निकलते ही क्यों दिल पलटे जा रहे हैं ? क्यों निगाहें बदली जाती हैं । दोस्तो, दोस्ती की रस्में निबाहो । दोस्तों को दुश्मन न जानो । किसी आरिज़ी (अस्थायी) जुनून (पागलपन) में सदियों की दोस्तियों को ख़त्म न होने दो, मजनूनों

(पागलों) का इलाज करो, वह भी भाई हैं, वह भी दोस्त बन जाएँगे । दुश्मन जान कर दोस्ती और वफ़ादारी के मतालबे (माँग) न करो । दोस्ती का पौधा शुब्हे (संदेह) और बदगुमानी व नफ़रत की ज़मीन में जड़ नहीं पकड़ता। मुहब्बत, भरोसे और यक़ीन (विश्वास) से काम लो और देखो कि इस में यह पौधा कैसा लहलहाता है, और इस पर वफ़ा के फूल खिल कर किस तरह अपनी ख़ुशबू से कीना की ज़मीन में जड़ नहीं पकड़ता। मुहब्बत और भरोसा कपट की गंदी फ़ज़ा (वातावरण) को महका देते हैं और अपनी शफ़्फ़ाफ़ (स्वच्छ) ख़ुशरंगी से शक (शंका) और शुब्हे के गदंलेपन को कैसे काट देते हैं । भाइयो ! दोस्त बनो । दोस्ती के हक़ अदा करो, दोस्ती के तक़ाज़े पूरे करो और पूरे कराओ ।

भाई दोस्त बन जाँए तो इस अज़ीमुश्शान (महान) काम में जो हम सब के सामने है, साथी भी बन सकते हैं । दोस्तो ! देखो, सदियों की ग़ुलामी के बाद जिस ने हमारे बदनों को ही नहीं जकड़ा था, जिस ने हमारा पेट ही नहीं काटा था, जिस ने हमें वबाओं (महामारी) और ताऊन का शिकार ही नहीं बना रखा था, बल्कि जिस ने जह्ल (निरक्षरता) और बेइल्मी (अज्ञान) के बोझल तौक़ भी हमारी गर्दनों में डाल रखे थे, जिस में हम सोचना-समझना भूल गए थे । जिस में हम से बुरे-भले की तमीज़ (भेद) छिन गई थी, जिस में हम ज़हर को अमृत समझने लगे थे, जिस में ज़ुल्म सहते-सहते हमारे सीनों में ज़ुल्म करने के अरमान परवरिश पाने लगे थे, जिस में हम ने अपना पेट भरने के लिये दूसरों को भूखा मारने का हुनर (कला) पेट भर कर सीख लिया था । जिस की शैतानी कुमक पर हम इंसानों से जानवरों का-सा सुलूक करते थे । जिस में हम अपना उल्लू सीधा करने की ख़ातिर मज़हबी तअस्सुब (धार्मिक भेद-भाव) को बेरोक-टोक उकसाने और भाई को भाई के और दोस्त को दोस्त के ख़िलाफ़ खड़ा कर देने के अक्षर सीख गए थे । जिस ने हमें टुकड़ियों में बाँट कर हमारी क़ौमी ज़िन्दगी को तितर-बितर कर दिया था । वह ग़ुलामी अभी दो महीने हुए कि क़ानूनी तौर पर, अमली (व्यवहारिक) तौर पर तो वो उस वक़्त ख़त्म होगी जब हम-तुम-सब मिल कर अपने एके से, अपनी सूझ-बूझ से, अपने फ़ौलाद जैसे जिस्मों की मशक़्क़त (श्रम) से जिन पर गोलियाँ फिसल जाएँ और अपने दिलों से जिन में अपने साथियों की छोटी-छोटी मुसीबत और विपता से एक टीस उठे, अपनी मेहनत से, अपनी मुहब्बत से, अपनी मायूसी और थकावट से बेपरवा कोशिश से, अपनी नफ़रत और तरफ़दारी से बड़ी मुख़लिसाना (निःस्वार्थ) ख़िदमत (सेवा) से इन सारे रोगों को दूर कर देंगे जो ग़ुलामी ने हम में पैदा कर दिये हैं । साथियो कैसा बड़ा काम है, कैसा कठिन, पर कैसा प्यारा काम ! जिन ज़िन्दगियों को इस प्यारे काम में खपाना है, उन्हें नफ़रत की तलवार से हलाक (बद्ध) करते हो ? जिन क़ूवतों (शक्तियों) के बग़ैर इस प्यारे काम को अंजाम (पूर्ण) देने का ख़्वाब भी नहीं देख सकते, उन्हें बर्बाद करते हो ? कैसी नादानी है ? कैसी नासमझी है, कैसा जुनून है ? साथियो अब सब से पहला काम यही है कि इस नादानी को दूर करो । इस नासमझी को हटाओ, जुनून का हाथ पकड़ लो - (ऑल इंडिया रेडियो से भाषण)

ज़ाकिर साहब का एक स्मरणीय भाषण

"... विनोबा जी जैसे लोग अपनी साधना, तपस्या, अपने स्नेह और अपनी बेलाग सेवा से अपनी क़ौम के मन को जीतने का एक अधिकार पैदा कर लेते हैं और उनकी वाणी जो कि बहुधा कठिन चीज़ों का संदेश लाती है और कठिन मंज़िल के तय करने पर उकसाती है क़ौम के दिल तक पहुँचती है और प्रभावित करती है । उनके कहने और साहस दिलाने से कठिन कार्य आसान हो जाते हैं । अच्छाई, अच्छाई प्रतीत होने लगती है और बुराई, बुराई । ऐसे लोग मानवता की आत्मा और क़ौम का ज़मीर (अंत:करण) बन जाते हैं । उस के सोते हुए लोगों को जगाते और निद्रा में डूबे हुए लोगों को झकझोरते है । जब क़ौम पाप व पथभ्रष्टता में लिप्त हो जाती है तो यह उसके सीने में कांटे के समान खटकते हैं और उस की नैतिक भावनाओं अथवा एहसास को मृत होने से बचा लेते हैं ।

इस समय विनोबा जी भूमिहीनों के लिए भूमि मांगने निकले हैं । लोगों को उनके साहस पर अचंभा होगा । परन्तु उन्हें इस जुर्रत का अधिकार पहुंचता है । यह गौरव और नेकी, हर किसी का हिस्सा नहीं हैं । इस गौरव, सम्मान तथा पुणय के भागीदार वह हो सकते हैं जो उनकी आवाज़ पर चौंकें, अपने कर्तव्य को समझें और समाज को विनाश से बचा लें ।"

इस के पश्चात विनोबा जी कुर्सी से उठकर मेज़ के सामने आए और धैर्य और गंभीरता से पाँव लटका कर एक ही ओर मेज़ पर बैठ गए और माइक्रोफ़ोन को अपने सामने कर लिया । तालियों से सारा स्ट्रेची हाल गूंज उठा । भाषण आरंभ किया तो तुरन्त सन्नाटा छा गया और ऐसा प्रतीत होने लगा मानो हाल के भीतर एक भी जीव उपस्थित न था ।

विनोबा जी ने पहले तिलंगाना की क्रियाकलापों और कार्यों का वर्णन किया । फिर भूमि वालों का भूमि देने की बारीकियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया । और अंत में विद्यार्थियों से तीन बातों का विशेष रुप से आवाहन करते हुए कहा :

पहली बात यह कि तुम को चाहिए कि ऐसे अवसर मिलने पर कि तुम अपने जीवन के कुछेक वर्ष केवल और केवल शैक्षिक कार्यों में लगा सकते हो । यह धन्यवाद अदा करो कि विद्यादान समस्त विद्याओं को उपयोगी बना सकता है और जिसके बिना समस्त विद्या निरर्थक, लाभरहित और घातक हो सकती है । उसकी ओर ध्यान दिया जाए । वह है अपने ऊपर और अपनी भावनाओं के ऊपर अधिकार पाने की क्षमता ताकि मानव जीवन की नौका इच्छाओं और भावनाओं के तूफ़ानी समुद्र में बेक़ाबू होकर विनाश व बरबादी के

भँवर में न जा पड़े अपितु, मनुष्य की बुद्धि, उसका विवेक उसकी दिशा और मज़िल का निर्धारण कर सके। यह विद्या और शान केवल पुस्तकों से नहीं आती अपितु अच्छे लोगों की संगत से प्राप्त होती है। अच्छा सवार वह है जो सवारी को वश में रख सके न कि वह जो सवारी के बस में चला जाए। ऐसे में न सवारी की ख़ैर है, न सवार की, न किसी और की, इस बात को कभी न भूलो।

दूसरी यह कि हमारे देश में हर पैदावार की कमी का रोना है। न पेट भरने को अनाज है, न तन ढाँपने को वस्त्र। विद्या प्राप्त करने वालों को याद रखना चाहिए कि वास्तविक विद्या का हक़ चुकाने के लिए उन्हें अपने हाथों से भी काम करना है। आदमी को पैदा करने वाले ने यह नहीं कहा कि कुछ लोगों को केवल बुद्धि दे दी है और कुछ को हाथ और कुछ को केवल खाने के लिए मुंह। वह चाहता तो यह भी कर सकता था। पर उसकी इच्छा यह जान पड़ती है कि सब लोग सोचें, खाएं तो कार्य भी करें। गाँधी जी ने इसी कारण से चरख़े की चर्चा आंरभ की थी। पर चरख़े का अर्थ केवल चरख़ा नहीं है। कपड़ा बनाना चाहो तो कपड़ा बनाओ, यह न हो तो कुछ खेती करो, सब्ज़ी, तरकारी उगाओ। अनाज पैदा करो। अत: कुछ न कुछ समय बाहर के कार्यों के लिए अवश्य निकालो। खाओ भी, उगाओ भी।

तीसरी बात स्वंय इस विश्वविद्यालय का कार्य है। यह एक बड़ी संस्था है। इसके बनाने वालों के ध्यान में कुछ विचार थे। इसने बहुत कार्य किए हैं। इसके कार्यों में सब से महत्वपूर्ण कार्य यह है कि भारत के सब लोग एक दूसरे को पहचानें और मिल-जुल कर कार्य करना सीखें।

आचार्य जी ने धर्मों की मूलभूत शिक्षा की एकता की ओर भी ध्यान आकर्षित कराया। और कुराने करीम (पावन धार्मिक ग्रंथ) से एक पंक्ति भी सुनाई। और याद दिलाया कि कुराने करीम की आयतों और विभिन्न धर्मो की शिक्षाओं पर आचार्य जी को न केवल पूर्ण अधिकार प्राप्त है अपितु उन से उन्हें बड़ा गहरा लगाव भी है। भाषण को समाप्त करते हुए उन्होंने कहा: "मैंने जो कुछ कहा है वह अपने मन की गहराई से कहा है। जो ठीक हो उसको मानो जो ग़लत (अनुचित) हो उसे अपने हाल पर छोड़ दो।"

विनोबा जी के भाषण के पश्चात ज़ाकिर साहब धन्यवाद करने को खड़े हुए। उनके भाषण के कुछ भाग जहाँ तहाँ से प्रस्तुत किए जाते हैं। खेद है कि पूरे भाषण को लिपिबद्ध करने का पहले से कोई प्रबंध न था अन्यथा यह भाषण अलीगढ़ के इतिहास में स्मरणीय होता।

"विनोबा जी मैं दिल से आप का धन्यवाद करता हूँ कि आपने अपने बहुमूल्य समय में से हमारे लिए भी कुछ समय निकाला। हमें खेद है कि आपको हमारे पास पैदल चलकर पहुंचना पड़ा और आज प्रात: की लम्बी यात्रा के पश्चात आपने तीसरे पहर में यह कष्ट हमारे लिए उठाया। मुझे विश्वास है कि आप की यह दो मील की यात्रा उन युवा

विद्यार्थियों को दो दो सौ मील चलने पर तत्पर करेगी और यह आपका संदेश देश के कोने कोने में पहुंचा देंगे ।

आपने जो कुछ कहा है वह हमारे लिए बड़ा बहुमूल्य है । मुझे विश्वास है कि हम सब अपनी अपनी योग्यता व सामर्थ्य के अनुरुप इस से लाभ उठाएंगे । आपने इस विश्वविद्यालय का एक महत्वपूर्ण दायित्व की ओर ध्यान दिलाया है और हम सब इस के लिए आपके कृतज्ञ हैं ।

अब मैं अनुमति चाहता हूँ कि इस संदर्भ में और इस बैठक में कुछ व्याख्या के रूप में, कुछ शिकायत के रूप में आपकी सेवा में कहूँ ।

विनोबा जी आपने फरमाया और तर्कसगंत बात कही कि इस विश्वविद्यालय के समक्ष इसकी नीव पड़ने के समय से आज तक कुछ विचार रहे हैं । उन में सब से महत्वपूर्ण यह है कि हमारी क़ौम की मानसिक अस्थिरता समाप्त हो । वह पीछे देखे तो आगे देखना भी सीखे । हमने आपको पूरे विश्व से अलग थलग कर रखा था । उधर पशिचम से एक राजनीति आई । उसके साथ वहाँ के नए विचार, नई विद्या, नये सिद्धान्त, नया साहित्य, नये दिन रात और नये ज़मीन-आसमान, नवीन धरती व आकाश आए । हम उन से मुँह मोड़ना चाहते थे । उनसे कतराना चाहते थे । अलीगढ़ के प्रवर्तक ने समझ रखा था कि इस प्रकार काम नहीं चलेगा । इन बातों और इन परिस्थतियों का सामना करना पड़ेगा । और यह कि हमको उन सब से सामना करना भी चाहिए । जो लेने के योग्य हो उसे लेना, और जो छोड़ने के योग्य हो उसे त्यागना चाहिए । खरे खोटे के परखने की योग्यता भी होनी चाहिए और साहस भी ।

उस समय उसकी यह बातें दीवाने की बड़ प्रतीत होती थीं । परन्तु दीवाने ने अपनी बात मनवा कर छोड़ी और हमारी क़ौम को विद्या, ज्ञान और प्रगति के मार्ग पर डाल दिया । दीवाने की बात बड़ी देर में समझ में आती है । संभवत: इस लिए कि वह समझाने के पीछे इतना नहीं होता जितना कर डालने और कराकर छोड़ने के पीछे होता है ।

पशिचमी सभ्यता व रहन-सहन और ज्ञान-विज्ञान की बातों से पूर्व को अवगत कराने तथा क़ौमी जीवन में व्यक्तिगत लाभ की तुलना में क़ौमी हित को श्रेष्ठता व वरीयता देने में अलीगढ़ ने जो कार्य किया वह बड़ा बहुमूल्य कार्य था । फिर यह हुआ कि अलीगढ़ का और उस पशिचमी शक्ति का जो भारत पर शासन कर रही थी एक सम्बंध हो गया । उस पशिचमी शक्ति ने इसे राजनैतिक उद्देश्य के लिए प्रयोग किया जिसका परिणाम अंत में देश विभाजन के रूप में निकला । इस विभाजन में अलीगढ़ का बहुत बड़ा हाथ है । इस आन्दोलन के चलाने वाले अधिकांश हमारे विधार्थियों पर इस का प्रभाव अच्छा हुआ या बुरा, पर विभाजन हो गया । आपसी समझौते से हुआ, सब की सहमति से हुआ । और आज कोई भी समझदार आदमी इस विभाजन को मिटाना नहीं चाहता । बड़ी से बड़ी क़ौम और बड़े से बड़े देश में इस प्रकार की बातें और घटनाएं होती हैं । पर समझदार और

सभ्य लोग इन बातों को द्वेष, शत्रुता और बेहूदगी (अशिष्टता) का बहाना नहीं बनाया करते।

आचार्य जी आज का अलीगढ़ अपने सामने यह महत्वपूर्ण कार्य रखता है कि बटे हुए देशों के आपसी सम्बंधों को मित्रतापूर्ण बनाया जाए और स्वंय इस देश के विभिन्न तत्वों को एक दूसरे से निकट लाने में वह सहयोग दे। जिस प्रकार यह पहले पूर्व और पश्चिम का संगम बना हुआ था उसी प्रकार अब हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई के रहन-सहन व सभ्यता के बहुमूल्य तत्वों को एकत्र करने का कार्य इसे करना है। और मैं समझता हूँ कि समूचे देश में कोई दूसरी संस्था इस महत्वपूर्ण दायित्व को इस प्रकार निष्पादित न कर सकेगी जिस प्रकार अलीगढ़।

मैंने अपने देश का ख़ासा भ्रमण किया है। छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी शैक्षिक संस्थाएं देखी हैं, जीवन भर इसी प्रकार का कार्य देखता, समझता और स्वंय भी करता रहा हूँ। मुझे तो कोई उच्चशिक्षा संस्था ऐसी देखने को नहीं मिली जिसे ऐसे कार्य करने के इतने और इस जैसे अवसर प्राप्त हुए हों जैसे और जितने अलीगढ़ को। आप ध्यानपूर्वक देखें कहीं हज़ारों हिन्दू विद्यार्थी हैं तो एक दर्जन से अधिक मुसलमान हैं। ईसाई हैं तो हिन्दू मुसलमान नहीं, कहीं सिख हैं तो दूसरे नाम मात्र को हैं। लेकिन अलीगढ़ में पहले दिन से हिन्दू मुस्लिम का मिश्रण रहा है। और इस समय बड़ी संख्या समस्त भारतीय वर्गों, जमाअतों, संप्रदायों की यहाँ विद्यमान है। इसके शिक्षकों में भी मुसलमान, हिन्दू, सिख, ईसाई कंधों से कंधा मिलाकर, उच्चपदों पर आसीन रहकर कार्य कर रहे हैं। मैं समझता हूँ कि सही मानों में भारत की राष्ट्रीय शिक्षा व प्रशिक्षण का सब से महत्वपूर्ण केन्द्र अलीगढ़ है। और हम अपने बस भर इस बड़े और पावन कार्य को निष्पादित करने का प्रयास करते रहेंगे।

लेकिन आचार्य जी हमारे इस प्रयास में एक बात बुरी व ख़राब इस प्रकार घुसी है जिसका मुझे बड़ा दुख है। इस लिए मैं इसको आपके समक्ष बड़ी सफ़ाई से कह देना चाहता हूँ। मैं आप को क़ौम (राष्ट्र) का 'ज़मीर' (आत्मा) समझता हूँ इसलिए चाहता हूं कि यह ज़मीर क़ौम को उसकी गुमराही व पथभ्रष्टता तथा अत्याचार पर अंकुश लगाए और आप उन्हें डाटें फ़टकारें।

वह बात यह है कि देश के ख़ासे विशाल वर्ग में हमारे पिछले इतिहास के कारणों से एक आम तत्परता इस बात की मिलती है कि जो बुरी बात हमारे विषय में कही जाए उसे तुरंत मान ले। पिछले दिनों भी इसी प्रकार की एक घटना घटी और समाचार पत्रों में बिना सिर पैर के समाचार गश्त कर रहे हैं कि अलीगढ़ में सांप्रदायिक भावनाओं का राज है और स्वर्गीय लियाक़त अली खान के निधन के अवसर पर इसका प्रदर्शन बड़े ही भोंडे ढंग से किया गया। इसी प्रकार के और बहुत से निराधार समाचार प्रकाशित किए गए।

आचार्य जी मैं आपकी सेवा में यह कहता हूँ और आपके माध्यम से समस्त क़ौम को

भी बताना चाहता हूँ कि यह ब्यान सिर से पाँव तक झूठ है । हाँ इतना ज़रूर है कि कुछ लड़कों ने विश्वविद्यालय यूनियन के वार्षिक चुनाव के ग़लत जोश में कुछ गड़बड़ की । मैंने इस पर सभी विद्यार्थियों को स्ट्रेची हाल में बुलवाया और जी भरकर उनको बुरा भला कहा जिसका अधिकार मुझे उस प्रेम और मुहब्बत के कारण से है जो मुझे उनसे है । उन्होंने मेरी बातों को ध्यान देकर सुना और अपने व्यवहार को ऐसा बदला कि सब आश्चर्यचकित रह गए । उन्होंने चुनाव सम्बन्धी सभी कार्रवाई अति उपयुक्त ढंग से पूर्ण की । इसके बाद अनेक जलसे और समारोह बड़े रख-रखाव और सलीक़े अथवा सुघढ़पन से किए ।

आज के समारोह में जिस शिष्टता और ध्यान से यह आपके सामने पूरे मन से एकाग्रचित होकर आपकी मूल्यवान नसीहतों (उपदेशों) से लाभान्वित हो रहे हैं उसका आप स्वयं अवलोकन कर रहे हैं । -- कौन कहेगा कि यह अशिष्ट, अभद्र, बदतमीज़, फूहड़, बदसलीक़ा और चरित्रहीन या आबरू बाख़ता युवा हैं । यह बड़े शरीफ़, शालीन लड़के हैं, बड़े सूघड़ और कुशल लड़के हैं । ग़लती करते हैं तो उस पर शर्मिन्दा होना और उसकी भरपाई करना भी जानते हैं । मैंने इन्हें बुरा भला कहा था तो मुझ से अधिक इस बुराई को कौन जानेगा जिस पर मैंने इन्हें बुरा भला कहा था । लेकिन सितम देखिए कि मेरे ही भाषण का हवाला देकर उसमें झूठे और दंगा भड़काने वाली घटनाओं के ऐसे हाशिये चढ़ाए गए कि मैं स्वंय चकित रह गया । लियाक़त अली खाँ के निधन की घटना वाले दिन के वाक़ए को न जाने क्या क्या रंग दिया गया ।

कहा गया कि लड़कों ने जुलूस निकाला । यह झूठ है । कहा गया कि लड़कों ने पाकिस्तानी नारे लगाए । यह झूठ है ।

कहा गया कि लड़कों ने साईरन बजाया । यह झूठ है ।

साईरन मेरे आदेश से बजा और मैं समझता हूँ कि मैंने यह आदेश ठीक दिया था । आचार्य जी बात यह है और केवल इतनी ही है कि विश्वविद्यालय से सम्बन्धित किसी बड़े बुज़ुर्ग या सामान्य राष्ट्रीय जीवन में किसी बड़े आदमी के निधन की घोषणा या शोक घोषणा अनेक वर्षों से साईरन बजाकर विश्वविद्यालय में की जाती है । लियाक़त अली खाँ साहब हमारे एक वरिष्ठ ओल्ड बुआए थे । हमारी कोर्ट और प्रशासनिक सभा के बड़े महत्वपूर्ण सदस्य रह चुके थे । मैंने उनके साथ विश्वविद्यालय से बाहर भी शैक्षिक और सामाजिक गतिविधियों में काफ़ी भाग लिया था और हम एक दूसरे का सम्मान और एक दूसरे से प्यार व मुहब्बत करते थे । यही नहीं वह हमारे पड़ोसी देश के प्रधानमंत्री भी थे। फिर क्यों न साईरन बजता ?

परन्तु इस घटना के कुछ दिन ही पूर्व विश्वविद्यालय की इक्ज़ेक्विटिव कौंसिल में इस विषय पर चर्चा हुई थी कि किसी के निधन की घोषणा की यह पद्धति कुछ उपयुक्त नहीं है । अच्छा है कि इसको बन्द कर दिया जाए । अत: साईरन को निधन की घोषणा का

माध्यम बनाने की यह पद्धति समाप्त कर दी गई। लड़कों को इसकी सूचना न थी। कोई घटना इस बीच में ऐसी हुई भी नहीं थी कि उस पर साईरन न बजता और लोग जान जाते कि यह पद्धति त्याग दी गई है।

साईरन न बजने की स्थिति में यह ध्यान हुआ होगा कि संभवत: किसी उद्देश्य के अंतर्गत ऐसा नहीं किया गया। मैं नहीं जानता यह ध्यान किसको हुआ, अत: जब लड़कों ने साईरन बजाने का अनुरोध किया तो मैंने बजाने का आदेश दे दिया।

लड़के शोक प्रस्ताव पारित करने के लिए यूनियन में एकत्र हुए थे। मैं वहीं गया और मैंने उनको बताया कि यदि वह चाहते हैं कि साईरन बजा दिया जाए तो बजा देने में कोई आपत्ति नहीं। अवश्य बजा दिया जाएगा। पर साईरन का बजाना अमुक अमुक कारणों के आधार पर त्याग दिया गया था।

फिर मैंने पूछा कि यह सब बातें जान लेने के पश्चात भी यदि तुम सब चाहते हो कि साईरन बजा दिया जाए तो अवश्य बजेगा। पर क्या कोई विद्यार्थी यह भी चाहता है कि साईरन न बजे ? एक विद्यार्थी यह कहने के लिए उठा कि न बजे। उसके पास के विद्यार्थियों ने उसे बिठा दिया। वह फिर उठा, फिर बिठा दिया गया। वह बेंच के ऊपर खड़ा हो गया, लड़कों ने उसे उतार लिया। इसमें आस पास के कुछ लड़कों में कुछ गड़बड़ हुई परन्तु दूसरे लड़कों ने बीच-बचाव कर दिया।

आचार्य जी मुझे इस प्रदर्शन से दु:ख हुआ और मैंने उसी समय लड़कों को शर्मिन्दा किया। उन्होंने माना कि ग़लती हुई। युवाओं का कभी कभी अपने आप से बाहर हो जाना अच्छी बात तो नहीं फिर भी प्राकृतिक बात अवश्य है।

किन्तु मैं ऐसे युवाओं का सम्मान करता हूँ जो अपनी ग़लती को मान करके उसपर अपनी शर्मिन्दगी को प्रकट करते हैं। मैंने फिर पूछा कि क्या किसी विद्यार्थी का विचार है कि साईरन न बजाया जाए। यदि ऐसा है तो वह अपने हाथ उठाए। एक विद्यार्थी ने फिर हाथ उठाया। किन्तु दूसरे लड़कों ने इस बार कोई आपत्ति नहीं की। इससे मैंने अनुमान लगा लिया कि मैंने लड़कों को जो बात समझाई थी वह उन्हों ने समझ ली है। मैंने कहा तुम सबकी हार्दिक इच्छा है कि साईरन बजे इसलिए मैं अभी साईरन बजवा दूँगा। अत: मैंने साईरन बजवा दिया।

इस बात और इतनी सी बात को लेकर भारत के साथ गद्दारी और पाकिस्तान का पक्षधर और सांप्रदायिकतावाद आदि के काल्पनिक आरोप से आरोपित करना बड़ी ही नादानी, मूर्खता, तंगदिली, हृदय संकीर्णता और कमीनेपन का प्रदर्शन है। फिर यह कि मैं सांप्रदायिकतावादियों से निराश होकर विश्वविद्यालय छोड़ना चाहता हूँ। साईरन का विरोध करने पर वाईस प्रेसीडेन्ट, यूनिवर्सिटी यूनियन से लड़कों ने त्याग पत्र ले लिया - यह सब कोरा झूठ है। ऐसी बातें कहने वालों को हिन्दी में झूठा और अरबी भाषा में कज़्ज़ाब कहते हैं।

आचार्य जी इस विश्वविद्यालय के विषय में जिसमें आप इस समय विराजमान हैं और इन लड़कों के विषय में जो आपके समक्ष उपस्थित हैं, यह कहा जाता है कि यह गुंडों का अड्डा है, और यहाँ गुंडे बस्ते हैं । आज मैं बेझिझक कह देना चाहता हूँ कि हम इस अत्याचार और झूठ को सहन नहीं कर सकते ।

हमें हिन्दुस्तान से उतनी ही मुहब्बत है जितनी किसी हिन्दू या किसी गै़रमुस्लिम को हो सकती है । भारत का कण कण हमारे जीवन और हमारी सेवाओं से देदीप्यमान है । हम हिन्दुस्तानी हैं और अच्छे हिन्दुस्तानी हैं और जब तक इस सत्य को स्वीकार नहीं कर लिया जाएगा हम चैन से नहीं बैठ सकते । वास्तव में हमारे अपने ही वतन में हमारा अनादर और मानरहित जीवन चाहने वाले देश और राष्ट्र के ग़द्दार हैं । हमारे समक्ष खुला हुआ आदर्श है जिस पर किसी भी सच्चे और शरीफ़ हिन्दुस्तानी को गर्व हो सकता है । हम एक विचार के अंतर्गत जीवन बिताना चाहते हैं । हम किसी की कृपा और दया पर निर्भर नहीं हैं । कौन मानहीन, बेगै़रतभारतीय ऐसा है जो किसी की दया और कृपा पर जीना पसंद करेगा ? भारत पर हमारा उतना ही अधिकार है जितना किसी और भारतीय का । हम से बार बार यह क्यों कहा जाता है कि हम अपने आप को हिन्दुस्तानी समझें । किसी कमज़र्फ़ (ओछे) और दुर्भावना रखने वाले व्यक्ति को यह अधिकार नहीं पहुंचता कि वह हमसे हमारे भारतीय होने का अधिकार छीन सके या हमसे वफ़ादारी का प्रमाणपत्र मांगे ।

आचार्य जी आप मेरी इन कड़वी बातों को क्षमा करेंगे । मैं चाहता हूँ कि झूठे लोग राष्ट्रीय संस्थाओं के भविष्य से खेलने से बाज़ आ जाएं और आप से अनुरोध करता हूँ कि ऐसे झूठों के झूठ को आप सब पर स्पष्ट कर दें ।

मैं बहुत ही दुर्बल और कमजोर व्यक्ति हूँ पर यह भरोसा रखता हूँ कि यदि ठीक बात कह रहा हूँ और ठीक कार्य कर रहा हूँ तो इन झूठों के झूठ से वह कार्य रुकेगा नहीं । और यह झूठे अपमानित होकर रहेंगे ।''

पार्लियामेन्ट से ख़िताब - (सम्बोधन)

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के बिल की तरमीम (संशोधन)

26, सितम्बर 1951

डा. ज़ाकिर हुसैन उत्तर प्रदेश : मैं जनाब वज़ीरे तालीम को मुबारकबाद देने के लिए उठा हूँ क्योंकि उन्होंने जो क़दम उठाया है वह मेरे नज़दीक यूनिवर्सिटी कमीशन की मुजव्वज़ह (प्रस्तावित) तजावीज़ की तामील में एक अहम क़दम है । आमतौर पर यूनिवर्सिटी कमीशन की रिपोर्टों का अंजाम एक सरीह मज़ाक़ बनकर रह गया है । इसलिए यह और भी ख़ुशी की बात है कि यूनिवर्सिटी कमीशन की इस रिपोर्ट के बारे में कुछ किया जा रहा है । लेकिन बेहतर यह होगा कि हम इस बात को याद रखें कि यह सिर्फ़ पहला क़दम है और पहला क़दम सफ़र की शुरुआत होता है और इसका इख़तताम (अंत) नहीं । कानून की जिन हदों में यूनिवर्सिटी का निज़ाम चलता है उसकी बहुत अहमियत है । लेकिन इससे भी ज़्यादा अहम यह है कि इन्हीं हदों के अंदर क्या किया जा रहा है और क्या किया जा सकता है । हम को मालूम है कि इन्हीं क़वाइद (नियमों) की हदों में अच्छा या बुरा या बेदिली से भी काम किया जा सकता है । और इन्हीं हुदूद में यूनिवर्सिटी साकित व जामिद (स्थिर) भी हो सकती है । मैंने जानकर साकित कहा मुतहर्रिक (गतिशील) नहीं कहा, हालाँकि यह भी हो सकता है । यूनिवर्सिटी साकित रह कर भी चल सकती है किसी कारआमद (उपयोगी) काम को बर लाने (पूरा करने) की ख़ुशी और सुरुर हासिल किए बग़ैर, या वह फ़ख़्र से सर उठाकर उम्मीद कर सकती है कि वह क़ौमी ज़िन्दगी की तबदीली और तरक़्क़ी के लिए काम करने में एक नुमायाँ (स्पष्ट) हिस्सा लेगी । लेकिन इस तरह बेहतरी का काम करने के लिए कानून का सहारा ही काफ़ी नहीं बल्कि इसके लिए काफ़ी ज़राये (संसाधन) की भी ज़रुरत है । इसलिए यह बहुत ज़रुरी है कि अब जब कि वज़ीर तालीम (शिक्षा मंत्री) की तरफ़ से यह पहला क़दम उठा है तो इसके साथ साथ वज़ीरे मालियात (वित्त मंत्री) को भी क़दम उठाना चाहिए । मुझे अफ़सोस है कि आज यहाँ न वज़ीरे मालियात मौजूद हैं और न ही श्री त्यागी । लेकिन उन को कुछ करना तो ज़रुर पड़ेगा ।

कुछ तबदीलियाँ हैं जो क़ानून के इस हिस्से में तजवीज़ की गई हैं चाहे वह सेंट्रल यूनिवर्सिटियों के कई साल काम करने के तजरुबे की वजह से हों या यूनिवर्सिटियों पर

लागू क़वानीन (कानूनों) में यकसानियत (समरुपता) लाने के नुक़त-ए-नज़र से हों लेकिन इनके अलावा मेरे ख़्याल में तीन और अहम (महत्वपूर्ण) बातें हैं जो इस क़ानून से ज़ाहिर होती हैं । पहली अहम बात तो यह है कि यूनिवर्सिटियों के मौजूदा क़वाएद (नियमों) में जो बंदिश थी कि उनके कोर्ट के मेम्बरान (सदस्य) सिर्फ़ एक फ़िरक़े के लोग ही हो सकते हैं मसलन: अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में मुसलमान और बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में हिन्दू । तो इस बंदिश को ख़ारिज कर दिया गया है जो मेरी राय में एक बहुत अहम क़दम है और मैं चाहता हूँ कि इसकी अहमियत को पूरी तरह समझना बहुत ज़रुरी है और मेरे ख़्याल में इस अहमियत को हम तभी समझ सकते हैं अगर हम अपनी जमूहरियत के सेकुलर नज़रिए के बारे में जल्द बाज़ी से कोई ग़लत नतीजा न निकालें । सिर्फ़ एक सेकुलर हुकूमत में ही हमारे मौजूदा आईन (संविधान) के मुताबिक यह मुम्किन है कि एक सौ फ़ीसदी मुसलमान इदारा या सौफ़ीसदी हिन्दू इदारा क़ायम हो सके । हमारे आईन में इसके ख़िलाफ़ कुछ नहीं लिखा है । अक्सर बातें जो मेरे सुनने में आई हैं उनसे मालूम होता है कि बाज़ लोगों का ख़्याल है कि हमारा आईन इस तरह के ख़ालिस हिन्दू या खालिस मुसलमान इदारों की इजाज़त नहीं देता । मगर ऐसा नहीं है। और फिर भी हम यह क़दम उठा रहे हैं और मैं समझता हूँ कि सही उठा रहे हैं । इस क़दम की अहमियत को ठीक से समझना चाहिए और इसके लिए हमको कुछ और चीज़ों को भी समझना पड़ेगा । मिसाल के तौर पर हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस के बिल की तरमीम (संशोधन) में या अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी से मुतअल्लेक़ा (सम्बंधित) बिल में इन दोनों के नाम तबदील करने की कोई कोशिश नहीं की गई है बल्कि अगर देखा जाए तो अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के मौजूदा बिल में इस्लामी और मशरिक़ी तालीम हासिल करने का ख़ास ज़िक्र है और इस्लामी मज़हब और दीनियात सिखाने का भी । और इसी तरह अगर आप बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के मौजूदा तरमीम शुदा (संशोधित) बिल में यूनिवर्सिटी के अख़्तेयार का मुतालेआ करें तो आप देखेंगे कि वह भी क़दीमी मशरिक़ी तालीम (प्राचीन प्राच्य ज्ञान) मुहैय्या (उपलब्ध) करा सकती है, ख़ास तौर पर वैदिक, बुद्ध, हिन्दू और जैन लोगों के बारे में और हिन्दू मज़हब की तालीम भी दे सकती है । दरअसल यह ज़ाहिरी तज़ाद (भिन्नता) ही इस की अहमियत (महत्ता) को समझने की चाबी है जो हम कर रहे हैं । एक सेकुलर जमहूरियत ही में हिन्दू यूनिवर्सिटी और मुस्लिम यूनिवर्सिटी दोनों मरकज़ी यूनिवर्सिटी की हैसियत से क़ायम रह सकती है क्योंकि सिर्फ़ एक सेकुलर जमहूरियत ही में वह फ़राख़दिली (उदारता) और रौशन ख़्याली हो सकती है जिसमें वह दोनों समा सकती हैं । यह बात हमको जान लेना चाहिए और यह न समझना चाहिए कि हमारी जमहूरियत इस बात को बरदाश्त नहीं कर सकेगी । वह न सिर्फ़ बरदाश्त करेगी बल्कि यह बहुत अच्छी बात है कि वह इसको बरदाश्त कर सकती है । मज़हबी तालीम फ़राहम करने का इन्तज़ाम सिर्फ़ एक सेकुलर हुकूमत में ही हो सकता है क्योंकि वह

किसी मज़हब के ख़िलाफ़ नहीं होती बल्कि ग़ैरजानिबदार (निष्पक्ष) और फ़राख़दिल (विशाल हृदय) होती है। वह रस्मी तौर पर किसी तबक़े से तअल्लुक़ नहीं रखती। बल्कि क़ौमी ज़िन्दगी के हर सेहतमन्द अनासिरों की नश्वोनुमा (तत्वों का पोषण) और तरक़्क़ी की ख़ाहां होती है। लिहाज़ा बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में हिन्दू मज़हब की और वैदिक तालीम होगी और अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में इस्लामी और दीनियात (इस्लामी धर्मशास्त्र) की होगी और दोनों अपना मख़सूस किरदार क़ायम रख सकेंगी। लेकिन यह काम अलहदिगी (अलगाव) में नहीं बल्कि सब लोगों की इजतमाई (सामूहिक) दानिशमंदी (विवेक) और तआवुन (सहयोग) से होना चाहिए। इसलिए ज़ाती तौर पर मैं इस तबदीली की मुवाफ़िक़त (पक्ष) में हूँ। लेकिन इस तबदीली की अहमियत को सही तरह से समझना चाहिए। हर इदारा अपनी इमतेयाज़ी ख़ुसूसियात (विशेषता) पूरी तरह क़ायम रख सकती है। ईसाई इदारा अपनी ख़ुसूसियत को और सिख इदारा अपनी। लेकिन इन सब को अपनी अपनी तहज़ीब के मुख़तलिफ़ अनासिर (तत्वों) को मुत्तहिद करके, एक ख़ूबसूरत, हमआहंग और रौशन तस्वीर बनानी होगी जिससे सब को फ़ायदा हासिल हो सके। और मैं उम्मीद करता हूँ कि यह सब मिलकर अपने अपने माज़ी के सारे क़ीमती ख़ज़ानों को, जो चाहे किसी मज़हब या अहद (काल) से हासिल हुए हों, हर हिन्दुस्तानी की ज़ेहनी और जज़बाती मीरास बनाने में कामयाब होंगे। और इस तरह सब लोगों को एक मुश्तरका (साँझा) माज़ी का विरसा मिल जाएगा जिसकी हिदायत और रोशनी में वह एक मुश्तरका मुस्तक़बिल बनाने की कोशिश कर सकेंगे। मैं उम्मीद करता हूँ कि यह तबदीली इसी जज़बे के तहत अमल में आएगी। यह तबदीली इदारों के किरदार बदलने के लिए नहीं लाई गई है बल्कि हालाते हाज़िरा (आज की परिस्थितियां) की रोशनी में उनके नज़रिए (विचारों) को बदलने के लिए की गई है।

इन यूनिवर्सिटियों के तरीक़-ए-अमल (कार्यशैली) को मुल्क के क़ानून की दफ़ा 28 की मद के मुताबिक़ करने के लिए यह क़रार दिया गया है कि मज़हबी तालीम या उसका इम्तहान हर एक के लिए ज़रुरी नहीं होंगे। लेकिन उन लोगों के लिए जो इसे हासिल करना चाहें, इसका इन्तज़ाम होगा। यह भी एक अहम काम है और इसकी वजह से यूनिवर्सिटियों को पहले से ज़्यादा चौकन्ना रहना पड़ेगा। मज़हबी तालीम में जब्र एक क़िस्म की बेदिली और बेपरवाही पैदा कर सकता है जिससे बचना चाहिए। लिहाज़ा बनारस और अलीगढ़ में मज़हबी तालीम देने के लिए हमको बेहतर और ज़्यादा मुवस्सिर (कारगर) तरीक़े अख़तियार करना होंगे। हमारी मादरी (मातृ) यूनिवर्सिटी में बहुत से शोबे (विभाग) हैं, जो बहुत खुशी की बात है। लेकिन हमें यह ख़्याल रखना है कि हम असली मानों में ऐसा मज़हबी माहौल पैदा कर सकें जहाँ मज़हब को आपस में तफ़रक़ा डालने या किसी को नुक़सान पहुँचाने के लिए इस्तेमाल नहीं किया जाएगा बल्कि मज़हब इंसानों में बाहमी (आपसी) इत्तफ़ाक़ (मेल) पैदा करने का बाइस हो। और एक ऐसा

काएनाती शऊर (सारभौम चेतना) जिस से न सिर्फ़ ज़िन्दगी को मानी (अर्थ) मिल सके बल्कि जो ज़िन्दगी के मुनतशर और आरज़ी (अस्थायी) लमहात (क्षणें) को एक ऐसी अबदीयत (चिरस्थायित्व) बख़्श सके जिससे एक ऐसी ताक़त पैदा हो जाए जो क़ौम के सब इरादों को इकट्ठा करके सही और मुफ़ीद काम अंजाम देने का काम कर सके। अगर हम यह कर सकेंगे तो मज़हबी तालीम असली तरह से मुवस्सिर (प्रभावशाली) और कारआमद (उपयोगी) हो सकती है। और मेरी दुआ है कि इस से यही नतीजा निकले।

तीसरी अहम बात है बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी ऐक्ट में नया सेकशन-58 और अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी ऐक्ट में नया सेकशन-13. का दाख़िला जिनमें यूनिवर्सिटी के कारे अमल (कार्यक्षेत्र) और तरक़्क़ी का पंजसाला मुआयना (निरीक्षण) होने की गुंजाईश है। मैं मानता हूँ कि अब जिस तरह इस दफ़ा को लाया गया है इस में काफ़ी नरमी बरती गई है, वरना पहले इसके अलफ़ाज़ काफ़ी ग़ैरमुहज़्ज़ब थे। सिवा साहब ने चुनाव कमेटी की कारकर्दगी के बारे में कुछ जुमले कहे थे जिन पर मैं न कुछ कहूँगा और न ही मुझे कुछ कहना चाहिए। मेरे अपने बारे में जो मेहरबान जुमले उन्होनें कहे उसके लिए मैं उनका शुक्रगुज़ार हूँ। काश मैं इसका मुस्तहिक़ होता (पात्र)। यह सब मैं इस यूनिवर्सिटी या उस यूनिवर्सिटी की पासदारी की वजह से नहीं कह रहा हूँ, ख़ास कर जिस यूनिवर्सिटी के साथ दरअसल मेरा तअल्लुक़ है। अगर हुकूमते हिन्द इस सिलसिले में तफ़तीश करना चाहती है तो कल ही कर सकती है लेकिन मेरे नज़दीक यह किसी भी यूनिवर्सिटी की ख़ुददारी के लिए निहायत तौहीनआमेज़ (अपमानजनक) बात है। यह यूनिवर्सिटी की ख़ुदअख़तियारी की जड़ पर ही हमला है कि कोई ऐसी क़ानूनी दफ़ा लाई जाए जिस से उसका मीआदी मुआयना किया जा सके। दुनिया की कोई ख़ुददार यूनिवर्सिटी इस बात पर राज़ी नहीं होगी। आप किसी भी यूनिवर्सिटी से मालूम कर सकते हैं या किसी मुल्क से पूछ सकते हैं और आपको ऐसी मिसाल कहीं नहीं मिलेगी।

12. बजे दोपहर !

श्री सिधवा-बंगलौर के साइंस इन्स्टीट्यूट में यह मिसाल मौजूद है

डा. ज़ाकिर हुसैन -- वह कोई यूनिवर्सिटी नहीं है। और हम बात करते हैं उस रक़म की जो यूनिवर्सिटियों पर खर्च की जा रही है तो आप किस क़द्र रुपया खर्च कर रहे हैं जो दूसरे मुल्कों की यूनिवर्सिटियों के ख़र्चे के मुक़ाबले में बिल्कुल हक़ीर और क़लील (कम) रक़म है। जब हम अपनी यूनिवर्सिटी की तालीम पर ख़र्चे की रक़म के बारे में सोचते हैं तो हमें शर्म से अपना सर झुका लेना चाहिए। हो सकता है कि हम इस मामले में बेबस हैं लेकिन यह कोई ऐसी बात नहीं है जिस पर हमें फ़ख़्र होना चाहिए। अगर आप रुपया ख़र्च कर रहे हैं तो ऐसी जगहें हैं जहाँ आप को एक तरीक़े से खर्च करना चाहिए और यूनिवर्सिटियाँ ऐसी जगहें हैं जहाँ आपको पैसा ख़र्च करना चाहिए और फिर इस बात को भूल जाना चाहिए क्योंकि यूनिवर्सिटी के लोग एक ख़ास क़िस्म के होते हैं।

यह लोग इल्म, किरदार, और इख़लाक़ी खूबियों के लोग हैं । अगर आप उन पर भरोसा नहीं करेंगे तो यह कुछ न कर पाएगें । अगर यह किसी गढ़े या दलदल में गिर जाएं तो इनको कोई नहीं बचा सकता सिवाए इसके कि यह ख़ुद ही अपने बाल पकड़ कर ऊपर निकल आएं । यह लोग बेरन भंचहाऊसन की तरह हैं अगर उनको बचना है तो इन को खुद अपने बाल खींच कर ऊपर आना होगा । एक यूनिवर्सिटी सिर्फ़ अपने आपको अंदरुनी काविश (प्रयत्न) ही से सुधार सकती है, उन कुव्वतों के ज़रिए जो वह ख़ुद अपने अंदर से मुहैय्या करती है । आप चाहे इसको कितना भी पैसा दे दें लेकिन अगर आप समझते हैं कि आप इस की इस्लाह किसी तरह की पुलिसनुमा जाँच या कभी कभी मुआयना करके कर सकते हैं तो आप सरासर ग़लत सोचते हैं । इससे न ही कोई नतीजा निकलेगा । और न ही आपको यूनिवर्सिटी के बारे में कुछ मालूम हो सकेगा क्योंकि या तो वाइस चाँसलर बहुत होश्यार होगा और आपको बेवक़ूफ़ बनाकर एक अच्छी रिपोर्ट लिखवाने में कामयाब हो जाएगा, जबकि आपको ख़राब रिपोर्ट लिखना चाहिए था । या आप ख़ुद बहुत चालाक होंगें और यह इरादा करके जाएगें कि आप एक नाली के इंस्पेक्टर की तरह की रिपोर्ट लिखेंगे जो कोई भी किसी भी मुआयने में लिख सकता है क्योंकि एक मुख़्तसर मुआयने में और कोई कर भी क्या सकता है । इस अहम बात पर यूनिवर्सिटीज़ कमीशन ने ग़ौर किया है और इस सिलसिले में अपनी सबसे अहम तजवीज़ (प्रस्ताव) पेश की है कि एक यूनिवर्सिटी ग्रान्ट कमीशन होना चाहिए । मैं उनकी रिपोर्ट का कुछ हिस्सा पढ़ना चाहूँगा जिससे आपको अंदाज़ा हो जाएगा कि किस तरह का कंट्रोल होना चाहिए ।

"पिछले चन्द सफ़्हों में हमने अपनी यूनिवर्सिटियों की बहुत सी अफ़सोसनाक कोताहियों का ज़िक्र किया है । (वह ख़ुद भी आपकी तरह इन कोताहियों से बेख़बर नहीं हैं) और बहुत सी इस्लाहात (सुधार) करनी चाहते हैं जो ज़रुरी है मगर हम को यह यक़ीन नहीं है कि बाहर से और कंट्रोल लाद कर इस्लाह करने का यह तरीक़ा है बल्कि मौजूदा (वर्तमान) ख़राब हालत की एक बड़ी वजह यह है कि हमारी ज़्यादातर यूनिवर्सिटियों में ख़ुदमुख़तारी नहीं है और वह ख़ार्जी (बाहरी) दबाव की मुदाफ़ेअत (दूर करना) नहीं कर पातीं । यूनिवर्सिटियों को रौशन ख्याल लोगों की राय से मुतअस्सिर (प्रभावित) होना चाहिए और उन को कभी रिश्वत या दबाव के तहत ऐसा क़दम नहीं उठाना चाहिए जो तालीमी लिहाज़ से ग़लत या नाक़ाबिले क़बूल (अस्वीकारणीय) हो और किसी तरह की रिआयत (छूट) या बदअतवारी (कुढंगापन) या फ़िरक़ा परस्ती के सबब से हो । सबसे सही पालिसी तो यह होगी कि यूनिवर्सिटी को बेहतरीन आईन (कानून) मुहैय्या किया जाए जिसमें उसकी गवर्निंग बोर्ड में समझदारी से चुने हुए बाहर के लोगों का शामिल होना ज़रुरी हो और फिर उसमें दख़लअंदाज़ी (हस्तक्षेप) न की जाए ।" यह उस कमीशन का नज़रिया है जिस पर हुकूमत ने काफ़ी रक़म खर्च की है ।

यूनिवर्सिटिज़ कमीशन के अपने बारे में मैं दो जुमले (वाक्य) पढ़ना चाहूँगा।

"अव्वल तो उनको चाहिए कि अक्सर यूनिवर्सिटीज़ में जाते रहें चाहे अकेले या किसी मज़मून की कमेटी के एक या ज़्यादा मेम्बरान के साथ।"

इस तरह करने से आपको वह सारी मालूमात (जानकारी) हासिल हो जाएगी जिनकी आपको ज़रुरत है। और फिर आप यूनिवर्सिटी को मशविरा दे सकते हैं कि उनको क्या चाहिए। फिर वह कहते हैं।

"मशविरा लेने में पहल हमेशा यूनिवर्सिटी की तरफ़ से होनी चाहिए। अगर कमीशन ख़ुद से बग़ैर माँगे सलाह देगा तो आपस के वह तअल्लुक़ात, जो हम चाहते हैं कि यूनिवर्सिटियों के साथ क़ायम हों, ख़राब हो जाएगें जो दोस्ती के तअल्लुक़ात होने चाहिएं न कि पुलिस या इन्स्पेक्टर के।"

इन अलफ़ाज़ की रोशनी में यह ज़रुरी है कि कोई गुंजाईश किसी पंजसाला मुआयने की न होना चाहिए, न ऐसी कोई दफ़ा क्योंकि इस बात का ज़िक्र हुआ है कि चुनाव कमेटी में यूनिवर्सिटी ग्रान्ट कमीशन के तक़र्रुर (नियुक्ति) के बारे में बहस (चर्चा) की गई तो मुझे अच्छी तरह याद है कि यह बात उठी थी कि अगर इस कमेटी का तक़र्रुर हुआ तो यह दफ़ा ग़ैरज़रुरी (अनावश्यक) हो जाएगी। मेरा अपना ख़्याल था कि फिर हम सिर्फ़ चन्द महीनों के लिए ही इसका इस्तेमाल करेंगे। मैं समझा था कि यूनिवर्सिटी ग्रान्ट कमेटी का तक़र्रुर जल्द अज़ जल्द हो जाना चाहिए क्योंकि यह यूनिवर्सिटीज़ कमीशन की सबसे अहम और बुनियादी तजवीज़ थी। मुझे यह इसलिए याद है कि मुझे इस ख़्याल से सख़्त नाउम्मीदी (निराशा) हुई थी कि हुकूमत यू.जी.सी. के तक़र्रुर के बारे में नहीं सोच रही है। इसलिए यह 'दफ़ा' चाहती है। लेकिन मुझे बहुत खुशी है कि वज़ीरे तालीम (शिक्षा मंत्री) ने इस मसअले (समस्या) के बारे में सोचा है और वह समझते हैं कि इस कमीशन का तक़र्रुर ज़रुरी है और इसे जल्द अज़ जल्द होना चाहिए। अगर ऐसा है तो यह Clause हर लिहाज़ से बुरी है और फ़ज़ूल हो जाती है। इसलिए मैं अपने दोस्त मिस्टर सिधवा से ज़बानी अपील करुंगा कि वह इस नुक़ते पर इसरार (आग्रह) न करें और यूनिवर्सिटियों को आज़ादी के माहौल में फलने फूलने का मौक़ा दें। सिर्फ़ तब ही वह तरक़्क़ी कर सकती हैं या तरक़्क़ी करने की उम्मीद रख सकती हैं हालाँकि आज़ादी का माहौल, भी कभी कभी ख़तरनाक हो जाता है। फिर भी अगर उनको पढ़ाना है तो वह सिर्फ़ आज़ादी के माहौल ही में मुम्किन है।

मैं इस बिल की मरकज़ी दफ़ा की ताईद (अनुमोदन) करता हूँ।

इस्तेक़बालिया तक़रीर
(स्वागत अभिभाषण)

हज़रत अमीरे जामिया (मान्यवर कुलाधिपति), पंडित जी, दोस्तो और अज़ीज़ो (प्रियजनों)! कैसी ख़ुश नसीबी (सौभाग्य) है मेरी कि अपने महबूब (प्रिय) और मोहतरम (माननीय) मेहमान पंडित जवाहरलाल नेहरू, वज़ीरे आज़म हिंद (भारत के प्रधानमंत्री) का इस यूनिवर्सिटी में स्वागत करने का शर्फ़ (श्रेय) मुझे हासिल (प्राप्त) हुआ है । पर है यह शर्फ़ (श्रेय) ख़ासा कठिन । रसमी (औपचारिक) स्वागत हो तो जैसे तैसे लफ़्ज़ों (शब्दों) में अदा हो जाए । जब गर्मी की तपती प्यासी ज़मीन पर बरसात की घंघोर घटा मंडलाती है तो उसका ज़र्रा-ज़र्रा (कण-कण) ज़िंदगी की एक छिपी हुई लहर से टपकने लगता है पर इस घटा के स्वागत के लिए वह लफ़्ज़ों से काम नहीं लेती । जब ख़ज़ाँ (पतझड़) की मुर्दनी के बाद पौधों के रंगों में दौड़ने वाला रस और ठहनियों में से झिझक-झिझक, ठिठक-ठिठक कर झाँकने वाली कलियाँ बादे बहारी (बसंती पवन) का ख़ैरमक़दम (स्वागत) करती हैं तो मारे ख़ुशी के खिल पड़ती हैं मगर उन का जोशेजनूं (विकसित होने का उत्साह) ख़ैरमक़दम के लिये लफ़्ज़ नहीं ढूँढ पाता । जब बहार (बसंत) क़ाफ़ले की पहली चिड़िया चमन में पहुँचती है तो सारा चमन फ़र्ते ख़ुशी (हर्ष की अधिकता) से लहलहाता है, मुस्कराता है पर कुछ कह नहीं सकता । आदमी नादान (नासमझ) इन मौक़ों (अवसरों) पर भी इस मशवरे (परामर्श) को भूल कर कि निगाहे शौक़ (अभिलाषी नयन) इस मज़मूने रंगीन (रसात्मक विषय) को अदा (अभिव्यक्त) कर दे । लफ़्ज़ों में ही कुछ कहना चाहता है और आख़िर को (अंत में) अपनी बेबसी पर शर्माता है । मैं भी अपनी सादगी और नादानी में इस रंगीन मतलब (अभिप्राय) को लफ़्ज़ों में अदा करने खड़ा हो गया हूँ पर जानता हूँ कि यह कहते बनेगा नहीं । फिर भी यक़ीन (विश्वास) है पंडित जी इसे समझ लेंगे ।

पंडित जी ! इस यूनिवर्सिटी की तरफ़ से आप का दिली ख़ैरमक़दम (हार्दिक स्वागत) करता हूँ, इसके मुंतज़िमों (प्रबन्धकों) की तरफ़ से जिन को इस का पूरा एहसास है कि आला तालीम (उच्च शिक्षा) के ऐसे मरकज़ (केंद्र) जैसा कि यह यूनिवर्सिटी है दुकानें नहीं हैं, क़ौमी अफ़कार (राष्ट्रीय चिंतन) और क़ौमी किरदार (चरित्र) बनाने की जगहें हैं, जो मानते हैं कि इन का शर्फ़ (श्रेय) यह है कि अच्छे से अच्छे उस्तादों (अध्यापकों)

को, अच्छे से अच्छे दिल व दिमाग़ (हृदय-बुद्धि) को इस काम के लिये यहाँ यकजा (एकत्रित) करें। फिर उन्हें फ़िक्र (चिंतन) और इज़हारे फ़िक्र (विचारों के प्रचार-प्रसार) की कामिल (पूर्ण) आज़ादी दें इसलिये कि इल्म (ज्ञान) और शख़सियत (व्यक्तित्व) दोनों आज़ादी की फ़ज़ा (वातावरण) में नश्वोनुमा (विकास) पाते हैं। इनको क़ौमी ज़िंदगी का बनाने वाला जानें, उनकी खरी नज़र (तीक्ष्ण दृष्टि) और अच्छी ज़िन्दगी के लिये उनका पूरा पूरा अदब (लेहाज़) और एहतराम (आदर) करें और तालीम (शिक्षा) व तरबियत (प्रशिक्षण) के दिलकश (आकर्षक) मगर कठिन काम में इनके लिए हर तरह की सहूलत (सुविधा) बहम (उपलब्ध) पहुँचाएं। फिर तुलअबा (विद्यार्थियों) के लिये रहने-सहने की आसाइश (सुविधा) के और तालीम व तहक़ीक़ (शिक्षा और अनुसंधान) की राहों को सहल बनाने के सब इंतज़ाम करें और अच्छे उस्तादों और शायक़ तालिबइल्मों (ज्ञानपिपासु विद्यार्थियों) को यकजा करके इसका एहतमाम (व्यवस्था) करें कि एक के ज्ञान और दूसरे की पिपासा, एक की हिकमत (बुद्धिमत्ता) और दूसरे के तख़ैयुल (कल्पना शक्ति), एक की शफ़क़त (स्नेह) और दूसरे की अक़ीदत (श्रद्धा) के बाहम (परस्पर) मिलने से अच्छे ज़हन (बुद्धि), अच्छे किरदार (चरित्र) और अच्छी ज़िंदगी के ऐसे हामिल (परिचारक) पैदा हों कि अपनी सेवा से क़ौमी ज़िंदगी बना सकें। बढ़ा सकें, सुधार सकें, निखार सकें। इन मुंतज़मीन (प्रबंधकों) की तरफ़ से आप का ख़ैरमक़दम करता हूँ कि इन्हें आप की ज़ात (रूप) में इनके ख़्यालों (विचारों) और मनसूबों (योजनाओं) का समझने वाला, उनकी मदद करने वाला दिखाई देता है।

यहाँ के उस्तादों की तरफ़ से आप का ख़ैरमक़दम करता हूँ जो अपने को क़ौम (राष्ट्र) का ख़िदमतगुज़ार (सेवक) समझते हैं और अपने काम की समाजी अहमियत का पूरा एहसास रखते हैं, जो अपने कंधों पर इस ज़िम्मेदारी का बोझ महसूस करते हैं कि इनके काम की अच्छाई पर उनकी क़ौम का मुस्तक़्बिल (भविष्य) मुनहसिर (आधारित) है, जो अपने तालिबइल्मों को क़ौम का सबसे क़ीमती सरमाया (पूँजी) जानते हैं और उनकी सही तालीम और तरबियत और तरक़्क़ी को अपनी सबसे बड़ी सआदत (सौभाग्य) मानते हैं, जो यूनिवर्सिटी की आज़ाद फ़ज़ा (स्वतंत्र वातावरण) में आज़ादिये फ़िक्र (स्वतंत्र चिंतन) के साथ इस की समाजी ज़िम्मेदारियों का पूरा हक़ अदा करना जानते हैं और पढ़ाई का कमरा हो या खेल का मैदान, होस्टलों की ज़िंदगी हो या तफ़रीह के मशग़ले (मनोरंजन के कार्यक्रम) सब अपनी बेहतरीन तवानाइयाँ (शक्ति) सर्फ़ (व्यय) करने पर आमादा रहते हैं और अपने शागिर्दों (शिष्यों) की शख़सियत (व्यक्तित्व) के बनाव में अपनी ज़िंदगी का फल देखते हैं। इन सब की तरफ़ से आप का ख़ैरमक़दम करता हूँ कि इन्हें आप की ज़ात में एक रोशन दिमाग़ (द्रष्टा) एक गर्म दिल के साथ इस ख़ूबी (सुंदरता) से मिलकर समाजी सेवा के रास्ते पर यक़ीने हिम्मत (विश्वास के साहस) से

चलता दिखाई देता है, कि इनके काम में आपकी शख़्सियत (व्यक्तित्व) एक प्रभावशाली जीते जागते नमूने की हैसियत रखती है ।

और पंडित जी सबसे ज़्यादा मैं आप का ख़ैरमक़दम करता हूँ आपकी क़ौम के उन होनहार नौजवानों की तरफ़ से जिनकी ख़ातिर (कारण) यूनीवर्सिटी का यह सारा कारोबार चल रहा है । आज उनकी रोशन आँखें और दिनों से ज़्यादा रोशन दिखाई देती हैं । इसलिये कि वह आप को अपने सामने देख रहे हैं । लेकिन जब आप उनके सामने नहीं होते तो यह अपने आप में आपकी मुहब्बत और आप की अक़ीदत (श्रद्धा) का ख़ज़ाना छिपाए रहते हैं ।

आज़ादी की राह में आपकी क़ुरबानियाँ, ग़ुलामी की ज़ंजीरें काटने में आपकी जां-बाज़ियाँ (शूरता) उनके दिलों को गरमाती हैं । आज़ादी के बाद इसे क़ायम (स्थिर) रखने और उसे क़ाबिलेक़द्र (मूल्यवान) बनाने में आप की अनथक सख़्त कोशिशें उनको बार-बार इस पर उभारती हैं कि जल्द अपनी तालीम व तरबियत का मुक़र्ररा (निर्धारित) निसाब (पाठ्यक्रम) पूरा करके यह आप का हाथ बटाएँ और सबसे ज़्यादा यह कि इन में आप से कुछ ऐसा लगाव है, ऐसी मुहब्बत है, ऐसी अक़ीदत है कि जब यह अपनी जवानी के जोश में या अपनी जल्दबाज़ी में हालात (परिस्थितियों) से घबरा उठते हैं या अपने बड़ों से मायूस भी होते हैं तो भी आप के साथ इनकी गिरवीदगी (लगाव) कम नहीं होती । इन्हें आपकी ज़ात में अपनी आरज़ुओं (आशाओं), अपने वलवलों (आकांक्षाओं), अपने इरादों की तस्वीर दिखाई देती है । इसलिए अगर कभी आप इन के वर्ग यानी (अर्थात) तालिबइल्मों से मायूस होने लगते हैं तो इन का दिल टूट सा जाता है, यह सहम से जाते हैं । इनसे ज़रुर ग़लतियाँ होती हैं, और पंडित जी हम बड़ों से क्या कुछ कम गलतियाँ होती हैं । मगर मैं, कि पैंतीस बरस से इन्हीं की ख़िदमत मेरी ज़िंदगी है, शहादत (साक्ष्य) देता हूँ कि हमारी क़ौम के नौजवान बड़े अच्छे नौजवान हैं, इन का दिल सोने का दिल है, नहीं इससे भी ज़्यादा गिराँ (बहुमूल्य) बना है इसलिये कि अपने वतन की मुहब्बत, अपनी क़ौम की सरफ़राज़ी (उन्नति) की आरज़ू, उसके मुस्तक़्बिल पर यक़ीन और नेकी, ख़ूबी (गुणवत्ता) और इंसाफ़ की लगन इनके रेशे-रेशे (अंश-अंश) में भरी हुई है । मैं कोई राज़ (भेद) अफ़शां (उद्घाटित) नहीं कर रहा जब यह बताता हूँ कि आप इनके बड़े ही चहेते महबूब (अनुराग बिंदू) हैं । इनकी तरफ़ से आप का ख़ैरमक़दम करता हूँ । अगरचे इनकी गर्म आँखों की चमक, इनके नूरानी (ज्योतिर्मय) चेहरों की दमक, इनके पुरअरमानों (आकांक्षाओं से परिपूर्ण) धड़कन इसी तासीर (प्रभाव) के साथ आप का ख़ैरमक़दम कर रही हैं कि मेरे लफ़्ज़ इनके सामने कोई हक़ीक़त (मूल्य) नहीं रखते ।

बड़ा ही कर्म (कृपा) फ़रमाया पंडित जी आपने हम सब पर कि बावजूद अपनी तरह तरह की मसरूफ़ियतों के आपने हमारे लिये वक़्त निकाला । इस वक़्त हम आप को

तकलीफ़ देना चाहते हैं दो इमारतों के संगे बुनियाद (शिलान्यास) रखने के लिए एक यूनीवर्सिटी लाएब्रेरी का, दूसरी सैफ़ी होस्टल का जो हमारे मोहतरम (माननीय) कुलाधिपति हज़रत सैयदना डा. ताहिर सैफ़उद्दीन साहब के नामेनामी से मंसूब (संबद्ध) है। यूनीवर्सिटी में एक अनजुमन (संस्था) है अनजुमने क़र्ज़ (ऋणदायी संस्था) जो सालहासाल से ग़रीब तुलअबा की मदद का काम करती है। इसकी दस्तगीरी (सहायता) ने बेशुमार (अगणित) तालिबइल्मों को ज़रुरत के वक़्त सहारा दिया है। इसके लिये अनजुमन के ख़ादिम (सेवक) चंदा जमा करते हैं। सैयदना ने बारहा इसको ग्राँक़द्र (भारी मात्रा में) अतिये (दान) मरहमत (दिये) फ़रमाए हैं। पिछली बार जब अनजुमन की तरफ़ से मदद की दर्ख़्वास्त (निवेदन) हुई तो सैयदना ने फ़रमाया कि क्या यह अच्छा न होगा कि कोई इमारत अच्छे बड़े सरमाया (पूँजी) से तामीर (निर्मित)करा दी जाए और उसके किराये की आमदनी से ग़रीब तुलअबा की मदद की जाए ताकि इस मदद की कुछ मुस्तक़िल (स्थायी) सूरत हो जाए और वक़्ती चंदों पर ही काम का इन्हेसार (निर्भरता) न रहे। इस शफ़क़ते बुज़ुरगाना (पितृतुल्य कृपादृष्टि) की वजह से, जो सैयदना इस यूनीवर्सिटी के तालिबइल्मों पर रखते हैं, इनका इरशाद (आदेश) था कि एक अच्छे नमूने का होस्टल तामीर कराओ जिसमें कम से कम सौ तुलअबा आराम से रह सकें और यकसूई (निश्चिंता) से अपनी तालीम और तहक़ीक़ (अनुसंधान) का काम कर सकें। हस्बे इरशाद (आदेशानुसार) देहली के मशहूर आर्कीटेक्ट मिस्टर कार्ल्स हाइंस से नक़शा तैयार कराया गया और तख़मीना (अनुमानित लागत) यह है कि इमारत की तैयारी में साढ़े तीन लाख से कुछ ऊपर ख़र्च होगा। सैयदना ने इस ग्राँक़द्र रक़म (भारी पूँजी) की फ़राहमी (उपलब्धि) अपने ज़िम्मे ले ली और अपनी जमाअत (अनुयाइयों) के लोगों को इस कारेख़ैर (दान-पुन्य) की ओर मुतवज्जेह (ध्यानाकृष्ट) फ़रमाया।

यह मुस्तैद (समर्थ) और मुनज़्ज़म (सुसंगठित) और कारकर्दह (कर्मठ) जमात (संप्रदाय) सारे मुल्क में और मुल्क से बाहर कारोबार के सिलसिले से फैली हुई है और अपनी होशमंदी (बुद्धिमत्ता), हौसले दीनदारी (धर्मनिष्ठा) और ख़ुश मामलगी (व्यवहार कौशल्य) के लिये मारूफ़ (प्रसिद्ध) है। इसने सैयदना के कहने पर लब्बैक (जो आज्ञा) कहा और हिन्दुस्तान में, हिन्दुस्तान से बाहर बोहरा जमातों ने छोटी छोटी और बड़ी बड़ी रक़मों (धनराशि) से इतना सरमाया फ़राहम कर दिया कि सैयदना ने हुक्म दिया है कि काम शुरू किया जा सकता है। चुनांचे आज इस होस्टल का संगे बुनियाद आप के मुबारक हाथों (करकमलों) से रखा जाएगा।

इस ज़माने में जब लोग इदारों (संस्थाओं) का तमामतर बोझ हुकूमत पर डालना चाहते हैं यह एक क़ाबिलेतक़लीद (अनुसरणीय) मिसाल (उदाहरण) हैं, हमारे कुलाधिपति का फ़ैज़ (कृपा) यहीं तक महदूद (सीमित) नहीं बल्कि तालिबइल्मों की बहबूद (कल्याण) के तरह तरह के कामों में यूनीवर्सिटी के नए शोबों (विभागों) की ज़रूरतों को पूरा करने

में आपकी मुशफ़िक़ाना इमदाद (स्नेहमयी सहायता) बराबर सहूलतें पैदा करती है और सिर्फ़ माली मदद नहीं बल्कि मशविरा (परामर्श), हिम्मत अफ़ज़ाई (प्रोत्साहन) और गहरी दिलचस्पी से भी। यह इस तरह हमारा सहारा हैं जैसे एक मुशफ़िक़ बुज़ुर्ग (सस्नेही बड़ा बूढ़ा) अपने बालिग़ (प्रौढ़) समझदार बच्चों का होता है। हमें बजातौर (उचित रूप से) पर फ़ख़्र (गर्व) है कि हमारा कुलाधिपति इल्म (ज्ञान) व तक़वा (धर्मनिष्ठा) का पैकर (मूर्ति) है और फ़ैयाज़ी (दानशीलता) व हमदर्दी (सहानुभूति) का भी।

दूसरा संगे बुनियाद जिसके रखने की दरख़्वास्त अभी आपसे करूँगा यूनीवर्सिटी लाएब्रेरी का संगे बुनियाद है। यूनीवर्सिटी लाएब्रेरी पहले एक कालिज की लाएब्रेरी थी जिसमें कोई चालीस हज़ार किताबें थीं और कोई तीन सौ क़लमी नुस्ख़े (हस्तलिखित रचनाएँ)। यह किताबें एक बड़े खासे वसी (विस्तृत) कमरे में रखी जाती थीं जिसके इधर उधर पढ़ाई के कमरे थे। जब कालिज यूनीवर्सिटी बन गया तो लाएब्रेरी की अहमियत भी बढ़ी। दस हज़ार रुपये के हर साल किताबें और रिसाले (पत्रिकाएँ) ख़रीदे जाने लगे। जगह की कमी पड़ने लगी तो इसके पास के कई कमरे एक एक करके लाएब्रेरी में शामिल होते गए। आज मरकज़ी लाएब्रेरी (केन्द्रीय पुस्तकालय) में साठ हज़ार किताबें हैं। इसके अलावा छब्बीस छोटे-छोटे कुतुबख़ाने (पुस्तकालय) अलेहदा अलेहदा शोबों में हैं जिनमें चालीस हज़ार से अधिक किताबें हैं। क़लमी किताबों (हस्तलिखित पोथियों) का एक ज़ख़ीरा (संग्राहलय) है जिसमें छ हज़ार से ऊपर क़लमी नुसख़े हैं। हाल में एक इदारा (विभाग) उलूम इस्लामिया (इस्लामी ज्ञान-विज्ञान) क़ायम (स्थापित) हुआ है। उसका कुतुबख़ाना तेज़ी से बढ़ रहा है और मग़रबी एशिया (पश्चिमी एशिया) और शुमाली अफ़रीक़ा (उत्तरी अफ़रीक़ा) के मोमालिक (देशों) से मुतालिक़ (संबंधित) एक अच्छा ज़ख़ीरा इसके पास फ़राहम हो गया है।

शोबए तारीख़ (इतिहास विभाग) हिन्दुस्तानी तारीख़ के मुस्लिम अहद (मुस्लिम शासन काल) पर ख़ास काम कर रहा है और इस सिलसिले में बड़ी मुस्तैदी (तत्परता) से तमाम ऐसी किताबों के आटोग्राफ़ और माईक्रो फ़िल्म हर जगह से जमा कर रहा है जिनसे हिन्दुस्तानी तारीख़ के उस अहद पर रोशनी पड़ती है। लेकिन यह सब ज़ख़ीरा छब्बीस-सत्ताईस जगह मुंतशिर (बिखरा हुआ) है, कोई बड़ी मरकज़ी इमारत नहीं है। इस वक़्त सालाना पचास हज़ार की किताबें और रिसाले ख़रीदे जाते हैं। इसी साल यूनीवर्सिटी ग्रांट्स कमीशन (विश्वविद्यालय अनुदान आयोग) ने साइंस की किताबों के लिए एक लाख पचास हज़ार रुपये से ऊपर की मंजूरी (स्वीकृति) दी है। अमरीकन व्हीट लोन फ़ंड से अस्सी हज़ार की किताबें इसी साल आ चुकी हैं। सालाना कोई तीस हज़ार किताबें जारी होती हैं। अक्तूबर से मार्च तक मुतालेआ का कमरा (वाचनालय) सुबह आठ बजे से रात के दस बजे तक खुला रहता है। कुतुबख़ाना साल भर खुलता है। लेकिन इमारत न होने से काम में बड़ी मुश्किलें होती हैं। यूनीवर्सिटी ग्रांट्स कमीशन ने

कुतुबख़ानों को अपने प्रोग्राम में ख़ास अहमियत दी है। चुनांचे इस यूनीवर्सिटी के लिये भी लाएब्रेरी की इमारत के वास्ते दस लाख रुपये की रक़म मंजूर की गई है। इस नई इमारत का नक़शा हैदराबाद के मशहूर आर्कीटेक्ट जनाब फ़ैयाज़उद्दीन साहब और देहली के मारूफ़ (विख्यात) आर्कीटेक्ट श्री मानिकम ने बड़ी मेहनत और तवज्जे से बनाया है। कुतुबख़ानों की नक़शासाज़ी (मानचित्र निर्माण) में जो तरक़्क़ियाँ हाल में हुई हैं उनमें से अक्सर (अधिकांश) का ख़्याल रखा गया है। यह कुतुबख़ाना जब बन जाएगा तो उम्मीद है कि मुल्क के अच्छे कुतुबख़ानों में होगा। पाँच लाख किताबें इसमें रखी जा सकेंगी और इसके आरामदेह हालों (कक्षों) में तुलअबा को मुतालेआ की हर क़िस्म की सहूलियत होगी। रिसर्च (अनुसंधान) का काम करने वालों के लिये अलग ज़ाविये (एकांत कोहबर) होंगे। क़लमी किताबों की हिफ़ाज़त (सुरक्षा) का अच्छे से अच्छा इंतज़ाम होगा।

व्हीट लोन फ़ंड के सिलसिले में इसका भी मौक़ा (अवसर) भी मिला कि हम अपने लाएब्रेरियन सैयद बशीरउद्दीन साहब को छः माह के लिये अमरीका भेज सकें। वह वहाँ अच्छे कुतुबख़ानों के इंतज़ाम (प्रबंध) देखकर वापस आ गए हैं। इनकी निगरानी (नियंत्रण) में उम्मीद है कि यह नया कुतुबख़ाना हमारी यूनीवर्सिटी की इल्मी (शैक्षणिक) और तहक़ीक़ाती (अन्वेक्षणात्मक) ज़िंदगी में एक बहुत क़ीमती इज़ाफ़ा (वृद्धि) होगा। हमारी ख़ुशनसीबी है कि आप ने इसका संगे बुनियाद रखना मंजूर फ़रमा लिया है।

मैं अब बाअदब दरख़्वास्त (नम्र निवेदन) करता हूँ कि अब पहले सैफ़ी होस्टल का और फिर यूनीवर्सिटी लाएब्रेरी का संगे बुनियाद अपने मुबारक हाथों से रख दें।

नोट: 12 नवम्बर, 1955 को भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के मुस्लिम यूनीवर्सिटी अलीगढ़ में आगमन के अवसर पर स्वागत अभिभाषण।

मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ में दीक्षांत भाषण

"बार-बार मेरा ध्यान चालीस साल पहले की उस तपती हुई दुपहरी की ओर जाता है जब कि पहले पहल मैं इस विश्वविद्यालय में आया था। मेरे दो बड़े भाई पहले से ही यहां मौजूद थे, और इसलिये नए-नए आने वाले दूसरे सैकड़ों छात्रों के मुकाबले में मैं यहां उतना अजनबी नहीं रहा। मेरे वे भाई पहले ही यहां के वातावरण के अंग बन चुके थे, मैं नया था। मेरे एक भाई तीसरे पहर मुझे एक जोड़ा जूता, कुछ किताबें और एक लालटेन खरिदवा लाए। शहर हम लोग गए तो पैदल ही, पर लौटे इक्के पर क्योंकि अपने हाथों में सामान लेकर चलना शरीफ़ों की इज़्ज़त के ख़िलाफ़ था। मुझे याद है कि मेरे भाई मुझे छात्रावास के अपने कमरे में बिठाकर अपने कुछ दोस्तों से मिलने के लिए निकल पड़े थे और मुझे बता गए थे कि सूरज डूब जाने पर जब घंटी बजे तो मैं भोजनालय में जा पहुंचूं। घंटी मेरे अनुमान से पहले ही बज उठी। इस पर तुर्की टोपी, बदन पर तुर्की कोट, और मोजे-जूते पहनकर खाने के लिए जाने की बात सोलह साल की उम्र तक कभी सामने नहीं आई थी। यह सब पहनते-पहनते कुछ वक्त लगा। और देर लगती भी क्यों नहीं ? जूते के फ़ीते को सूराख़ों में डाल ही नहीं पा रहा था क्योंकि जैसे ही मैंने दो सुराखों में डालकर फ़ीते को खींचा कि वह पूरा बाहर निकल आया और तब मैं इतना घबरा उठा कि नए जूते मुझे पहनाकर मेरे भाई ने शाम को फ़ीते बांधने का जो तरीका कई बार में सिखाया था उसे बिलकुल ही भूल गया। कई बार फ़ीते को बांधा और खोला, और अचानक ही वह तरीका एक नए आविष्कार की तरह दिमाग़ में कौंध गया। आखिर सज-धजकर जब मैं कमरे से निकला तब तक काफ़ी देर हो चुकी थी, और मेरे वे साथी जो कहीं ज़्यादा चौकन्ने थे, पहले ही भोजनालय में पहुंच चुके थे।

'यक लहज़: ग़ाफ़िल गश्तम व सदसाला राहम दूर शुद' (मैं एक क्षण के लिये ग़ाफ़िल हुआ था कि मेरी राह सौ साल दूर हो गई)

"भोजनालय का रास्ता मुझे मालूम नहीं था, और जहां-तहां टक्कर मारता फिरा। आख़िर अपने गंतव्य स्थान की निष्फल खोज करते-करते मुझे लगा कि मैं वहीं आ पहुंचा हूं जहां मेरा कमरा था। दरवाजा बंद था, और सभी दरवाज़े भी बंद थे। मैंने अपनी घड़ी पर नजर डाली। यह एक नई ही चीज थी जो मुझे उसी दिन अपने भाई से मिली थी।

उसे पाने से पहले तक में अपने दिन के वक्त का बटवारा या तो स्कूल वाली बड़ी घड़ी को देखकर करता आया था या सूरज की रफ़्तार (गति) से । अब घड़ी को देखा तो पता चला कि रात के खाने का जो वक्त मुझे बताया गया था उसे गुज़रे सिर्फ़ आठ ही मिनट हुए थे। लेकिन इन्हीं आठ मिनटों के अंदर मुझ निर्बल पर क्या-क्या गुज़र चुकी थी-आत्म विस्मृत, अतीत की खोज, जीवन लक्ष्य की तलाश, मार्गभ्रष्टता, और यात्रा की विफलता की सारी मंजिलें पार हो चुकी थीं ।

यह सच है कि वक्त सिर्फ़ घड़ी की सुइयों की रफ़्तार से नहीं नापा जाता । जिस व्यक्ति पर यह गुज़रता है उसकी मनोदशा भी इसका एक भाग है । इंतज़ार या निराश का कुछ मिनट ही पहाड़ बन जाता है, कभी-कभी सत्य की झांकी, संभवत: संकल्प,सौंदर्य-बोध, संघर्ष में सर कटाने की इच्छा के एक क्षण में आदि और अंत समा जाए गा, कभी-कभी पूरी ज़िंदगी लक्ष्यहीन और उत्साहहीन भटकते ही बीत जाए गी, जिसकी ओर तेज़ी से गुज़रता हुआ एक-एक मिनट, उसके तमाम ज़िंदगी भर, हिकारत (तिरस्कार) की निगाह से ताकता और उसकी खिल्ली उड़ाता रहेगा । आठ मिनट बाद मैं वहीं आ पहुंचा था जहां से रवाना हुआ था । कमरे के बाहर, नीम के दरख़्तों के नज़दीक, कुछ खाटें पड़ी थीं उन्हीं में से एक पर मैं जा बैठा । कुछ ही देर बाद मेरे सहपाठी वापस लौटते दिखाई दिये-कोई एक दूसरे की बांह में बांह डाले, कोई आप ही आप गुनगुनाते हुए, कोई हंसते हुए, और कोई ख़ामोश । इसका मतलब यही होता था कि भोजनालय में जाने, खाना खाने और फिर वहां से लौट आने का यह सारा सिलसिला सिर्फ 9-10 मिनट में पूरा हो चुका था । दूसरे मामलों में न सही, लेकिन खाने वाली नित्यक्रिया में एक फ़ौजी पाबंदी-सी जान पड़ी । ज़्यादा देर तक खाते रहना तहज़ीब के ख़िलाफ़ समझा जाता था, और भोजनालय के प्रबंधक भी खाने की मेज़ पर किसी के ज़्यादा रुकने की गुंजाइश नहीं छोड़ते थे ।

क्या वजह है कि उस दिन जो कुछ हुआ था वह मुझे इतने विस्तार से याद है ? शायद इसकी वजह यही है कि उसी दिन मेरे इन चवालीस सालों की शुरुआत हुई थी जिसके दौरान मेरी ज़िंदगी में बहुत-कुछ बदल गया है, हालांकि इस विश्वविद्यालय के साथ मेरा रिश्ता नहीं बदला है, इसकी जड़ें तो मेरे दिल की गहराईयों में हैं, और ऐसी कोई चीज़ नहीं जो इस बंधन को तोड़ सके । यहां मैंने बहुत कुछ सीखा, और जितना सीखा उससे ज़्यादा न सीख पाने पर पछतावा करना भी सीखा । यही जगह थी जहां मेरे अंदर बाद की ज़िंदगी में उन कामों को करने की चाह पैदा हुई जो शुरू तो किये पर अभी अधूरे ही पड़े हैं । यही वह जगह थी जहां मैंने दूसरों के साथ मिलकर काम करना सीखा, यहीं मैंने मतभेदों और स्वभावगत विषमताओं के बावजूद सहयोग करते हुए चलने की कला सीखी, ज़िंदगी के तौर तरीक़ों के साथ प्रयोग किये और उन पर अपनी राय क़ायम की । यहीं रहते हुए मेरे सामने हमारे राष्ट्रीय जीवन और चरित्र के सारे दोष उभरकर सामने आए, और दिल में वे दर्द महसूस किये जो आंखों में आंसू ले आते थे, और साथ ही तब अपने

अंदर पहले पहल अपने देशवासियों की कामनाओं और आकांक्षाओं के अंकुर उठते महसूस किये। यहीं रहते हुए मैंने अपरिपक्क मन की रोषपूर्ण अधीरता और जल्दबाज़ी में किये शक-शुबहों पर पछतावा करना सीखा। यहीं पर मेरे अंदर ऐसी आग भड़क उठी जैसी कि सूखे पत्तों में किसी चिंगारी के पड़ जाने से भड़क उठती है, पर साथ ही उस आग को कोयले की तरह राख के अंदर ही अंदर सुलगाए रखना भी सीखा। यहां रहते हुए ही मेरे अंदर यह भाव पनपा कि बसंत की कोंपलों की तरह जो प्रवृत्तियां मेरे अंदर झिझकती और शर्माती हुई-सी झांकने लगी थीं उन्हें इस यत्न से धीरे-धीरे बढ़ाऊं कि तेज़ और ज़ोरदार हवाएं उन्हें उखाड़ न ले जाएं, और साथ ही यह ज़रूरत भी महसूस कर पाया कि अपने व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिये सामाजिक जीवन के तूफ़ानों और थपेड़ों का मर्दानगी के साथ सामना करुं। एकांतवास और सहवास दोनों का ही हमारी शिक्षा और हमारे निर्माण में कितना महत्व है यह भी मैंने यहीं जाना। यहीं मैंने आज्ञापालन करना सीखा और आज्ञाकारिता को स्वभाव में परिणत कर डालना भी। यहीं मैंने सम्मान करने के तत्व को जाना: बुजुर्गों का, बराबरी वालों का, छोटों का, और अपना भी सम्मान करने का तत्व। यही वह जगह है जहां रहते हुए मैं अपनी नम्रता और वफ़ादारी की भावना की वजह से ही यह महसूस कर सका कि विद्या के इस केंद्र में जीवन का नियमन करने के लिए जिन विधि-विधानों को बनाया गया है उनका समझ बूझ के साथ ख़ुद बख़ुद पालन करना ही सच्ची स्वाधीनता है, लेकिन जब इसके विधि-विधान अंत:करण की मांग के विपरीत जान पड़े, जब जीवन के इस स्रोत ने ही मुझ में विद्रोह करने का साहस पैदा कर दिया, मैं विद्रोही बन बैठा, मुझे निकाल बाहर किया गया, और मैंने विद्या के एक दूसरे ही केंद्र का निर्माण करने में पच्चीस वर्ष अर्पित कर डाले, मगर मेरे दिल में फिर भी अपने इस विद्यालय के प्रति कोई कटुता नहीं पैदा हुई।

वनवास में भी मन इसी में अटका रहा। स्थिति में परिवर्तन हुआ, देश स्वतंत्र हुआ, यहाँ की व्यवस्था में परिवर्तन आया। इसकी सेवा का अवसर प्राप्त हुआ। बुरी-भली जो बन पड़ी सेवा की, और आशा थी कि जीवन भर भटकने के बाद मार्ग मिल जाएगा, मगर भाग्य साथ न था, स्वास्थ्य की ख़राबी कर्तव्य को पूरा करने में बाधक हुई, अंत में मुहब्बत पर ज़िम्मेदारी की भावना ने विजय पाई और मैं आप से विदा हो गया।

आज, हालाँकि दिल टूटा हुआ है, फिर भी यहाँ से जो भी पाया है उसकी शुक्रगुज़ारी के एहसास से मन भरा हुआ है, और अपनी कोताही (कमी) पर शर्मिंदा हूँ कि जी भर के इस संस्था की सेवा न कर सका। मेरे लिये इस संस्था से जुड़ा रहना ही ज़िंदगी का बहुत बड़ा इनाम है। आप इस पर भी मुझे नए सम्मान के योग्य समझ रहे हैं।

श्रीमान। रस्म सी है कि कॉन्वोकेशन (दीक्षांत समारोह) में जिस शख़्स को तक़रीर 'भाषण' करने के लिये बुलाया जाता है वह उच्चशिक्षा की किसी समस्या या दूसरी ऐसी ही समस्याओं के बारे में अपने विचार संस्था के छात्रों, अध्यापकों और कर्मचारियों के

संमुख रखता है । मैं चाहता था कि ऐसा न करूँ, इसलिये कि जो कहा जाता है वह महफ़िल सजाने और वक़्त गुज़ारने के सिवाय प्रत्यक्ष रूप से किसी काम नहीं आता । मगर सोचता हूँ कि तक़रीर हमेशा से शिक्षा की, चाहे व्यक्ति की हो, चाहे समूहों की, एक प्रभावशाली साधन रही है । इसलिये कुछ कहने का साहस कर रहा हूँ ।

सब से पहली चीज़ जो मेरे विचार में आती है वह यह है कि भारत में उच्चशिक्षा की जो समस्या है वह यह है कि भारत में उच्चशिक्षा की संस्थाएँ तेज़ी से बढ़ेंगी और बावजूद इस शोर के जो हम रोज़ सुनते हैं, कि ज़रूरत से ज़्यादा लोग उच्चशिक्षा प्राप्त कर रहे हैं और इसलिये बेरोज़गारी बढ़ रही है, उच्चशिक्षा पाने वालों की संख्या तेज़ी से बढ़ेगी जब संख्या को नियंत्रित करने पर केवल विचार किया जा सकेगा और परिणाम यह होगा कि इस बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये अच्छी उच्चशिक्षा के उचित प्रबंध सोच-समझकर और पूरी तैयारी के साथ नहीं किये जाएँगे, शिक्षा-प्रणाली में गिरावट आएगी, अधकचरे ग्रेजुएट जो किसी रोग का इलाज न होंगे, लाखों की संख्या में निकलेंगे, बूझ-बूझक्कड़ कहेंगे कि संख्या कम करनी चाहिये और समझेंगे कि बड़ी दूर की कौड़ी लाए और संख्या होगी कि बढ़ती जाएगी । बूझ-बूझक्कड़ों को अगर यह विश्वास दिला दिया जाए कि हज़ार कोशिश करने पर भी संख्या बढ़ेगी तो शायद इस बढ़ती हुई संख्या को अच्छी शिक्षा देने के प्रबंधों की ओर अधिक ध्यान दिया जा सके । प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षण देश में बड़ी तेज़ी से फैल रही है और इस विस्तार की गति को, सच तो यह है कि और भी तीव्र होना चाहिये । हमारे देश के संविधान में हिदायत (निर्देश) है, साफ़ हिदायत है कि संविधान लागू होने के दस साल के अंदर भारत के सब लड़के-लड़कियों के लिये छः साल से चौदह साल तक मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा का प्रबंध हो जाना चाहिये । हमने देश के सामान्य विकास की दो पंचवर्षीय योजनाएँ बनाईं और दोनो योजनाओं में दु:साहस के साथ इस निर्देश की उपेक्षा कर दी । और मुझे डर है कि संविधान की इस हिदायत को तीसरी योजना में भी पूरी तरह नहीं अपनाया जा सकेगा । कुछ अजीब सी बात है, यह राष्ट्रीय विकास की योजनाएँ बनाई जाती हैं क़ौमी इरादों (राष्ट्रीय संकल्पों) को पूरा करने के लिए, किसी और मामले में क़ौम ने अपने इरादे और अपनी इच्छा को इस सफ़ाई के साथ व्यक्त नहीं किया था जितना कि शिक्षा के मामले में। परिणामस्वरूप देश में उच्चशिक्षा की संस्थाएँ अपने काम के सुधार और विस्तार के लिए रोज़ बरोज़ सरकार से संबद्ध हो जाएँगी । सरकार शिक्षा पर अच्छा-ख़ासा रूपया ख़र्च करने की नीयत भी रखती है । यह सब कुछ बहुत अच्छा है, परन्तु मन में एक भ्रम अवश्य पैदा होता है कि उच्चशिक्षा की स्वतंत्रता कहीं ख़तरे में न पड़ जाए । आज़ादी से पूर्व अंग्रेज़ों के राज में हमारी उच्चशिक्षा की संस्थाएँ बिलकुल विदेशी राजनीति में कसी हुई थीं । यही कारण था कि उन्हें क़ौमी ज़िन्दगी में वह दर्जा हासिल नहीं था जो उन्हें मिलना चाहिए था ।

स्वतंत्र भारत में, यह शिक्षा संस्थाएँ यदि राष्ट्रीय जीवन के विकास में, उसके निर्वाह

और सुधार में, अपना कर्तव्य इस प्रकार पूरा करना चाहेंगी जैसा कि उन का अधिकार है तो उन्हें अपने काम में आज़ादी की ज़रूरत होगी। शिक्षा संस्थाएँ मानसिक एंव नैतिक जीवन स्वतंत्रता ही में फलता-फूलता है, नहीं, स्वतंत्रता इसके लिए अनिवार्य है। स्वतंत्रता के विना कोई शिक्षा संस्था न सांस्कृतिक पूँजी को नई नस्लों तक उचित रूप से पहुँचाने का काम कर सकती है, न उसकी स्वस्थ आलोचना कर सकती है, न जिहालत (निरक्षरता) और वहमों (अंधविश्वासों) और संकीर्णता को मिटा कर ज्ञान व बुद्धि, अच्छे अख़्लाक़ (शिष्टाचार) और नेक ज़िंदगी का रास्ता तै कर सकती है, न अच्छे चरित्र का निर्माण कर सकती है, न उसे उच्च शिखर तक ले जाने का काम कर सकती है। मुबारक और सौभाग्यशाली है वह क़ौम जिस की हुकूमत उच्च शिक्षा के गुर को समझ लेती है, अपनी शिक्षा संस्थाओं को साधन जुटाने में कोई कमी नहीं करती और उन की आज़ादी में एक पल के लिए भी हस्तक्षेप नहीं करती। यह हुकूमत के सही मूल्यों की कसौटी है, मुझे यक़ीन है कि हमारी आज़ाद हुकूमत इस परीक्षा में पूरी उतरती रहेगी।

लेकिन श्रीमान, हमें, जो शिक्षा संस्थाओं से जुड़े हुए है, यह बात कभी न भूलनी चाहिए कि यह आज़ादी भी हर दूसरी आजादी की तरह अपने ऊपर आज़ादी से पाबंदियाँ लगाती है। सही आज़ादी कहते ही हैं ख़ुशी से अपने ऊपर ज़रूरी पाबंदियाँ लगाने को, गुमराही और मनमाने विकल्प को आज़ादी नहीं कहते। सच्चाई की तलाश और सच्चाई के प्रचार में आज़ादी के हक़ के साथ शिक्षा संस्थाओं पर सामाजिक ज़िम्मेदारियों को ख़ुशी के साथ उठाने का कर्तव्य भी लागू होता है। भारत की शिक्षा-संस्थाओं की सामाजिक ज़िम्मेदारी बहुत भारी है। देश सदियों की ग़ुलामी से आज़ाद हुआ है। ग़ुलामी, ज़हन और रूह (आत्मा) को हलाक करने वाली होती है। ग़ुलाम ज़िम्मेदारी को पूरा नहीं कर सकता और अख़्लाक़ (नैतिकता) को निभा नहीं सकता। आज़ादी में क़दम रखते ही अपने हर काम की अच्छाइयों और बुराइयों का बोझ उसके सर आ पड़ता है। अख़्लाक़ की पाबंदियाँ अपने सर ले कर ही उसको सच्ची आज़ादी मिलती है। ग़ुलामी से आज़ादी का यह सफ़र बड़ा दुश्वार और कठिन सफ़र होता है। ज़हन और रूह की क़ुव्वतों (बल) को जगाना पड़ता है, पुरानी आदत बार-बार क़दमों को डगमगा देती है। अच्छे मूल्यों के सहारे ही से इन क़दमों को क़ुवत मिलती है, रास्ते चलने वाले को मज़बूती मिलती है। कभी-कभी तो यह नवागंतुक इस नई आज़ाद दुनिया में अजनवी-अजनबी से लगने लगते हैं। इन ज़हनों को मूल्यों के मामले में साफ़ करना, उनकी भावनाओं को राष्ट्रीय कल्याण के साथ संबंधित करना, उन्हें स्वार्थ और अंहकार की तंग और अंधेरी घाटियों से निकाल कर जमाअत (समूह) के हितों के लिए काम करने पर तैयार करना, साम्प्रदायिक वफ़ादारियों को निखार कर उन्हें राष्ट्रीय एकता का अभिलाषी बनाना, उनके आलस्य को परिश्रम में बदलना, कुल मिलाकर क़ौमी मिज़ाज को आज़ादी की माँगों के अनुकूल बनाने का काम बड़ी हद तक विद्यालयों का काम है।

यह काम चूँकि आज़ादी ही में हो सकता है इसलिए हर अक़्लमंद, आज़ादी दोस्त, प्रजातांत्रिक सरकार, विद्यालयों की आज़ादी में बाधा नहीं डालेगी। परन्तु विद्यालयों को भी यह महान् कार्य पूरा कर के अपने को उस आज़ादी का हक़दार साबित करना होगा। इस शिक्षालय से जिस तरह मैं जुड़ा रहा हूँ, जी चाहता है कि काश इस मैदान में दूसरों से आगे रहता और मुझे ऐसा लगता है कि इसे दूसरों से किसी तरह कम नहीं बल्कि कुछ ज़्यादा ही, इसका मौक़ा है कि यह आज़ाद हिन्दुस्तान के मानसिक और आध्यात्मिक नेतृत्व में दूसरों से आगे रहे। मेरे विचार में किसी भारतीय विश्वविद्यालय के छात्रों में हिन्दु, मुस्लिम, सिख, ईसाई की ऐसी उपस्थिति नहीं है जितनी कि यहाँ है। इसके अध्यापकों में भी यह विशेषता जिस तहर मौजूद है दूसरी जगह कम है। यहाँ के होस्टल की ज़िन्दगी, और इसकी रिवायतें इसे एक मिसाली इल्मी बस्ती बनाने के अनुकूल हैं। आज़ादी के बाद बड़ी उदासीनता के ज़माने से गुज़र कर इसने आत्मविश्वास प्राप्त किया है। और नए आज़ाद समाज के तजुर्बे ने इसके साथ एक ताज़ा और स्वस्थ ताल्लुक़ पैदा किया है। इससे यह उम्मीद रखना किसी तरह भी अनुचित नहीं कि यह व्यक्तिगत और समष्टिगत नैतिक जीवन, ज़िम्मेदार शहरियत (नागरिकता), बेलाग तहक़ीक़ (अनुसंधान), निडर आलोचना, निस्स्वार्थ सेवा, निर्भय सत्यवादिता, आपसी सहयोग, अदब, तमीज, सलीक़ा और सब से ज़्यादा राष्ट्रीय एकता की कल्पना की एक तालीमी बस्ती बन जाएगी जिस पर हमारा देश गर्व कर सकेगा। भाग्यशाली है वह शिक्षालय जिस के छात्र, अध्यापक और कर्मचारियों की मिली-जुली कोशिशों से, बिना सब की कोशिशों के यह काम होने वाला नहीं, यह मंसूबा (परियोजना) पूरा हो सके।

नोट : दीक्षांत अभिभाषण, 28, जनवरी, 1957 ई.

बहादुर शाह ज़फ़र

आज से पूरे सौ साल पहले सात नवम्बर को बहादुर शाह ज़फ़र अपनी प्यारी दिल्ली और अपने प्यारे लाल क़िले से दूर रंगून में बेकसी और तन्हाई की स्थिति में दुनिया से चल बसे। अपने जीवन के अंतिम समय में जब वह कालचक्र के उत्थान-पतन और ज़िंदगी की धूप-छाँव पर विचार करते होंगे तो उन्हें अपने चतुर और मनचले पूर्वजों के कारनामे याद आते होंगे जिन्होंने हिन्दुस्तान में एक ऐसा विशाल राज्य स्थापित किया जो हिन्दूकुश से कावेरी तक फैला हुआ था, जिसका अगाध धन, अनुपम उद्योग और हस्तकला तथा अद्वितीय सुन्दर और भव्य भवनों की सारे संसार में धूम थी, जिसके ज्ञान-विज्ञान, कला, काव्य और संगीत का देश-विदेश में चर्चा था। इस राज्य के प्रशासन का भवन गाँव पंचायत के पुराने स्वायत व्यवस्था पर आधारित था और सरकार, ज़िला, प्रांत और केन्द्रीय सरकार तक फैला था, जिसका शासक शहंशाह था। इसके शासकों ने बुद्धिमत्ता से अपनी सारी प्रजा का समर्थन प्राप्त कर लिया था, और वह हिन्दू, मुसलमान दोनों को अपने शासन-भवन के स्तंभ समझते थे। वह हिन्दुस्तानी ज्ञान-विज्ञान और कला के प्रेमी और संरक्षक थे और उनके शासन काल में देसी भाषाओं, ब्रज, अवधी और बंगला ने बहुत उन्नति की और सूर, तुलसी, बिहारी और काशीराम के शाश्वत काव्य से हिन्दुस्तानी साहित्य मालामाल हो गया।

बहुत से उदार और तपस्वी महापुरूषों ने, जिनमें कुछ शहंशाह भी सम्मिलित थे, इस बात की कोशिश की कि विभिन्न धार्मिक आस्थाओं में एकता उत्पन्न करके एक समंवित जीवन पद्धति की बुनियादें रखें। वह सुल्हे-कुल अर्थात सर्वधर्म समभाव की विचारधारा को अपनाकर एक ऐसा रास्ता निकालना चाहते थे जिसपर सभी साधक कंधे से कंधा मिलाकर चल सकें और आध्यात्म् के उच्च शिखर तक पहुँच सकें।

फिर बहादुरशाह ज़फ़र यह सोचते होंगे कि ख़ुदा के भेद ख़ुदा ही जानता है और भाग्य का लिखा अटल है। हिन्दुस्तान में आपस के झगड़े उठ खड़े हुए, भाई-भाई से लड़ने लगा, एक जाति दूसरी जाति की शत्रु, एक मत दूसरे मत के ख़ून का प्यासा हो गया और हज़ारों मील दूर सात समुन्दर पार से एक विदेशी क़ौम आई, और आपस की फूट से फ़ायदा उठाकर हिन्दुस्तान की मालिक बन बैठी।

इस नाटक के अंतिम दृश्य में स्वयं बहादुरशाह केवल दर्शक नहीं बल्कि अभिनेता के रूप में बहुत महत्वपूर्ण भाग ले रहे थे। नि:संदेह राज्य आने वाली बला को टालने का

अवसर खो चुका था मगर उसके दो सौ साल के वैभव की गहरी छाप हिन्दुस्तानी जाति के दिलों पर अंकित थी। अठारहवीं शताब्दी में मुग़ल शहंशाह की नैतिक सत्ता नाम मात्र के लिये रह गई थी, फिर भी उसके नाम का और उस वंश की परम्पराओं का जादू अब तक काम करता था। पुराने राजपूत राजा अब भी देहली दरबार से उपाधि और सरोपा पाते थे, मराठा पेशवा और उनके सरदार अब भी उसकी कृपा से अपने को धन्य समझते थे, स्वाधीन सूबेदार अब तक हड़प किये हुए अपने राज्य पर औचित्य का परदा डालने के लिये प्रमाण पत्र प्राप्त करते थे। ईस्ट इंडिया कंपनी का गवर्नर जनरल अभी अपने आप को शहंशाह का सेवक कहता था। नये बादशाह के सिंहासन पर बैठने से अभी जुलूस का सम्वत् आरंभ होता था।

बहादुरशाह ज़फ़र अक्तूबर 1775 ई. में पैदा हुए और 1835 ई. में राजसिंहासन पर बैठे। उनका राज्य लाल क़िले की दीवारों तक सीमित था। राज्य की बस एक परछाईं रह गई थी और दरबार की हैसियत झगड़ालू, बेकार राजकुमारों, भद्रजनों, दरबारियों और परिचारिकों की एक भीड़ से अधिक न थी। इस उदासीन घुटे हुए वातावरण में बहादुरशाह अपने वैभव और पद के सम्मान को स्थिर रखने और अपने पूर्वजों की सांस्कृतिक परम्परा को निभाने की अपनी सी कोशिश करते थे।

लाल क़िले में अब भी काव्य मर्मज्ञों और लेखकों का जमघट रहा करता था। देहली वालों के प्रिय मेलों और त्योहारों को पहले की तरह अब भी दरबार का संरक्षण प्राप्त था। बादशाह के जुलूस को देखकर अब भी लोगों को राज्य की बीती हुई महत्ता याद आ जाती थी और उसके पदापर्ण से नगर के आस पास बाग़ों और पर्यटन स्थलों की धूम-धाम को चार चाँद लग जाते थे। ख़ज़ाने में रूपये पैसे का तोड़ा था। फिर भी खानक़ाहों और धरमशालाओं, ग़रीबों और दीन-दुखियों के लिये थैलियों के मुँह खुले हुए थे।

बहादुरशाह ज़फ़र विद्याप्रेमी और कवि थे और उनके समय का बहुत बड़ा भाग सामूहिक कार्यक्रम में बीतता था। वह कई भाषाओं पर अधिकार रखते थे और फ़ारसी, उर्दू, हिन्दी और पंजाबी में कविता करते थे। इनके उर्दू-हिन्दी काव्य से स्पष्ट होता है कि वह काव्य कला की बारीकियों को समझते थे, सुथरी और शुद्ध रूचि रखते थे और मुहावरे और रोज़मर्रा के आचार्य थे।

प्रत्यक्षत: उनके प्रशांत जीवन का बँधा हुआ ढर्रा बदलने का कोई कारण मालूम नहीं होता मगर हिन्दुस्तानी जीवन की स्तब्ध और गतिहीन जीवन की तह के नीचे बेचैनी और विप्लव का एक तूफ़ान छिपा हुआ था। उन रजवाड़ों के सीनों में, जो अपने मुकुट और सिंहासन से वंचित कर दिए गए थे, प्रतिशोध की आग भड़क रही थी। आम लोगों को यह शिकायत थी कि सरकार की नीति दमन और आतंक पर आधारित है, न्याय मँहगा है, न्यायालयों की कार्यवाहियों में बहुत देर लगती है और बहुत अपमान सहना पड़ता है। वह अपने दीन धर्म, जाति-पाँति को विदेशी शासकों के हाथों संकट में पाते थे और उनके

अंहकार और घमंड से बेज़ार थे। यह लावा जो अन्दर ही अन्दर पक रहा था 1857 ई. की ज़बरदस्त क्रांति के रूप में फूट निकला।

इस विकराल और भयानक संघर्ष के नेतृत्व के लिए लोगों ने हिन्दुस्तान के खोए हुए वैभव के निशान, राज्य के प्रतीकों के वारिस, अकबर और शाहजहाँ के उत्तराधिकारी बहादुरशाह को चुना। जनता के मुख से ऐसा निमंत्रण बहुत कम लोगों को मिलता है और जिन्हें मिलता है उनमें भी बहुत कम हैं जो हानि-लाभ की चिंता से मुक्त होकर इसे स्वीकार करते हैं। मगर बहादुरशाह ने इस दायित्व को स्वीकार किया और सच्ची राजकीय शान से निभाया। वह देहली के घेरे के स्मरणीय दिनों में स्वतंत्रता संग्राम के सर्वेसरवा बन गए। लड़ने वाली फ़ौज की हिम्मत बढ़ाई, उसके लिये आर्थिक साधन जुटाए और उथल-पुथल के उस काल में व्यवस्था और शांति बनाए रखा।

परीक्षा की इस घड़ी में उनके मन में बस एक ही लगन थी कि जिस काम का बीड़ा उठाया है उसे पूरा करने में कोई कोशिश और कोई उपाय न उठा रखें। चुनांचे जब उन्होनें देखा कि शहज़ादों की अयोग्यता और अहंकार से सफलता संकटग्रस्त हो गई है तो फ़ौज की कमान एक योग्य और अनुभवी सेना नायक जनरल बख़्त खाँ के हाथ में दे दी। सैनिक और राज संबंधी मामलों को निपटाने के लिए एक व्यवस्था परिषद स्थापित की जो हूबहू ईस्ट इंडिया कम्पनी के गवर्नर जनरल की कौंनसिल का प्रतिरूप थी।

मगर इन सबसे बड़ा कारनामा यह है कि इन्होंने हिंदू-मुसलमानों में फूट डालने वालों के कुत्सित प्रयत्नों को चलने नहीं दिया। वह सारी उम्र अपनी पारिवारिक परम्पराओं के अनुकूल हिन्दुओं के त्योहार रक्षा बंधन, बसंत, होली, दीवाली इस तरह मनाते आए थे जैसे यह उनके अपने त्योहार हों। उनका कहना था: "अगर मुसलमान मुझे एक आँख की तरह प्रिय हैं तो हिन्दू भी दूसरी आँख के समान प्यारे हैं।" चुनांचे घेरे के दिनों में अपने हिंदू सिपाहियों की भावनाओं का आदर करते हुए गोवद्ध निषिद्ध कर दिया था और यह अनुदेश जारी किया कि जो लोग सांप्रदायिक तनाव उत्पन्न करेंगे उन्हें कड़े से कड़ा दंड दिया जाएगा।

उनका यह निस्स्वार्थ भाव भी याद रहेगा कि उन्होंने घोषणा कर दी कि हिन्दुस्तान की आज़ादी के बाद वह अपने लिये कोई पद नहीं चाहते और स्वतंत्रता आन्दोलन के कार्यकर्ताओं पर छोड़ देंगे कि देश के भविष्य के सम्बन्ध में जो निर्णय वह चाहें करें।

बहादुरशाह ने देश की आज़ादी के लिये अपना सब कुछ दाँव पर लगा दिया, और वह हार गए, हाँ वह हार गए, मगर इस लड़ाई का जो आज़ादी प्राप्त करने के लिये, और उस लड़ाई का जो आज़ादी को दृढ़ रखने के लिये की जाती है उसका परिणाम हमेशा एक ही होता है और वह विजय है, आज़ादी के पताकावाहकों की। निश्चय ही बहादुरशाह हार गए मगर जो आंदोलन उन्होंने आरंभ किया था वह धीरे-धीरे बढ़ता गया, फैलता गया, यहाँ तक कि नव्वे साल बाद यह सफल होकर रहा। आज़ादी का अभियान जब आरंभ

होता है तो हानि-लाभ का खाता नहीं खोला जाता। आज़ादी वह उत्कृष्ट मूल्य है जो हर क़ीमत पर सस्ता है। इसलिये कि इसके बिना जीवन में नैतिक बल नहीं रहता, बल्कि सच पूछिये तो जीवन, जीवन नहीं रहता। आज़ादी के बिना जीवित रहना मौत से बदतर है। आज हमारा बड़ा कड़ा मुक़ाबला है उस पड़ोसी से जिसके साथ शांति और सुरक्षा से रहने और दोस्ती के निभाने में हमने कोई कसर नहीं उठा रखी। मगर हम इस आज़ादी की जिसे हमने अपना ख़ून पसीना एक करके प्राप्त किया है, रक्षा करना भी जानते हैं। हमारे राष्ट्र का यह संकल्प कि हम मरते मर जाएंगे मगर आज़ादी का सौदा नहीं करेंगे हमारी सफलता की पर्याप्त ज़मानत है। लड़ाई कितनी ही कड़ी, कितनी ही कठिन क्यों न हो हम विजय की मंज़िल पर पहुँच कर दम लेंगे। हाँ बहादुरशाह हार गए किन्तु हमारी जीत के लिये मार्ग प्रशस्त कर गए। हाँ, वह हार गए। उनके बेटों को बेदर्दी से उनकी आँखों के सामने गोली मार दी गई, उनको अपमानित किया गया और एक बर्तानवी न्यायालय के सामने, जिसको क़ानून की दृष्टि से उन पर कोई अधिकार न था, उनके विरूद्ध मुक़दमा चलाया गया। उन्हें देश निकाला की सज़ा सुनाई गई और बंदी बनाकर रंगून भेज दिया गया, यहाँ वह अपने घर बार से दूर, बहुत दूर थे, यहाँ उनका कोई संबंधी, कोई दोस्त उनकी सेवा करने और ढारस बंधाने के लिये न था। इनके जीवन के यह अंतिम दिन दुख और कष्ट के थे, मगर उनकी ज़बान से कभी शिकायत के शब्द नहीं निकले और वह इस परीक्षा में धैर्य और सम्मान के साथ उत्तीर्ण हुए। उनका ईश्वर की इच्छा पर राज़ी रहना, उनकी आध्यात्मिक उच्चता का द्योतक है। उनके देशवासी उन्हें कृतज्ञता के भाव के साथ याद रखेंगे कि उन्होंने हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिये बड़ी हिम्मत की और बहुत दुख झेले। मुझे आशा है सारे भारत में उनकी मरण शताब्दी उनके वैभव के अनुकूल इस दृढ़ निश्चय के साथ मनाई जाएगी कि हम सब कन्धे से कन्धा जोड़कर आक्रमणकारी शक्ति का मुक़ाबला करेंगे और इस आज़ादी की रक्षा के लिये, जो हमने बहुत कठिनाइयाँ झेल कर प्राप्त की है, एड़ी चोटी का ज़ोर लगा देंगे। जय हिन्द !

नोट: देहली आकाशवाणी के सौजन्य से, रिसाला जामिया के सितम्बर, 1962 ई. के अंक में प्रकाशित, अंग्रेजी से अनुदित।

पुस्तकालय उद्घाटन भाषण

सभापति जी, काज़ी अबदुल वदूद साहब, जसटिस ख़लील अहमद, और दोस्तो !

मैंने अपने बस भर इस बात को फैलाने की बहुत कोशिश की है कि जलसों और इदारों (संस्थाओं) के इफ़तताह (उद्घाटन) और सभाओं और संस्थाओं की उद्घाटन की रस्म अक्सर कुछ गैरज़रुरी सी होती है। फिर जब किसी जलसे को श्री बाबू जैसा सदर (अध्यक्ष) नसीब हो तो यह रस्म सरासर गैरज़रुरी है मगर तजुरबा बताता है कि बात का सुन लिया जाना और बात है और उसका मान लिया जाना और बात। और एक दर्जा शायद इसके बैन बैन (बीच का) भी होता है, इस तरह मान जाने का मार्ग जिसमें मानना न मानना एक सा हो जाए। यानी बहुत अच्छा, आप उद्घाटन को गैरज़रुरी समझते हैं तो ठीक हैं, हम किसी और को इस मुबारक और लाज़िम (अनिवार्य) काम के लिए बुला लाएगें। आप सदारत (अध्यक्षता) कर लीजिएगा और नासेह ग़रीब (बेचारा उपदेशक) के नाम के सामने आमालनामा यानी प्रोग्राम में तक़रीर इफ़तताह (उद्घाटन भाषण) की जगह ख़ुतब-ए-सदारत (अध्यक्षीय भाषण) दर्ज हो जाता है। बहरहाल शायद मुमकिन सूरत बस यही है कि आदमी कहे जाए कि उद्घाटन की चंदाँ (ऐसी कोई) ज़रुरत नहीं और यह कह चुकने के बाद कुछ और भी कह दिया करे जिससे उसका ज़मीर (अंतरआत्मा) भी हलका हो जाता है, फ़रमाइश भी पूरी हो जाती है। तो और कुछ जो कहना है वह यह कि आज जिन कामों के इफ़तताह के सिलसिले में आपने मुझे याद फ़रमाया है यानी "उर्दू नुमाइश और इदारा-ए-तहक़ीकाते उर्दू" के कुतुबख़ाने का इफ़तताह, यह दोनों ऐसे काम हैं कि अगर आप इफ़तताह की दावत न भी देते तो भी उनको देखने और जानने को जी ज़रूर चाहता। नुमाइश के मुतअल्लिक यह दावा ज़रूर सही मालूम होता है कि यह शायद अपनी नौइयत (प्रकार) की पहली नुमाइश है। इसके देखने वालों के सामने उर्दू ज़बान की तारीख़ का एक नक़शा सा आ जाएगा। इसके मानी की तहसीलात (गत दिनों में जो कुछ प्राप्त किया है) से इसके मुसतक़बिल (भविष्य) के इमकानात (संभावनाएं) वाज़ेह होंगे और उर्दू अदब का, वतन के सरमाय-ए-इलमी (ज्ञान संपदा) व अदबी (साहित्यिक) में जो ऊंचा मुक़ाम है वह कुछ कुछ सामने आ जाएगा और उर्दू अदब में क़ौमी ज़िन्दगी की तरक़्क़ी व तहज़ीब में किसी दूसरी हिन्दुस्तानी ज़बान से पीछे न रहने का वलवला (जोश) पैदा होगा जो एक निहायत मुबारक वलवला है।

इदारे ने इस नुमाइश से मुतअल्लिक जो किताबचा शाया (पुस्तिका प्रकाशित) किया है

उससे यह मालूम करके बहुत ख़ुशी हुई कि इदारे को अपनी इस काबिलेतहसीन (प्रशंसनीय) कोशिश में बहुत से अफ़राद (लोगों) और इदारों (संस्थाओं) का तआवुन (सहयोग) हासिल हो सका। कोई तीस इदारों ने पचास से ऊपर गैरमुक़ामी (जो स्थानीय न हों) असहाब (सहयोगियों) ने और कोई पौन सौ से ऊपर मुक़ामी (स्थानीय) हमदर्दों ने इस काम में हाथ बटाया। यह तआवुन (सहयोग) खुद उर्दू के मुसतकबिल (भविष्य) के लिए एक नेक फ़ाल है।

इस नुमायिश में (प्रदर्शनी) तरह तरह की दिलचस्प चीज़ें आपको देखने में आएंगीं। एक तरफ़ क़लमी (हस्तलिखित) किताबें तो दूसरी तरफ़ छपी हुई चीज़ें। क़लमी चीज़ों में उर्दू के मख़तूते (पांडु लिपियाँ) मिलेंगें। मशाहिरे उर्दू (विख्यात) के ख़त उनके अपने हाथ की तहरीरें (लेख) उनके मुरक़्क़े (चित्र) सब कुछ सामने आएंगे। सन 1885 से पहले के सरकारी महकमों (सरकारी कार्यालयों) और अदालतों के कागज़ भी आप देखेंगे। ख़ुशख़ती (सुलेख) और किताबत (कैलीग्राफ़ी) के अच्छे अच्छे नमूने भी आप मुलाहिज़ा (देखेंगें) फरमाएंगे। और अदब, ज़बाने तारीख़े उर्दू (उर्दू भाषा व इतिहास) से मुतअल्लिक़ फ़ारसी और हिन्दी के क़लमी नुसख़े (हस्तलिखित प्रलेख) भी आपके सामने आएगें। दूसरी तरफ़ बहुत सी छपी हुई चीज़ें होंगी जो अब बहुत कमयाब हैं (कम पाई जाती हैं) पुरानी छपी हुई नज़्म व नस्र की किताबें पुराने रिसाले और अख़बार, पुराने अदबी गुलदस्ते, इलमी और अदबी अनजुमनों की रुदादें (गतिविधियों की विवर्णिका), उर्दू लुग़त (शब्द कोष) लेसानियात (भाषा विज्ञान) और तारीख़े उर्दू की कमयाब (दुर्लभ), पुस्तकें फिर ऊलूमोफ़नून (कला व विज्ञान) की नयी पुरानी किताबें, इसलाम और दूसरे मज़हबों पर उर्दू की पुरानी किताबें, जनतरियां, अच्छी छपाई के नमूने और देवनागरी, रोमन या दूसरी लिपियों में उर्दू की किताबें। ऐसी नुमायिश का इफ़तेताह करने पर किसे खुशी न होगी।

लेकिन नुमायिश तो एक आरज़ी (थोड़ी देर की) चीज़ है। खास कोशिश से यह सब चीज़ें आपके लिए यकजा (एकत्र) कर ली गई हैं। दूसरी चीज़ जिसका इफ़तेताह मुझे करना है वह मुस्तक़िल की चीज़ है। वह है इदार-ए-तहक़ीक़ाते उर्दू का अपना कुतुबख़ाना (पुस्तकालय)। यह नौ उम्र इदारा बड़ा होनहार इदारा है। चंद साल के अन्दर ही इसने क़ाबिले-कद्र (सराहनीय) काम किया है और बहुत कुछ उम्मीदें तहक़ीक़े इलमी (ज्ञान सम्बंधी शोध) की इससे वाबस्ता हैं। यह ख़ालिस तहक़ीक़ाती इदारा (शोधसंस्थान) है जिसे सियासत (राजनीति) से कोई सरोकार नहीं, यह सिफ़त भी (गुण) कमयाब किताबों (दुर्लभ पुस्तकों) से कुछ कमयाब (दुर्लभ) नहीं। यह कई तहक़ीक़ी (शोध ग्रंथ) किताबें शाया (प्रकाशित) कर चुका है। और कई ज़ेरतबा (प्रकाशनार्थ) हैं। जदीद ओसूले लुग़त निगारी (आधुनिक शब्द कोष लेखन नियमावली) के मुताबिक एक जामेय उर्दू लुग़त (वृहद् उर्दू शब्द कोष) मुरत्तब करने का काम भी यह

इदारा कर रहा है । मशाहिरे उर्दू से मुतअल्लिक़ मुहक़्क़िाना (उर्दू के विख्यात लोगों पर शोध सम्बन्धी पुस्तकें) किताबें शाया करना, उर्दू अदब की मुख़तलिफ़ तहरीकों (विभिन्न आंदोलनों) और मुख़तलिफ़ अदवार (विभिन्न कालों) की तारीख़ पर मक़ालात (लेख) तैय्यार कराना, उर्दू नज़्म व नस्र की पुरानी काबिलेक़द्र किताबों के मुसतनद नुसख़े (प्रमाणित पांडुलिपियां) शाया कराना भी मिनजुमला उन अहम कामों में हैं जो इदारे ने अपने ज़िम्मे लिए हैं । तहक़ीक़ी काम (शोध कार्य) करने वालों को भी इदारे से बहुत मदद और हिदायत (मार्गदर्शन) मिलती है । पाँच असहाब (लोग) जो इदारे से मुतअल्लिक़ हैं उर्दू में पी.एच.डी. की सनद (उपाधि) के लिए तहक़ीक़ी मक़ालों (अभिलेखों) पर काम कर रहे हैं जिनमें से तीन अनक़रीब (बहुत जल्द) अपने मक़ाले पेश (प्रस्तुत) कर देंगे । इदारे के साथ मुल्क के बाज़ (कुछ) मुम्ताज़ मुहक़्क़िक (विख्यात शोधकर्ता) वाबस्ता हैं । और इस इदारे की ख़ुशकिस्मती है कि इसकी सदारत की ज़िम्मेदारी क़ाज़ी अबदुल वदूद साहब के ज़िम्मे है । क़ाज़ी साहब ने क़ाबिल-ए-रश्क यकसूई (ईर्ष्याजन्य एकाग्रता) के साथ तहक़ीक़ इलमी को अपना ओढ़ना बिछौना बना लिया है । और सच यह है कि उर्दू ज़बान की तारीख़ और उसके मुतअलिक़ा (सम्बंधित) मसायल (समस्याओं) पर उनको जो उबूर (दक्षता) हासिल है, उनका इल्म इस बाब (संबंध) में जितना वसी (विशाल) और हाज़िर है, उनकी नज़र जितनी गहरी और तेज़ है और तहक़ीक़ के बोझल काम के लिए इनके अंदर जो शेफ़्तगी (लगाव) है उसने उन्हें मुहक़्क़िक़ीन की सफ़े अव्वल में एक बुलंद दर्जा दिया है । बिहार उन पर बजा तौर पर फ़ख़्र कर सकता है । इनकी निगरानी में मुझे यक़ीन है कि यह इदारा बहुत गिराँक़द्र (बहुमूल्य) ख़िदमात (सेवाएं) उर्दू से मुतआल्लिक तहक़ीक़ात के मैदान में अंजाम दे सकेगा ।

अदबी तहक़ीक़ाती काम के लिए कुतुबख़ाने की ज़रुरत पर कुछ कहना तहसीले हासिल (प्राप्त की प्राप्ति) है । इदारे ने एक कुतुबख़ाना जमा किया है जिसमें सात हज़ार से ऊपर क़ीमती और कमयाब (दुर्लभ) किताबें यकजा कर ली गई हैं । इसका इन्तज़ाम इदारे की एक ज़ैली कमेटी (उपसमिति) के ज़िम्मे है जिसके सदर मेरे दोस्त जसटिस ख़लील अहमद साहब हैं । इस कुतुबख़ाने के इफ़्ततााह की रसम भी इस वक़्त मुझे अंजाम देनी है । मुझसे इनमें से एक ही काम के लिए कहा जाता तो भी बाइसे मुसर्रत (हर्ष का कारण) और मूजिबे इफ़्तख़ार (गौरव का कारण) होता । यह तो एक छोड़ दो दो काम आप एक नाकारे (निखट्टू) से ले रहे हैं । करम बालाए करम (कृपाओं पर और कृपाएं)

मन बबूए मस्त व साक़ी पुर देहद पैमाने रा

(मैं तो खुशबू से ही मस्त हूँ और साक़ी जाम को भर कर दे रहा है ।)

हाँ एक बात और कह दूँ कि मुझे इन कामों से ख़ास ख़ुशी इस वजह से भी है कि इदारे के एक मोतमद (सचिव) मेरे एक पुराने शागिर्द, जामिया मिल्लिया के पूर्व विद्यार्थी

क़ाज़ी मुहम्मद सईद साहब हैं जिन्होंने नुमायिश के एहतेमाम (प्रबंध) में वाक़ई दिन रात एक कर दिया है । लेकिन अलावा (अतिरिक्त) इस शख़सी तअल्लुक़ (व्यक्तिगत संबंद्ध) के मुझे यह ख़ुशी उस वक़्त भी होती कि यह नुमायिश उर्दू की नुमायिश न होती और यह कुतुबख़ाना उर्दू के एक तहक़ीक़ाती इदारे से मुतअल्लिक़ न होता ।

किताबें किसी ज़बान की हों तमद्दुने इंसान (मनुष्य की सभ्यता) की दस्तावेज़ें होती हैं। ज़ेहनी क़ुवतों का ख़ज़ाना (मानसिक शक्तियों की निधि) अताए रुहानी (आत्मिक धरोहर) दफ़ीना होती हैं । इनसे इस्तेफ़ादा (लाभान्वित होना) और इनका तहफ़्फ़ुज़ (सुरक्षा) हर हाल में एक अच्छा काम है । इसी तरह तहक़ीक़े इल्मी (ज्ञान सम्बंधी शोध) है । मैदाने तहक़ीक़ क्या है इससे क़तएनज़र (हट कर) दरअस्ल तलाशेहक़ (सत्य की खोज) की एक राह है । इस राह में गरम रौ (क्रियाशील) रहने के लिए तरबियत व तहज़ीब का सामान है । इस राह के वसवसों (शंकाओं) गुमराहियों (पथ भ्रष्टता) और फ़रेबों (धोखों) से कि उनसे यह राह पुर (भरी) होती है बचने की मश्क पहुँचाता है । लेकिन सच कह दूँ आप से कि मुझे इस आम खुशी और इफ़्तेख़ार से कुछ ज़्यादा खुशी, कुछ ज़्यादा इफ़्तख़ार इसलिए महसूस हो रहा है कि यह दोनों काम जो इस वक़्त अंजाम पा रहे हैं उर्दू ज़बान से तअल्लुक़ रखते हैं । वह ज़बान जिसे पहले पहल अपनी माँ से सीखा था, जिसमें मेरी ज़ेहनी (मानसिक) परवरिश हुई, जिसमें अब तक सोचता हूँ, जिसके इल्मी और अदबी सरमाए (पूंजी) से अपनी इस्तेदाद (योग्यता) के बक़द्र फ़ैज़ (लाभ) उठाया है । और यही नहीं कि इस से मुझे यह शख़सी (व्यक्तिगत) और ज़ाती (निजी) लगाव है बल्कि इसलिए भी कि एक वफ़ादार हिन्दुस्तानी शहरी की हैसियत से मुझे यह ज़बान इस ज़िन्दगी के फलने-फूलने और परवान चढ़ने की बशारत (शुभ समाचार) देती है जो हम सब हिन्दुस्तानी अपने आज़ाद देश में देखना चाहते हैं । इस ज़िन्दगी की रुह क्या है ? इसकी रुह है और हमेशा से रही है कसरत में वहदत की तलाश (अनेकता में एकता), अलग अलग और तरह तरह अनासिर (तत्वों) से मिली जुली गंगा-जमुनी तहज़ीब के बनाने की आरज़ू जो ज़ीनतचमन (बाग की सुन्दरता) को गुलहाए रंगा रंग (रंग बिरंगे फूलों) का नतीजा जानती है, जो रंग बिरंगे तमद्दुनी (सभ्यता सम्बंधी) फूलों को वहदते क़ौमी (राष्ट्रीय एकता) के डोरे में पिरोकर ऐसा हार बनाना चाहती है कि वह हार गूंध कर इनसानियत (मानवता) की गरदन में डाला जाए तो इसकी शोभा को बढ़ा दे जो यह जानते हुए भी कि है रंगे लाला-ओ-गुलो नसरीन जुदा-जुदा- (अर्थात- लाले का फूल, नसरीन का फूल, और स्वयं गुलाब इन सब का रंग अलग अलग है फिर भी) यह कहने की हिम्मत रखती है कि हर रंग में बहार का इसबात चाहिए (यानी रंग चाहे जो भी हो बहार अथवा बसंत के मौसम को बने रहना चाहिए) जहाँ कुल (संपूर्ण) अपने को जुज़्व (अंश) का रक़ीब (प्रतिद्वन्द्वी) नहीं समझता, उसकी ताक़त को अपना बल जानता है । हिन्दुस्तानी ज़िन्दगी के तमद्दुनी मज़ाहिर (सभ्यता सम्बन्धी झलकियों) में

मुझे यह रुह उर्दू ज़बान में बड़े सुथरे और निखरे हुए रूप में दिखाई देती है। और उर्दू की तारीख़ पर तहक़ीक़ाती (शोध सम्बंधी) काम मुझे इस वजह से और भी अहम (महत्वपूर्ण) दिखाई देता है कि मैं समझता हूँ कि अदना तअम्मुल (एक ज़रा से चिंतन) से यह बात बिल्कुल रौशन हो जाएगी कि उर्दू न किसी फ़िरक़े की ज़बान है, न किसी मज़हब की ज़बान है, न किसी हुकूमत की ज़बरदस्ती चलाई हुई ज़बान है, न किसी ख़ास नियत से मसनूई (बनावटी) गढ़ी हुई ज़बान है। यह तो जनता की बोली है। लोगों की ज़बान है। आपस के मेल जोल का फल है। मेलों ठेलों, बाज़ारों, मंडलियों की रेल पेल में रुली हुई ज़बान है, ज़िन्दगी के व्यवहार के कांटों में तुली हुई ज़बान है, चीज़ों के लेन देन के साथ विचारों के लेन देन का नतीजा है। यह फ़क़ीरों और संतों की ज़बान है जो अपने प्रेम से छलकते हुए दिल की बात औरों तक पहुँचाने के लिए बेकल (व्याकुल) थे और जिनकी मनमोहनी बातें सुनने को आम लोग कान लगाए रहते थे। इसीलिए यह मुहब्बत और प्रेम की ज़बान है, रवादारी (एक दूसरे का ध्यान रखने) की ज़बान है, मेल मिलाप की ज़बान है। इसका दिल भी बड़ा है और इसकी झोली भी बड़ी है। यह नए अंदाज़ से चमकती नहीं, नई बात पर बिदकती नहीं, लफ़्ज़ों से घिनयाती नहीं, विचारों से छूतछात नहीं करती।

कोई यह न समझे कि मैं उर्दू के यह गुन ख़ामख़्वाह गा रहा हूँ। इन का ज़िक्र इसलिए करता हूँ कि हमें जो समाज बनाना है उसमें जोड़ने वाली ताक़तों को उभारना है, तोड़ने वाली ताक़तों को दबाना है। ज़बान जोड़ने वाली ताक़त है, हर ज़बान जोड़ती है, पर हर ज़बान वाले इसे अपने को दूसरों से अलग करने का आला (माध्यम) बना लेते हैं, इस पर लड़ते हैं, कटते मरते हैं, एक दूसरे पर तुहमतें (आरोप) बांधते हैं, एक ही देस में एक ज़बान वाला इलाक़ा (क्षेत्र) दूसरी ज़बान वाले इलाक़े से ऐसा बरताव (व्यवहार) करता है जैसे कोई पराया देश हो। यह सब बड़ी भूल की बातें हैं और आज जबकि देश को अपनी आज़ाद ज़िन्दगी की पहली कठिन मंज़िल दरपेश (सामने) है इत्तेहादे क़ौमी (राष्ट्रीय एकता) अज़ बस ज़रुरी है। इन झगड़ों में फंस कर हम इन मुश्किलों का सामना कैसे करेंगे जो आगे दिखाई दे रही हैं। उर्दू चूंकि देश के किसी एक इलाक़े (क्षेत्र) में महदूद (सीमित) नहीं हैं, हर जगह ही इसके बोलने और समझने वाले मौजूद हैं, इसलिए इसको तो वहदते क़ौमी के (राष्ट्रीय एकता) पैदा करने में सबसे आगे होना चाहिए। लेकिन पिछली तारीख़ ने इसमें भी बहुत से पेच डाल दिए हैं। कोई कहता है। यह मुसलमानों की ज़बान है, कोई कहता है यह परदेसी ज़बान है, मगर सच यह है कि यह न ख़ाली मुसलमानों की ज़बान है, न परदेसी ज़बान है और अच्छा मान लो कि यह मुसलमानों ही की ज़बान होती तो भी तो हमारी आज़ाद जमूहरी (प्रजातांत्रिक) ज़िन्दगी में यह कोई ऐब की बात न होती। हर आदमी जो हमारे देश में बसता है, इसे अपना देश जानता है, इसके विधान को मानता है, इसके मुताबिक़ चलता है वह हमारा भाई है, साथी

है, दोस्त है, इसकी तरक़्क़ी हमारी तरक़्क़ी है, इसकी भलाई में हमारी भलाई है । मगर उर्दू तो ख़ालिस मुसलमानों की ज़बान है भी नहीं ।

कोई फेहरिस्त (सूची) नहीं बनाई है जो नाम इस वक़्त याद आ गए वह लेता हूँ और पूछता हूँ कि त्रिभुवन नाथ हिज्र, ज्वाला प्रसाद बर्क़, रतन नाथ सरशार, प्रो. राम चन्द्र, कृष्ण चन्द्र, राजेन्द्र सिंह बेदी, बृजमोहन दतत्रिया, नसीम, चकबस्त, सुरुर जहानाबादी, फ़िराक़गोरखपुरी, मुंशी नवल किशोर, लाला सिरीराम, साहिबे ख़ुमख़ान-ए-जावेद, मनोहर लाल ज़ुत्शी, दया नरायन निगम की ज़बान को कोई मुसलमान की जबान कैसे बताता है और इस जबान पर मज़हबी तंगदिली और फ़िरक़ापरस्ती की तुहमत कैसे बाँध सकता है । जिस ज़बान में आर्य समाज का तमामतर (कुल का कुल) मज़हबी लिट्रेचर मौजूद हो जिससे ईसाईयों ने अपने मज़हब की ख़िदमत का पूरा पूरा काम लिया हो उसे मुसलमानों की ज़बान कहकर तंगदिली और तंगनज़री की परवरिश करना कौन सी दयानत (ईमानदारी) है, कौन सी फरासत (समझदारी) है । फिर उर्दू न विदेशियों की ज़बान है, न विदेशी ज़बान है । ज़रा भी देखिए तो क़दम क़दम पर इसकी शहादत (गवाही) मिलती जाएगी । लिसानी (भाषा सम्बंधी) नक़तएनज़र से (दृष्टिकोण) इसके अफ़आल (क्रिया) और हरुफ़ (अक्षर) और आम ज़रुरत के इस्म (संज्ञाएं) सब हिन्दी हैं । इसकी आवाज़ों पर कान धरिए तो ईरान और अरब से कोई रिश्ता नहीं मिलता । आवाज़ों की बहुत बड़ी तादाद ख़ालिस हिन्दुस्तानी हैं । अरबी लफ़्ज़ों में जो सभी आवाज़ें आई हैं उन्हें भी बोल चाल में हिन्दीया लिया है । लिखाई में भी इसके परदेसी होने पर बहुत ज़ोर दिया जाता है । दर्जनों हिन्दुस्तानी आवाज़ों के ज़ाहिर करने का इसमें सामान है, इसमें (ड़), (डाल), (टे), (ठ), (ढ), (भ), (फ) (झ), (छ), और (ख) क्या परदेसी आवाज़ों के निशान हैं ।

दोस्तो शायद इस वक़्त यहाँ उर्दू दोस्त ज़्यादा जमा (एकत्र) हैं । आप से यह कहना ज़रुरी समझता हूँ कि आप का फ़र्ज़ (कर्तव्य) है कि अपनी अज़ीज़ ज़बान की रुह को आप किसी हाल में मस्ख़ (ख़राब) न होने दें, कोई इस रुह से नावाक़िफ़ (अनभिज्ञ) हो तो उसे बताएं कि यह रुह क्या है । इस रुह को ताज़गी बख़शें कि एक अच्छी समाजी ज़िन्दगी बनाने में आपका अदब (साहित्य) किसी और से पीछे न रहे । ज़बान और अदब का मुक़ाबला यह नहीं कि किसी से रुठ गए, किसी को बुरा समझ लिया, किसी को दबा दिया । इसमें जीत उसकी है जो ख़िदमत के मैदान में औरों से बाज़ी ले जाए । मुक़ाबला इसमें कीजिए कि किस ज़बान के गीत क़ौम के दिल को गरमाते हैं, किसका अदब (साहित्य) सालेह अक़दार (स्वस्थ मूल्यों) की तरवीज (प्रचार-प्रसार) का ज़रिया (माध्यम) बनता है । कौन अच्छे आदमी, अच्छी रियासत और अच्छे समाज के बनाने में उसको अदलो इंसाफ (न्याय) सदाक़त (सत्यता) व अम्न की बुनियादों पर मज़बूत करने में, ग़लती करने पर जुरत से टोकने में, नेकी को फ़राख़दिली (खुले दिल से) सराहने में,

दिमाग़ों को तंगनज़री और तंगदिली (संकर्णिता व संकुचित विचारधारा) के जालों से साफ़ करने में, इल्म की सरहदें आगे बढ़ाने में. आदमी ने जिन सच्चाईयों का सुराग़ (पता) लगा लिया है, कहीं लगाया हो, किसी ने लगाया हो, उनसे अपने हमवतनों (देशवासियों) के ज़हनों को मुनव्वर (दीप्त) करने में जज़्ब-ए-क़ौमी को (राष्ट्रीय भावना) एक क़ौमी और मुअस्सिर (प्रभावशाली) जज़्बा बनाने में, वतन और अहल-ए-वतन (देश और देशवासियों) की अच्छाईयों और ख़ूबियों से वह ज़हनी वाबस्तगी (मानसिक जुड़ाव) और रुहानी दिल बस्तगी (लगाव) पैदा करने में जो क़ौमी वफ़ादारी की जड़ है, कौन ज़बान दूसरी ज़बानों से ज़्यादा कारगर (प्रभावशाली) है। यह नेकी का मुक़ाबला है। इसमें जीत और हार नहीं होती। इसमें मुक़ाबला करने वाले एक दूसरे को सहारा देते हैं और दूसरे के आगे बढ़ जाने पर भी उतना ही ख़ुश होते हैं जितना ख़ुद अपने आगे निकलने पर।

मेरी इलतजा (अनुरोध) है और मुझे उम्मीद है कि तारीख़ी इत्तफ़ाक़ात ने उर्दू-हिन्दी के तअल्लुक़ में जो गुत्थियाँ सी डाल दी हैं वह उर्दू और हिन्दी दोनों के काम करने वाले अपनी सूझ बूझ और साफ़दिली से इस तरह सुलझाएंगे कि याद भी न रहेगा कि कभी यह उलझनें पैदा भी हुई थीं। मुहब्बत से कहते हैं टूटे दिल जुड़ जाते हैं और ऐसे जुड़ते हैं कि पता नहीं चलता कि कहाँ बाल पड़ा था।

दिले शिकस्ता दराँ कूए मी कुनन्द दुरुस्त
चुनांकि मी न शनासी कि अज़ कुजा बे-शिकस्त।

(उस गली में टूटे दिलों को जोड़ने का काम ऐसा होता है कि तुम पहचान भी न सकोगे कि कहाँ से टूटा था।)

मैंने पहले भी कहा है और अब भी कहता हूँ कि उर्दू किसी तरह हिन्दी की रक़ीब (प्रतिद्वंद्वी) नहीं है। सब हिन्दुस्तानी शहरी, उनकी ज़बान कुछ भी हो, दस्तूरे हिन्द (भारतीय संविधान) के मुताबिक़ हिन्दी को देश की सरकारी ज़बान मानते हैं और इसकी तरक़्क़ी में हाथ बटाना अपना फ़र्ज़ समझते हैं। उर्दू वाले भी इससे बाहर नहीं हैं। फिर उर्दू- हिन्दी की रक़ीब कैसे हो सकती है। लेकिन वह भी हिन्दुस्तानी दस्तूर की तसलीम (मानी हुई) की हुई क़ौमी ज़बानों (राष्ट्र भाषाओं) में से एक है और हिन्दी से सबसे क़रीब है। इसलिए अगर उर्दू वालों को कहीं कोई शिकायत हो कि उनकी ज़बान की तरक़्क़ी में कोई रुकावट है तो मेरा जी तो यह चाहता है कि उनकी तरफ़ से पैरवी हिन्दी वाले करें। इससे भरोसे और मुहब्बत के ऐसे सोते फूटेंगे कि सारी क़ौमी ज़िन्दगी उन्हीं से सेराब (सींची जाएगी) होगी। सारे देश में लिसानी सियासत (भाषाई राजनीति) का रंग ही बदल जाएगा। ज़ेहनी तआवुन (मानसिक सहयोग) की राहें खुल जाएंगी, आपस का रब्त (मेल जोल) बढ़ेगा तो क्या अजब (आश्चर्य) है सारे देश में ऐसी हसीन (सुन्दर) शीरीं (मीठी) ज़बान (भाषा), ऐसी सुन्दर मधुर और कोमल भाषा का चलन हो जाए जो

बस हज़ारों की गिनती में आलिमों और विद्वानों तक महदूद (सीमित) न हो बल्कि करोड़ों आदमियों के दिलों में अपनी जगह बना सके।

बात में बात निकल आई और मैंने आपका बहुत वक़्त ले लिया। आपके साथ मैं भी श्री बाबू को सुनने का मुश्ताक़ (इच्छुक) हूँ। इसलिए ख़त्म (समाप्त) करता हूँ और बैठने से पहले नहायत मुसर्रत (अत्यंत हर्ष) के साथ इस उर्दू नुमायिश और इदारा-ए-तहक़ीक़ात-ए-उर्दू के कुतुबख़ाने (पुस्तकालय) का इफ़्ततताह (उद्घाटन) करता हूँ।

नोट: पुस्तकालय और प्रदर्शनी, इदारए तहक़ीक़ाते उर्दू, पटना, के उद्घाटन समारोह में भाषण, 27 नवम्बर, 1959 ई.

शिक्षा और पारंपरिक मूल्य

आप सब सज्जन इस प्रश्न पर विचार करना चाहते हैं कि शिक्षा में पारंपरिक मूल्यों की क्या महत्ता है । उचित यह होगा कि पहले हम इन शब्दों के अर्थ को स्पष्टत: समझ लें जो इस प्रश्न में उपयुक्त हुए हैं । मेरे विचार में आप इससे सहमत होंगे कि मानव जाति का प्रत्येक व्यक्ति तीन प्रकार के कार्य निष्पन्न करता है-शारीरिक या वास्पत्य, बौद्धिक या पाशविक, मानसिक या आध्यात्मिक । इन्हें हम विशिष्ट मानवीय प्रकार्य कह सकते हैं । शारीरिक और बौद्धिक कृत्यों की अभिव्यक्ति पहले होती है । इन्हें संपन्न करने में बालक को पहले पहल संतुष्टि या असंतुष्टि का अनुभव होता है । वह किन्हीं पदार्थों, किन्हीं कामों को पसंद और किन्हीं को नापसंद करने लगता है, जैसे कि वह उनके मूल्य निर्धारित करता हो । यही नकारात्मक या सकारात्मक मूल्यों का आभास मानसिक विकास का आधार है । बालक की स्मृति में आभासित मूल्यों के अनुभवों का भंडार एकत्रित होने लगता है तो उस का मानसिक जीवन उन्नति के एक महत्वपूर्ण सोपान पर चढ़ने की क्रिया पूर्ण करता है, अर्थात साधन और लक्ष्य का बोद्ध उत्पन्न हो जाता है । परंतु यह मूल्य, जिनकी चेतना विकास की उन प्रारंभिक मंज़िलों में होती है, पूर्णतया ऐन्द्रिय या भौतिक होते हैं । बालकाल की मूल्य तुला में केवल रुचिकर या अरुचिकर, सुख या दुख, शारीरिक अनुरोध या शारीरिक प्रतिरोध, इंद्रियजन्य सुख या ऐन्द्रिय विक्षोभ की संवेदना को तौला जाता है । अभी तक इस मापन का स्तर मनुष्य के यहाँ न्यूनाधिक वही होती है जो उच्चकोटि के पशुओं के यहाँ, खेद है कि कुछ मनुष्य इसी तल पर ठहर कर रह जाते हैं ।

परंतु मनुष्य की प्रकृति के अनुसार उसमें एक तीसरे प्रकार के प्रकार्य अर्थात मानसिक और नैतिक कृत्य भी निष्पन्न होते हैं । इन प्रकार्यों की निष्पन्नता से कुछ मूल्यों का आभास होता है, किंतु यह मूल्य कुछ और ही प्रकार के होते हैं । दोनों की गुण धर्मिता में जो अंतर है उसे प्रत्यक्ष करने के लिए एक ओर सत्य, सौंदर्य, शिव, शुद्धता और न्याय का और दूसरी ओर शारीरिक स्वास्थ्य, एन्द्रिय सुख, भौतिक लाभ या काम भावना का नाम ले देना प[illegible] है । शिक्षा व्यक्ति के संपूर्ण विकास का साधन है । उसे इन्हीं विशिष्ट मानवीय मूल्यों से सरोकार है जो परिशुद्ध उत्कृष्ट मूल्य कहलाते हैं, शिक्षा का सब से बड़ा और सबसे पहला विषय व्यक्ति और उसका विशिष्ट मानवीय मूल्य है । शैक्षणिक प्रक्रिया यही है कि वह मूल्यों की चेतना को, जो उसमें निहित होते हैं, सांस्कृतिक सामग्री द्वारा

शक्तिमात्र से क्रियात्मक रूप में रुपायित करे। यह सांस्कृतिक सामग्री स्वंय किसी व्यक्ति या समूह के मानसिक प्रयास का फल होती है। चुनांचे शिक्षा को उचित रुप से वस्तुनिष्ठ संस्कार का व्यक्ति में नवीन रूप से आत्मनिष्ठ रूप प्राप्त कराना कहा जाता है। दूसरे शब्दों में हम इसे वस्तुनिष्ठ मानस का विषय बन जाना कह सकते हैं। सच्ची शिक्षा के लिए पहली शर्त यह है कि इन दोनों में संबंध और तादात्म्य हो। उचित शिक्षा यह नहीं है कि विद्यार्थी को किसी निर्धारित साँचे में ढाल दिया जाए जो अमुक योजना या अमुक परियोजना की दृष्टि से आवश्यक समझा गया है। शिक्षा नाम है व्यक्ति में विशिष्ट मानवीय क्षमताओं के जाग्रत होने और विकसित होने का। यही कारण है कि कोई शिक्षा संस्थान जो अपने विचार में बालक के रिक्त मानस में थोड़ी सी या बहुत-सी सूचनाएँ भर देता है, वस्तुत: उसे शिक्षित नहीं करता। यही वजह है कि किसी दृष्टिकोण का ठूँस देना शिक्षा नहीं कहलाती। शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानस को अधिकाधिक विकास का, जो उसके लिए संभव है, अवसर मिले और वह केवल उन्हीं सांस्कृतिक सामग्रियों के संबंध से हो सकता है जो उसी प्रकार के मानस के बौद्धिक प्रयत्नों का फल हैं और जिनमें कुछ वस्तुनिष्ठ मूल्य विद्यमान हैं। यह मूल्य सांस्कृतिक सामग्री में इस प्रकार संलग्न होते हैं कि जब कोई मानस जो इनसे संबंध या तद्रूपता रखता है, उन्हें प्राप्त करता है या उसे इन का ज्ञान या परिचय अथवा अनुभव होता है, तो स्वयं उस मानस में यह मूल्य जाग उठते हैं और उसके नैतिक विकास की श्रृंखला आरंभ हो जाती है।

इन मूल्यों के अनुभव के साथ ही इनकी प्रामाणिकता और औचित्य इनके स्थायित्व और इनके सर्वनिष्ठ मूल्य होने का आनंददायक भाव उत्पन्न होता है। मनुष्य इन्हें बिना किसी हिचर-मिचर के आत्मसात कर लेता है और इन्हें पाने का प्रयास करता है। वह उसकी जीवन पद्धति और मूल्यों के स्तर को उसकी पंसद और नापसंद को तथा उसके कर्म के उद्दीपन तत्वों को अपने साँचे में ढाल लेते हैं। वास्तविक शिक्षा यही है कि व्यक्तिगत मानस को उन विशिष्ट मानवीय वस्तुनिष्ठ और आध्यात्मिक मूल्यों का अनुभव कराया जाए ताकि वह आप ही उसे इस बात पर विवश कर दें कि वह अपने जीवन और अपने कर्म में उसे प्राप्त करे। यह एक ऐसा दीप जलाने जैसा है जो अँधेरे में मनुष्य को मार्ग दिखाए और वह दृढ़तापूर्वक पग रखता हुआ आगे बढ़ सके। यह दीप वस्तुत: मनुष्य के अस्तित्व के केन्द्रबिंदु अर्थात उसके हृदय में दीप्यमान होता है। शिक्षा को यह सम्मान दिया गया है कि वह हर व्यक्ति के सीने में ज्योति जलाए। इस का केवल एक ही उपाय है अर्थात सांस्कृतिक सामग्री, साहित्य, कला, विज्ञान, उद्योग, धर्म, नैतिक और वैधानिक नियम और विशेष रूप में वह पावन आत्माएँ जिन में मानसिक और नैतिक बल पूर्णतया मूर्तमान हो गया था।

मगर यह याद रखना ज़रूरी है कि इस बल से काम लेने के लिए इस बात का उल्लेख कर देना, उस के बारे में सूचना उपलब्ध करा देना पर्याप्त नहीं है, बल्कि जीवन में उस

का प्रयोग करने, उसे बरतने की ज़रूरत है । शिक्षा का विशेष कार्य यही है कि वह इस अनुभव का अवसर प्रदान करे । शिक्षा को शिक्षार्थी के आत्मनिष्ठ बुद्धि और वस्तुनिष्ठ बुद्धि के बीच, जो सांस्कृतिक सामग्री से परिपूर्ण हैं, या दूसरे शब्दों में व्यक्ति और मानव संस्कृति के बीच, पुल बनना है ।

शिक्षण प्रक्रिया की केंद्रीय समस्या यही है कि यह समामेलन किस प्रकार अपना उद्देश्य प्राप्त करने में सफल हो सकता है । यहाँ इस पर सविस्तार विचार करने का अवसर नहीं है । लेकिन मेरा विचार है कि निस्संदेह एक बात कही जा सकती है और वह यह है कि इस विचार को मस्तिष्क से बिल्कुल निकाल दिया जो कि आवश्यक है कि इस विचार को मस्तिष्क से बिल्कुल निकाल दिया जाए कि सूचनामात्र अनुभव और अनुसंधान का बदल हो सकती है । यदि नई पीढ़ी को उस बात से जिसे हम संस्कृति का पारंपरिक मूल्य कहते हैं परिचित कराने में यह प्रवृत्ति प्रबल हो उठी कि हम सूचना देने पर ही बल दें और अनुभूति और खोज की उपेक्षा करें तो ख़तरा है कि शिक्षा में असहनीय गौणता और मिथ्याचार उत्पन्न हो जाएगा ।

पारंपरिक मूल्यों द्वारा शिक्षा प्रदान करने में जिस बात का सबसे अधिक ध्यान रखना है वह यह है कि एक तो मूल्यों के चयन में विशेष सावधानी बरती जाए और दूसरे ऐसे प्रभावशाली उपाय करने चाहिये कि शिक्षार्थी इन मूल्यों से संपूर्णतया लाभ उठा सकें । इसके लिए आवश्यक है कि ऐसे अवसर उपलब्ध कराए जाएँ जिन में उन मूल्यों की अनुभूति वह कर सके जो उसकी अपनी मानसिक और आध्यात्मिक आत्माभिव्यक्ति के अनुकूल हों ।

मैं एक बार फिर कहूँगा कि हमें अपने अगणित सांस्कृतिक कारनामों में से, जिन्होंने मूर्तरूप धारण कर लिया है, बड़ी सावधानी से उचित चयन करना है । इतिहास वह कोष है जिससे हम इस शैक्षणिक विषय का चयन कर सकते हैं क्योंकि हर जाति की जड़ें उसके इतिहास में फैलती जाती हैं ताकि उसे भविष्य में अधिकाधिक उच्चता और काल के निरंतर प्रवाह में स्थायित्व प्राप्त हो सके । टैगोर ने एक जगह कहा है:

''मैंने तेरी मौन आहट को अपनी धमनियों में संचारित रक्त में महसूस किया ।
ऐ अनादि अनंत अतीत
मैं ने तीरी मौन मूरत की झलक देखी है
काल के विक्षुब्ध सीने में
तू इसलिए आया है कि हमारे पूर्वजों की अपूर्ण कहानी के लिखे
गुप्तलिपि में हमारे जीवन के पृष्ठों पर
तू भूले बिसरे युग को नए सिरे से याद दिलाता रहे
ताकि उसके प्रकाश में नवीन मूर्तियाँ गढ़ी जाएं''

यह तो ठीक है किंतु अतीत की संपदा अगणित है । शिक्षा को उसमें से चयन करना है

और यह उसका दुष्कर दायित्व है । चयन का अर्थ है छाँटना और छाँटने के लिए कोई सिद्धांत होना चाहिये । कुछ लोग प्राचीन का चयन करेंगे, कुछ अर्वाचीन का । कुछ हमारी समविंत संस्कृति और मिली जुली राष्ट्रीयता के एक तत्व का और कुछ दूसरे तत्व का । हमारी धरोहर द्रविड़ों, आर्यों, अरबों, तुरुकों, मुग़लों और योरोपियों का उपहार है । इस की संरचना में हिन्दुओं, बौद्धों, मुसलमानों, ईसाइयों, सिखों और पारसियों का योगदान है। अतीत के अगाध भंडार में किसी वस्तु का अच्छा या बुरा होना इस पर निर्भर नहीं करता कि वह प्राचीन है या अर्वाचीन है, वह हिन्दुओं की है या बौद्धों की, मुसलमानों की है या सिखों की, ईसाइयों की है या पारसियों की । चयन का आधार वस्तुत: यह है कि इन में कौन असली है और कौन नक़ली है, कौन सी अस्थायी है और कौन सी चिरस्थायी है, किस का तत्कालिक मूल्य है और कौन सी शश्वत मूल्य की द्योतक है । समाज के सोचे समझे कार्य अर्थात शिक्षा का काम यह है कि वह इस धरोहर के विशाल समुद्र को खंगाल कर, मथ कर, उन पदार्थों को निकाले जो हमारी नई पीढ़ियों का नैतिक और आध्यात्मिक भोजन बन सकते हैं और उसे उनके सामने दस्तरख़ान पर चुन दे । शिक्षा को भेद करना चाहिये उन परंपराओं में जो जीवन की जड़ों को कमज़ोर करती हैं और उनमें जो उसे पोषक तत्व देती हैं । केवल वह परंपराएँ जो प्राणवर्धक और उत्साहसंचारी हैं शाश्वत मूल्यों की द्योतक होती हैं और शिक्षण का कार्य करती हैं, जो विकास और उन्नति में रुकावट डालती हैं वह शैक्षिक दृष्टि से केवल निरर्थक ही नहीं बल्कि हानिकारक हैं । व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन के मार्गदर्शक केवल वस्तुनिष्ठ शाश्वत मूल्य ही हैं, इन के अतिरिक्त और कोई नहीं है । यह मूल्य स्वंय ही अपने नवीकरण की माँग करते हैं और निरतंर उन्नति की ओर अग्रसर करते रहते हैं । मैंने 'नवीकरण' का शब्द जानबूझ कर प्रयुक्त किया है क्योंकि इन मूल्यों को अंतिम रूप से निरपेक्षत: प्राप्त करना किसी भी युग में संभव नहीं है । मूल्य स्वंय में शाश्वत हैं, किंतु हर पीढ़ी को बल्कि प्रत्येक व्यक्ति को इसे अपने ढंग से खोजना और प्राप्त करना पड़ता है । हमारी पारंपरिक थाती जिन शाश्वत मूल्यों की द्योतक है उन का काम यह नहीं है कि वह अतीत के ठिठुरे हुए रक्तरोधी शरीर को हमेशा सीने से लगाए रखें, वह तो प्राणसंचारण और गति प्रदान करने वाली हैं और हर पीढ़ी के मन में यह लगन पैदा करती हैं कि वह उन्हें नवीन रूप में प्राप्त करे ताकि एक नवीन और उत्कृषट संस्कृति का निर्माण हो सके ।

हमें नई पीढ़ी को यह बताना चाहिये कि हमारे इतिहास में यह वस्तुनिष्ठ मूल्य किस प्रकार प्राप्त किए गए । हमें ऐसे अवसर देने चाहिएँ कि व्यक्ति की चेतना में एक या एक से अधिक मूल्यों की अनुभूति करने की जो क्षमता नैसर्गिक रूप से विद्यमान है, वह क्षमता क्षेत्र से निकल कर कर्मक्षेत्र में प्रवेश करे, उसे प्रत्येक संभव ढंग से सहायता दे कि वह उस मूल्य को, जिस का उसे अनुभव है, स्वंय अपने या अपने आस पास के जीवन में प्राप्त कर सके, चाहे वह सत्य हो या सौंदर्य, शिव या धर्म या न्याय । तभी उसमें विशिष्ट

मानवीय गुण विकसित हो सकते हैं, तभी उसका वास्तविक शिक्षण हो सकता है क्योंकि जैसा पहले कहा जा चुका है, वास्तविक शिक्षा यही है कि व्यक्ति की चेतना में आदर्श मूल्यों का एहसास उन सांस्कृतिक सामग्रियों के प्रभाव से उत्पन्न हो जो मूल्यवान हैं ।

हमारी परंपराए ऐसी सांस्कृतिक सामग्री से मालामाल हैं । हमें इस बात की व्यवस्था करनी चाहिए कि स्कूल, कालिज और विश्वविद्यालयों में उनके शैक्षिणिक प्रभाव हमारी नई पीढ़ी पर पड़ें । विशेष रूप से एक मूल्य है जिस की ओर हमारे राष्ट्रीय जीवन के वर्तमान काल में असाधारण रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है । यह न्याय का मूल्य है जिस का द्योतक राज्य को होना चाहिए । हमारी परंपराएं सदैव यही रही हैं कि राज्य धर्म या नैतिक नियमों के अधीन हो । हमें अधिकाधिक प्रयत्न करना चाहिए कि हमारे देश के सारे बच्चों और नवयुवकों को इस संवेदनशील आयु में शैक्षणिक संस्थाओं द्वारा इस मूल्य की अनुभूति हो सके ।

राज्य केवल शक्ति और सत्ता का द्योतक होने के रूप में कोई नैतिक मूल्य नहीं रखता। यह हमारे स्वभाव का एक अंश है । हमारे इतिहास के उज्जवल पन्नों में अंकित एक पाठ्य है, एक मूलवान धरोहर है, जो हमें अपने स्वाधीनता संग्राम के महान नेता से मिली है कि शक्ति बल का उपयोग केवल औचित्यपूर्ण नैतिक उद्देश्यों के लिए होना चाहिए । हमें अपने आप को उस शांति को स्थापित करने के लिए समर्पित कर देना चाहिए जो नैतिक मूल्य से प्राप्त होती है । मुझे आशा और विश्वास है कि हम अपने राष्ट्रीय जीवन की मंज़िल की अवधारणा को हमेशा साम्राज्यवादी या अन्य की भूमि हड़पने की प्रवृत्ति से मुक्त रखेंगे । हम साम्राज्य के क़दमों के तले से निकले हैं और हम जानते हैं कि इस का बोझ कमर तोड़ देता है । हम ऐसी अंधी देशभक्ति को जो युद्ध छेड़ना सिखाए कभी अपने पास न फटकने देंगे । हमारा प्रयास यह होगा कि ग़रीबी, निरक्षरता और रोगों को दूर करके वह कम से कम स्थिति उपलब्ध करा दें जो एक साधारणजन के समान जीवन यापन के लिए आवश्यक है । परंतु इसके साथ हम अपनी सामाजिक व्यवस्था से कुत्सित रीतियों और अंधविश्वासों को निकाल फेंकेंगे और इस बात की अनुमति नहीं देंगे कि कोई उन्हें हमारी थाती के नाम पर स्थापित रखने का प्रयत्न करे । हम हर प्रकार की संकीर्णता, सामूहिक स्वार्थपरता को, हर प्रकार की घृणा को जो एक धर्म को दूसरे धर्म से, एक जाति को दूसरी जाति से लड़ती है जड़ से उखाड़ फेंकेंगे और यह सहन नहीं करेंगे कि कोई उन्हें राष्ट्रीय परंपरा कहकर उन का समर्थन करे । यह सब कुछ हम न्याय और इंसाफ़ के अनादि मूल्यों की ख़ातिर करेंगे जो हमारी राष्ट्रीय थाती का अंश हैं । हम इस सेवा को नैतिक कर्तव्य समझ कर हृदय से आत्मसात करेंगे और सहर्ष इसे संपन्न करेंगे । हम शक्ति और न्याय, उद्योग और नैतिकता, कर्म और चिंतन-मनन को एक दूसरे के साथ समाहित करने का प्रयास करेंगे । इस कठिन काम को पूरा करने की क्षमता हम में किस प्रकार उत्पन्न होगी ? इस प्रकार कि शिक्षा उन अनादि शाश्वत मूल्यों द्वारा, जो स्वंय

हमारी सांस्कृतिक सामग्री में साकार हो गई हैं, हमारे अन्दर उन मूल्यों को जाग्रत कर देंगी और वह केवल हमारी ही सांस्कृतिक सामग्री से काम नहीं लेगी बल्कि मानव जाति की सांस्कृतिक धरोहर से भी, चाहे वह किसी देश और किसी काल की हो, क्योंकि हम हृदय से उसका सम्मान करते हैं और इस प्रकार उसके उत्तराधिकारी बन जाते हैं ।

हमारी शिक्षा, मानव जीवन के और महत्वपूर्ण कर्तव्यों के समान, उस कड़ी का काम देगी जो अनतं जीवन और कालबद्ध जीवन, आध्यात्मिक जागृति, कलात्मक, नैतिक आस्थाओं और भौतिक कल्याण को एक दूसरे से जोड़ती है । इसमें संदेह नहीं कि अनतंता, आध्यामिकता और नैतिकता के अर्थ को शब्दों में बंद करना कठिन है । किंतु जो कुछ भी हो शिक्षा का प्रथम कर्तव्य मूल्यों की चेतना उत्पन्न करना है । इस कर्तव्य को वह सांस्कृतिक सामग्री के समीचीन चयन से पूर्ण करने की चेष्टा करती है । मगर इसका सब से अधिक प्रभावशाली उपाय यह है कि स्वंय शिक्षकों में इन अनादि मूल्यों के जीते जागते प्रारूप विद्यमान हों । भूतकालीन और वर्तमानकालीन वास्तविक व्यक्तियों में नैतिक महानता के नमूने दिखाए जाएँ और कठिन गुंफित परिस्थितियों में न्यायसंगत निर्णय करने के वृत्तातं सुनाए जाएँ । भारत की एतिहासिक परंपराए ऐसे महापुरुषों की नैतिक ज्योति से दीप्तिमान है और मुझे आशा है कि आने वाले युग में स्वंय हमारी शैक्षणिक संस्थाएं ऐसे शिक्षकों से रिक्त न होंगी ।

मैं समझता हूँ कि मैंने आपका बहुत समय ले लिया । अब मैं इस विचारगोष्ठी का उद्घाटन करता हूँ । मुझे आशा है कि आप का विचार विनिमय हमारी शिक्षा की बहुत सी महत्वपूर्ण गुत्थियों को सुलझाने में सहायक होगा ।

मैं आपकी सफलता की कामना करता हूँ ।

जयहिंद ।

नोट: यूनेस्को के साथ सहयोग के लिए केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय द्वारा स्थापित भारतीय राष्ट्रीय आयोग के 26 सितम्बर 1962 ई. को आयोजित त्रिदिवसीय सम्मेलन में "शिक्षा और पारंपरिक मूल्य" पर होने वाली संगोष्ठी में उपराष्ट्रपति डॉक्टर जाकिर हुसैन का उद्घाटन भाषण जिस का उर्दू अनुवाद रिसालए जामिया के नवम्बर, 1962 के अंक में प्रकाशित हुआ ।

नई देहली

14, फ़रवरी 1969.

मेरी प्यारी रेहाना,

मुझे तुम्हारा ख़त मिला, बहुत ख़ुशी हुई। मुझे डॉक्टर ने दस दिन के लिए मुकम्मल आराम (पूर्ण विश्राम) की हिदायत (निर्देश) की है। मैं उसकी हिदायत (निर्देश) पर अमल (चल) कर रहा हूँ। इस दौरान मुझे इंफ़्लुएंज़ा भी हो गया था। इसकी वजह से मुझे यह ख़्याल था कि इस का असर मेरे दिल पर होगा मगर अब मैं बिल्कुल ठीक हूँ। कल से मैं अपने मामूल (नित्य) के काम शुरू कर दूँगा। बस सफ़र करने और तक़रीर (भाषण) करने में एहतियात (सावधानी) बरतूँगा।

श्रीमती फ़ोर्सटर और उनके बेटे ज़रूर आएँ। बहुत ख़ुशी होगी। कोशिश करेंगे कि उन्हें कोई तकलीफ़ न हो। नीलो और अंजुम उनका हर तरह ख़्याल रखेंगी। तुम्हारी अम्मी 18 को यहाँ से चलेंगी और 20 को तुम्हारे पास पहुँचेंगी।

हुमा इतनी बड़ी हो गई है, यह सोच कर ख़ुशी होती है। कैसी लगती होगी। मेरा उसे देखने का बहुत दिल चाहता है। हुमा में नए मेहमान की आमद (आगमन) से जलन का जज़्बा (भाव) पैदा न हो इसकी कोशिश करो।

महीर और हुमा को प्यार

तुम्हारा चाहने वाला,

मियाँ

नोट: मिसेज़ फ़ोर्सटर के आने की तारीख़ और वक़्त से मुत्तला (सूचित) करो।

सांप्रदायिक जुनून

राजभवन, पटना
23, अप्रैल, 1959

श्रद्धेय मान्यवर, अस्सलाम अलैकुम,

बहुमूल्य पत्र कई रोज़ हुए मिल गया था, उत्तर में विलम्ब के लिए क्षमा चाहता हूँ। 47 ई. में जालंधर स्टेशन पर जो गुज़री उस का हाल क्या लिखूँ। संक्षेप में यह कि जीवन से मुक्ति की एक सूरत निकली थी वह भी यूँ ही गुज़र गई! तारीख़ें मुझे याद नहीं रहतीं, लेकिन संभवत: अगस्त का महीना था। 15 या 16 को आज़ादी की घोषणा के बाद मै ने कश्मीर के सफ़र का इरादा किया। कई हफ़्ते से बीमार सा था, काम में जी न लगता था, नींद न आती थी। चिकित्सकों ने कहा कुछ दिन पूर्ण आराम करो। आराम कैसे करता और कहाँ करता। कई दोस्तों ने इंतज़ाम कर देने को कहा मगर जी उन्हें तकलीफ़ देने को न चाहा। अन्त में एक दोस्त ने लिखा कि कश्मीर में एक किश्ती (बोट) का इंतज़ाम कर लिया है। एक नौकर को अगर साथ लाओ तो फिर कोई आदमजात किश्ती में न पहुँच पाएगा। यह इसलिए कि मैं अपनी बीमारी में कुछ जनभीरू हो गया था। चुनांचे एक नौकर को साथ लिया और कश्मीर जाने के लिए निकल खड़ा हुआ। देहली के स्टेशन पर पहुँचा तो देखा कि कुछ सन्नाटा सा है। मुझे पहुंचाने एक दोस्त जामिआ से साथ गए थे। उन्हों ने इधर उधर पूछ कर मुझ से आकर कहा गाड़ी सुना है कि जालंधर से आगे नहीं जाएगी। आगे गड़बड़ है। मैं ने कहा जालंधर में ही दो चार रोज़ ठहर लूँगा। वहाँ भी दो एक जानने वाले हैं। उन बेचारों ने हठ न की और गाड़ी चल दी। गाड़ी ख़ाली थी। मैं ने बिस्तर लगा लिया और एक किताब निकाल ली, लेट कर पढ़ने लगा। इसी में शायद सो गया। समय दिन का था। लुधियाने के निकट डिब्बे में कुछ लोग आए। मुझे देख कर कुछ ठिठके। हथियारबंद थे। आपस में कुछ बातें करते रहे, जो मुझे उखड़ी उखड़ी लगीं। एक स्टेशन पर पास के एक डिब्बे से एक मुसलमान वाक़िफ़ (परिचित) मेरे पास आए। वह जालंधर जा रहे थे। सरकारी नौकर थे और विभाजन के बाद पाकिस्तान जाने से पहले अपने घर जा रहे थे। ख़ुदा के बन्दे ने इतना पी रखी थी कि बातों से भय लगता था। मगर वह मेरे पास आ बैठे। जब मालूम हुआ कि कश्मीर जा रहा हूँ तो बोले कि "जालंधर से आगे कैसे जाओगे। जालंधर में उतर लेना, मेरे साथ ठहरना। वालिदा (माता जी) उरद की दाल के लाजवाब पकवान पकाती हैं। वह आप को खिलवाऊँगा और

मुस्लिमलीग के सदर (अध्यक्ष) को भी बुला लूँगा। आप दोनों में तर्क वितर्क होगा और हम मज़े से सुनेंगे।" मुझे उन के इस प्रोग्राम से कुछ ज़्यादा ख़ुशी न हुई। हमारी बात सुन कर एक हिन्दू मुसाफ़िर ने कहा कि आप कश्मीर जाना चाहते हैं तो लुधियाना में गाड़ी बदल लें। वहां से फ़ीरोज़पुर की तरफ़ से अभी गाड़ी जाती है। लुधियाना आया तो मैं अपने डिब्बे से उतरा। स्टेशन का रंग कुछ अजीब था। ख़ासी भीड़, लोग परेशान और व्याकुल, बहुतों के पास पिस्तौल, बाकी की कमर में तलवारें। मैं उतर कर पुल पर होकर स्टेशन मास्टर के दफ़्तर गया। पूछने पर कि वह फ़ीरोज़पुर वाली गाड़ी कब मिलेगी, उस सज्जन पुरुष ने बड़ी बेपरवाही से कहा "वह गाड़ी तो आज से बंद है, जालंधर चले जाओ, वहाँ तुम्हारा इंतज़ाम हो जाएगा।" उस आदमी को निश्चय ही मालूम था कि जालंधर में क्या हो रहा है और जालंधर स्टेशन पर मुसलमान किस तरह मारे जा रहे हैं। बाद को समझ में आया कि उस ने "इंतज़ाम" शब्द का प्रयोग विशेष अर्थों में किया था। मैं मायूस (निराश) गाड़ी पर लौट आया। वह दोस्त अपने डिब्बे के सामने खड़े कुछ पी रहे थे, तुरंत मेरी ओर लपके और बोले कि तबीयत कुछ ख़राब है। दस्त हो रहे हैं, इस लिए दवा पीने गया था। अब देखा कि उनके साथ उन का लड़का भी है, कोई बारह बरस का। लड़के को अपनी जगह पर छोड़ वह मेरे पास आ गए और न जाने क्या क्या बकते रहे कि इतने में जालंधर आ गया। प्लेटफ़ार्म बिल्कुल ख़ाली ख़ाली दिखाई पड़ा और उस पर फ़ौज के सिपाही क़ब्ज़ा जमाए दिखाई दिए। हम लोग उतरे तो मेरे उन उन्मत्त मित्र ने कहा कि हो न हो हड़ताल है। मैं जाता हूँ। सुप्रिंडेंट पुलिस मेरा दोस्त है और क़रीब (निकट) ही रहता है। उसकी मोटर मँगाता हूँ, यहीं ठहरिए। मैं वहीं सामान के पास खड़ा रहा। मेरे पास मेरा नौकर था और उन मित्र का लड़का । एक ही दो मिनट खड़े हुए गुज़रे थे कि हमारे क़रीब कुछ दूरी पर पाँच-सात आदमी जमा हो गए, कुछ पहलवाननुमा बड़ी बड़ी मूँछे, पंजाबी ढंग की लुंगी बाँधे और नंगे सर। कुछ मिनट उन्हों ने आपस में कुछ परामर्श की, फिर मेरी तरफ़ बढ़े कि चलिए हम सामान ले चलें। मैं ने कहा कि मेरे साथी बाहर गए हैं। अभी आते होंगे तो चलेंगे। मैं अपनी सादा दिली (अबोधता) में समझा कि कुलियों की हड़ताल है। इसलिए यह शायद सेवा समिती के स्वयंसेवक हैं। मुसाफ़िरों की मदद के लिए आए हैं। मेरे यह कहने पर वह ठिठक गए, लेकिन कुछ क्षणों में उन के सरदार ने कहा "सामान चुको" जिस का अर्थ संभवत: है सामान उठाओ। यह पंजाबी शब्द उस समय खोपड़ी में बैठा था और अब तक याद है। चुनांचे सामान उठा लिया और दरवाज़े की तरफ़ बढ़ने को ही थे कि मेरे साथी लौट आए और बोले "यह सामान कहाँ लिए जारहे हो, बाहर तो ग़ज़ब (आतंक) है, गाड़ी मिली नहीं, टेलीफ़ोन कट गया है।" सरदार ने बड़े आत्मविश्वास से कहा "सामान तो जाएगा।" मेरे मदहोश (मदोन्मत) साथी ने आव देखा न ताव, उसके एक चाँटा रसीद किया। मुझे उनकी यह हरकत बुरी लगी। मगर उस से आँखों के परदे हट गए। फ़ौरन (तुरंत)

उसने एक बड़ा चाकू निकाला और फ़ौजियों से कहा क्या देखते हो। दो फ़ौजियों ने मेरे साथी के सीने पर अपनी बन्दूकें तान लीं। सरदार ने अपना चाकू फिर कमर में खोस लिया। अब मालूम हुआ कि हम तो क़ैदी हैं और यह फ़ौज उस सरदार के हुक्म पर चलती है। अब सामान तेज़ तेज़ आगे जा रहा, और हम आहिस्ता आहिस्ता उस हल्क़े (घेरे) में आगे बढ़ रहे हैं। सरदार ने मेरे क़रीब आकर कहा "जो रुपया पास हो दे दो।" मै ने कहा "रुपया मेरे पास नहीं है, जो है बक्स में है।" उसने कहा "बक्स तो क़बज़े में कर लिया है।" यह प्रेमालाप हो रहे हैं और क़दम (पग) आहिस्ता मक़तल (बद्ध-स्थल) की तरफ़ बढ़ रहे हैं, देखते-देखते सामान वाले तो गायब होगए, सिर्फ़ यह जुलूस रह गया। दरवाज़ा कोई बहुत दूर न था, दम गज़ के फ़ासले पर। मगर ऐसा मालूम हुआ कि बड़ी मुसाफ़त (दूरी) तय कर ली है। जुलूस दरवाज़े के क़रीब पहुँचा था कि एक हिन्दू साहब ने मेरा हाथ पकड़ा और चिल्ला कर कहा "डाक्टर साहब, आप कहाँ जा रहे हैं।" मैंने कहा "बाहर जा रहा हूँ, सामान तो गया", उन्होंने कहा "बाहर तो क़यामत (उपद्रव) है। आप इधर आइये।" और यह कहना उचित होगा कि मुझे क़तार (पंक्ति) में से घसीट लिया और स्टेशन मास्टर के दफ़्तर में जो सामने ही था ले गए। स्टेशन मास्टर एक सिख साहब थे। इन हिन्दू मित्र ने उन से बताया कि यह अमुक आदमी हैं, लेकिन उस सज्जनपुरुष ने एक शब्द भी न कहा। मगर कुन्दन लाल कपूर ने मुझे आफ़िस की एक कुरसी पर बैठा दिया और स्वयं बाहर गए। वह बाहर निकले ही थे कि दो मलगं दोधारी तेग़ (तलवार) लिए आफ़िस के दरवाज़े पर आखड़े हुए। एक एक तरफ़, एक दूसरी तरफ़। और जब मेरी आँख उन से मिल जाती, मुझे इशारा करते कि बाहर आओ। मगर मैं "बैठा रहा, आगरचे इशारे हुआ किए"। इतने में मैं ने देखा कि कपूर साहब किसी सिख फ़ौजी अफ़सर से घबरा घबरा कर बातें कर रहे हैं। फिर यह दोनों दफ़्तर में आए। अफ़सर ने मुझ से कहा "डाक्टर साहब, मेरे साथ आइये।" मैं फ़ौज के सिपाहियों का रवैया चंद मिनट पहले देख चुका था। मैं समझा कि अब यह इस काम को बाज़ाब्ता (विधिवत) तौर पर अंजाम (पूर्ण) देने के लिए आए हैं। लेकिन उन्होंने दो एक जुमले (वाक्य) ही कहे थे कि मैं समझ गया कि मेरी मदद करना चाहते हैं। मैं ने कहा कि मेरा मुलाज़िम (नौकर), मेरे एक साथी और उन का लड़का और मेरा सामान मिल जाए तो अच्छा हो। उन्होंने ने दो सिख सिपाहियों को मुझे हिफ़ाज़त (सुरक्षा) की जगह ले जाने को कहा। मैं ने कहा बिस्मिल्ला (चलिए)। अब वह हम चार के काफ़ले को साथ ले कर बाहर चले। एक शख़्स (व्यक्ति) सफ़ेद वर्दी में था जैसे उन का सरदार हो। लारियों में लकड़ियाँ लदी खड़ी थीं ताकि लाशों को साथ के साथ जला दिया जाए। जगह जगह अंगारों और राख के ढेर थे। इस मजमे (भीड़) का एक हिस्सा हमारी तरफ़ बढ़ा, आगे आगे वह सफ़ेदपोश सरदार था। हमारे मेहरबान (कृपालु) कैप्टेन गुरुध्यान सिंह ने अपनी स्टेनगन संभाली और मजमे से कहा क़रीब (निकट) न आना। लोग रुक गए। अलबत्ता

उस सरदार ने गुफ़तुगु (बात-चीत) जारी रखी और कहा ''आप इन्हें लेने यहाँ क्यों आए ।'' उन्होंने ने कहा कि ''मैं लेने नहीं आया था । मैं एक दूसरे काम से आया था । मुझे जब मालूम हुआ कि यह कौन हैं तो मैं ने इन्हे अपने साथ ले जाने का फै़सला (निर्णय) किया।'' उसने कहा ''इन्हें हमें दे दीजिये ।'' उन्होने कहा ''तुम्हें शर्म नहीं आती । तुम सिख हो और एक सिख से कह रहे हो कि इन शरीफ़ आदमियों को धक्का दो ।'' उसने कहा ''अच्छा तो अपना वादा पूरा कर दीजिये । इन्हें आगे शहर में चौराहे पर छोड़ दीजिए ।'' उन्होंने कहा ''मेरा जहाँ जी चाहेगा छोडूँगा ।'' यह गुफ़तुगु करते करते वह हमें साथ लिए अपनी स्टेशन वैगन के पास पहुँच गए । हमें उस में बैठाया और खुद उस सरदार को अपने साथ ले जाकर उस के साथियों तक पहुँचा दिया । इस वक़्फ़े (अंतराल) में वैगन के शोफ़र ने जो एक बिल्लोची मुसलमान था मुझ से कहा ''यह आदमी ठीक है, आप को धोखा नहीं देगा ।'' शायद ख़ौफ़ (भय) में हवास कुंद (चेतना शून्य) हो जाते हैं या क्या' मैं सब कुछ और समझ रहा था लेकिन कुछ ऐसा लगता था कि यह सब मुझ से मुताल्लिक़ (संबंधित) नहीं है । गुरुध्यान सिंह दौड़ कर वापस आए और शोफ़र से कहा ''चलो, तेज़ चलो ।'' अब जो गाड़ी चली तो वह हमारे रफ़ीक़ (साथी) जिनका नशा हरन हो चुका था और वह ऐसे सहम (भयभीत) गए थे कि मालूम होता था कि मुझ से भी ज़्यादा बेहिस (निष्चेत) हैं, बोलने लगे ''इधर कहाँ लिए जाते हो, मेरा घर तो दूसरी तरफ़ है । मेरी माँ न मालूम किस हाल में होगी, मोटर को उधर मोड़ लो ।'' गुरुध्यान सिंह ने कहा ''भाई साहब, मैं आप को जानता नहीं हूँ । मैं इन डाक्टर साहब को लेकर जा रहा हूँ । आप साथ चलते हैं तो चलिये । वरना यहीं सड़क पर उतार दूँगा । ''बोले उतार दो, उतार दो,'' मैं ने रोका और लड़के से कहा कि इन्हें उतरने न देना । कुछ दूर चले थे कि रफ़ीक़ फिर चौंके ''यहाँ तो उतार दो । यह तो मेरे दोस्त का घर है।'' गुरुध्यान सिंह घर को पहचानते थे । वह मिस्टर बेदी का घर था जो जालंधर में सेशन जज थे । कहा ''अच्छा उतर जाओ'' लड़के से मैंने कहा कि तुम मेरे साथ रहो । लड़का नहीं उतरा । वह लड़के को छोड़ चल खड़े हुए । यह बेदी साहब के पिछवाड़े उतरे थे । गुरुध्यान सिंह ने मुझ से कहा ''न मालूम यह अल्लाह का बंदा बेदी साहब तक पहुँचेगा भी या नहीं । यहाँ तो उधर खिड़कियों में से लोग गोलियाँ चला रहे हैं'' और मोड़ लेकर वह गाड़ी बेदी साहब के दरवाजे पर ले गया । रफ़ीक वहाँ पहुँच चुके थे और मेरा हाल उन्हें बता रहे थे । बेदी साहब मुझे जानते थे । एकबार जामिआ भी आए थे और सविस्तार सारे काम को देखा था । वह गाड़ी की आवाज़ सुनते ही बाहर निकल आए और मुझ से कहा ''आप यहीं ठहरिये ।'' गुरुध्यान सिंह ने कहा ''बेदी साहब दोस्ती तो ठीक है, आप के पास सुरक्षा का उपाय भी है ।'' उन्होंने कहा ''मेरे पास फ़ौज का एक दस्ता है । यह यहाँ सुरक्षित रहेंगे ।'' गुरुध्यान सिंह ने मुझे, लड़के और नौकर को वहाँ उतार दिया और हम से विदा लेकर चले गए। बेदी साहब और उनकी पत्नी ने बहुत सत्कार किया और

कहा जब तक जी चाहे आप हमारे यहाँ रहिये आदि आदि। श्री रफ़ीक़ ने अब तो बहुत ही शोर मचाया कि मुझे घर पहुँचाइये। बेदी साहब ने तीन फ़ौजियों को साथ करके अपनी गाड़ी में उन्हें घर भेजा। उनका लड़का मेरे साथ ही रहा। बेदी साहब को मैं जानता था। उन्हों ने भी यही कहा कि इस बच्चे को कहाँ ले जाओ गे। बेदी साहब की छत पर से विचित्र भीषण दृश्य देखे। हर तरफ़ जलते हुए मकान, उनके निकट ही बड़ी बड़ी कोठियां जल रही थीं। बेदी साहब हृदय में लज्जित और दुखी थे मगर कहते थे कि करें क्या। पास ही एक कोठी थी। कहा "इसमें पुलिस का अफ़सर है, डिप्टी सुपरिंडेंट। परसों लाहौर से आया है। इस के भाई को वहाँ क़त्ल कर दिया गया। उसका सब माल अस्बाब लूट लिया और बिल्कुल नंगा पहुँचा था, इस के शरीर पर धागा भी नहीं था। दूसरे ही दिन उसने चार्ज लिया। अब यह इन जलते हुए मकानों को इस तरह देखता है जैसे आतिशबाज़ी हो।" यह सब देखने के पश्चात् मेरी मूढ़ बुद्धि ने समझा कि क्या हो रहा है। जब बेदी साहब ने प्रातः फिर कहा कि जब तक चाहिये यहाँ रहिये तो मैंने कहा "बेदी साहब अगर किसी तरह संभव हो तो मुझे देहली वापस करा दीजिये।" उन्हों ने कहा "तो फिर जल्दी करना चाहिये। आज ही वापसी हो तो ठीक, नहीं तो न मालूम रास्ते का क्या हाल हो।" मैंने कहा "हाँ मैं वापस जाऊँगा।" बेदी साहब ने फ़ौजी सिपाहियों के साथ मुझे जालंधर छावनी पर (शहर पर नहीं जहाँ एक दिन पहले एक दिलचस्प काम अपूर्ण रह गया था) पहुँचवाया। टिकट के पैसे मेरे नौकर के पास निकल आए, इसलिये उनसे लेने न पड़े। गाड़ी में बैठ गया। जब तक गाड़ी चली नहीं वह सिपाही दरवाज़े पर पहरा देते रहे। अन्ततोगत्वा गाड़ी चली। सारी गाड़ी उन लोगों से भरी थी जो लाहौर और आसपास के क्षेत्रों से लुट कर भाग रहे थे। इनकी बातें सुन कर रोंगटे खड़े होते थे। किसी की बहन मारी गई, किसी का बाप, किसी का भाई, किसी की पत्नी भगा ले गए। मैं सुनता था। और आश्चर्यचकित था कि यह मार क्यों नहीं डालते। उन की बातों से यह भी मालूम हुआ कि इन लोगों के लाहौर से भागने से पहले प्रो. बृज नारायण भी क़त्ल हो चुके थे। यह अर्थशास्त्र के विख्यात प्रोफ़ेसर थे। पाकिस्तान के समर्थक थे और मुझे व्यक्तिगत रुप से उनसे मिलने का सौभाग्य प्राप्त था। बहुत उदार और योग्य व्यक्ति थे। मैं सोचता था कि अगर यह लोग बृज नारायण के बदले में मुझे मार दें तो इन्हें दोषी ठहराने का मेरे पास कोई उचित कारण भी नहीं होगा। लुधियाना गाड़ी पहुँची तो वहाँ स्टेशन पर विनाश का तांडव हो रहा था। मारधाड़ तो न थी लेकिन कुछ ऐसी भयावह स्थिति और ऐसी अफ़रा-तफ़री कि ख़ुदा बचाए। कुछ मिंटों बाद मेरे नौकर ने आकर मेरे कान में कहा "मियाँ, वह लोग जो कल जालंधर में मिले थे यहाँ प्लेटफ़ार्म पर हैं और आप को देख कर आपस में कुछ बातें कर रहे हैं।" मैंने सोचा शायद कल का अपूर्ण कार्य आज पूरा करें! लेकिन हमारी गाड़ी खड़ी ही थी कि दिल्ली की तरफ़ से गाड़ी पहुँची और वह लोग उसमें बैठ कर जालंधर की तरफ़ चले गए। शायद यहीं

लुधियाना में ट्रेन को देख लेते थे और मुसलमान मुसाफ़िरों को ताड़ लेते थे। फिर जालंधर पर उन का स्वागत करते, सामान "चुकाते और वहाँ ले जाकर इंतज़ाम" करते थे। वह तो चले गए लेकिन हमारी गाड़ी कोई घंटे भर वहीं खड़ी रही। मालूम हुआ कि आगे रास्ते में गाड़ियाँ लुट रही हैं, इसलिए स्टेशन मास्टर ने अंबाला से फ़ौज बुलाई है। जब तक वह न आ जाएगी गाड़ी न चलेगी। यह एक घंटा कितना लंबा था, इसके बारे में क्या कहूँ। चारों तरफ़ लोग रो रो कर अपना दुखड़ा कह रहे थे। प्लेटफ़ार्म पर किसी को देख लेते तो चिल्ला कर बुलाते और पूछते हमारी माँ कहाँ रह गई। बहन पर क्या बीती, भाई भाग पाया या नहीं, और अपने प्रश्नों के कारुणिक उत्तर पाते। इतने में एक नौजवान बाहर से मेरे डिब्बे में आया और मुझसे आकर पूछा "आप डा. ज़ाकिर हुसैन हैं ?" मैंने सोचा बुलावा आ गया। मै ने कहा "जी हाँ।" उसने झुक कर मेरे पाँव छुए। मैंने कहा "भाई, यह क्या करते हैं आप।" बोला "आप तो मेरे गुरु हैं," मैंने कहा "मैंने पहचाना नहीं।" कहा "आप मुझे नहीं जानते, मैं आप को जानता हूँ, आप तो मेरे गुरु के गुरु हैं। मैं सूर्यकांत शास्त्री जी का शिष्य हूँ। वह आप के शिष्य हैं। बहुधा आप की चर्चा किया करते थे।" फिर बोला "आपने ग़ज़ब किया, आप इस ट्रेन से सफ़र कर रहे है, यह तो सब पंजाब के निकाले हुए लोग हैं।" मैंने कहा "भाई दिल्ली जाना है और यही ट्रेन वहाँ जाती है। कल जालंधर आया था, आज वापस जाता हूँ।" उस के पूछने पर अपना हाल सुनाया। एक कालेज में लेक्चरार था। उस का मकान लुट गया था। सामान में केवल एक बंडल हाथ में लेकर भागा था और बंडल इम्तिहान की कापियों का था। उस की मुहब्बत और सहानुभूति का मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा। खेद है कि अब उस का नाम याद नहीं, । न उसने कभी बाद में अपना एहसान जताया। वहाँ मेरे पास अपने दो साथियों को बिठा गया। और कहा कि "आप ट्रेन से न उतरें, जो ज़रुरतें हों इन लोगों से कहें, यह सब काम करेंगे। खाना पानी जिस चीज़ की ज़रूरत हो यह उतर कर ला देंगे। गाड़ी न जाने कब तक खड़ी रहे और प्लेटफ़ार्म का कुछ ठीक नहीं।" इन दोनों नौजवानों में एक झबरा (?) नामी आजकल देहली के सरकारी कार्यालय में काम करता है और मुझ से बराबर मिलता रहता है। ख़ुदा ख़ुदा करके गाड़ी चली और हम देहली पहुँचे। मैं और मेरा नौकर और उसके हाथ में एक ख़ाली हैदराबादी बुट्टी और शामिल बंधना (साथ में मिट्टी का लोटा)।

ख़त बहुत लंबा हो गया। लेकिन आपने न जाने किस दिली लगाव से यह प्रश्न किया था ! संक्षिप्त उत्तर देने को जी न चाहा। जब यह घटना याद आती है या कोई याद दिलाता है तो अपनी मंदबुद्धि पर आश्चर्य होता है, मगर न जाने क्यों खेद नहीं होता। शायद मूढ़ता से लोगों पर भरोसा करना बुद्धिमत्ता से उन पर संदेह करने की तुलना में मुझे रुचिकर है। वापसी पर देहली में जो देखा उसके सामने जालंधर किस गिनती में था।

कमीनापन, बर्बरता और क्रूरता के विचित्र दृश्य देखे । लेकिन होते होते सब चिह्न मिटते जाते हैं । याद है तो यह कि एक अजनबी हिन्दू कपूर साहब, किसी से सुन कर कि मैं कौन हूँ, एक अजनबी सिख अफ़सर ने कपूर साहब से सुन कर, मेरी जान बचाने के लिए अपने को संकट में डाला, बेदी साहब जिन्हों ने भाइयों की तरह अपने साथ रखा और उस शिष्य और उसके साथियों ने सफ़र में साथ दिया । अपनी जान के बचने पर नहीं कह सकता कि खुश हूँ या लज्जित । दो बार जीवनदान मिला और उससे कुछ काम नहीं लिया, इस पर लज्जा ही अधिक है । दुआ कीजिए कि जो शेष है वह ठीक कटे और अंतकाल सुखद हो ।

मैंने यह रिपोर्ट वैयक्तिक रूप से आप को लिख दी है । इसे अपने तक ही रखें तो अच्छा हो । उम्मीद है आप सकुशल होंगे, वस्सलाम।

विनीत
ज़ाकिर हुसैन

नोट:-

1. ज़ाकिर साहब का यह पत्र अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी की मौलाना आज़ाद लायब्रेरी में सुरक्षित है । विश्वविद्यालय और पुस्तकालय के सौजन्य से इसे यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है ।

एक जंग जो हमने नहीं चाही थी

हर क़ौम (राष्ट्र) की ज़िन्दगी में एक ऐसा वक़्त आता है जब उसके सब ज़राए (संसाधन) और सारी क़ुव्वते अमल् (कर्म की शक्ति) किसी अज़ीम मक़सद (महान उद्देश्य) को हासिल करने के लिए वक़्फ़ (समर्पित) करना ज़रूरी हो जाता है और जब इस मक़सद (उद्देश्य) में अपने ऐतक़ाद (निष्ठा) को फिर से जानते बूझते तस्दीक़ (प्रमाणित) करना लाज़मी (ज़रूरी) होता है। हमारी फ़ौज इस वक़्त मैदान में है और हमारे सिपाही अपनी जान की बाज़ी लगाए हुए हैं और बहादुरी के कारनामे अन्जाम दे रहे हैं। इनकी लगन गै़रमशरूत (बिना शर्त के) है और वह सवाल (प्रश्न) भी नहीं करते। अब ये हमारा फ़र्ज़ (कर्त्तव्य) है कि हम इनको यक़ीन (विश्वास) दिलाएं कि हम दिलोजान से उनके साथ हैं और जिस तरह हम उनकी अज़ीम कुर्बानियों (महान बलिदानों) की क़द्र (आदर) करते हैं उसी तरह हम ये भी वादा करते हैं कि जबकि जवाबदेही का वक़्त होगा कि हमने क्या सोचा और क्या किया तो उस वक़्त आने वाली नस्लें भी इनकी इतनी ही क़द्र करेंगी।

ये जंग जिसमें आज हम बरसरेपैकार (युद्धरत) हैं, ये हमने नहीं चाही थी बल्कि ये हम पर ज़बरदस्ती आयद (थोपी) गई है। जितना भी कोई क़ौम कर सकती है उतनी हमने कोशिश की कि हम अपने अम्न के अहेद (प्रण) पर कायम (दृढ़) रह सकें। हम तहेदिल से (हृदय की गहराई) से अम्न (शांति) चाहते थे और इसके लिये हमने हर मुमकिन (सम्भव) जद्दोजेहद (प्रयास) की। हम ना हीं किसी का बुरा चाहते हैं, ना हीं किसी के इलाक़े (भूभाग) का एक भी इंच, हाँ एक भी इंच की हिर्स (लिप्सा) करते हैं। लेकिन हम अपने उन उसूलों (सिद्धातों) की क़ुरबानी नहीं दे सकते जिन पर हमारी क़ौमी ज़िन्दगी (राष्ट्रीय जीवन) और मुश्तरका तहज़ीब (समंवित संस्कृति) का पूरा फ़लसफ़ा (दर्शन) मबनी (आधारित) है, और इसकी ही हमसे मांग की जा रही है। लेकिन कश्मीर न सिर्फ़ हिन्दोस्तान का हिस्सा है और एक बुनियादी (मौलिक) हिस्सा है, और हिन्दोस्तान का हिस्सा होने की हैसियत से न सिर्फ़ हमारी तहज़ीब, बल्कि इन्सानियत की तहज़ीब (मानवमात्र की संस्कृति) के आला उसूलों (उच्च सिद्धांतों) की निशानदही करता है। वह दिन हमारी ज़िन्दगी के अंधेरे दिन थे जब मुल्क के बटवारे का मतालबा हुआ और इस बटवारे को आज़ादी मिलने की मनहूस शर्त (अशुभ शर्त) माना गया। इसके माँगने वालों ने इसके हौलनाक (भीषण) नतीजों को नज़रअंदाज़ (अनदेखा) कर

दिया । हिन्दोस्तानी मुसलमानों से दरोग़बयानी (झूठ बोलने) का मतालबा किया गया और कहा गया के वह इस झूठ की हिमायत (समर्थन) करें क्योंकि यह मुसलमान हैं । लिहाज़ा (अत:) वह उस मुल्क के शहरी (नागरिक) नहीं रह सकते जिसमें वह लोग रहते थे और जिनके साथ न सिर्फ़ वह और उनके भाई बहन पैदा हुए, पले बढ़े, बल्कि जिनकी मिली जुली रस्मों और तहज़ीब में सदियों उन्होंने क़ाबिलेक़द्र (सराहनीय) शिरकत (भागीदारी) की थी । इनसे कहा गया कि वह अपने को उखाड़ें, अपने घर, साज़ोसामान, दोस्तों और नेकख़ाहों (हितैषियों), हमसायों, भाईयों और तहज़ीब को हमेशा के लिये अलविदा कह दें । और हम हिन्दोस्तानियों से, हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई और पारसी हम सबसे, जिनके लिए हिन्दुस्तान हमेशा एक मुल्क, हमारा मुल्क, हमारा मस्कन (निवास स्थान) रहा है और हमेशा रहेगा, तलवार की नोक पर कहा जा रहा है कि हमको मानना पड़ेगा कि कश्मीर कभी जाएज़ तौर (न्यायसंगत आधार) पर हिन्दुस्तान का हिस्सा हो ही नहीं सकता क्योंकि ज़्यादातर कश्मीरी मुसलमान हैं, लिहाज़ा (अत:) उनको पाकिस्तान का हिस्सा होना लाज़िमी (अनिवार्य) है । लेकिन न ऐसा है न कभी ऐसा हो सकता है । आइये, यह वक़्त है कि हम अपने एतमाद (भरोसे) और यक़ीन (विश्वास) को फिर से मज़बूत करें और यह याद रखें कि हमारे बहुत से बहादुर जवान, हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी और ईसाई, सिर्फ़ यह साबित (सिद्ध) करने के लिये अपनी जानें क़ुरबान कर रहे हैं कि हम सब एक हैं और अपने मुश्तरक मफ़ाद (संयुक्त हितों) और ख़्यालात (विचारों) में मुत्तहिद (एक) हैं, और हमारी यह वहदत (एकता) हर इम्तहान में पूरी उतरेगी । हमारे दरमियान जो मुसलमान हैं, उनको सोचना चाहिये कि वह जहाँ भी हैं ख़ुदा की मर्ज़ी (इच्छा) से हैं लिहाज़ा उनकी हिन्दुस्तानी शहरियत (नागरिकता) एक इख़लाक़ी (नैतिक) और रूहानी (आध्यात्मिक) पाबंदी है । उनको चाहिये कि वह इस्लाम के सच्चे और मुख़लिस (निष्कपट) अलमबरदार (पताका वाहक) हों और हर तरह का डर अपने दिल से निकाल दें क्योंकि डर ख़ुदग़र्ज़ी (स्वार्थ) और नफ़रत की जड़ है और इसकी वजह से बहुत से सयासी (राजनैतिक) और समाजी हंगामों का ख़तरा हो सकता है । उनको आपस में भरोसा और ख़ुशनूदी (मेलजोल) पैदा करनी है, ख़िदमत करना है बराये ख़िदमत (सेवा हेतु) और इस फ़ानी ज़िन्दगी (नश्वर जीवन) से दूर उस दिन का सोचना है जब वह अपने हर अमल (कर्म) के लिये जवाबदेह होंगे, कि उन्होंने क्या किया, और क्या नहीं किया । लिहाज़ा उन्हें लोगों के दरमियान अम्न तआव्वुन (सहयोग) और समझदारी का प्रचार करना चाहिये । साथ-साथ मुसलमानों के साथी शहरियों को भी उनके इस अहेद (प्रण), कोशिश और ज़िम्मेदारी को सराहना चाहिये और इसकी क़द्र (सम्मान) करना चाहिये और इनको भी चाहिये कि वह सब ताअस्सुब (भेद भाव) और शक (संदेह) मिटा कर अपने अकसरियत (बहुसंख्यक) के अक़ायद (आस्थाओं) और रवायत (परम्परा) की नुमाइन्दगी (प्रतिनिधित्व) करते हुए सब लोगों को ख़ुशहाली

(समृद्धि) के काम में मुत्तहिद करें।

किसी क़ौम की ताक़त उसकी अंदरूनी (आंतरिक) हमआहंगी (एकता) से नुमायाँ (प्रत्यक्ष) होती है, न सिर्फ़ इसके वाज़ेह मक़सदों (स्पष्ट उद्देश्यों) से बल्कि उसके एहसासात (संवेदना) से भी। एहसास हमें फ़ितरत (प्रकृति) से हासिल होता है जिसको हम बदल नहीं सकते। इसलिये हमको ख़ुद बख़ुद (अपने आप) सही काम करने की आदत डालनी चाहिये। यह वक़्त ऐसा है जब हमको अपने रहनुमाओं (नेताओं) की ताईद (समर्थन) करना चाहिये और उनमें पूरा भरोसा और ऐतक़ाद (आस्था) रखकर उनको अमल (कर्म) की मुकम्मल आज़ादी (पूर्ण स्वतंत्रता) देना चाहिये। यह वक़्त है जब मुल्क से हमारी वफ़ादारी की क़द्रें (मूल्य) ख़तरे में हैं। इसलिये हमें अपने आप को यह साबित करने के लिये वक़्फ़ (समर्पित) कर देना चाहिये कि अगर हमारी क़ौमी ज़ात (राष्ट्रीय अस्तित्व) का बुनियादी उसूल (मौलिक सिद्धांत), और उसके तहत (अंतर्गत) ज़िन्दगी गुज़ारने की आज़ादी ही ख़तरे में है तो उसको बचाने के लिये कोई क़ीमत भी अदा करना कम है क्योंकि इनके बग़ैर ज़िन्दगी की इख़लाक़ी मुहिम (नैतिक संघर्ष) बेमानी (निरर्थक) है और ज़िन्दगी मौत से बेहतर हो जाती है। यह वह वक़्त है जबकि हममें से हर एक का फ़र्ज़ है कि एक दूसरे की हिम्मतअफ़ज़ाई (उत्साह वर्धन) करें कि सब अपनी बेहतरीन ख़िदमात (उत्कृष्ट सेवायें) पेश करें। और हमदर्दी, आपसी मेलमिलाप और हमआहंगी (एकता) से यह बात पुख़्ता (परिपुष्ट) करें कि न सिर्फ़ वह उसूल जिन्हें हम अज़ीज़ (प्रिय) रखते हैं और वह जीत जो हमने हासिल की है बल्कि हमारे दिलों की अंदरूनी हमआहंगी और मक़ासिद भी हमारी आने वाली नस्लों को विरसे (थाती) में मिल सकेंगे।

आईए, हम तहेदिल से अहेद करें कि हम तबतक न रुकेंगे, न आराम करेंगे जबतक हमारे उसूलों की सच्चाई साबित नहीं हो जाती और हमारी मादरे वतन (मातृभूमि) की आज़ादी बिला शक व शुबहा (निस्संदेह रूप से) एक हक़ीक़त (वास्तविकता) नहीं बन जाती।

नोट: भारतवासियों के नाम सितम्बर 1965 में आकाशवाणी से प्रसारित संदेश।

राष्ट्र से प्रतिज्ञा

'न्यायपूर्ण और मनोहर सामाजिक व्यवस्था'

मेरे राष्ट्र के लोगों ने देश के सब से बड़े पद के लिये मेरा चयन कर के मुझ में अपने विश्वास को जिस प्रकार प्रकट किया है उस से मेरी प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं है। यह सोच कर मेरी प्रसन्नता और भी बढ़ गई है कि यह पद भारत के महान सपूतों में से एक – डॉक्टर राधा कृष्णन के बाद मुझे मिला है, जो मेरे लिये एक मार्गदर्शक, दार्शनिक और मित्र का रूप हैं, और जिन के संरक्षण में मुझे पाँच वर्षों तक कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यद्यपि मैं उन का अनुकरण करूँगा, परंतु यह आशा करना मेरे लिये कठिन है कि मैं उन के दर्शाए हुए मार्गों पर चलने में सफल हो सकूँगा या नहीं।

डॉ. राधाकृष्णन ने राष्ट्रपति के पद को वह मानसिक शोभा, पांडित्य और अनुभव की दौलत प्रदान की है जो कभी - कभी ही दिखाई पड़ती है। सारा जीवन ज्ञान की तलाश और सच्चाई की खोज में व्यतीत करने के बाद उन्हों ने शायद सब से अधिक भारतीय दर्शन-शास्त्र की व्याख्या इस ढंग से की कि सच्चे आध्यात्मिक मूल्यों का एकत्व खुल कर सामने आ सका। मनुष्य की बुनियादी मानवता में उन का विश्वास कभी टूट नहीं सका और मनुष्य के प्रतिष्ठित और न्यायपूर्ण जीवन के लिये संघर्ष से उन्होंने कभी मुँह नहीं मोड़ा। शिक्षा के प्रयोजन को आगे बढ़ाने में उन की सेवाएँ बहुमूल्य हैं। राष्ट्रपति के रूप में अपनी विशिष्ट सेवाँए पेश करने से पूर्व उपराष्ट्रपति और पार्लियामेन्ट के राज्य सभा में उन्हों ने दस वर्ष तक राष्ट्र की ज़बरदस्त सेवा की और अब अपनी सेवा-निवृति के साथ वह पूरे राष्ट्र से शुक्रिये की दौलत और प्रेम की सौग़ात अपने साथ ले गए हैं। हम प्रार्थना करते हैं कि वह लम्बे समय तक स्वस्थ और प्रसन्न रहें।

मैं आप को केवल यह विश्वास दिला सकता हूँ कि मैं इस पद को नम्रता और पूर्ण समर्पण के साथ संभाल रहा हूँ। मैं ने भारतीय संविधान से वफ़ादारी की अभी सौगंद खाई है। यह संविधान अपेक्षाकृत एक नए राज्य का संविधान है, जो इस के स्वतंत्र नागरिकों ने इतिहास में पहली बार स्वंय को दिया है।

यह एक प्राचीन राष्ट्र का नया राज्य है जिस ने हज़ारों वर्ष और विभिन्न जाति व प्रादेशिक तत्वों की मिली-जुली कोशिशों से उन मूल्यों को प्राप्त करने के प्रयत्न किये हैं जो अपने विशिष्टता में अमर हैं। हाँलाकि मूल्यों के नए अनुभवों में दोष उत्पन्न हो सकते हैं, जो बदलती हुई स्थिति का परिणाम हैं, परंतु अपने बुनियादी रूप और निरंतरता में वह

अटल और अनमिट हैं और नए अनुभव व विवेक की माँग करते हैं। अतीत न तो मरता है और न स्थिर है। ये जीवित और गतिशील है हमारी वत्तर्मान और भविष्य की आशाओं के निमार्ण में बहुत मुख्य भूमिका अदा करता है। टैगोर ने अपनी अद्‌भूत शैली में कहा है:

मैं ने तुम्हारे गुप्त क़दम अपने रक्त में अनुभव किये हैं, ऐ मेरे अनंत अतीत, मैं ने तुम्हारा शांत मुखड़ा उस दिन के दिल में देखा है जो जग में व्याप्त रहा है, तुम हमारे पिता की अपूर्ण कहानियों को भाग्य के पन्नों में ऐसी लिपि में लिखते आए हो जो दिखाई नहीं देती, तुम जीवन में उन चीज़ों को लौटाने आए हो जिन्हें याद नहीं किया गया ताकि नई शक्ल बन सके।

इस का निरंतर नवीकरण वास्तव में राष्ट्रीय संस्कृति और राष्ट्रीय स्वरूप के विकास की एक प्रक्रिया है और शिक्षा का मूलकार्य भी यही है, जैसा कि मुझे दिखाई पड़ता है - निरंतर और लगातार नवीकरण का कार्य करते रहना। और मेरी इस परिकल्पना को क्षमा किया जाए कि मेरा इस उच्च पद पर आसीन होना यदि पूर्ण रूप से नहीं तो विशेष रूप में, वस्तुत: अपनी जनता की शिक्षा से लम्बे समय तक जुड़े रहने का परिणाम है। मेरे निकट शिक्षा राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति का एक मुख्य उपकरण है और शैक्षिणिक स्वरूप को राष्ट्रीय स्वरूप से अलग नहीं किया जा सकता। अत: मैं अपने अतीत की संस्कृति से पूरी तरह जुड़ा हुआ हूँ, वह जहाँ से भी आए और जिस किसी के माध्यम से भी आए मैं अपने देश की संपूर्ण संस्कृति की सेवा की प्रतिज्ञा करता हूँ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ प्रदेश या भाषा का भेद-भाव किये बिना पूरे देश से वफ़ादारी की। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ जाति, रंग और धर्म और मत का भेद-भाव किये बिना पूरे देश की जनता की प्रगति, शक्ति और कल्याण के लिये कार्य करने की। पूरा भारत मेरा घर है और इस के निवासी मेरे परिजन हैं। इस देश की जनता ने कुछ समय के लिये अपने परिवार का मुझे मुखिया बनाया है। मेरी पूरी कोशिश होगी कि मैं इस घर को मज़बूत और सुन्दर बनाऊँ, उन महान व्यक्तियों के लिये जो न्यायपूर्ण, समृद्ध और मनोहारी जीवन के लिये बहुमूल्य सेवाएँ प्रदान कर रहे हैं। एक घर बनाऊँ इसे, एक रहने योग्य घर बनाऊँ। यह परिवार बड़ा है और बड़ी तेज़ी से बढ़ रहा है। हम में से हर एक अपने-अपने क्षेत्र में और अपने-अपने ढंग से जीवन के नवनिमार्ण के लिये कार्य करता है। यह देश इतना बड़ा है और इस के आगे इतने सारे कार्य हैं कि हम में से कोई व्यक्ति निष्क्रिय नहीं बैठ सकता और न ही देश में निराशा और असफलता को जड़ पकड़ते हुए एक तमाशाई के रूप में देख सकता है। स्थिति हम से कर्म की माँग करती है - कार्य और अधिक-से-अधिक कार्य, शांतिपूर्ण ढंग से, निष्कपट भाव से कार्य - अपने देश की जनता के भौतिक और सांस्कृतिक जीवन के नवनिमार्ण के लिये तत्परता के साथ ठोस कार्य !

यह कार्य, जैसा कि मैं देखता हूँ, दो पहलू रखता है। एक स्वंय अपने लिये कार्य करना और दूसरे अपने चारों ओर फैली सोसाइटी के लिये कार्य करना। स्वंय अपने लिए

कार्य करने का अर्थ स्वतंत्र व्यक्ति के समान अपने अन्दर स्वंय अनुशासन पैदा कर के नैतिक विकास के लिये कार्य करना - और केवल इसी से विकास संभव है । इस का परिणाम स्वाधीन नैतिक व्यक्तित्व है । हम इस परिणाम की अवहेलना करके ख़तरों को आमंत्रित करेंगे ।

यह परिणाम अपने आप को स्थिर नहीं रख सकता जब तक कि यह समाज के हित के लिये कार्य न करे ताकि एक न्यायपूर्ण और सुखद जीवन सामने आ सके और जब तक समाज संयुक्त रूप से आगे न बढ़ेगा उस समय तक व्यक्ति भी उन्नति नहीं कर सकेगा । अत: हमें दृढ़ निश्चय के साथ दो प्रकार के कार्यों में व्यस्त हो जाना चाहिये - व्यक्तिगत और समष्टिगत । इन दोनों केन्द्रों पर हमारी कोशिशें हमारे जीवन को एक नवीन आनंद से परिचित करा सकती हैं ।

राज्य हमारे लिये केवल सत्ता की एक संस्था नहीं, एक नैतिक संस्था भी है । यह हमारे राष्ट्रीय स्वभाव का एक अंश और स्वतंत्रता के महान नेता महात्मा गाँधी का दाय भी है । इस शक्ति को केवल नैतिक प्रयोजनों के लिये उपयोग करना चाहिये । हम राष्ट्रीय विकास की कोई ऐसी अवधारणा नहीं रखते जिसमें राज्य बढ़ाने की इच्छाएँ हों । हम उग्रराष्ट्रीयता की भावना को मिटाना चाहेंगे । हम पसंद करेंगे कि अपने सभी नागरिकों के जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ पूरी करें । हम अपने विचारों के लिये बौद्धिक सुस्ती से और सामाजिक न्याय के तक़ाज़ों के प्रति लापरवाही से लड़ेंगे । यह विचारधारा हर प्रकार की संकीर्णता और स्वार्थ को जड़ से उखाड़ फेंकेगी और यह सब कुछ नैतिक कर्त्तव्य के रूप में पूरा करेगी तथा नैतिक कार्यों को पूरा करने में उल्लास का अनुभव करेगी । हमें अपने राष्ट्रीय जीवन में शक्ति और नैतिक बल को साथ लेकर चलना होगा । तकीनीकी के साथ नैतिकता, कर्म के साथ विचार-विमर्श, पूर्व के साथ पश्चिम, फ़्राइड के साथ बुद्ध को साथ लेकर चलना होगा । हमें अपने विचार में दोनों ध्रुवों को साथ रखना होगा - पारलौकिक और लौकिक । अंत: आत्मा को जगाना और कार्यक्षमता को बढ़ाना होगा, आत्मविश्वास और धैर्य को प्राप्त करना होगा ।

मुझे अपने राष्ट्र पर भरोसा है कि वह इन कार्यों को पूरा करने के लिये अपने अंदर शक्ति पैदा करेगा ।

यह मेरा विशेषाधिकार है कि मैं इस मनोरंजक कार्य में भाग लूँ ।

मार्ग जो महात्मा ने दर्शाया

''गाँधी शताब्दी तैयारी सप्ताह'' का उद्घाटन मेरे लिये सौभाग्य की बात है । राष्ट्रीय समिति और इस की 12 उपसमितियों ने कार्यक्रम की पूर्ण रूपरेखा तैयार कर ली है । आगामी सप्ताह से कई कार्यक्रमों का प्रारम्भ होगा । हर दिन इन कार्यक्रमों में से किसी-न-किसी पर विशेष ध्यान दिया जाएगा । यह अवसर है कि हम इन कार्यक्रमों को उसी भावना के साथ कार्यान्वित करें जिस प्रकार गाँधी जी हम से चाहते थे ।

गाँधी जी की दृष्टि में किसी रचनात्मक कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य पूर्ण सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता थी जिस के बिना केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता जनता के लिये अर्थहीन होगी ।

हम ने अर्थव्यवस्था के कृषीय आधार को बहुत कम महत्त्व दे रखा है, परिणामस्वरूप हम गंभीर रूप से अन्न की कमी के शिकार हैं । गाँधीजी चाहते थे कि आत्मनिर्भरता के लिये हम एक के स्थान पर दो घास उगाएँ ।

उन्हें खादी और गाँव की हस्तशिल्प में ग्रामीण लोगों की कम आय को बढ़ाने और उन्हें सम्मान और सुरक्षा देने का रास्ता दिखाई देता था ।

बहुत-से गाँव में जीवन की बुनियादी सुविधाएं जैसे पीने का पानी उपलब्ध नहीं । यदि हम चाहते हैं कि गाँव से शहर की ओर प्रस्थान को रोका जाए और असंतुलन स्थिति की रोक-थाम की जाए तो गाँव में परिवर्तन लाना होगा और शहरी और ग्रामीण जीवन के अन्तर को कम करना होगा ।

छूत-छात का अंत करना होगा । इस में संदेह नहीं कि इसे कानून की पुस्तकों में अवैध ठहराया जा चुका है । परन्तु इसके अंतिम चिन्ह तक को भी हमारे मन और दैनिक जीवन से बाहर निकालना होगा ।

यदि हम चाहते हैं कि लोगों के जीवन-स्तर को ऊपर उठाएं तो किसी भी मूल्य पर नशाख़ोरी पर रोक लगानी होगी । शराब पर रोक लगाने के साथ सामाजिक विवेक को जगाने और कल्याण-कार्य को विकसित करने के साथ मनोरंजन की सुविधाएं उपलब्ध कराने की आवश्यकता पड़ेगी ।

देश में साम्प्रदायिकता की भावना समय-समय से विभिन्न रूप में अपना सिर उठाया करती है । अत: यदि हम धर्मनिरपेक्ष राज्य का दावा करते हैं तो हमें राष्ट्र के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के बीच एकता की भावना को जागृत करना होगा ।

हमारे युवाजन कभी-कभी अनियंत्रित दिखाई देते हैं । उन में निराशा, असंतुष्टि और असुरक्षा की भावना पाई जाती है और कभी-कभी उन में अनुशासन की कमी भी पाई जाती है और वह हिंसा पर उतारू हो जाते हैं । युवा देश की आशा हैं । अतः यदि देश का भविष्य सुरक्षित करना है तो उन की शक्ति और योग्यताओं का पोषण इस प्रकार करना चाहिये, और उन्हें ऐसे कार्यों में लगाना चाहिये जो लाभदायक और उद्देश्यपूर्ण हों ।

गाँधीजी के प्रेरक नेतृत्व में हमारी महिलायें पुरूषों के कँधों-से कँधा मिला कर खड़ी हो गईं और वे त्याग और वीरता की ऊँचाई पर पहुँच गईं । देश के नवनिर्माण के लिये आवश्यकता इस बात की है कि महिलायें फिर पुरूषों के क़दम-से-क़दम मिला कर चलें ।

हमारा प्रजातंत्र आंतरिक ख़तरों का शिकार हो जाएगा, यदि हम अपनी त्रुटियों के सुधार के लिये हिंसा का मार्ग अपनाएँगे । गाँधीजी ने हमें बताया था कि अनुशासित प्रजातंत्र संसार की सब से उत्तम चीज़ है । अतः जनमत के प्रभावशाली ढंग से प्रतिपादन और अनुशासित ढंग से अभिव्यक्ति को हमारी प्रजातंत्र का आधार होना चाहिये ।

आज दुनिया खड़ी चट्टान के किनारे पहुँच चुकी है और मानव-जीवन दाँव पर लगा हुआ है । संसार की बड़ी शक्तियों के बीच भयाधिरित संतुलन ने अब तक संसार को नाभिकीय बर्बादी से बचा रखा है और संसार को नष्ट करने के इन घातक शस्त्रों की बढ़ती हुई पैदावार के परिणामस्वरूप तनिक सी भूल भी संसार से प्राणियों का अंत कर देगी । अतः मानवजाति की मुक्ति और शांति-स्थापना के लिये यह अनिवार्य है कि हम महात्मा जी के दिखाए हुए मार्ग पर चलें । केवल प्रेम की आध्यात्मिक शक्ति ही ऐटम बम्ब का विषहर है ।

राष्ट्रपिता का शताब्दी - महोत्सव मनाने, उन्हें स्मरण करने और उन के लिये मान-सम्मान प्रकट करने का सब से अच्छा ढंग यह है कि उन सिद्धांतों के लिये निष्कपटता के साथ निरन्तर संघर्ष किया जाए जिस के लिए वह जिये, काम किया और अपनी जान दे दी । इस के लिये सरकार से अधिक जिम्मेदारी जनता पर लागू होती है, इस लिये कि सरकार और नीतियाँ जनता के ही हाथों तैयार होती हैं । उन्हें गाँधी जी के साथ विश्वासघात नहीं करना चाहिये ।

नोट:-

* गाँधी शताब्दी सप्ताह का उद्घाटन करते हुए 2, अक्टूबर 1967 ई. को ऑल इंडिया रेडियो से प्रसारित भाषण ।

मार्टिन लूथर किंग

मुझे इस अवसर पर अपनी उपस्थिति से प्रसन्नता हो रही है, क्योंकि इस का सम्बंध संसार के दो विश्वव्यापी व्यक्तित्व - जवाहर लाल नेहरू और डॉ. मार्टिन लूथर किंग जूनियर से है ।

जवाहर लाल नेहरू एक सच्चे अन्तर्राष्ट्रीयता वादी थे और उन का संबंध सारी मानव जाति से था । वह न केवल राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और एकता के समर्थक थे और आधुनिक भारत के प्रमुख निर्माता थे बल्कि वह विश्व शांति और अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के उद्देश्य के लिये स्वंय को समर्पित कर चुके थे । वह जीवन भर मनुष्य की स्वतंत्रता और उसकी मान-मर्यादा के लिये संघर्ष करते रहे, न केवल अपने देश की जनता के लिये बल्कि विश्व के सभी जनों के लिये । उन्होंने कहा था: ''किसी व्यक्ति की मृत्यु भी मेरे अंदर कमी की भावना उत्पन्न कर देती है, इस लिये कि मेरा संबंध पूरी मानव जाति से है ।''

नेहरू के मन में कोई संदेह नहीं था । भारत का राष्ट्रीय हित अन्तर्राष्ट्रीय शांति और समझौते के लिये निरंतर संघर्ष में है । डा. मार्टिन लूथर किंग ने कहा था: ''नेहरू ने ये उदाहरण प्रस्तुत किया था कि यदि शांतिपूर्ण सद्‌भाव पर साहस के साथ विश्वास किया जाए और उस को व्यवहार में लाया जाए तो मानव जाति की अभिलाषायें उज्जवल दिखाई पड़ेंगी ।''

डॉ. मार्टिन लूथर किंग ने भी विश्वास और कर्म के शस्त्र के साथ अपनी जनता और विश्व के पददलित वर्गों के लिये सामाजिक न्याय प्राप्त करने के प्रयत्न किये । मार्टिन लूथर किंग की पहचान हालाँकि गाँधी जी ही के समान देश की जनता के लिये संघर्षरत व्यक्ति के रूप में रही, परंतु अपने भारतीय गुरू के समान वह एक ऐसा मन व स्वभाव रखते थे जो रंग, नस्ल और धर्ममत के दायरे से बाहर निकल कर अपने कर्त्तव्य का पालन करता था । उन में गहरा सामाजिक विवेक पाया जाता था और स्वंय को अंहिसा के साथ जोड़ने के कारण वह जनमानस की शांति के उद्देश्य से भावात्मक लगाव रखते थे । वह गाँधी जी के समान मरे जो घृणा और हिंसा के भड़कते हुए शोलों में घिरे होने के बावजूद भी शांति और कल्याण के प्रतीक बन गए थे ।

19 वर्ष की आयु में मार्टिन लूथर किंग ने लिखा था: ''हमें याद रखना चाहिये कि केवल बुद्धि काफ़ी नहीं है । वास्तविक शिक्षा का उद्देश्य बुद्धि के साथ चरित्र का निर्माण भी है ।'' बुद्धि के साथ चरित्र और जनसाधारण की चिंता - इन शब्दों से मालूम होता है

कि युवा किंग ने केवल 19 वर्ष की आयु में परिपक्कता की ओर क़दम बढ़ा दिया था। फिर भी जीवन की पाठशाला में उन की शिक्षा अभी अपूर्ण थी – कभी ऐसा होता भी नहीं है। उन्हें अभी यह पाठ उदारहणात: पढ़ना था कि जीवन में वास्तविक समस्या हमेशा तर्क बुद्धि नहीं बल्कि शक्ति हुआ करती है, और कोई व्यक्ति भी अपना विशेषाधिकार कड़ा संघर्ष किये बिना नहीं छोड़ता और यह कि जातीय भेद का मूल उद्देश्य केवल एक वर्ग को पृथक कर देना नहीं बल्कि उस पर अत्याचार करना और उस का शोषण करना है। यह पाठ उन्हें उस घटना से मिला जो अब मशहूर ''मंटगुमरी बस बॉयकाट के नाम से जाना जाता है। और इस ''प्रयोगशाला'' से वह राष्ट्रीय नेता बन कर उभरे और उन्हें इतना ज़ोरदार समर्थन मिला जिस का उदाहरण इस से पूर्व अमरीका में अप्राप्य था। फिर इस के बाद उन्हों ने पीछे मुड़ कर नहीं देखा।

मंटगुमरी के प्रयोग ने अंहिसा में उन के विश्वास को मज़बूत किया। गाँधीजी के प्रभाव को स्वीकार करते हुए डॉ. किंग ने कहा था: ''बहुत-से लोगों के समान मैं ने भी गाँधी के बारे में सुना था, परंतु मैं ने कभी गंभीरता से उनका अध्ययन नहीं किया था। – लेकिन जब मैं ने उन्हें पढ़ा तो अंहिसा के साथ उनके संघर्ष से मैं अत्यंत प्रभावित हुआ और गाँधी दर्शन की गहराइयों में जैसे-जैसे मैं उतरता गया प्रेम की शक्ति के प्रति मेरा संदेह कम होता गया और पहली बार सामाजिक सुधार के क्षेत्र में मुझे उस की शक्ति का अनुमान हुआ। गाँधीजी के लिये प्रेम सामाजिक और सामुहिक परिवर्तन का बहुत बड़ा अस्त्र था। और प्रेम और अंहिसा पर गाँधीजी के बल ने सामाजिक सुधार का वह तरीक़ा मुझे बताया जिस की तलाश मुझे महीनों से थी।''

डॉ. किंग और उन के साथ आप मेडम, लगभग दस वर्ष पूर्व भारत आए थे और उस समय उन्हों ने जो कुछ कहा था अब तक हम लोगों के कानों में गूँज रहा है और उस ने हमारे मन और हृदय पर गहरा प्रभाव छोड़ा है। उन्हों ने कहा था, ''अन्य देशों में पर्यटक के रूप में मैं जा सकता हूँ, परंतु भारत में यात्री के रूप में आया हूँ।'' वह चाहे यात्री के रूप में आए हुए हों, परंतु हम ने उनका स्वागत अपनों के समान किया था। भारत उन्हें कभी नहीं भूल सकता।

''सार्वभौमिक मानवीय अधिकार'' मानवीय सभ्यता के इतिहास में प्रमुख स्थान रखता है जिस का प्रारंभ इस विश्वास के साथ होता है कि ''सभी मुनष्य अधिकार और मान-सम्मान के स्वतंत्र भोगी हैं और एक जैसे पैदा हुए हैं। उन्हें अन्तरात्मा और दृष्टि इस लिये प्रदान हुई है कि वह भाईचारे की भावना के साथ एक-दूसरे से संबंध रखें। वर्ष 1968 ई. इस घोषणा की 20 वीं वर्षगाँठ के अवसर पर मानव-अधिकार के अन्तर्राष्ट्रीय वर्ष के रूप में मनाया गया था, इसीलिये कि इस वर्ष समानता और सामाजिक न्याय के पराक्रमी ने सामाजिक विभेदीकरण के विरूद्ध लड़ते हुए अपनी जान दे दी थी। इस वर्ष – शायद कल्पना और वास्तविकता के बीच ख़ालीपन की ओर ध्यान दिलाने के लिये – डॉक्टर

मार्टिन लूथर ने अपनी जनता, बल्कि सारी दुनिया की जनता के लिये मानव-अधिकार प्राप्त करते हुए यह महान् बलिदान दिया था।

इतिहास की यह विचित्र सच्चाई है कि अधिकतर महान् व्यक्ति, जिन्होंने शांतिपूर्ण ढंग से मानवीय संबंधों में क्रांति लाने के लिये संघर्ष किया वह उन व्यक्तियों की हिंसावादी पुरातन वृत्ति का शिकार हुए जो नैतिक रूप से पराजय का मुँह देख चुके थे। परंतु उनकी मृत्यु से वह शोला न बुझ सका जिसे उन्हों ने भड़काया था और जिस उद्देश्य के लिये वह जिए और मरे। समय के साथ-साथ वह शोला क्रांति को दृढ़ बनाता रहा। ऐसे ही नेताओं में, महात्मा गाँधी, एब्राह्म लिंकन और मार्टिन लूथर किंग थे जिन के हम उत्तराधिकारी बनें ताकि विश्व भर के व्यक्तियों के अन्त:करण को हम जगा सकें।

ऐतिहासिक शक्तियों के कारण मानव-जाति विवश होती जा रही है। एक-दूसरे के निकट आएँ और सहअस्तित्व का पाठ समानता के आधार पर सीखें। मनुष्य की बुनियादी अच्छाई और बुद्धिमानी में विश्वास ने पीड़ित मानव जाति को अत्याचारों की लम्बी काली रातों में भी जीवित रखा है। जवाहर लाल नेहरू के भावुक शब्दों में, ''मानवीय-भावना भी क्या विचित्र चीज़ है। अनगिनत असफलताओं के बावजूद मनुष्य ने हर युग में अपने मुख्य आदर्शों, सच्चाई और विश्वास, देश प्रेम और मान-मर्यादा के लिये अपने प्राण त्याग दिये हैं। वह आदर्श बदल सकता है, परंतु त्याग की भावना सदा पाई जाती रहेगी और केवल यही कारण है कि हम मानव से अपनी आशा का संबंध नहीं तोड़ सकते।''

मुनष्य का मन और उस की आत्मा सदैव एक नई दुनिया की तलाश में रहे हैं – ज्ञान पिपासा, और अंजानी दुनिया की खोज ने स्वर व अंतरिक्ष की बहुत-सी सीमाओं को तोड़ कर रख दिया है। अब वह चाँद पर उतरने को पर तौल रहा है। और अनंतरिक्ष की गहराइयों में यात्रा के लिये व्याकुल है। जो अब तक एक सपना था, एक कवि कल्पना की उड़ान से अधिक कुछ न था, वह अब वास्तविक रूप में हमारे सामने है। इस ज़बरदस्त और आश्चर्यजनक उन्नति के पीछे इस बात की संभावना मौजूद है कि मनुष्य का अंत:करण और उस की आत्मा ऊँचाइयों की ओर उड़ेगी और अंत में मनुष्य की उस मानसिक सीमाओं को तोड़ देगी जिस ने मनुष्य को मनुष्य से अलग कर रखा है, जो स्वयं उस के और उस के भविष्य के बीच वाधक है बल्कि वास्तव में यही मानसिक सीमाएँ मानवीय भाई-चारे और कल की शांतिपूर्ण दुनिया की ओर हमारी यात्रा में सब से बड़ी बाधा हैं। परंतु गाँधीजी, जवाहरलाल नेहरू और मार्टिन लूथर किंग की दूरदर्शिता और विश्वास की शक्ति ने हमें बताया है कि मानवीय भावना शस्त्रबल से भी अधिक बलवान है। मानव-जाति की आशा इसी से जुड़ी हुई है।

अंत में मैं अपनी और भारतवासियों की ओर से श्रीमती किंग का शुक्रिया अदा करता हूँ कि उन्होंने इस अवसर पर यहाँ पधारने का कष्ट किया। श्रीमती किंग अपने पति के लिये एक अच्छी पत्नी और बच्चों के लिये एक अच्छी माँ रही हैं। उन्हों ने अपना पूरा

जीवन उन उद्देश्यों के लिये समर्पित कर रखा है जो उन के पति को प्रिय थे । उनका अत्यंत व्यस्त जीवन समय की माँग भी करता है और धैर्य की भी । लेकिन वह संगीत और सामाजिक सेवा के लिए समय निकाल लेती हैं । उन की सच्चाई, विश्वास और साहस, जो उन के पति के लिये अपार शक्ति का स्रोत था, उन के निजी विपदा में उन को सहारा देता रहा है और वह अपने मिशन को शक्तिशाली बनाती और उसे आगे बढ़ाते रही हैं ।

नोट:

अन्तर्राष्ट्रीय समझ-बूझ के लिये जवाहरलाल नेहरू पुरस्कार पेश करते हुए, जिसे श्रीमती कोरेटा किंग ने अपने स्वर्गीय पति डा. मार्टिन लूथर किंग की ओर से नई दिल्ली में 24, जनवरी 1969 ई. को प्राप्त किया ।

गुरू नानक

उस समय से जब मनुष्य ने अपने अस्तित्व पर विचार करना शुरू किया, हमारे देश में ऐसे महान् लोगों ने जन्म लिया जो जनता का मार्गदर्शन करते रहे, और फिर उन के द्वारा ही पूरी मानव-जाति का पथप्रदर्शन हुआ। ऐसे ऋषि आए जिन के विचारों और शिक्षाओं से हम उपनिषदों से परिचित हुए। महात्मा बुद्ध और महावीर और उन के शिष्य, दक्षिण भारत के अलवार, शंकराचार्य और रामानुजाचार्य और उन के शिष्य - उस के बाद वह आए जो भक्ति के मनमोहक मार्ग पर चलते रहे। क्या उन सभी पुरूषों का, और जो कुछ उन्होंने हमें दिया उस की चर्चा संभव है ? पश्चिमी एशिया से दातागंज बख़्श, शेख़ मुईनुद्दीन चिश्ती, क़ुतुबुद्दीन बख़्तियार, फ़रीद शकरगंज, निज़ामुद्दीन औलिया आए - जिन्होंने ईश्वर की भक्ति और भाईचारे की भावना के प्रचार के लिये स्वयं को समर्पण कर दिया और सौ-दो-सौ वर्ष के अंदर हमारे पास ऐसे संत, सूफ़ी और योगी हर ओर दिखाई देने लगे जिन्होंने सभी बोलियों में लोगों से आग्रह और अनुरोध किया कि वह ईश्वर की शक्ति और महानता को याद करें और अपने कर्त्तव्य से परिचित रहें। ये ठीक है कि एक चिराग़ से दूसरा चिराग़ जलता है, मगर हमारे देश में जिन हज़ारों चिराग़ों ने प्रकाश फैलाया, उन की बाती और तेल अपने थे। यह चिराग़ अपने-अपने समय पर जीवन में प्रकाशवान हुए और उन के तेल में ऐसे विशेष तत्व शामिल थे कि वह अपनी बारी आने पर खुदबखुद जल उठे। ईश्वर परायणता इतिहास और तर्कशास्त्र की पाबंद नहीं। गुरू की शिक्षा में सच्चाई उन के अन्दरून ख़ानों (अंतस्तल) से आई थी। यह सुनी-सुनाई बात नहीं है और न हो सकती है।

जब गुरू नानक का जन्म हुआ उस से लगभग ढाई सौ वर्ष पूर्व से हिन्दू पंजाब में मुसलमानों के साथ जीवन व्यतीत कर रहे थे। उन में जो शासक थे वह धन और सत्ता के पीछे थे। उनकी प्राप्ति के लिये उन्होंने युद्ध किये और निचले और पद-दलित वर्गों के दुख और पीड़ा पर कोई ध्यान नहीं दिया। बाबर ने पंजाब पर लगातार आक्रमण किये और अंत में मुग़ल उत्तरी भारत के राजा बन बैठे। समाज शासक और शासित दो वर्गों में बट कर रह गया। केवल कुछ लोग शासक, शेष शासित रहे। उन्होंने जो कुछ चाहा दूसरों पर थोप दिया। और वह हिन्दू हों या मुसलमान उस पर कोई अधिकार नहीं रखते थे। समाज का दूसरा विभाजन धर्म के आधार पर हुआ था। एक ओर मुल्ला और दूसरी ओर ब्राहमण ने जबरदस्ती ये विभाजन किया। अत: साधारण लोगों की यह आकांक्षा कि

वह मित्रों और भाइयों के समान भली प्रकार से जीवन व्यतीत करें घुट कर रह गई । परन्तु हमें यह नहीं मान लेना चाहिये कि गुरू नानक का व्यक्तित्व और उन की शिक्षा उस समय की स्थिति की देन थी । यह स्थिति गुरू नानक से पूर्व भी बनी हुई थी और बाद तक बनी रही ।

गुरू नानक का व्यक्तित्व चमत्कारिक था, बचपन ही से उन की भक्ति भावना प्रकट होने लगी थी और ऐसे ईशोन्मुख बच्चे को, दूसरे बच्चों के समान कौन अनुदेश दे सकता था ? माँ-बाप का स्नेह भी इतना अधिकार नहीं रखता था कि अपने को भक्ति के मार्ग से हटा कर सांसारिकता में तल्लीन होने पर उन्हें विवश कर सकता । 20 वर्ष से अधिक समय तक वह ईश्वर की पूजा-आराधना में लगे रहे, फिर कहीं उन्हें ज्योति दिखाई पड़ी । उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ जिसे उन की असाधारण बुद्धि ने अनुभव किया और बोध के इस मार्ग का अनुगामी होकर वह तीर्थयात्रा के लिये चल पड़े – साधारण लोगों में प्रचार करते हुए कि: "यह ईश्वर से मेरी प्रार्थना है कि जो प्रकाश मैं देखता हूँ उस में सभी लोग भागीदार बनें । वह पंजाब से गुज़रे । दक्षिण में वह लंका तक गए और पूर्व में आसाम तक और पश्चिम में बग़दाद तक, संभव है मक्का तक – और हर ओर उन्होंने ईश्वर के एक होने का संदेश दिया और हर हाल में उन्हें मालूम था कि किस प्रकार साधारण जनों का ध्यान ईश्वर की ओर मोड़ा जाए । उन की दृष्टि में दुनिया एक थी और इसी प्रकार पूरी मानवता भी, इस लिये कि एक ही ईश्वर ने सभी मनुष्यों को पैदा किया है और वही उन्हें जीविका देता है ।

क्या यह संभव है कि ईश्वर ने मनुष्य को इस प्रकार पैदा किया हो कि वह दर्शन और तर्कशास्त्र के परिवर्तन के साथ स्वयं भी बदल जाए ? क्या यह आवश्यक है कि ईश्वर तक पहुँचने के लिये मनुष्य ईश्वर के दिये हुए स्वभाव को दूषित समझते हुए सुधार के लिये तपस्या का मार्ग अपनाए ? क्या यह आवश्यक है कि ईश्वर तक पहुँचने के लिये दुनिया को छोड़ दिया जाए – जो उस की प्रयोगशाला है – और जिस में बसने के लिये वह भेजा गया है ? क्या वह मनुष्य जो केवल शैक्षिक वाद-विवाद में व्यस्त रहता हो, परन्तु अपने दैनिक कर्त्तव्य को पूरा न करता हो, ईश्वर का सम्मान न करता हो और मानव-जाति से बिल्कुल सहानुभूति न रखता हो वह ईश्वर के परिवेश तक कभी पहुँच सकता है ? जैसा कि एक कवि ने कहा है: "दो मार्ग हैं, या तो ईश्वरभक्त बन जाओ या दुनियादार ।" और हम मनुष्य या तो लालच के जाल में फंस जाते हैं या माया जाल में, और अनुचित मार्ग पर चल पड़ते हैं । गुरू नानक ने अपना पूरा जीवन बड़ी निष्ठा और दृढ़ता के साथ लोगों में इस बात का प्रचार करने में गुज़ारा कि यही दो आधारभूत बातें हैं जो मन को उज्जवल और हृदय को पवित्र करके मनुष्य को ईश्वरभक्त बनाती हैं और जीवन को उचित मार्ग दिखलाती हैं ।

जब एक ईश्वर ने सभी जीव-जन्तुओं को जीवन दिया, तो सभी मनुष्यों को भी समान

स्तर पर रहना चाहिये । गुरू नानक के प्रारम्भिक उपदेशों में है कि: "न कोई हिन्दू है और न कोई मुसलमान ।" इस का अर्थ यह भी हो सकता है कि न कोई सच्चा हिन्दू है, और न सच्चा मुसलमान । परन्तु इस का अर्थ यह भी तो हो सकता है कि हिन्दू और मुसलमान में मानव-जाति का विभाजन अनुचित है, जो एक ही ईश्वर के बच्चे हैं । इस लिये कि लोग वाह्याचार को देखते हैं, जो एक-दूसरे को पृथक करते हैं और जो भड़काने वाले प्रश्न खड़ा करते हैं । गुरू नानक ने एक ऐसा वस्त्र अपनाया कि उन्हें हिन्दू भी समझा जाए और मुसलमान भी । कई लोगों ने उन से पूछा कि वह हिन्दू हैं या मुसलमान । तब उन्हें इस बात की व्याख्या करने का अवसर मिला कि धर्म के आधार पर मनुष्य का विभाजन, और यह सोचना कि किसी एक धर्म के मानने वाले उचित मार्ग पर हैं और दूसरे धर्म-भ्रष्ट हैं, अनुचित है । तब यह प्रश्न उठा: क्या विभिन्न धर्मों में सही अर्थों में कोई अंतर है ? उत्तर में गुरू नानक कहा करते थे कि पैगम्बर और भिन्न-भिन्न मानवीय रूपों में आ कर ईश्वर मनुष्य का मार्गदर्शन करता रहा है, तो फिर वह स्वयं अपने निर्देशों से इंकार क्योंकर कर सकता है । लोगों को इस बात का विश्वास बड़ी मुश्किल से दिलाया जा सकता है । कुछ लोगों का विचार है कि इस प्रकार की बात करना भी अपराध है । अत: इस को गुरू नानक के व्यक्तित्व का चमत्कार समझना चाहिये कि कट्टर पंथियों ने भी उन्हें कोई हानि नहीं पहुँचाई ।

यदि सभी मनुष्य समान हैं और सभी लोगों को समान निर्देश मिला है तो उन की पूजा का ढंग और जीवन पद्धति भी एक होना चाहिये । गुरू नानक ने एक ओर मूर्ति-पूजा का विरोध किया और ऐसे रीति-रिवाज उन्हें बुद्धि से परे मालूम हुए, दूसरी ओर उन्होंने ऐसे उसूलों की बुनियाद डाली जो मानवीय आकांक्षाओं और अभिलाषाओं से मेल खाते हैं: "अपना कर्त्तव्य निभाओं, ईश्वर का नाम लो और अपने खाने में दूसरों को भागीदार बनाओ ।" मनुष्य को उचित मार्ग पर रखने के लिये आवश्यक है कि उस को अपनी रोटी कमाने के लिये अपनी पूरी योग्यता का उपयोग और अपने बाल बच्चों की देख-रेख करना चाहिये । परंतु एक मेहनती व्यक्ति भी अपने पथ से भटक सकता है और लालच में पड़ कर ईश्वर को भूल सकता है । अत: उस को ईश्वर का "जाप" करना और उस के नाम की माला जपना चाहिये ताकि उस (ईश्वर) की प्रतिमा उस के मन पर अंकित हो जाए । उस के स्वार्थ का उपचार करने और उस की मेहनत को सफल बनाने के लिये आवश्यक है कि अपनी कमाई पर वह हर व्यक्ति का अधिकार माने । एक व्यक्ति के पास खाने को जो कुछ भी हो उस में वह दूसरों का हिस्सा भी माने । इस लिये कि उस को कड़े परिश्रम, पूजा और दैनिक जीवन में दान-दक्षिणा को अपनाना चाहिये । केवल वही लोग जो इन सिद्धांतों को अपनाते हैं वह सिक्ख कहे जा सकते हैं और यदि वह इन सिद्धांतों को अपने जीवन में नहीं अपनाते, और वह भी ईमान और निष्ठा के साथ, तो वह इस परीक्षा में सफल नहीं हो सकते हैं जिस की रूप-रेखा गुरू नानक ने तैयार की:

"वह जो सत्यनिष्ठ हैं, संतुष्ट हैं, हर किसी के लिये दयालु हैं, लोभ और घृणा से दूर हो, धर्मान्धता रखता हो न इच्छाएँ, जो स्वयं पर पूरा नियंत्रण रखता हो, उचित और अनुचित में भेद कर सकता हो, स्वयं को शारीरिक और अध्यात्मिक रूप से ईश्वर की इच्छा पर छोड़ सकता हो, और जिस को उस (ईश्वर) के आदेशों पर चलने की आदत हो – ऐसा संतुलित व्यक्ति ही गुरू का शिष्य बनने योग्य है ।"

मैं नहीं जानता कि मैं ने उपर्युक्त कथनों का अनुवाद ठीक किया है परंतु आप ने इस को अवश्य समझा होगा । आप गुरू नानक के शिष्य हैं, परंतु शिष्य की श्रद्धा का कभी अंत नहीं होता । ईश्वर के एकत्व पर विश्वास, मन में और वाणी पर निरंतर उस का नाम, कड़े परिश्रम, और अपने परिश्रम से पूरे समाज को लाभ पहुँचाना ही आप का उद्देश्य होना चाहिये । गुरू नानक ने जो कार्य आरंभ किया वह समाप्त नहीं हुआ है । हमारा कर्त्तव्य है कि इस कार्य को जारी रखें जब तक हमारा जीवन साधू-संतों और अपने पूवर्जों की संगत के योग्य न बन जाए ।

नोट:-

14, अप्रैल 1969 ई. को नई दिल्ली में गुरू नानक की 5 वें शताब्दी महोत्सव का उद्‌घाटन करते हुए

कहानियों की प्रस्तावना

यह कहानियाँ, बहुत दिन हुए, रुक़ैय्या रेहाना के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं। मुझे उन्हीं ने सुनाई थीं और यह कह कर सुनाई थीं कि कहीं पढ़ी हैं या किसी से सुनी हैं, मगर याद नहीं कि कब और कहाँ। मैंने उनसे पाई थी इसलिए उन्हीं के नाम से प्रकाशित की। फिर रुक़ैय्या रेहाना हमेशा के लिए बिछड़ गईं और मैं यह भी न पूछ पाया कि मैं ने जिस प्रकार उनकी कहानियों को लिखा है वह उन्हें पसंद भी है या नहीं। लेकिन लिखी चूँकि मेरे हाथ से गई थीं और लोग इसे जानते हैं इसलिए अब उन्हें अपने ही नाम से प्रकाशित करता हूँ। किस-किस को बताऊँ कि रुक़ैय्या रेहाना कौन थीं और कहाँ चली गईं। आसान यही है कि कहानियों की सारी ज़िम्मेदारी अपने सिर ले लूँ। कहानी अपने कहने वाली की अच्छाई-बुराई को नि:संकोच अपने अंदर ले लेती है। यह कहानियाँ आप को पंसद आएँ तो सच यह है इन की सारी ख़ूबी (गुण) रुक़ैय्या रेहाना की देन है। अगर तबीयत को न भाएँ तो एक बार पढ़ ज़रूर लें। थोड़ी - सी हैं, ज़्यादा समय नष्ट नहीं होगा।

इन कहानियों की चर्चा हुई तो मेरे मित्र श्री सतीश गुजराल ने कहा कि तस्वीरें मैं बना दूगाँ। मैं समझा कि साहस बढ़ाने को कह रहे हैं। मगर उन्होंने तस्वीरें बना दीं। सच यह है कि गुजराल साहिब को जो दर्जा चित्रकारों में प्राप्त है वह मुझे लेखक के रूप में भला कहाँ मिल सकेगा। इसलिए ऐसा लगता है कि यह किताब मेरी नहीं उनकी है। इस छोटी - सी पुस्तक के भाग्य अच्छे थे। पढ़ने वाले भी पसंद कर लें तो क्या कहना।

ज़ाकिर

नई दिल्ली

15, फ़रवरी 1963 ई.

सईदा की अम्माँ

सईदा की माँ बहुत दिनों से रोगी थीं। बुख़ार ख़ाँसी, कभी हाथ-पैरों में दर्द, कभी पीठ में, कभी पेट में। एक लम्बे समय तक हकीमों का इलाज होता रहा। किसी न किसी चीज़ का लाभ अवश्य होता था। किन्तु रोग का क्रम था कि चलता चला जाता था। एक चीज़ जाती, दूसरी रह जाती। दुर्बलता बहुत बढ़ गई, चेहरा ऐसा पीला पड़ गया था जैसे पीली कटई का फूल। हकीमों ने खाना बस यूं समझो कि बंद ही कर दिया था। गर्मी अच्छी ख़ासी थी, किन्तु जिन हकीम जी का इलाज था, वे हवा से बहुत डरते थे। इसलिए एक छोटे से कमरे में रोगी को रखवाया था, और सब खिड़कियाँ और किवाड़ बंद रखने को कह दिया था।

जब दुर्बलता निरन्तर बढ़ती गई, तो सम्बन्धियों और पड़ोसियों ने आग्रह किया कि भाई डॉक्टर अंसारी साहब का इलाज कराओ। उनकी फ़ीस ज़्यादा है। नुसखे में दवाइयाँ भी बहुत मँहगी लिखते हैं। मगर जान है तो जहान है। सईदा की अम्माँ बेचारी बड़ी निर्धन स्त्री थीं। इसलिए डॉक्टर साहब का इलाज शुरू से न किया था। मगर जान बहुत प्यारी होती है। कहा, "अच्छा कुछ गहने बेचूँगी और डॉक्टर साहब ही का इलाज कराऊँगी।"

डॉक्टर साहब कई दिन की प्रतीक्षा के बाद आए। कोई आधा घंटे तक हाल सुना और देखा-भाला, फिर नुस्ख़ा लिखा। सईदा की मौसी ने पूछा, "और डॉक्टर साहब खाने को ?" डॉक्टर साहब ने उत्तर दिया, "जो इनका जी चाहे खिलाओ। फुलका, शोरबा, दूध, अनार का रस, अंगूर का रस।"

सईदा अन्दर से पान लेकर आई तो चौखट में ठोकर लगी और पान की थाली गिर गई। सईदा ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। डॉक्टर साहब ने सईदा को उठाया, और चलने के लिए तैयार हो गये।

सईदा की मौसी ने अन्दर से कहा, "डॉक्टर साहब ज़रा बैठ जाइये, मैं पान भेजती हूँ।" डॉक्टर साहब बोले, "मैं पान तो खाता ही नहीं हूँ। आप पान भेजने की तकलीफ़ न करें। मगर यह जो आप कोठरी में रोगी के साथ बंद हैं, और पता नहीं आप के साथ कितने तीमारदार (रोगी की देख-भाल करने वाले) इसी डब्बे में क़ैद हैं ? यह ठीक नहीं। इन्हें बड़े कमरे में रखिये, खिड़कियाँ सब खुली रहें, और सुबह आठ बजे से नौ बजे तक इन्हें बाहर धूप में तकिये की टेक देकर रोज़ बिठाया कीजिए। भूलिए गा नहीं।

यह दवा से अधिक आवश्यक है।"

डॉक्टर साहब यह कह कर चले गए। घर में पास-पड़ोस की न जाने कितनी बुढ़ियाँ हर समय बैठी रहती थीं। इनमें एक से एक 'बुक़रात' कोई कहती - "यह मुए डॉक्टर, क्या जानें। हवा में बिठाने को कह गए। खाँसी का यह हाल है, और दरवाज़ा खुले रखो। बुख़ार रोज़ आता है, धूप में बैठो।"

सईदा की माँ को यह विवाद अच्छा नहीं लगता था। दो एक बार उसके माथे पर गुस्से के चिन्ह भी उभरे, पर फिर कराह कर उसने करवट बदल ली। लेकिन यह बुढ़ियाँ डॉक्टर साहब और उनके ज्ञान के सम्बन्ध में बातें किये गईं और निरन्तर बिस्तर के पास पच-पच पीकें थूकती रहीं।

आख़िर सईदा की माँ से न रहा गया। उसने फिर करवट ली और बोली: "अब मैं चाहे मरूँ, चाहे जीऊँ। डॉक्टर साहब ने जो बताया है वही करूँगी। बहिन, अब तुम बड़े कमरे में मेरा बिस्तर ले चलो, और सुबह से धूप में एक चारपाई बिछा दिया करो।"

बहन ने तत्काल बड़े कमरे का अंगड़-खंगड़ हटाना प्रारम्भ किया और शाम तक उनका बिस्तर उस कमरे में पहुँच गया। खिड़कियाँ और दरवाज़े खुले रहे। सईदा की माँ को ख़ूब नींद आई। सुबह उठी तो तबियत हल्की-हल्की सी थी।

अब आठ बजे की प्रतीक्षा शुरू हुई, किन्तु ईश्वर की माया कि साढ़े-सात बजे ही सारे आकाश में बादल छा गये और पूरे दिन धूप न निकली। दूसरे दिन भी यह स्थिति रही। सईदा की माँ ने ठंडी साँस भरकर कहा, "ख़ुदा! मेरे कारण ही अब तेरा सूरज न निकलेगा। डॉक्टर साहब ने धूप में लेटने को कहा है, धूप ही न निकले गी तो मैं कैसे अच्छी होऊँगी।"

सईदा भी कहीं पट्टी के पास अपनी गुड़िया लिये खड़ी यह सुन रही थी। मगर बस सुन भर लिया और कुछ नहीं, अपने खेल में लग गई। उसी दिन तीसरे पहर को धूप निकली तो सईदा आँगन से दौड़ी हुई आई, और बरामदे ही से चिल्लाई कि "अम्माँ, अम्माँ देतो दूब नितली।" सबको बड़ा आश्चर्य हुआ कि देखो छेटी-सी बच्ची और इतना ध्यान। मगर शाम के समय डॉक्टर साहब ने सईदा की माँ को बाहर बैठने को कहा न था! इस लिए लोगों ने चारपाई न निकाली। सईदा ने बार-बार धूप निकलने की घोषणा की, उसके अनुरोध से स्पष्ट था कि वह चाहती थी कि लोग उसकी माँ की चारपाई धूप में डाल दें। किन्तु अपनी बात वह कह नहीं पाती थी।

लोग अपने-अपने काम में लग गए और सईदा फिर आँगन में जाकर खेलने लगी। मगर कुछ उदास-उदास सी रही। थोड़ी देर बाद अपनी गुड़िया धरती पर डाल दी और वहीं मिट्टी पर ही लेट गई। सूर्य डूबने का समय हो गया था। सामने वाले आम के वृक्ष की चोटी पर सूर्य की किरणें खेल रही थीं। सईदा की दृष्टि उसी चोटी पर जमी थी।

एक भाषा है जिसे बड़े न सुनते हैं न समझते हैं, किन्तु बच्चे इस से भली भाँति परिचित

हैं और आपस में ये पेड़ों, फूलों, पशुओं, सूरज, चाँद और तारों, बल्कि कोई तो कहता है कि भगवान तक से बातें कर लेते हैं । इसी भाषा में सईदा ने सूरज की उस किरण से जो सब से अन्त तक आम के वृक्ष की चोटी पर खेलती रही थी, बातें कीं, ''बहन कल सुबह ज़रूर आना । अम्माँ के लिए धूप कर देना । नहीं तो, अम्माँ कैसे अच्छी होंगी । किरण ने सईदा से प्रतिज्ञा कर ली कि ''मैं अवश्य आऊँगी. तू दुखी मत हो ।''

दूसरे दिन जब कोई चार बजे से सूर्य की किरणों ने दुनिया में उतरने के लिए बनना-संवरना प्रारम्भ किया, तो सूर्य बोला, ''चलो आज भी छुट्टी रहेगी, आज फिर यहीं आकाश में रहना होगा । दुनिया का मार्ग तो बादलों की सेना ने बन्द कर रखा है ।'' किरणों को यह बात अच्छी तो न लगी कि यहीं आकाश में बंद रहें और दुनिया की सैर को न जायें, मगर क्या करतीं चुप हो गईं । किन्तु वह किरण बोली ''और मैं अब क्या करूँ । मैं तो कल सईदा को वचन दे चुकी हूँ कि सुबह अवश्य आऊँगी, और तेरी अम्माँ के लिए धूप कर दूँगी । नहीं तो सईदा की माँ अच्छी कैसे होगी । डॉक्टर ने कहा है, डॉक्टर ने । यह अभागी बादलों की सेना समाप्त ही नहीं होती । रोज़ इधर से उधर, रोज़ उधर से इधर । मेरा बस चलता तो मैं सबका सिर फोड़ कर पृथ्वी को चली जाती ।''

भला अकेली एक किरण कैसे बादलों की सेना में से पृथ्वी पर आती । दूसरी बहनों का भी विचार था कि इस किरण की बात हेटी न हो । सईदा क्या कहेगी कि अब आकाश के निवासी भी झूठ बोलने लगे । सब की सब सूर्य से लिपट गईं कि ''आज तो हम अवश्य जाएँगे, आज तो अवश्य ।'' सूर्य ने कहा ''अच्छा ! तुम्हारी इच्छा है तो चलो । मगर बादलों की सेना में कीचड़ होती है, तुम्हारी सारी पोशाकें ख़राब हो जायेंगी । मगर किरणें फिर कहाँ सुनती थीं । सबने कहा ''हम अपनी पोशाकें बचा लेंगे । नहीं तो शीघ्र लौटकर दूसरी बदल लेंगे ।''

और वे सब पृथ्वी की ओर चल पड़ीं । ये नन्हीं किरणें बादलों की सेना को भला क्या हटा पातीं मगर इन में गर्मी बहुत होती है । एक स्थान पर सब की सब बादलों की सेना की एक टुकड़ी पर निरन्तर एक घंटे तक जो चमकीं तो सेना की टुकड़ी मारे गर्मी के घबरा उठी, और एक ओर हट गई । बस फिर क्या था, किरणों को मार्ग मिल गया और वे देखते-देखते दुनिया तक पहुँच गईं, और सीधी सईदा के माँ के आँगन में उतरीं ।

सईदा जब बादलों को देखती थी तो बड़ी दुखी होती थी । मगर किसी से कुछ बोलती भी न थी । अब जब किरणों की सवारी उतरी तो उसका चेहरा फूल के समान खिल उठा और वह फिर चिल्लाई: ''अम्माँ-अम्माँ देतो दूव नितली ।'' बच्ची की इस बात से माँ बड़ी प्रभावित हुई और उसकी आँखों में ममता से आँसू भर आए ।

सईदा की मौसी ने आँगन में हारसिंगार के निकट धूप में चारपाई डलवा दी । कोई बड़ा तकिया तो घर में था नहीं, कई छोटे-छोटे तकिये और दो बिस्तर एक जगह इकट्ठे करके सईदा की माँ की पीठ से लगा दिये और वह कोई घंटे भर तक धूप में बैठी रही ।

महीनों बाद छोटे से बंद कमरे से निकल कर धूप और ताज़ी हवा में वह निकली थी। ऐसा लगता था कि नई दुनिया में आ गई हो। चेहरा पीला था, किन्तु उतना उदास न था। आँखों में नया प्रकाश सा दिखाई देता था। सईदा भी असाधरण रूप से प्रसन्न थी। पट्टी के निकट आ-आकर खड़ी होती थी। माँ ने एक बार उसे गोद में उठा लिया और बहुत चूमे लिए। हवा के झोके से उस समय हारसिँगार के बहुत से फूल सईदा की माँ की गोद में गिरे।

तभी से सईदा की माँ के स्वास्थ्य में सुधार होने लगा, अब वह अच्छी भली-चंगी है।

अब्बू ख़ाँ की बकरी

सतीश गुजराल द्वारा

हिमालय पहाड़ का नाम तो तुमने सुना होगा। इस से बड़ा पहाड़ दुनिया में कोई नहीं है। हज़ारों मील चला गया है और ऊँचा इतना है कि अभी तक इस की ऊँची चोटियों पर कभी कभार ही कोई साहसी आदमी पहुँच पाया है, वह भी बस ढइया छूने को। इस पहाड़ के अन्दर घाटियों में बहुत सी बस्तियाँ भी हैं। ऐसी ही एक बस्ती अलमोड़ा भी है।

अलमोड़ा में एक बड़े मियाँ रहते थे। उन का नाम था अब्बू खाँ। उन्हें बकरियाँ पालने का बड़ा शौक था। अकेले आदमी थे। बस एक-दो बकरियाँ रखते। दिन भर उन्हें चराते फिरते। इनके विचित्र-विचित्र नाम रखते, किसी का कल्लू, किसी का मंगलिया, किसी का गूजरी, किसी का हुकमा। उन से न जाने क्या-क्या बातें करते रहते, और शाम के समय बकरियों को लाकर घर में बाँध देते। अलमोड़ा पहाड़ी जगह है इसलिए अब्बू खाँ की बकरियाँ भी पहाड़ी जाति की होती थीं।

अब्बू खाँ बड़े निर्धन थे, बड़े अभागे। उनकी सारी बकरियाँ कभी न कभी रस्सी

तुड़ाकर रात को भाग जाती थीं । पहाड़ी बकरी बंधे-बंधे घबरा जाती है । ये बकरियाँ भाग कर पहाड़ में चली जाती थीं । वहाँ एक भेड़िया रहता था । वह उन्हें खा जाता था । मगर आश्चर्य की बात है, कि न अब्बू खाँ का प्यार, न शाम के दाने का लालच, इन बकरियों को भागने से रोकता, न भेड़िये का भय । शायद यह बात हो कि पहाड़ी पशुओं के स्वभाव में आज़ादी के लिए बड़ा मोह होता है । यह अपनी आज़ादी किसी दाम पर भी देने को तैयार नहीं होते, तथा कठिनाइयों और संकटों के बावजूद आज़ाद रहने को सुख-सुविधा की क़ैद से अच्छा जानते हैं ।

जहाँ कोई बकरी भाग निकली और बेचारे अब्बू खाँ सर पकड़ कर बैठ गये । उनकी समझ ही में न आता था कि हरी-हरी घास मैं इन्हें खिलाता हूँ, छुप छुपाकर पड़ोसियों के धान के खेत में भी इन्हें छोड़ देता हूँ, शाम को दाना देता हूँ, किन्तु ये अभागी नहीं ठहरतीं और पहाड़ में जाकर भेड़िये को अपना रक्त पिलाना पसंद करती हैं ।

जब अब्बू खाँ की बहुत सी बकरियाँ भाग गईं तो बेचारे बहुत दुखी हुए और कहने लगे, "अब कभी बकरियाँ ने पालूंगा । जीवन के थोड़े दिन और हैं, बिना बकरियों के कट जायेंगे" मगर अकेलापन बहुत खलता है । आख़िर न रहा गया । एक दिन कहीं से एक बकरी मोल ले ही आये । यह बकरी अभी बच्ची थी, कोई वर्ष-सवा-वर्ष की होगी । पहली बार ब्याई थी । अब्बू खाँ ने सोचा कि कम आयु की बकरी लूंगा तो शायद हिल-मिल जाए, और जब पहले ही से इसे अच्छे-अच्छे चारे-दाने का चस्का पड़ जायेगा तो यह फिर पहाड़ को मुड़कर न देखेगी ।

यह बकरी थी बड़ी सुन्दर । रंग इसका बिल्कुल सफ़ेद था । बाल लम्बे-लम्बे थे । छोटे-छोटे काले-काले सींग ऐसे लगते थे कि किसी ने आबनूस की काली लकड़ी से बड़े परिश्रम और कारीगरी से बनाए हों । लाल-लाल आँखें । तुम देखते तो कहते कि अरे यह बकरी तो हम ने ले ली होती । यह बकरी देखने में ही सुन्दर न थी, स्वभाव की भी बहुत अच्छी थी । प्यार से अब्बू खाँ का हाथ चाटती थी । दूध चाहे तो कोई बच्चा दुह ले । न लात मारती थी, न दूध का बर्तन गिराती । अब्बू खाँ तो इस पर लट्टू हो गए थे । इसका नाम चाँदनी रखा था । दिनभर इससे बातें करते रहते थे । कभी अपने दादा घसीटा खाँ की कहानी उसे सुनाते थे, कभी, ईश्वर उन पर कृपा करे, अपने मामा नत्थू खाँ का क़िस्सा ।

अब्बू ख़ाँ ने यह सोचकर कि बकरियाँ मेरे घर के छोटे आँगन में घबरा जाती हैं, अपनी इस बकरी चाँदनी के लिए एक नई व्यवस्था की थी । उनके घर के बाहर एक छोटा सा खेत था । उसके चारों ओर उन्हों ने न जाने कहाँ-कहाँ से काँटे इकट्ठे कर डाले थे कि कोई उसमें आ न सके । उसके बीच में चाँदनी को बाँधते थे और रस्सी खूब लम्बी रखी थी कि इधर-उधर घूम सके । इस प्रकार चाँदनी को अब्बू खाँ के यहाँ बहुत समय बीत गया और अब्बू खाँ को विश्वास हो गया कि आख़िर एक बकरी तो हिल गई । अब यह न भागेगी ।

मगर अब्बू ख़ाँ धोखे में थे । आज़ादी की कामना इतनी आसानी से मन से नहीं मिटती । पहाड़ और वन में रहने वाले आज़ाद पशुओं की साँस घर की चारदीवारी में घुटती है, तो काँटों से घिरे हुए खेत में भी उन्हें शान्ति कैसे मिलती । क़ैद सब एक सी होती है । थोड़े दिन के लिए चाहे ध्यान बँट जाए लेकिन फिर पहाड़ और जंगल याद आते हैं और बन्दी अपनी रस्सी तुड़ाने की चिन्ता करता है । अब्बू ख़ाँ का विचार सही न थाँ कि चाँदनी पहाड़ का वातावरण भूल गई होगी ।

एक दिन प्रात:काल जब सूर्य अभी पहाड़ के पीछे ही था कि चाँदनी की नज़र पहाड़ की तरफ़ गई । मुँह जो जुगाली के कारण चल रहा था, रुक गया और चाँदनी ने मन में कहा, "वे पहाड़ की चोटियाँ कैसी सुन्दर हैं, वहाँ की ठंडी वायु की यहाँ की गर्म वायु से क्या तुलना । फिर वहाँ उछलना, कूदना, ठोकरें खाना और यहाँ हर समय बँधे रहना । गर्दन में आठ पहर यह अभागी रस्सी । ऐसे घेरों में गधे और खच्चर ही भले चुग लें, हम बकरियों को बड़ा मैदान चाहिये ।"

इस विचार का आना था कि चाँदनी अब वह पहली वाली चाँदनी न थी । न उसे हरी-हरी घास अच्छी लगती, न पानी स्वाद देता था, न अब्बू ख़ाँ की लम्बी गाथाएं उसे भाती थीं ।

दिन पर दिन वह दुबली होने लगी । दूध घटने लगा । हर समय मुँह पहाड़ की ओर रहता और रस्सी को खींचती और अजीब से दुखी स्वर से "में ... में" चिल्लाती ।

अब्बू ख़ाँ ताड़ गये कि हो न हो कोई बात अवश्य है, किन्तु यह समझ में नहीं आता था कि क्या है । एक दिन सुबह जब अब्बू ख़ाँ ने दूध दुह लिया तो चाँदनी ने उन की ओर मुड़ कर अपनी बकरियों वाली बोली में कहा, "अब्बू ख़ाँ मियाँ, मैं अब तुम्हारे पास रहूँगी तो मुझे बड़ी बीमारी हो जाएगी । मुझे तो तुम पहाड़ में चले जाने दो ।" अब्बू ख़ाँ बकरियों की बोली समझने लगे थे । चिल्ला कर बोले "हे ख़ुदा ! यह भी जाने को कहती है, यह भी जाने को कहती है, यह भी..." । और दुख के कारण, मिट्टी की मटकिया, जिस में दूध दुहा था, हाथ से गिरी और टुकड़े-टुकड़े हो गई । अब्बू ख़ाँ वहीं घास पर बैठ गए और बड़े दुखी स्वर से पूछा: "क्यों बेटी चाँदनी, तू भी मुझे छोड़ना चाहती है?" चाँदनी ने उत्तर दिया, "हाँ ! अब्बू ख़ाँ मियाँ, चाहती तो हूँ" "अरे तो क्या तुझे चारा नहीं मिलता या दाना पसंद नहीं? बनिये ने घुने दाने मिला दिए हैं क्या ? मैं आज ही और दाने ले आऊँगा ।"

"नहीं, नहीं, मियाँ, मुझे दाने का कोई कष्ट नहीं", चाँदनी ने उत्तर दिया ।

"तो क्या रस्सी छोटी है और लम्बी कर दूँगा ।"

चाँदनी बोली, "इससे क्या लाभ ?"

"तो आख़िर फिर बात क्या है ? तू चाहती क्या है ?"

चाँदनी बोली, "कुछ नहीं । मुझे तो बस पहाड़ में जाने दो ।"

अब्बू ख़ाँ ने कहा, "अरी अभागी, तुझे यह भी मालूम है कि वहाँ भेड़िया रहता है। वह जब आएगा तो क्या करेगी ?"

चाँदनी ने उत्तर दिया, "भगवान ने दो सींग जो दिये हैं, उनसे उसे मारूं गी।"

"हाँ, हाँ, ज़रूर", अब्बू खाँ बोले, "भेड़िये पर तेरे सींगों का प्रभाव ज़रूर होगा। वह तो मेरी कई बकरियों को हड़प कर चुका है। उनके सींग तो तुझसे बहुत बड़े थे। तू कल्लू को नहीं जानती थी। वह पिछले वर्ष यहीं थी, बकरी काहे को थी हिरण थी, हिरण। रात भर सींगों से भेड़िये के साथ लड़ी। मगर सुबह होते-होते उसने दबोच लिया और खा गया।" चाँदनी ने कहा, "अरे-रे-रे, बेचारी कल्लू। लेकिन अब्बू खाँ मियाँ इससे क्या होता है। मुझे तो तुम पहाड़ में ही जाने दो।" अब्बू खाँ कुछ झुंझलाए और बोले "या ख़ुदा, यह भी जाती है। मेरी एक चहेती बकरी और उस निर्दयी भेड़िये के पेट में जाती है... मगर नहीं, नहीं, मैं इसे ज़रूर बचाऊँगा। अब तेरा इरादा जान गया हूँ, चल अभागी, मेरे सारे एहसान भूलने वाली, तेरी इच्छा के बावजूद तुझे बचाऊँ गा। अच्छा, बस चल तुझे कोठरी में बाँधा करूँ गा। नहीं तो तू अवसर पाकर चल देगी।"

अब्बू खाँ ने चाँदनी को एक कोठरी में बंद कर दिया और ऊपर से ज़ंजीर चढ़ा दी। मगर गुस्से और झुंझलाहट में कोठरी की खिड़की बंद करना भूल गये। इधर उन्हों ने साँकल चढ़ाई, उधर चाँदनी उचक कर खिड़की में से बाहर, ये-जा-वो-जा।

चाँदनी जब पहाड़ पर पहुँची तो उस की ख़ुशी का ठिकाना न था। पहाड़ उसने पहले भी देखे थे, किन्तु आज उन का रंग और ही था। उसे ऐसा लगा कि सबके सब खड़े हुए उसे बधाई दे रहे हैं, कि फिर हम में आ मिली। इधर-उधर सेवती के फूल मारे प्रसन्नता के खिलखिला-खिलखिला कर हँस रहे थे। कहीं ऊँची-ऊँची घास उस से गले मिल रही थी। ऐसा लगता था कि सारा पहाड़ मारे ख़ुशी के मुस्करा रहा है, और अपनी बिछुड़ी हुई बच्ची के लौट आने पर फूला नहीं समाता।

चाँदनी की प्रसन्नता का कोई क्या वर्णन करे। न, चारों ओर काँटों की बाड़, न खूँटा, न रस्सी, न चारा। ऐसी जड़ी बूटियाँ कि अब्बू खाँ बेचारे बावजूद अपने सारे प्यार और दुलार के न जुटा सके थे।

चाँदनी कभी इधर उछलती, कभी उधर, यहाँ से कूदी, वहाँ फाँदी, कभी चट्टान पर है, कभी खड्ड में, इधर ज़रा फिसली, फिर संभली। एक चाँदनी के आने से सारे पहाड़ में रौनक़ सी दिखाई देती थी। ऐसा लगता था जैसे अब्बू खाँ की दस-बारह बकरियाँ छूट कर यहाँ आ गई हों।

एक बार घास पर मुँह मार कर जो सिर उठाया तो चाँदनी की दृष्टि अब्बू खाँ के घर और उस कांटों वाले घेर पर पड़ी। उन्हें देखकर चाँदनी खूब हँसी और मन ही मन कहने लगी, "हे ईश्वर, कोई देखे तो कितना छोटा सा घर है और कितना छोटा-सा घेरा। हे भगवान, मैं इतने दिनों इसमें कैसे रही ?" पहाड़ की चोटी पर से इस नन्ही सी जान को नीचे की सारी दुनिया बड़ी हीन दिखाई देती थी।

चाँदनी के लिए यह दिन आश्चर्यपूर्ण था। दोपहर तक इतनी उछली-कूदी कि शायद जीवन भर इतनी उछली-कूदी न होगी। दोपहर ढलते उसे पहाड़ी बकरियों ने खुशी-खुशी अपने पास बुलाया और उससे कुशल-क्षेम पूछी।

उस झुंड में कुछ जवान बकरे भी थे। उन्हों ने भी चाँदनी का बड़ा स्वागत और आव-भगत की। झुंड में एक बकरा था, थोड़ा काले-काले रंग का जिस पर कुछ सफ़ेद•टप्पे थे। वह चाँदनी को भी बड़ा अच्छा लगा और वे दोनों बहुत देर तक इधर-उधर फिरते रहे। उन में न जाने क्या-क्या बातें हुईं, और तो कोई था नहीं, एक पहाड़ी झरना बह रहा था, उस ने सुनी हों गी, कभी कोई वहाँ जाए और उस झरने से पूछे तो शायद कुछ पता लगे, और फिर क्या पता यह झरना भी शायद न बताए। एक की बात दूसरे से कहना अच्छा नहीं होता।

ख़ैर बकरियों का झुंड तो न जाने किधर चला गया। वह जवान बकरा भी इधर-उधर घूम कर अपने साथियों में जा मिला। पर चाँदनी को आज़ादी की इतनी प्रबल इच्छा थी कि उसने झुंड के साथ होकर अभी से अपने ऊपर प्रतिबंध लगाना पंसद नहीं किया और एक तरफ़ चल दी।

शाम का समय हुआ। ठंडी हवा चलने लगी। सारा पहाड़ लाल सा हो गया और चाँदनी ने सोचा, "ओ हो, अभी से शाम?" नीचे अब्बू खाँ का घर और काँटों वाला घेरा दोनों कुहरे में छुप गए थे। कोई चरवाहा अपनी बकरियों को बाड़े में बन्द करने ले जा रहा था। उनकी गर्दन की घंटियाँ बज रही थीं। चाँदनी उन आवाज़ों को पहचानती थी। उसे सुन कर उदास हो गई। होते-होते अंधेरा होने लगा और पहाड़ के एक तरफ़ से आवाज़ आई "खूं", "खूं"।

यह आवाज़ सुनकर चाँदनी को भेड़िये का ख़्याल आया। दिन भर एक बार भी उस का ध्यान इधर न गया था। पहाड़ के नीचे से सीटी ओर बिगुल की आवाज़ आई। यह बेचारे अब्बू खाँ थे। वे अन्तिम प्रयास कर रहे थे कि उनकी आवाज़ सुनकर चाँदनी शायद लौट आए! उधर से वह कह रहे थे "लौट आ, अरे लौट आ", इधर से जान के दुश्मन भेड़िये की आवाज़ आ रही थी।

चाँदनी के जी में कुछ तो आई कि लौट चले। किन्तु उसे खूँटा याद आया, रस्सी याद आई, काँटों का घेर याद आया और उसने सोचा कि उस जीवन से तो यहाँ की मौत अच्छी। आख़िर सीटी और बिगुल की आवाज़ें बंद हो गईं। पीछे से पत्तों की खड़खड़ाहट सुनाई दी। चाँदनी ने मुड़कर देखा तो दो कान दिखाई दिये। सीधे खड़े हुए और दो आँखे जो अंधेरे में चमक रही थीं। भेड़िया पहुँच गया था।

भेड़िया ज़मीन पर बैठा था। नज़र बेचारी बकरी पर जमी थी। वह निश्चिन्त था, जल्दी न थी। सब जानता था कि अब कहाँ जाती है। बकरी ने जो उसकी तरफ़ देखा तो वह मुस्कराया और बोला, "ओहो, अब्बू ख़ाँ की बकरी है। ख़ूब खिला-खिला कर मोटा किया है।" यह कह कर उसने अपनी लाल-लाल ज़बान अपने नीले-नीले होठों पर फेरी।

चाँदनी को कल्लू का किस्सा याद आया, जो अब्बू खाँ ने सुनाया था, और एक पल उस ने सोचा कि मैं क्यों बेकार रात भर लड़कर सुबह जान दूँ। अभी क्यों न अपने को समर्पित कर दूँ। लेकिन फिर विचार किया, कि नहीं। अपना सिर झुकाया, सींग आगे किये और पेंतरा बदलकर लड़ने को तैयार हो गई। भेड़िये की शक्ति का अंदाज़ा उसे न था। वह भली भाँति जानती थी कि बकरियाँ भेड़िये को नहीं मार सकतीं। वह तो मात्र यह चाहती थी कि अपनी बिसात के अनुसार उस का सामना करे। जीत-हार पर अपना अधिकार नहीं। वह ईश्वर के हाथ है। फिर भी सामना करना ज़रूरी है। जी में यह सोचती कि देखूं मैं कल्लू की तरह रात भर युद्ध कर सकती हूँ या नहीं। कुछ देर के बाद भेड़िया बढ़ा। चाँदनी ने भी सींग संभाले और वह-वह आक्रमण किये कि भेड़िये का जी जानता होगा। अनेक बार उसने भेड़िये को पीछे ठेल दिया। सारी रात इसी में बीत गई। कभी-कभी चाँदनी तारों से भरे ऊपर आकाश की तरफ़ देख लेती और आँखों-आँखों में कह देती कि हे भगवान इसी प्रकार सुबह हो जाए।

सितारे एक-एक कर के छुप गए। चाँदनी ने अन्तिम समय में अपने बल का प्रयोग दुगुना कर दिया। भेड़िया भी तंग आ गया था कि दूर से प्रकाश-सा दिखाई दिया। एक मुर्ग़ ने कहीं से बाँग दी। नीचे बस्ती की मस्जिद में से अज़ान की आवाज़ आई। चाँदनी ने मन में कहा, ''ईश्वर तुझे लाख बार धन्यवाद है। मैंने अपने बस भर सामना किया, अब तेरी इच्छा।'' अज़ान देने वाला आख़री बार 'अल्लाहो अकबर' (ईश्वर महत्तम) कह रहा था कि तभी चाँदनी निर्जीव पृथ्वी पर गिर पड़ी। उसकी सफ़ेद बालों की पोशाक खून से बिल्कुल लाल थी। भेड़िये ने उसे दबोच लिया और खा गया।

ऊपर पेड़ पर चिड़ियाँ बैठी देख रही थीं। उन में बहस हो रही थी कि जीत किस की हुई। सब कहती हैं कि भेड़िया जीता।

एक बूढ़ी सी चिड़िया है जो ज़रूर कहती है कि चाँदनी जीती।

बाज़ की आत्मकथा

पहाड़ के बीच में एक हरी-भरी लहलहाती घाटी है । जिधर देखो घास का फ़र्श, नंगे पैर भी चलो तो ऐसा लगे कि पैरों में किसी कुशल कारीगर का बनाया हुआ बहुत नर्म चमड़े का जूता है-बिलकुल ठीक, न ढीला न तंग । घाटी में छोटी सी नदी बहती है । यह पहाड़ी झरना है । इस कारण पानी स्वच्छ है, जैसे दर्पण और ठंडा ओला । झरने से कुछ हटकर ज़रा ऊँचें पर बस्ती है । बीच में चौड़ी चकली सड़क । इधर-उधर सफ़ेद-सफ़ेद घर, छतें ढलवाँ लाल-लाल, बाज़ार बड़े ही व्यवस्थित, दुकानें खूब सजी हुई, चौखटों और दरवाजों पर हरा-हरा रंग जैसे अभी कल ही किसो ने किया हो । गाँव में धान के ऐसे लहलहाते खेत कि देख कर आँखें ठंडी हों । यों कहने को तो सब हरे थे, पर हर एक का रंग भिन्न है, कोई हल्का अँगूरी, कोई उस से ज़रा तेज़ मूंगिया, कोई गहरा काही, किसी में पीलाहट झलकती, किसी में नीलाहट । ऐसा लगता कि किसी पहाड़ी परी का विवाह हो, और बड़ी बरात आने वाली हो । निकट की सम्बन्धी परियों के यहाँ से हरे कालीन मँगा कर स्वागत के लिए बिछाये गये हों । सब हरे पर प्रत्येक का हरापन अपना-अपना । कैसी बड़ी बरात होगी कि जहाँ तक दृष्टि जाती है, यह हरा फ़र्श बिछा दिखाई देता है ।

खेतों से परे भी हर जगह हरियाली ही हरियाली है । मालूम होता है कि घास के दिन भी यहाँ फिरे हैं और यहाँ की जलवायु इसे खूब भाई है । मगर ज़रा देखो तो उसकी चंचलता, पेट क्या भरा कि लगी दूर की सूझने । बिना समझे बूझे लगी पहाड़ पर भी चढ़ने । पहले तो उसकी चंचलता देखकर यह पुरानी-पुरानी चटियल चट्टानें 'जिन्हों ने बहुतेरे नर्म-गर्म सहे हैं, मुस्कराईं । एक चट्टान दूसरी से बोली, "अरी बहिन, तुम ने देखा ? यह नीचे हरा-हरा-सा क्या है जो हर घड़ी मेरे पैरों पर सुर-सुर रेंगता है ।" दूसरी बोली, "है कौन वही बदतमीज़, तुम ने बेकार उसे मुँह लगाया है । कल मेरे तलवों में भी गुदगुदी कर रही थी, बड़ी आई कहीं की ।" चट्टानों में नित्य ऐसी ही बातें होतीं, मगर बी घास अपना काम किये गई ।

पहाड़ पर चढ़ने में साँस फूल-फूल जाती थी मगर उसने जो ठान ली थी वह कर ही डाला । चट्टानों की बोली वह ख़ूब समझती थी । उन्हें बुरा-भला कहते सुनती तो जी ही जी में कह लेती: "किये जाओ बक-बक, और हँसे जाओ मुझ पर । मगर हँसना उसी का जो अंत में हँसे । मैंने जो जी में ठानी है वह मैं ख़ूब जानती हूँ, और देखना, ईश्वर ने चाहा तो एक दिन कुछ-न-कुछ हो ही जाये गा । यूँ ही छोटे-छोटे पैरों से बड़ी-बड़ी मंजिलों

तक पहुँचा जाता है ।''

होते-होते उसने कोई आधी-आधी चट्टानों को बिलकुल ढक लिया । चट्टानों ने सोचा कि यह तो हँसी-हँसी में मुँह को आती है । झुँझला कर सिर जो हिलाया तो पत्थरों के बड़े-बड़े टुकड़े उस पर जा गिरे और आगे जाने का मार्ग बन्द कर दिया । पत्थरों के गिरने की जो आवाज़ हुई तो बी काई जो कहीं पड़ी सो रही थीं, जागीं, और अंगड़ाई लेकर जो देखा तो चारों ओर घास ही घास का राज है । इस पर उन्हें भी क्रोध आया और आगे बढ़ कर बोलीं, ''बस मज़ाक हो चुका, अब आगे पैर बढ़ाया तो अच्छा न होगा । यह मेरा क्षेत्र है । तेरे लिए तो सारा मैदान छोड़ दिया है । वहाँ क्यों नहीं जाती, पराई चीज़ को ही तकती है, नदीदी कहीं की, ख़बरदार जो इधर देखा भी।'' थोड़े दिनों में काई ने उन सब लुढ़के हुए पत्थरों को काही पोशाक पहना कर अपनी सेना में भरती कर लिया ।

मगर ये चट्टानें हैं कि ईश्वर की शान, इन्हें किसी और की पोशाक नहीं भाती । इनकी अपनी आन-बान क्या कम है जो रंगीन कपड़ों से उसे बढ़ाने का प्रयत्न करें । यह तो जिसे अपने ऊपर भरोसा न हो वह बजाज और दर्ज़ी के यहां से प्रतिष्ठा मोल लाये । बस इन्हें तो अपने चेहरे के सामने बादलों का भीगा-भीगा परदा अच्छा लगता है । या दिन में धूप की हल्की सी चादर ओढ़ ली और शाम को संध्या का लाल और सुनहरा दोशाला सिर पर डाल लिया ।

हाँ, तो चट्टानों के ऊपर वाले भाग में एक बाज़ रहता था । मनुष्यों की बस्ती से दूर और उनके झगड़े-टन्टों से अलग । सुबह को स्वच्छ भीनी-भीनी सुगन्धित हवा जब उसके घोंसले पर आकर नमस्कार करती तो वह अपने परों को ज़रा हिलाता, जैसे कोई वायुयान चालक यात्रा से पहले देखे कि सब कल पुर्जे ठीक हैं कि नहीं । जब तनिक धूप निकल आती और नीचे की दुनिया अपनी रोज़ी के धन्धों में व्यस्त हो जाती, तो वह भी पर फैला कर चट्टान से उड़ता और धीरे-धीरे सारी घाटी पर चक्कर लगाकर बस्ती का, बस्ती वालों का, खेतों का और तेज़ बहने वाली नदी का निरीक्षण करता । कहीं कोई काम की वस्तु पर दृष्टि पड़ गई, कोई ख़रगोश या चूहा, कोई कबूतर या मुर्ग़ी का छोटा सा बच्चा नज़र आ गया तो बिजुली के समान झपटता और पलक झपकते उसे उठा कर अपने घोंसले में पहुंचा देता । वहां खा-पीकर फिर चट्टान से संसार का अध्ययन करता ।

यूँ ही न जाने कितना समय बीत चुका था । जब हवा में नन्हें-नन्हें सफ़ेद रुई के गाले से नाचते देखता, या बर्फ़ से ढंकी हुई सफ़ेद-सफ़ेद छतों पर उसके पंखों की काली छाया दिखाई देती तो समझ लेता कि अब शरद ऋतु आ गई । फिर जब पेड़ों की काली-काली नंगी डालियों पर हल्की-हल्की हरी पोशाक देखता और चिड़ियों का चहचहाना और मस्त हो हो कर गाना सुनता तो जान लेता कि वसंत आ गया । मैदानों में हिरणों के झुंड चौकड़ी भरते दिखाई देते और चट्टानों के निकट से जब पक्षियों की क़तारें गर्म देशों की यात्रा के निश्चय से उड़ते देखता तो ताड़ जाता कि पतझड़ की सवारी आने को है । कोई

आये कोई जाये, उसका जीवन जैसा आज, वैसा कल। वही चट्टान, वही एकांत, वही अपनी शक्ति का भरोसा, न किसी को सहारा देने का अवसर, न किसी से सहायता लेने की आवश्यकता। बस अपनी दुनिया आप।

एक दिन जब बाज़ अपने प्रातःकाल के दौरे पर निकला तो बस्ती के निकट उसे एक छोटा सा सफ़ेद पशु खेलता दिखाई दिया। वह झपटा और पलक झपकते ही उस नन्हें से सफ़ेद शिकार को अपने पंजों में उठा लाया। उसे इधर से देखा, उधर से देखा, न खरगोश, न चूहा, न गिलहरी, न न्योला। ओहो, यह तो नन्हा-सा बिल्ली का बच्चा है और "म्याऊँ-म्याऊँ म्याऊँ" कर रहा है। बाज़ ने धीरे से उसे अपने बड़े घोंसले के एक कोने में बैठा दिया जैसे पहले बहुतेरे नन्हे पशुओं को बैठा चुका था, किन्तु न जाने क्यों उसे मार कर खाने की इच्छा न हुई। न जाने, क्या बात थी कि यह विचार ही उसके मन में न आया।

मिन्नो अभी बहुत ही नन्हीं-सी थी, शायद इसी कारण किसी का डर, भय भी दिल में न था। वह क्या जानती थी कि यह बाज़ यदि चाहे तो उसे चट कर जाये। वह कुछ देर तो कोने में बैठी रही, फिर उठ कर सारे घोंसले में घूमी, इधर-उधर जो मांस के टुकड़े पड़े थे वे खाये। बस, जैसे अपना ही घर हो। लाल लाल जीभ से अपना मुँह पोंछा, अपना सफ़ेद बदन चाटा, और बन-ठन कर घोंसले के दरवाज़े पर आई, और चारों तरफ़ एक नज़र डाली।

बाज़ मिन्नो को घोंसले में अकेला छोड़ कर पास वाली चट्टान पर जा बैठा था। पहले तो वहां से यह सब स्वयं देखा किया और दिल में न जाने क्या-क्या विचार आते रहे। जब मिन्नो चट्टान के सिरे पर आई तो उसने सोचा कि शायद मुझे ढूँढती हो। झट उड़ कर उसके पास पहुँचा। "क्यों किधर चलीं। अजी सुन लो, मैं जाने न दूँगा।" मिन्नो ज़रा पीछे हटी, पीठ में एक बड़ा कूबड़ सा बनाया, घोंसले की एक दीवार से शरीर रगड़ा और गुड़ी-मुड़ी होकर बैठ गई। बाज़ भी एक ओर बैठ और ज़रा प्यार से अपना सिर जो मिन्नो की ओर बढ़ाया तो मिन्नो ने बिना किसी शिष्टचार के अपने मख़मल जैसे हाथों में उसका सिर ले लिया और लगी उस से खेलने। थोड़ी देर बाद उसे अपने पंजों से खुजलाने लगी। बाज़ को भी यह अच्छा लगा तो श्रीमान जी ने आँखें बंद कर लीं। मिन्नो कुछ देर तो सिर से खेली, फिर उठ कर बाज़ की पीठ पर जा बैठी और लगी, "खुर्र-खुर्र" करने।

बाज़ के लिए यह सब कुछ नया था। उसके निकट भी भला कौन फटकता जो उसे प्यार करता, और उससे खेलता। बस बैठ रहा साँस रोके अपने में। मगर फिर बोला- "मिन्नो ! सच बता, तू यहाँ रहे गी ? तेरा जी लग गया ?" मिन्नो बोली, "क्यों नहीं, रहूँगी क्यों नहीं" मुझे तुम्हारी चोंच और तुम्हारे पर और हाँ, तुम्हारी आँखें बहुत अच्छी

लगती हैं ।''

बाज़ और यह बातें । बस, श्रीमान जी फूले न समाते थे । रात हुई तो मिन्नो उस के परों में घुसकर मज़े से गरमाहट में सो गई । बाज़ का यह हाल कि न सोते में, न जागते में । बस एक स्वप्न की सी अवस्था थी । इतने दिन तो अकेले काटे, न कोई साथी, न मित्र । अब इस मिन्नो को उठा कर यहाँ ला बसाया । देखो ! अब कैसी बीते, बड़ी देर इसी उधेड़-बुन में चुप-चाप बैठा रहा । जी चाहा कि थोड़ा परों को इधर-उधर करे, मगर इस विचार से कि मिन्नो जाग न जाये, देर तक वैसे ही बैठा रहा । अन्त में उसने भी अपना सिर परों में छुपा लिया और सो गया ।

जीवन के दिन यूँ भी अच्छे ही कटते थे, मगर अब उनमें एक नया रंग पैदा हो गया था कुछ गुलाबी-गुलाबी सा । सुबह सवेरे बाज़ चला जाता, थोड़ी देर में शिकार मार लाता, घोंसले में आकर स्वयं खाता और मिन्नो को खिलाता । मन ही मन बहुधा यह सोचा करता कि ''मैं चला जाता हूँ तो यह मेरी प्रतीक्षा करती है कि नहीं'' मुझे याद भी करती है ! न जाने मैं उसे अच्छा भी लगता हूँ !''

शिकार में से अच्छा-अच्छा माल सदा मिन्नो को देता और घटिया स्वंय खाता । इस प्रकार एक लम्बा समय बीत गया ।

मगर अब सुनिये । बी मिन्नो का जी घबराने लगा । हर समय ''म्याऊँ म्याऊँ'' की रट, न बाज़ का सिर खुजाना, न उस से खेलना । वह कुछ छेड़-छाड़ करे तो मख़मल जैसे गद्दों में से लोहे जैसे काँटे बाहर निकल आए और 'खुर्र-खुर्र' के बदले नाक चढ़ा कर विचित्र खिसयानी सी आवाज़ । पहले दो एक दिन तो मिन्नो की इन बातों में भी बाज़ को बड़ा आनन्द आया, फिर कुछ घबराया । मगर समझ न पाया कि बात क्या है । अब बाज़ बहुत उदास रहने लगा । एक दिन बाज़ ने गंभीरतापूर्वक मिन्नो से पूछा, ''क्या तेरा जी अब यहां नहीं लगता ! मिन्नो देख तो सही हमारा जीवन कैसे आनन्द में कटता है । यहाँ ऊपर रहते हैं । मनुष्यों और उनके सारे झंझटों से दूर । स्वच्छ वायु और सूर्य की गर्मी भरा प्रकाश । मेरी आँखें देख, इनमें सूर्य की गर्मी छुपी हुई है । मेरे पर देख, जी करता है कि सारे संसार को एक बार इन पर ले उड़ूँ । आ, इन पर बैठ जा, तुझे सारे संसार की सैर करा लाऊँ । समुदंर दिखलाऊँ जिसकी थाह न छोर, पहाड़ों के सिरों पर बर्फ़ के ताज दिखलाऊँ, और कहे, तो रेगिस्तान की तपती हुई रेत का भी दृश्य दिखा लाऊँ । नहीं, तेरा जी चाहे तो इन पंखों पर बिठाकर तुझे सूर्य तक ले उड़ूँ ।' मिन्नो चुप-चाप सुनती रही । एक शब्द न बोली । बाज़ कुछ रुक कर, फिर बोला, ''प्यारी मिन्नो देख तो हमारा घर कैसा अच्छा है ! जब नीचे घाटी में अन्धेरा घुप होता है तो हम यहां से सूर्योदय का दृश्य देखते हैं । तूफ़ान जिस से दुनिया वाले डरते-काँपते हैं, हमारे द्वार पर कैसे-कैसे सुहाने गीत गाता है । क्या तुझे इसका गाना अच्छा नहीं लगता ? घाटी वाले आज़ादी का आनन्द क्या जानें । वहाँ तो गुलाम नन्हें-नन्हें से जी, हर क्षण चिन्ता, किसी में साहस भी है जो

यहाँ आए।''

मगर मिन्नो थी बड़ी दुखी और खिसियाई हुई। बाज़ ने पूछा ''आख़िर बोलती क्यों नहीं ?'' तो बोली, ''बोलूँ क्या, मुझे इस सारे क़िस्से से क्या लेना-देना। यह राम कहानी तो किसी और को सुनाओ, मैं तो यह जानती हूँ कि बस अगर यहाँ रहूँगी तो जान से हाथ धोऊँगी। तुम्हारी इस ऊँचाई पर न जीने का मज़ा न मरने का। मेरा जी नहीं लगता यहाँ। मुझे यहाँ डर लगता है, चक्कर आता है, दिल धड़कता है। न कोई है, जिसके साथ खेलूँ, न दूध की हंडिया, न गरम-गरम चूल्हा। तुम मुझे दे ही क्या सकते हो ? मुझे न तुम्हारा रेगिस्तान चाहिए, न बर्फ़िस्तान। तुम्हारे अथाह समुद्र के दृश्य से कहीं अधिक तो मुझे दूध की बालाई की चिकनाहट अच्छी लगती है। तुम्हारे सहारे उड़ूँ तो चक्कर खा कर गिरूँ, खुद अपने पर तो हैं नहीं। मुझे तो नीचे घाटी में पहुँचा दो, बस घाटी में पहुँचा दो।''

बाज़ को ऐसा लगा जैसे किसी ने ताक कर ठीक उसके दिल पर तीर मारा हो। घोंसले की लकड़ियों को चोंच से इतना बलपूर्वक दबाया कि सब चर-चर टूट गईं। मिन्नो की तरफ़ देखा तो ऐसा लगा कि आँखों से चिंगारियाँ निकल रही हैं, या रक्त टपक रहा है। पैरों में हरकत सी हुई, साँस में भी कुछ विचित्र आवाज़ सी। न जाने दिल में क्या-क्या विचार आए। मुँह फेर कर उड़ा और दूसरी चट्टान पर जा कर एक बहुत अंधेरी-सी झिरी में मुँह ठुरा कर बैठ गया। न दिन की खबर, न रात की सुध, न उड़ने की, न शिकार की। दो दिन यूँ ही बिता दिये। मगर पेट की आग बुरी होती हैं। इस की मांग बनिये के तक़ाजे से कम नहीं होती। भूख ने बेचैन किया तो उठा, लेकिन सीधा अपने घोंसले में। जहाँ से उसे लाया था वहीं छोड़ दिया।

मिन्नो झट से पास वाले घर में घुस गई, आँगन में घूमी, बरामदें में गई। रसोई में ज़रा एक हाँडी चाटी और बाज़ की दृष्टि से ओझल हो गई।

बाज़ को बड़ा ही दुःख हुआ कि मिन्नो ने एक बार भी तो मुड़कर उस की ओर न देखा, न विदाई ली, न राम-राम, न श्याम-श्याम। कुछ क्रोध में, कुछ निराश, वह पेड़ पर से उड़ा और उसी मकान का चक्कर लगा रहा था कि आवाज़ आई ''बाज़ है बाज़।'' इधर-उधर से बहुत से लड़के-बाले और चार-छह किसान भी इकट्ठे हो गए। गाँव भर में ख़बर फैली कि मंसा ने बाज़ पकड़ा है, उसे देखने सब दौड़े आए। मंसा ने बाज़ के पैर में एक मज़बूत छल्ला डाल कर ज़ंजीर में उसे अटका दिया।

मिन्नो इतनी देर में रसोई से छत पर जा पहुँची थी। वहाँ बैठी-बैठी अपना बदन चाट रही थी और कनखियों से बाज़ को देखती जाती थी। जब सब लोग बाज़ को देख-दाख कर चले गए तो पास गई और बोली, ''क्यों न कहती थी, कि यह उड़ना किसी दिन रंग लाएगा ? मगर तुम सुनते हो किसी की ! अब मज़ा चख लिया ! अब भी समझ जाओ तो अच्छा है। ख़ैर, चिन्ता मत करो। मैं रोज़ मोटे-मोटे ताज़ा चूहे मार लाया करूँगी। तुम अपने आप देख लोगे कि यहाँ की क़ैद में भी क्या मज़ा है।'' यह कह कर गई और

मोटा-सा चूहा उसके सामने डाल दिया। मगर बाज़ ने उसे छुआ तक नहीं और आग भरी आँखों से जो सूर्य तक से न लचती थीं, मिन्नो को कुछ इस प्रकार देखा कि वह घबरा गई और बोली, "क्षमा करना, मुझे भी बड़ा दु:ख है। क्या दर्द बहुत हो रहा है ?" बाज़ ने उत्तर दिया "पता नहीं।" मिन्नो फिर बोली "ईश्वर का धन्यवाद है कि तुम अब नहीं जा सकते, और जाने का तो अब विचार ही त्याग दो। मुझे तो उस चट्टान का अकेलापन और ऊँचाई का ध्यान आता है तो कलेजा काँपता है। तुम्हारा पंख ठीक हो जाए तो मैं सब कुछ तुम्हें बता दूँगी। फिर तुम स्वंय चूहे पकड़ लिया करना और दूध, मलाई और दही देख कर तो सच कहती हूँ, तुम्हारा जी यहाँ से जाने को न होगा। जाड़ों में हम दोनों उस पास वाले कमरे में साथ-साथ सोया करेंगे। गर्मियों की चाँदनी रातों में साथ-साथ छतों पर टहला करेंगे। सच कहती हूँ यहाँ बड़ा मज़ा है ! अब यहाँ से न जाना। तुम्हें मेरी सौगंद।" बाज़ फिर भी चुप रहा। मिन्नो को यह बात बहुत ही बुरी लगी। बिगड़ कर बोली, "दिमाग़ अभी आसमान पर ही है। यहाँ पर भी रौब जमाना चाहते हो। हम तुम्हारी मिन्नत किए जाते हैं, और आप हैं कि मिज़ाज ही नहीं मिलता। हाँ, उन चट्टानों में रहकर किसी को सभ्यता आई है। बस क्षमा कीजिये, बहुत दिन तक आप के साथ मुसीबत झेली। भगवान आप की रक्षा करे।" यह कह वहाँ से चल दी और फिर इधर मुड़ कर भी न देखा।

जिस दिन बाज़ को गोली लगी थी उसी दिन से वर्षा की ऐसी झड़ी लगी कि सातवें दिन जाकर खुली। वह सप्ताह भर उसी ज़ंजीर में बंधा बैठा रहा। न खाना, न पीना। धूप जो निकली तो दिन भर उसमें बदन सेंका। शाम होते, डूबते सूर्य के प्रकाश में पहाड़ की चोटियाँ आग के समान दमकने लगीं तो उस के दिल की कुछ विचित्र स्थिति हुई। उसने पर फैलाए तो वह सीधा पंख जिस में गोली लगी थी पूरा खुल गया, घाव भी भर चुका था। उसे पहले तो विश्वास न हुआ, फिर पंख फैला कर देखा, एक बार, दो बार, तीन बार। जब निश्चिन्त हो गया कि पंख ठीक है तो कुछ न पूछो कि दिल की स्थिति क्या थी। एक चीख़ इस ज़ोर से मारी कि मिन्नो रसोई में बैठी सहम सी गई। एक झटका दिया ऐसा कि ज़ंजीर अलग टूट कर गिरी। पैर से रक्त की कुछ बूंदें पृथ्वी पर गिरीं और वह अत्यन्त राजकीय शान से उड़ा, ये-जा, वो-जा। आन की आन में इतना ऊँचा पहुँचा कि शाम के धुंधलके में दिखाई भी कठिनाई से देता था।

बहुत ऊपर पहुँच कर पहाड़ की सब से ऊँची चोटी पर जा बैठा। आँखें जल रही थीं। साँस फूला हुआ था। नीचे घाटी थी, मिन्नो का घर और मनुष्यों की बस्ती। उसने नीचे देखा, कुछ घृणा से। फिर एक ठंडी साँस भर कर ऊपर दृष्टि की। पहाड़ियों की चोटियों पर अब भी आग सी लगी प्रतीत होती थी। धीरे-धीरे अंधेरा छाने लगा, कुछ देर बाद पहाड़, जंगल और हवा सब सो गए। सारे संसार पर खामोशी छा गई थी।

बाज़ भी चुप-चाप सन्नाटे में बैठा था कि अकस्मात एक विचित्र चीख सुनाई दी। यह

चीख स्वयं उसी के सीने से ही निकली थी। उसके बाद फिर सन्नाटा।

अंधेरा सारे जगत पर छा गया था। अंधेरे आकाश में तारों के सफ़ेद-सफ़ेद चेहरे चम-चम करने लगे। हर एक अपने-अपने निर्धारित मार्ग पर चुप-चाप चल रहा था। न कोई चीख, न पुकार, न किसी से झगड़ा, न टन्टा। सबको अपने काम से काम। प्रत्येक का अपना-अपना धर्म और अपनी-अपनी नियति। ठंडी हवा ने उस की आँखों में जो ज़रा सी ठंडक पैदा की, तो उसने उन्हें बंद कर लिया। पता नहीं कितनी देर यूँ ही गुम-सुम बैठा रहा।

क्या-क्या विचार उस के मन में आए गए, कौन जाने। लगता था, जैसे कोई स्वप्न देखता हो। फिर उसने आँखें खोलीं। मन ही मन बोला, "हे ईश्वर, तेरा मैं बड़ा आभारी हूँ। फिर आ पहुँचा हूँ अपनी नगरी में, फिर पा लिया है अपना स्थान।" तू अकेला ही रह। तेरे साथी-संगी यदि हैं, तो यही तारे और चट्टानें, यही चाँद, सूर्य जो किसी अन्य के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करते।

पूरी जो कड़ाही से निकल भागी

गाँव में एक किसान और उसकी पत्नी रहते थे। किसान का नाम था मंसा और उसकी पत्नी का गुरिया। उनके पास पर्याप्त धन तो था, किन्तु काम करने वाले व्यक्ति बहुत कम थे। इसलिए सदा दूसरों से या तो मज़दूरी पर काम लेना पड़ता था, या फिर मीठे बोल कर
।

बैसाख का महीना था। मंसा के खेतों में गेहूँ की फ़सल ख़ूब हुई थी। खेत भी कट चुके थे। अब बालियों पर दायें चलाकर दाने निकालना रह गया था। दूसरे किसान भी अपने अपने काम में लगे थे। तुम जानो, इन दिनों जब फ़सल कटती है तो सब ही को थोड़ा बहुत काम होता है। इस कारण मंसा को प्रयत्न करने पर भी मज़दूर न मिले। उधर आकाश पर कई दिन से बादल छाने लगे थे, और डर था कि कहीं वर्षा हो गई तो सब दाने ख़राब हो जाएगें। इन्हीं दिनों एक त्योहार आ गया था, इसलिए किसानों ने अपने यहाँ काम बंद रखा, और गाँव में अधिकांश मज़दूरों ने छुट्टी कर ली थी। मंसा बड़े जतन से पाँच मज़दूरों को फुसला कर लाया, कि भाई हमारी दायें चला दो तो बड़ी कृपा होगी। घर में आकर पत्नी से बोला कि "त्योहार का दिन है ये लोग आज काम करने आए हैं, दोपहर को इन्हें पूरियाँ खिलानी हैं।"

कोई ग्यारह बजे पत्नी ने चूल्हे पर कड़ाही चढ़ाई। कई पल्ली कड़वा तेल कड़ाही में डाला। आटे की एक छोटी सी टिकिया बनाकर पहले तेल में डाली और जब तेल ख़ूब गरम होकर कड़कड़ाने लगा तो यह टिकिया निकाल ली। इस प्रकार तेल की झार कम हो जाती है। अब बेलन से बेल-बेल कर कड़ाही में पूरियां डालनी शुरू कीं।

कुछ पूरियाँ पक गईं, तभी रसोईघर में किसान का बेटा बुद्धू न जाने कहाँ से आया और इधर-उधर रसोई में रखी चीज़ें खकोरने लगा। बुद्धू नाक से निरंतर सड़-सड़, सड़-सड़ करता जाता था। होठों तक नाक बह रही थी। माँ ने हाथ पकड़ कर खींचा और पल्लू से इस ज़ोर से नाक पोंछी कि बुद्धू कूँ-कूँ करता हुआ रसोईघर से चल दिया।

कड़ाही में जो पूरी पड़ी थी वह इतनी देर में जलने लगी और उसे बुरा लगा कि बुद्धू की माँ ने उसका तनिक ध्यान न किया और इतनी देर जलते हुए तेल में रखकर उसे कैसा कष्ट दिया। बुद्धू की माँ ने जो उसे पलटना चाहा तो वह और चिढ़ गई और झट कड़ाही में से कूदकर भाग खड़ी हुई, कि तुम बुद्धू की नाक पोंछो मैं तो जाती हूँ।

बुद्धू की माँ ने बहुत चाहा कि उसे पकड़े मगर वह कहाँ हाथ आती थी। झट घर में से निकल कर खेत की तरफ़ भागी। मार्ग में मंसा और उसके पाँचों मित्र दानों पर दायें चला रहे थे। यह पूरी उनके पास से गुज़री और कहती गई कि "मैं बुद्धू की माँ से बचकर, कड़ाही में से निकल कर आई हूँ, तुमसे भी बचकर निकलूँ गी, तुम में से कोई मुझे पकड़ सके तो पकड़ ले।"

इन लोगों ने देखा, कि अच्छी पकी-पकाई पूरी यूँ पास से भागी जा रही है तो काम छोड़कर उसके पीछे हो लिये, मगर वह भला कहाँ हाथ आती थी। ये सब दौड़-दौड़ कर हाँफ गये और लौट आये।

खेत से निकल कर पूरी को बंजर में एक ख़रगोश मिला। उसे देख कर पूरी बोली, "मैं तो कड़ाही से निकल कर, बुद्धू की माँ से बच कर और छह जवान-जवान आदमियों को हराकर आई हूँ। मियाँ छुट-दुमे ख़रगोश, तुम से भी निकल कर भागूंगी। यह सुनकर ख़रगोश को ज़िद हुई और उसने बड़ी तेज़ी से उस का पीछा किया, पर सच्ची बात तो यह है कि यदि पूरी एक क्षण में भिट में न घुस गई होती, तो उसे छोटी पूंछ वाले ख़रगोश ने पकड़ ही लिया था। मगर भिट के अन्दर वह लोमड़ी के डर से न गया।

पूरी भिट में जो घुसी तो वहां एक लोमड़ी बैठी थी। उसने जो देखा कि एक पूरी घुसी चली आती है तो झट खड़ी हुई, कि अब आई है तो जाये गी कहाँ। मगर पूरी उल्टे पाँव लौटी और यह कहती भागी, "मैं तो कड़ाही से निकलकर, छह जवान-जवान आदमियों को हराकर और मियाँ छोटी पूँछ वाले ख़रगोश को उल्लू बनाती हुई आई हूँ, बी मुटदुमी लोमड़ी मैं तुम्हारे बस की भी नहीं।"

लोमड़ी उत्तेजित होकर बोली, "कहाँ जाती है, ठहर तेरे घमंड का मज़ा चखाती हूँ", और बस पीछे लपकी। मगर पूरी थी भी बड़ी चालाक। वह झट एक किसान के घर की ओर चल पड़ी। वहाँ लोमड़ी भला कुत्तों के डर के मारे कैसे जाती ! लाचार, रुक गई।

किसान के घर के निकट एक दुबली-सी भूखी कुतिया और उसके पाँच बच्चे इधर-उधर फिर रहे थे। उन्होंने जो पूरी को देखा तो तुरन्त निश्चय किया कि इस पूरी को चट करें। पूरी बोली, "मैं कड़ाही में से निकल कर, बुद्धू की माँ से बच कर, छह जवान-जवान मर्दों को हराकर, मियाँ छुट-दुमे ख़रगोश को उल्लू बनाकर और बी मुट-दुमी लोमड़ी को चूना लगा कर आई हूँ, अजी बी लप लप, मैं तुम्हारे बस की नहीं।"

कुतिया बड़ी होशियार थी। आगे मुँह बढ़ा कर, जैसे बहरे लोग करते हैं, कहने लगी, "बी पूरी, मैं ज़रा ऊँचा सुनती हूँ।" पूरी ज़रा पास आई और कुतिया ने भी बहरों के समान अपना मुँह उस की ओर थोड़ा और बढ़ाया। पूरी फिर वही कहने लगी, "मैं कड़ाही में से निकल कर, बुद्धू की माँ से बचकर, छह-छह जवान मुस्टन्डों को थका कर, मियाँ छुट-दुमे ख़रगोश को चूना लगाकर और बी मुट-दुमी लोमड़ी को उल्लू बनाकर आई हूँ। अजी लप-लप...।" इतना ही कह पाई थी कि कुतिया ने मुंह मारा, "हप"

और आधी पूरी उसके मुँह में आ गई । अब जो आधी पूरी रह गई थी, वह इस तेज़ी से भागी और आगे जाकर न जाने किस प्रकार धरती के अन्दर घुस गई कि कुतिया ढूंढते-ढूंढते थक गई, मगर उसका कहीं पता न चला । कुतिया ने अपने पाँचों बच्चों को बुलाया कि ज़रा ढूँढो तो सही, लेकिन बी पूरी का कहाँ पता लगता था । उस कुतिया ने और उसके बच्चों ने सारी उम्र उस आधी पूरी को ढूँढा, मगर उसे न मिलना था न मिली ।

अभी तक सारे कुत्ते उस आधी पूरी की खोज में हर समय पृथ्वी को सूंघते फिरते हैं कि कहीं से उसका पता चले तो बदला निकालें, उसने हमारी दादी अम्माँ को धोखा दिया है, मगर उस आधी पूरी का अभी तक पता न चला ।

आख़री क़दम

आओ, आज तुम्हें एक ऐसे चरित्रवान और नेक व्यक्ति की कहानी सुनाएं जिसे उसके जीते जी अधिकांश लोग भला-बुरा कहते थे, और मरने के बाद भी उसकी नेकी का हाल बस वही जानते थे जिनके साथ उसने भलाई की थी, और हो सकता है, कुछ तो उन में से भी भूल गए होंगे।

इस नेक और चरित्रवान व्यक्ति के पास बड़ी सम्पत्ति थी। मगर वह उन व्यक्तियों में से था, जो अपनी धन-दौलत को अपना नहीं समझते, बल्कि ईश्वर की धरोहर मानते हैं। जो बस इसलिए उनको सौंपी जाती है कि उसे दूसरों की भलाई पर खर्च करें। स्वयं उनका मेहनताना इतना ही है कि उसमें से वे भी मोटा झोटा पहन लें और दाल-दलिया खाकर निर्वाह कर लें।

हाँ, तो यह चरित्रवान आदमी भी अपनी सम्पत्ति में से स्वयं बहुत ही कम लाभ उठाता था और एक साफ़ से, मगर बहुत छोटे मकान में रहता था। गजी गाढ़े के बहुत साधारण वस्त्र पहनता था, और भोजन का क्या बताऊँ, कभी चने चबा लिए, कभी मक्का की खीलें। एक समय हंडिया पकी तो तीन समय के भोजन का प्रबंध हो गया।

मित्र लोग जो उसकी अवस्था से परिचित थे, अनेक प्रकार से उसे खेल-तमाशों में, रंग-रलियों में घसीटना चाहते थे, मगर वह सदा कुछ न कुछ बहाना बना कर टाल देता था। आख़िर को वह एक बड़ा कंजूस प्रसिद्ध हो गया। उसके मित्र उसे 'मियाँ मक्खीचूस' कहा करते थे। कुछ एक मित्र तो उसकी सम्पत्ति के कारण उससे ईर्ष्या भी करते थे। उसे अनेक प्रकार से छेड़ते और बदनाम करते थे। मगर वह धुन का पक्का था। बराबर छुप कर, छुप-छुपाते अपनी पूंजी से किसी-न-किसी ग़रीब और भले व्यक्ति की सहायता करता रहता था। वह भी इस प्रकार से कि सीधे हाथ से देता तो उलटे हाथ को सूचना भी न होती, चर्चा का तो प्रश्न ही नहीं उठता था।

न जाने कितनी विधवायें उसके रुपए से पलती थीं। कितने अनाथ उसकी सहायता से पढ़-लिख कर अच्छे-अच्छे कामों में लग गये थे। कितनी पाठशालायें उसके दान से चल रही थीं। कितने ही राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को उसने रोटी कपड़े की चिन्ता से मुक्त कर दिया था, और वे एकाग्रचित होकर अपनी-अपनी धुन में लगे हुए थे। कई अस्पतालों में दवा का सारा खर्च उसने अपने सिर ले लिया था। हज़ारों दुखी रोगियों को बेजाने उसके रुपए से आराम पहुँचता था। किन्तु प्रसिद्धि वही, 'मियाँ मक्खीचूस', 'दुनिया का कुत्ता, न

अपने काम आए न किसी और के'। कोई उस पर हँसता, कोई क्रोध करता। सब उसे बुरा समझते थे।

आदमी कितना ही नेक और दयावान क्यों न हो, दूसरों के हर क्षण बुरा-बुरा कहने से जी तो उसका भी दुखता है। उसके मन को भी कभी बड़ी ठेस लगती थी। झुंझला जाता था। आँखों में आँसू भर-भर आते थे। मगर फिर संतोष कर लेता था।

उसके पास एक बड़ी सुन्दर-सी पुस्तक थी। चिकना-चिकना मोटा कागज़। नीले कपड़े की प्यारी सी जिल्द। उस पर सुनहरे शब्दों में लिखा था 'धरोहर का खाता'। इस पुस्तक में वह अपना पैसे-पैसे का हिसाब लिखा करता था। जिसको कभी कुछ दिया था, सब इसमें लिखा था। कहीं-कहीं बड़ी मनोरंजक बातें भी लिखीं थीं। इन सब का उल्लेख बाद में किया गया था। किसी अनाथ को पढ़ने के लिए छात्रवृत्ति प्रदान की थी, पन्द्रह वर्ष बाद की तिथि में लिखा था, "अब अहमदाबाद में डॉक्टर है, और वहाँ के अनाथालय का व्यवस्थापक है"। पुस्तकों के एक व्यापारी को बड़ी कठिनाई के समय में दो हज़ार रुपए दिये थे। कई वर्ष बाद की तिथि में लिखा था, आज पत्र मिला। उन्होंने ईश्वर और उसके रसूल पैग़म्बर मुहम्मद का पाक चरित्र बड़ी स्पष्ट और सहज भाषा में छपवा कर एक लाख प्रतियाँ विद्यार्थियों में मुफ़्त बँटवाई हैं। ईश्वर से प्रार्थना है उन्हें स्वस्थ और सुखी रखे। दिल्ली के एक शिक्षा संस्थान को ऐसे समय जब उसका कोई सहायक न था दस हजार रुपए दिये थे। उसके वर्णन में लिखा था, वार्षिक रिपोर्ट पढ़ी। प्रत्येक प्रान्त में उसकी एक-एक शाखा स्थापित हो चुकी है। इसने प्रान्त के तो प्रत्येक ग्राम में शिक्षा केन्द्र भी स्थापित कर दिये हैं। यह कार्य न होता तो सच यह है कि इस देश में मुसलमानों का सांस्कृतिक अस्तित्व ही कभी का समाप्त हो चुका होता"। इस प्रकार की अनगिनत बातें इस पुस्तक में लिखी थीं।

इस पुस्तक को वह बहुधा पढ़ने लगता था। विशेष रूप से तब जब किसी नासमझ मित्र की वाणी से उसका जी दुखता था। इस पुस्तक को पढ़ कर वह कभी-कभी मुस्कराता भी था। उसने निश्चय किया था कि मरने से पूर्व इस पुस्तक को उन व्यक्तियों के लिए छोड़ जाऊँगा जो सारी आयु उसे पहचाने बिना उसका दिल दुखाते रहे। इस निश्चय से उसे बड़ा संतोष मिलता। "सौ सुनार की, एक लोहार की। उन्होंने हज़ार बार मेरा जी दुखाया है। मैं एक बार में उन्हें ऐसा लज्जित करूँगा कि उनका सिर न उठेगा"। यह सोचता और प्रसन्न होता था। होते-होते बुढ़ापा आ गया। शरीर जवाब देने लगा। प्रतिदिन कोई न कोई रोग खड़ा हो जाता। एक बार दिसम्बर का महीना था, बड़ा सख़्त बीमार हुआ। बुखार और खांसी एक दिन, दो दिन, तीसरे दिन सीने में भयंकर दर्द, कोई दोपहर तक मूर्छित रहा। मूर्छा गई तो सांस लेने में कष्ट होता था। निमोनिया का आघात था। शाम से अवस्था बहुत बिगड़ने लगी। बार-बार मूर्छित हो जाता। थोड़ी देर को होश आता, फिर मूर्छा।

कोई चार बजे उसे होश आया तो समझ गया कि अब समय आ गया है जो सब का आता है, और जिस से कोई बच नहीं सकता।

चारपाई के निकट ही मेज़ पर पास में वह नीली जिल्दवाली सुन्दर पुस्तक 'धरोहर का हिसाब' रखी थी, जिसे उसने बीमारी में दो दिन पहले पढ़ा था। कुछ क्षण उसकी ओर ध्यान से देखा। आँखों से आँसू बहने लगे, ऐसे कि थमते ही न थे। पुस्तक को कई बार हाथ बढ़ा कर उठाने के प्रयत्न के बाद बड़ी कठिनाई से उठा पाया। फिर कुछ सोच में पड़ गया। यह इतनी महत्वपूर्ण घड़ी और इतना नीच विचार... उन को लज्जित करके तुझे क्या मिलेगा। तू अपना कार्य कर चला... अपना कार्य... मंजिल आ पहुँची, आख़िरी क़दम क्यों डगमगायें।

दोनों हाथों में पुस्तक थामी। हाथ थरथरा रहे थे। जैसे कोई बहुत बड़ा बोझ उठाया हो। बड़ी कठिनाई से तकिये पर से सिर उठाया और दुर्बल शरीर की सारी शक्ति लगाकर, उस पास वाली बड़ी अंगीठी में फेंक दिया, जिस में कोई ढाई बजे नौकर ने बहुत-से कोयले डाले थे, और मालिक को सोता जानकर दूसरे कमरे में जाकर सो गया था।

पुस्तक जलने लगी। उसकी दृष्टि उस पर जमी हुई थी। जिल्द के जलने में देर लगी। फिर अन्दर के पृष्ठों में आग लगी तो एक चिंगारी उठी जिस के प्रकाश में उस के होठों पर हल्की सी मुस्कराहट दिखाई दी, और एक आश्चर्यजनक संतोष। उधर मस्जिद से नमाज़ के लिये अज़ान की आवाज़ आई और इधर इस नेक और चरित्रवान आदमी ने सदा-सर्वदा के लिए अपनी आँखें मूँद लीं।

कछुआ और ख़रगोश
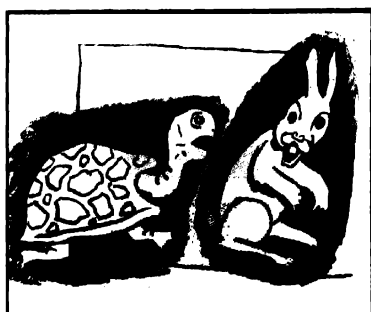
एम. एफ. हुसैन द्वारा

राजधानी दिल्ली से कोई पाँच मील पर एक छोटा सा गाँव है ओखला । यमुना से लगा हुआ समझो । पहले लोग दिल्ली से मछलियाँ पकड़ने आते तो यही उन का ठिकाना था । फिर कोई बीस-पच्चीस बरस हुए कुछ सर-फिरे दीवाने-दीवाने से लोग यहाँ आकर बसने लगे और एक मदरसा-सा बनाने लगे । नासमझ से तो थे ही पर न जाने क्या लगन थी कि बेसरोसामान इस गाँव के पास एक खुले मैदान में उन्हों ने डेरे डाल दिये । पास में न पैसा न कौड़ी, और बड़े-बड़े मकान बनाने शुरू कर दिये । पूरे कैसे होते । बरसों ऐसे मकानों में आप भी रहे और मदरसे के बच्चों को भी रखा, जिन के दरवाज़ों में किवाड़ तक न थे । हवा एक तरफ से इस बड़ी इमारत में घुसती तो दूसरे सिरे तक गाती-सीटियाँ बजाती चली जाती । मगर ये थे कि डटे रहे । देखने में भोले-भोले नादान से लगते थे ये लोग, पर थे धुन के पक्के और मस्त मगन । जमे रहे, तो उन का काम भी जमता गया, बढ़ता गया । अब वहाँ बहुत बड़ा मदरसा खड़ा हो गया है । दूर-दूर से लड़के और लड़कियाँ पढ़ने आते हैं । बड़े-बड़े विद्वान और योग्य लोग इस में पढ़ाते-सिखाते हैं । किताबें लिखते हैं, लेक्चर देते हैं । फ़ुर्सत में पुराने दिनों का ज़िक्र (चर्चा) आ जाता है तो हंस लेते हैं । कोई एक-दो फब्ती भी कस देता है । दीवानों पर होशमंद (सचेत) लोग भी न हँसें तो कौन हँसे और वह भी उन पर फब्ती न कसें तो कौन कसे । सच है हर आदमी अपनी दुनिया में ख़ुश रहता है । पुराने ज़माने में भी लोग उन पर हँसा करते थे । दीवानों पर कौन नहीं हँसता । और ये ख़ुद ऐसे मस्त थे कि आप भी अपने ऊपर और अपनी बेसरोसामानी पर जी खोल कर हँस लेते और दूसरों को भी हँसा लेते थे ।

एक बार की बात है कि कुछ लोग कहीं बाहर से उन का हाल सुन कर उन का काम देखने आए । काम-वाम तो ऐसा क्या था और होता भी तो काम कोई ऐसे चलते-फिरते कैसे देखे । ये लोग असल में ये देखना चाहते थे कि कुछ पूँजी-पैसा है कि नहीं । मदरसे की इमारत है कि नहीं । ऐसा तो नहीं कि किसी दिन ये मस्त "हू" कर के उठ खड़े हुए तो बस मदरसा-वदरसा सब ख़त्म । तुम जानो कि लोग तो पायदारी (स्थायित्व) चाहते हैं और सुना है कि पायदारी बड़े-बड़े मकानों और बहुत-से रूपये से होती है । हाँ ! तो

कुछ लोग इस मदरसे को देखने आए। मदरसा दिखाने के लिए उस मदरसे के एक उस्ताद (अध्यापक) उन के साथ थे जिन पर दीवानगी और मस्ती का रंग दूसरे साथियों से कुछ चोखा ही था। ये ऐनक लगाए, कंधे पर अपना लम्बा-सा रूमाल लटकाए, खद्दर की सदरी पहने, जिधर से निकल जाते उन की मुस्कुराहट देख कर फूल, पत्ते, जानवर, आदमी सभी खिल जाते। अल्लाह को प्यारे हो गए। ऐसा लगता है कि मजनूँ जो मर गया है तो जंगल उदास है।

कहाँ की बात कहाँ पहुँची जाती है! हाँ! तो ये मस्त क़लंदर (जोगी) उन लोगों को मदरसा दिखाने दिल्ली से उन के साथ हो लिये। ताँगे पर आए थे। मदरसे के सामने उतरने की जगह ये साथियों को ओखले की नहर के पुल पर ले गए। बड़ी खुली हुई जगह है। एक तरफ़ जमुना, एक तरफ़ उस की पानी से भरी नहर, एक छोटा-सा पुल, उस के आगे पानी रोकने को लकड़ी के तख़्तों की लम्बी लाईन, इर्द-गिर्द चमन (फुलवारी)। वह सब इस जगह को देख कर बहुत ख़ुश हुए। बड़ी तारीफ़ें कीं। उन्हें ख़ुश देखा तो मस्त ने कहा:

"यही तो हुआ साहिब कि हमारे शेख़ (आचार्य) ने पहले उस जगह पर सारी पूँजी लगा दी और मदरसे की इमारत के लिए कुछ न बचा। ख़ैर अच्छा हुआ। ये जगह तो बन गई। वह भी आप दोस्तों की मदद से बन ही जाएगी।"

ख़ैर! वह ज़माना तो गुज़र गया। हर ज़माना गुज़र ही जाता है। अब वहाँ इमारतें भी हैं। किताबें भी हैं। बड़े-बड़े उस्ताद भी हैं। क़ायदा और क़ानून भी है। ढंग है, सलीक़ा है, काम है। कोई बीस बरस से ऊपर इस मदरसे को वहाँ हो गए हैं। सब उसे जान-पहचान गए हैं। आदमी पहचाने हों कि अंजान हों, कि आदमी का कुछ ठीक नहीं, पर जानवर, पेड़, यमुना की मछलियाँ जिन में से कुछ उस के उस्तादों से बातें करने पुल के सुतूनों (खंभों) पर चढ़ती हुई भी देखी गई हैं, दरिया (नदी) के कछुए, पास के खेतों के तीतर, ख़रगोश, सब उन्हें जान गए हैं और उन के दोस्त बन गए हैं। इस वक़्त आप को इन्हीं दोस्तों का एक क़िस्सा सुनाना है।

बरसात के मौसम में ओखले में यमुना के किनारे जहाँ तक नज़र जाती है पानी ही पानी पर फिसलती चली जाती है मगर जब पानी उतर जाता है तो पुल पार कर के चले जाइये तो लकड़ी के तख़्तों के नीचे-नीचे रेत का एक मैदान होता है और पुल के इस सिरे से नीचे को उतर लीजिए तो दरिया के किनारे-किनारे दूर तक जा सकते हैं। यहाँ इस मदरसे के उस्ताद कभी-कभी, कोई रोज़, सुबह-सुबह टहलने जाते हैं। कभी-कभी मदरसे के बच्चे भी इधर सैर को निकल जाते हैं। यहीं दरिया में एक कछुआ, बहुत बड़ा-सा कछुआ, अपने खोल में बंद, जैसे एक मज़बूत क़िले में हो, रहता है और जब देखता है कि मैदान ख़ाली है तो ये भी पानी से निकल कर चहलक़दमी (हल्के-हल्के टहलना) तो क्या, कि चालीस क़दम तो बहुत होते हैं, आठ-दस क़दम चल लेता है। एक दिन मौलवी ग़ुफ़रान उधर टहलने गए। उन्हें कछुआ कई बार देख चुका था। मौलवी साहिब यूँ भी ज़्यादा घुलने-मिलने वालों में से नहीं थे। इस लिये पूरी जान-पहचान की नौबत नहीं आई थी। कछुआ उन्हें देखता तो आधा पानी में और आधा किनारे पर होता और मौलवी

साहिब इस ख़्याल से कि जितना तेज़ चलूँगा उतना ही वज़न घटेगा, तेज़-तेज़ उस के पास से निकल जाते थे और चलते भी इस शान से थे कि नज़रें नीची, न इधर देखना, न उधर देखना कि कहीं क़ुदरत (प्रकृति) की दिलबहलाने वाली चीज़ों में वह उलझ न जाएँ और उन की ख़ुदी (व्यक्तित्व) कमज़ोर पड़ जाए। वज़न का घटाना और ख़ुदी का मज़बूत रहना ज़्यादा ज़रूरी है। वह कछुआ उन का चेहरा देखता, काली-काली दाढ़ी की चमक देखता और सोचता कि बड़ा नूरानी (कांतिमय) चेहरा है। ध्यान-ज्ञान वाला मनुष्य दिखाई देता है। उसे ख़्याल हुआ कि वह जो एक बात उसे इतने दिनों से सता रही है वह उन से पूछूँ। इस ख़्याल से एक दिन किनारे के पास बाहर को निकल आया कि मौलवी साहिब पास से गुज़रेंगे तो पूछूँगा। मौलवी गुफ़रान ठीक वक़्त पर गुज़रे। मगर कछुए की हिम्मत न पड़ी। कुछ न बोला। और ये उसे देखे बग़ैर आगे बढ़ गए। दिन भर कछुआ उदास-उदास रहा कि हम भी कैसे फिसड्डी हैं कि मुल्ला जी से एक बात पूछने की हिम्मत न हुई। दूसरे दिन तहज्जुद (उषाकाल) ही के वक़्त से किनारे पर आन बैठा कि कहीं सवेरे ही मुल्ला जी न निकल जाएँ। मौलवी गुफ़रान तो कुँजी दी हुई घड़ी की तरह वक़्त के पाबन्द थे। अपने ठीक वक़्त पर वहाँ से गुज़रे। मगर वही बेसुध सरपट। कछुआ अपने पोपले मुँह से एक बोल भी न निकाल पाया कि ये गज़ों आगे बढ़ गए। मगर हिम्मत कर के कछुए ने अपनी बैठी-बैठी भर्राई हुई आवाज़ में चिल्ला कर पुकारा "मुल्ला जी, मुल्ला जी।" मौलवी गुफ़रान चलते-चलते खो से जाया करते थे। आवाज़ जो आई तो समझे कि ग़ैब (आकाशवाणी) की कोई आवाज़ है। जी धक से हो गया। आदत के ख़िलाफ़ इधर-उधर देखा, सामने पीछे, दाएँ-बाएँ। मगर कोई दिखाई न दिया। समझे कोई शैतानी वसवसा (भ्रम) होगा। फिर आगे बढ़े तो कछुए ने ज़ोर से पुकारा, और चिल्लाने में आवाज़ और भी फट गई "हे मुल्ला जी! छमा (क्षमा) करो, ज़रा थमो। एक प्रश्न पूछना है।" मुल्ला जी ठिठके, मुड़ के पीछे देखा तो एक बड़ा-सा कछुआ, एक सख़्त ख़ोल से ढका हुआ, जैसे फ़ौलाद और सींग मिला कर जंगी टैंकों का कोई छोटा नमूना बनाया हो, आहिस्ता-आहिस्ता पीछे-पीछे आ रहा था। ऐसा लगता था कि

एम. एफ. हुसैन द्वारा
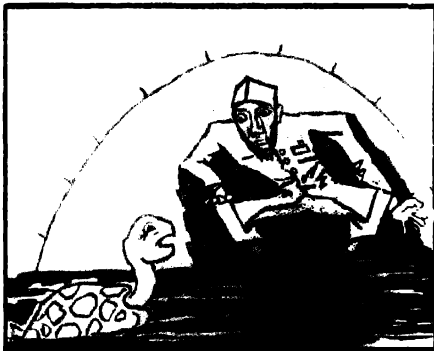
ग़रीब का साँस फूल गया है । चेहरे के नीचे गर्दन बार-बार हवा से फूल जाती फिर दब जाती । मौलवी गुफ़रान मुड़ कर कछुए की तरफ़ मुँह कर के खड़े हो गए । फ़ासिला कई गज़ का हो गया था । कछुआ जो ख़ुशकी (थल) पर आ कर हमेशा धीरे-धीरे नाज़ोअंदाज़ (बड़ी धीमी गति) से चला करता था, बड़ी हिम्मत कर के इस लम्बी यात्रा को तै करने का निश्चय कर चुका था । इधर मौलवी गुफ़रान को वक़्त का ख़्याल, बोले, ''क्या बात है, कहो न, बोलते क्यों नहीं !'' कछुआ रूक गया । जैसे रूकने का बहाना ही ढूँढ रहा हो, फिर बोला, नमस्ते, मुल्ला जी, नमस्ते । एक प्रश्न पूछना है आप से । कृपया ज़रा थमो । अभी पालागन को आता हूँ ।'' मौलाना बोले, ''तस्लीम-तस्लीम (नमस्ते) । भई हमें तो देर हो रही है । जो पूछना हो पूछिये । मगर ये प्रश्न क्या होता है। ''कछुआ बोला, ''मुल्ला जी जो पूछते हैं उस को प्रश्न कहते हैं । अपनी-अपनी भाषा है, मुल्ला जी ।'' ''अच्छा तो पूछिये न'' मौलाना ने कहा । ''मुल्ला जी तुरंत जो झपटा हूँ आप के पीछे तो हाँप गया हूँ । आते-आते ही आप तक आ पाऊँगा । आप ही दो डग भर कर तनिक इधर को आ जाते तो बड़ी कृपा होती । प्रश्न मेरे लिए अधिक महत्व का है । सूर्य नमस्कार के बाद से आप की प्रतीक्षा में हूँ ।'' ''ये परीक्षा क्या चीज़ होती है ?'' ''मुल्ला जी मैं ने कहा प्रतीक्षा में हूँ अथवा आप के मार्ग पर आँखे जमाए बैठा हूँ ।'' ''मेरी मर्ग पर । मेरे मरने पर आँखें जमाए बैठे हो । बहुत अच्छी रही । वाह भाई वाह । पंडित कच्छु राम, बहुत अच्छी रही । मैं ने आप का क्या बिगाड़ा है, पंडित जी, जो आप को मेरी मौत का इतना इंतज़ार है ।'' कछुआ बोला, ''ठीक-ठीक । यही जो आप ने कहा इंतज़ार, मैं समझता हूँ प्रतीक्षा यही है । शब्दों का फेर है । मुल्ला जी बात एक है ।'' ''अच्छा प्रतीक्षा इंतजार है तो आप को मेरी मर्ग का, मेरे मरने का ऐसा इंतज़ार क्यों है। मैं ने आप का क्या बिगाड़ा है पंडित जी ।'' ''मुल्ला-जी'' कछुआ बोला, ''सब शब्दों का फेर है । आप गर्म न हों मुल्ला जी । मैं ने मार्ग जो कहा जो मार्ग अथवा ''पथ'' ''और पथ अथवा'' मुल्ला जी ने पूछा ''पथ अथवा । हाँ, पथ अथवा रस्ता'' । मुल्ला जी कुछ शर्मिन्दा हुए कुछ मुत्तमईन (संतुष्ट) और बोले'' अच्छा समझा । तो मतलब आप का ये फरमाना था कि आप मेरी राह तक रहे थे । मेरा इंतज़ार कर रहे थे । ख़ैर (कोई बात नहीं) कहिये । पूछना क्या है आप को । बस सवाल कीजिए तो जवाब दूँ और आगे चलूँ।'' कछुए ने कहा ''मुल्लाजी सवाल अथवा और जवाब अथवा ।'' मुल्ला जी बोले ''भई ये तो बड़ी देर हो रही है । जानता तो लुग़त (डिक्शनरी) साथ लेता आता ।'' ''और लुग़त अथवा'' कछुए ने कहा । ''भाई देखो सवाल तो वह जो पूछते हैं जिस को तुम ने प्रश्न कहा था । जवाब वह जो बताता है जिस से पूछते हैं । और लुग़त वह जिस में लफ़्ज़ों (शब्दों) का, बोलों का, मतलब लिखा होता है ।'' ''समझा-समझा'' कछुए ने कहा । ''सवाल अथवा प्रश्न । जवाब अथवा उत्तर । मतलब सो ये शब्द हम ने अपने पुरखों से सुन रखा है । जब जमुना नदी इधर नीलोखड़ी के पास बहती थी और बड़े-बड़े मुसलमान संत वहाँ सूर्य निकलने से पहले आ कर मुँह-हाथ धोते, कुल्ला करते थे, उन की बातें हमारे पुरखे सुना करते थे । उस में से कुछ शब्द याद रह गए थे । सो 'मतलब' तो हम जानते हैं । मतलब अथवा अर्थ । हाँ और लुग़त अथवा शब्द कोश जिस में शब्दों का अर्थ लिखा होता है । समझे, हम समझ गए ।''

''अच्छा हुआ आप समझ गए। मगर फिर कल लुग़त या आप का शब्द कोश लाऊँगा तो आप से बातें होंगी।'' मुल्ला जी ने कहा।

''नहीं-नहीं'' कछुआ बोला ''ऐसी भी क्या बात है। देखिए थोड़े से समय में हम ने एक-दूसरे के कितने शब्द जान लिए। बात-चीत चलेगी तो मैं आप का मतलब समझ लूँगा। मेरे शब्दों का अर्थ आप समझ लेंगे।''

''अच्छा तो कच्छु राम जी। कहिए तो कि सवाल, नहीं आप का प्रश्न क्या है।''

''प्रश्न ये है मुल्ला जी कि आप की इतिहास की पुस्तकों में क्या लिखा है ? कहीं ये लिखा है कि प्राचीन काल में कछुए और ख़रगोश की दौड़ हुई थी। और भला क्या लिखा है कि कौन जीता था।''

मौलवी गुफ़रान को होते-होते कच्छु राम की भोली-भोली बातें कुछ अच्छी लगने लगी थीं। फिर कुछ लफ़्ज़ भी नए सीखे थे। पंडित जी के पोपले-पोपले मुँह से बातें और भली लगती थीं। मगर क्या करते। सवाल ऐसा था कि जिस का ताल्लुक (संबंध) पुरानी तारीख़ से था और उन का मैदान था दीनियात (धर्मशास्त्र) और इलाहियात (ब्रह्मशास्त्र)। इसमें कुत्ते, बिल्ली, ख़रगोश और कछुए का क्या काम। फिर आदमी ईमानदार भी थे। फ़रमाया ''पंडित जी, सच बात ये है कि मुझे मालूम नहीं। ये बात तो तारीख़ का कोई माहिर हो तो बताए। ऐसा ही होगा तो कल अपने साथ मदरसे के तारीख़ के माहिर को लेता आऊँगा। उन से आप जो पूछना चाहें पूछ लीजिए गा। अब मुझे इजाज़त (अनुमति) दीजिए। बहुत देर हो गई है।''

''अच्छा-अच्छा। मुल्ला जी छमा (क्षमा) करें। मैं कल इन्तज़ार करूँगा। ठीक है न। ये शब्द इन्तजार।'' ''हाँ ठीक है। जो समझ में आ जाए वही ठीक है। मैं कल ज़रूर आऊँगा।''

कच्छु राम थोड़ी देर तो कुछ ध्यान में वहीं खड़े रहे। फिर हल्के-हल्के पानी की तरफ़ बढ़े और इस में पहुँचते ही यह जा वह जा। ऐसा लगा जैसे सब बातें भूल गए हों और जी में जी आ गया हो।

दूसरे दिन सुबह ही गजरदम कच्छु राम किनारे पर आ बैठे। मौलवी गुफ़रान ठीक अपने वक़्त पर आए। उन के साथ आज प्रोफ़ेसर कपचाक़ भी थे। दुबले-पतले। हाथ में एक कुबड़ी लकड़ी। उसे बराबर घुमाते जाते या चलते-चलते जूते की नोक से उस पर ठोकर लगाते जाते। थोड़ी-थोड़ी देर बाद गर्दन को एक ख़ास अंदाज़ (ढंग) से हल्के से झटका भी देते रहते जैसे अपने-आप से दिल-ही-दिल में बहस (वादविवाद) कर रहे हों और जहाँ कहीं कोई ज़ोरदार लफ़्ज़ इस अन्दरूनी बातचीत में आ जाता हो वहीं गर्दन ख़ुदबख़ुद (स्वत:) हिल जाती हो। खड़े होते तो छड़ी के मूँठ पर उन की ऊंगलियाँ ऐसे चलतीं जैसे हारमोनियम बजा रहे हों। कुल मिला कर बड़े मज़े के आदमी थे। आज मौलवी गुफ़रान की आँखें पहले से पंडित कच्छु राम को तलाश कर रही थीं। वह भी प्रतीक्षा में आँखें बिछाए थे। देखते ही मौलाना के मुँह से निकला, ''अस्सलाम अलैकुम'' (शांतिभव) और प्रोफ़ेसर कपचाक़ ने कहा, ''तस्लीम पंडित जी।'' पंडित कच्छु राम बोले, नमस्ते। कल्याण हो। कल्याण। आप आ गए। जी अधिक प्रसन्न हुआ।

"ओहो" मौलाना ग़ुफ़रान बोले, "लुग़त वही आप का शब्दकोश तो लाना भूल ही गया। ख़ैर, ये तो दुआ-सलाम था। समझिए कि समझ ही लिया। अब आप अपना सवाल, हाँ वही अपना प्रश्न कीजिए। ये प्रोफ़ेसर कपचाक़ तारीख़ (इतिहास) के बड़े माहिर हैं। ये आप का जवाब यानि उत्तर देंगे।"

"प्रफिशर कश्यप जी। एक बात हमें बहुत दिन से सता रही है। कल मुल्ला जी से पूछी थी तो उन्हों ने कहा हम नहीं जानते प्रफ़िशर (प्रोफ़ेसर) जी को साथ लाएँ गे। सो अब आप से वही बात पूछनी है। बात ये है कि प्राचीन काल में क्या कभी ख़रगोश जाति और कछुआ जाति के लोगों में कोई दौड़ हुई थी और हुई थी तो जीत किस की हुई थी और हारा कौन था। हमारे यहाँ पुरखों से ये बात चली आती है कि दौड़ हुई थी और कछुआ जीता था।"

प्रोफ़ेसर कपचाक़ को ऐसा लगा कि पंडित जी ने उन्हें कोई बच्चों की कहानियाँ लिखने वाला टटपुंजिया समझ लिया है और सुबह की हवा के नशे में उन की तबीयत कुछ फरफरा रही है और ये मुझ से मज़ाक़ (विनोद) करने चले हैं। सख़्त नाख़ुश हुए। उन्हें वैसे भी नाख़ुश होने में कुछ ज़्यादा कोशिश नहीं करनी पड़ती थी। बोले, "हज़रत, कछुए और ख़रगोश से मेरे फ़न को क्या इलाक़ा (संबंध)। मैं तो तारीख़ का उस्ताद हूँ। अक़वामोअलल (जातियों और परिवारों) के उरूजोज़वाल (उत्थान-पतन) के अमले मुसल्लम (अनवरत प्रक्रिया) पर तफ़क्कुरोतफ़क्क़ा (चिंतन-मनन) मेरा काम है। क़वाए दौलतआफ़रीं (उत्पादन साधनों) के मख़्सूस अश्काल (विशेष रूप) के तक़ाज़ों (माँगों) का तफ़्फ़हुस (अंवेषण) और हैयते इज्तिमाइयएइंसिनिया (मानव समाज के स्वरूप) पर इन के असरात (प्रभावों) की तौज़ीह (व्याख्या) मुआश्रे (समाज) में तब्क़ातेमआशी (आर्थिक वर्ग) के तसादुम (संघर्ष) के नागुज़ीर (अनिवार्य) अवाक़िबोनताइज

एम. एफ. हुसैन द्वारा

(परिणाम) की तशरीह (व्याख्या), मुहर्रिकाते इन्किलाबी के ज़हूरोबलूग़ (क्रांति प्रेरक तत्वों के आरंभ और विकास) के अस्रारोगवामिज़ (रहस्यों) को तहक़ीक़ोअक़ीदत (अनुंसधनात्मक निष्ठा) के आमीज़े (योग) से क़ाबिलेफ़हेम (बुद्धिगम्य) बनाना, इस्तेमार और इसतेहसाल (शोषण) के दाख़िली तज़ादों (आंतरिक द्वंद्वों) की रौशन बसीरत (स्पष्ट दूरदर्शिता) और अफ़रियतों (दानवों) के मफ़तूह और मादूम (प्राजित और विनष्ट) होने पर इंसानियत (मानवता) की हक़ीक़ी तारीख़ (वास्तविक इतिहास) का एक अक़्ली (बौधिक) व मारूज़ी नक़्शा (भविष्य का) मन्तक़ी लुज़ूम (तर्कसंगत बाध्येता) के साथ मुस्तख़्ज़ (व्युत्पत) हो । ये मेरा काम है । ये कछुए और ख़रगोश के बारे में पूछताछ आप ने मुझ से ख़ूब फ़रमाया ।''

कछुए बेचारे का साँस ऊपर का ऊपर और नीचे का नीचे रह गया । घबरा कर जो अंदर को दम खींचा तो झुर्रियों वाले चेहरे के नीचे गर्दन में घेघे की तरह कुछ फूल सा गया । फिर धीरे-धीरे ये बैठ गया तो ऐसा लगा कि उन की जान में जान आई । प्रोफ़ेसर साहिब से कुछ कहने की हिम्मत कहाँ थी, कुछ सहमे-सहमे डरते-डरते मुल्ला जी से बोले, ''मुल्लाजी क्या बात हुई । क्या प्रफिशर जी हम से कुछ रूठ गए । ये इतनी ढेर-सी गालियाँ हमें क्यों दे डालीं । हम ने अंजान होने के कारण एक बात पूछी थी । वह तो बरस ही पड़े । समझे तो हम कुछ नहीं और आप शब्दकोश भी ले आते तो कहाँ तक मुझे सब शब्दों का अर्थ बताते और गालियों का अर्थ शब्द कोश में भी कहाँ तक मिलता । पर ये तो बताइये कि ये ऐसे रूठ क्यों गए । मैं उन से क्षमा माँगता हूँ । अब कुछ नहीं पूछूँगा । बस चुप ही भली ।''

मौलवी गुफ़रान जिन्हें लड़के आपस में गफ़रगट कहा करते थे इस नाम में सामी और आर्याई ज़बानों की दो मुश्किल आवाज़ों के इकट्ठा होने से गुमान होता था कि सख़्त क़िस्म के आदमी हैं मगर सच ये है कि बड़े नर्म मिज़ाज के भले मानुस थे । उन्हें कच्छुराम ग़रीब पर वैसे ही तरस आ रहा था और प्रोफ़ेसर साहिब के मुबारक ज़हन (मस्तिष्क) से लफ़्ज़ों का जो आब्शार (झरना) बह रहा था इस पर ये ख़ुद ताज्जुब और हैरत (आश्चर्य) में थे । उन्हें ये मालूम न था कि प्रोफ़ेसर से रात कोई नौजवान उलझ गया था जिस से उन की तबीयत बहुत बदमज़ा हो गई थी । ख़ून का दबाव वैसे ही कुछ ज़्यादा रहता था । शायद कुछ और बढ़ गया था । फिर रात भर सोए नहीं थे । सवेरा होते आँख लगी थी कि मुल्लाजी फ़ज्र (प्रात:काल) की नमाज़ अव्वल वक़्त (समय होते ही) पढ़ कर उन के कमरे पर पहुँच गए और उठा दिया । रात भर जागने के बाद सुबह सोते हुए पकड़ा जाए तो आदमी बहुत चिढ़ जाता है । मुल्लाजी ने किवाड़ खटखटाए तो प्रोफ़ेसर हड़बड़ा कर उठ बैठे और इस डर से कि मुल्ला जी ये न कहें कि सुबह की नमाज़ नहीं पढ़ी, बोले, ''अभी नमाज़ पढ़ कर लेट गया था कि आँख लग गई ।'' ''मुल्ला जी ने कहा, ''आज ज़रा टहलने साथ चलिये । आप को एक बूढ़े पंडित से मिलाएँ, वह आप से मिलने के बहुत ख़्वाहिशमंद (इच्छुक) हैं ।'' प्रोफ़ेसर रात वाले नौजवान से ऐसे नाखुश हुए थे कि बूढ़े पंडित से मिलने की तरफ़ झुकाव पैदा हो गया । वरना आम तौर पर ये बूढ़ों से बहुत परेशान और उन की तरफ़ से बदगुमान रहते थे । फिर

मौलाना से उन के ताल्लुक़ात (संबंध) भी बहुत मुहब्बत और ख़ुलूस के थे, साथ चले आए। लेकिन कछुए के इस सवाल पर कि उन के नज़दीक इस में उन के अज़ीज़ फ़न (प्रिय विषय) का मज़ाक़ उड़ाना मक़सद (उद्देश्य) था, बिफर पड़े। वरना यूँ वह झक्की होने के बावजूद बड़े नर्म तबीयत और घुलने-मिलने वाले आदमी थे।

मुल्ला जी ने चाहा कि सफ़ाई हो जाए। कच्छु राम से कहा, "पंडित जी आप को बिल्कुल ग़लत यह शुब्ह (संदेह) हुआ कि प्रोफ़ेसर साहिब ने आप को गालियाँ दीं। ये तो अपने इल्म (ज्ञान) के, जिसे आप विद्या कहते हैं, हुदूदे अर्बा (विस्तार क्षेत्र) बता रहे थे।"

"हदूद अर्बा अथवा" कछुए ने बे सोचे-समझे पूछ लिया।

"हुदूदे अर्बा अथवा चौहद्दी यानि ये विद्या चारों तरफ़ कहाँ तक फैली हुई है।"

"अथवा अपनी विद्या की सीमाएँ बता रहे थे। समझे, हम समझे।" कछुए ने कहा।

"और भाई प्रोफ़ेसर साहिब।" मुल्ला जी ने कहा, "आप को बड़ी ग़लतफ़हमी हो गई। पंडित जी का मक़सद हरगिज़ आप की हंसी उड़ाना न था। ये बात तो उन के सान-गुमान में भी नहीं हो सकती। ये बेचारे तो कई दिन से इस बात का पता चलाना चाह रहे थे कि कभी कछुए और ख़रगोश की दौड़ हुई है या नहीं। और हुई है तो कौन जीता और कौन हारा। ये बात उन के जी को लगी हुई है। मुझ से भी पूछ चुके हैं। मैं ने कहा था कि यह कोई दीनियात का मसला (समस्या) तो है नहीं कि मैं बता सकूँ। इस लिये तारीख़ के एक बड़े माहिर को अपने साथ ले आऊँगा। पिछले ज़माने में जो कुछ हुआ है उस की खोज यही लगाते हैं और यही इस का हाल जानते हैं। ग़लती हुई तो मुझ से हुई, उन का कोई क़ुसूर (दोष) नहीं था।"

"क्षमा चाहता हूँ प्रफेशर जी। क्षमा दे दीजिए। मैं भला आप की हंसी कैसे उड़ाता। आप जैसे विद्वानों के दर्शन कब-कब होते हैं। यह ख़रगोश और कछुए की दौड़ का प्रश्न मुझे न जाने कब से सता रहा है। कभी पानी में जाता हूँ। कभी धरती पर आता हूँ। न वहाँ चैन मिलता है न यहाँ। जी को ऐसी बेकली है कि नींद नाम को नहीं आती। वैसे ही बुढ़ापे के कारण नींद कम होती है। पर इधर तो कई सप्ताह से पलक नहीं झपकी। मेरी बातों में कोई ऊँच-नीच हो गई हो तो क्षमा चाहता हूँ।"

"मुल्ला जी और कच्छु राम ये सब कह रहे थे और प्रोफ़ेसर कपचाक़ थे कि अपनी छड़ी घुमाए जाते थे और चुप थे। आख़िर को बोले – "मौलाना ! शर्मिन्दा हूँ कि इस कमबख़्त बेख़्वाबी (निद्राहीनता) ने ज़हन की ये हालत कर दी है। मैं तो आया ही था पंडित जी की मदद करने। लेकिन इन का सवाल मुझे कुछ ऐसा बेतुका लगा कि मैं ये समझा कि ये मेरी और, मैं तो ख़ैर क्या चीज़ हूँ, मेरे मज़मून (विषय) की हंसी उड़ा रहे हैं। अपनी हंसी का तो मैं ख़्याल नहीं करता मगर मेरा मज़मून ! नहीं मज़मून की शान में किसी की बेअदबी मुझे गवारा नहीं। मज़मून, कैसा मज़मून ? दुनिया की तक़्दीर (भाग्य) उस से जुड़ी हुई है क्योंकि दुनिया के मालिक इंसान के माज़ी (अतीत) की तश्रीह (विश्लेषण) और मुस्तक़बिल (भविष्य) का सुराग़ लगाना उस के सुपुर्द है। नहीं। मज़मून की शान में कोई बेअदबी बर्दाशत नहीं की जा सकती। मैं समझा ये मेरे मज़मून

को कुत्ते-बिल्ली, कछुए और ख़रगोश की कहानी समझते हैं। इस लिये मेरा फ़र्ज़ था कि इन्हें बता दूँ और मैं ने बताया हाँ, ज़रा तफ़्सील (विस्तार) से और ज़रा ज़ोरदार ढंग से कि मेरे मज़मून का मक़सद ये नहीं है। मौलाना। मेरा हाल कुछ यह है कि नागवारी में मेरी बातें लम्बी हो जाती हैं और उन में ज़ोर पैदा हो जाता है। ये ग़रीब समझे कि मैं गालियाँ दे रहा हूँ। गालियाँ। मुअर्रिख (इतिहासकार) और गालियाँ। मुफ़स्सिरे तक़्दीर (मानव की भागलेखा का टीकाकार) और गालियाँ। शायद ये मेरी ज़बान भी नहीं समझते। इस लिये मौलाना आप इन्हें पूरी तरह इतमीनान दिला दीजिए कि मैं ने कोई गाली नहीं दी। मेरा काम यह नहीं है। गालियाँ देते होंगे अपना वुजूद क़ायम (अस्तित्व सुरक्षित) रखने के लिये सियासतदाँ (राजनीतिज्ञ), अपने अख़बारों की बिक्री के लिये अख़्बारी लोग या नाख़ुशी और बदमिज़ाजी में अदीब (साहित्यकार) और शायर (कवि) मुअर्रिख़ को गालियाँ देने की फ़ुर्सत कहाँ। हाँ तो तसल्ली दे दीजिये इन्हें कि मैं ने इन के सवाल का जवाब नहीं दिया। इस कछुए और ख़रगोश के मामले में मुम्किन है कि अदब (साहित्य) का प्रोफ़ेसर आप के दोस्त की मदद कर सके। मुझे मजबूर जान कर माफ़ कर दीजिए और हाँ वापस नहीं चलियेगा। बहुत वक़्त हो गया।"

मुल्लाजी ने कहा "यार प्रोफ़ेसर, बहुत बहकने लगे हो। चलते-चलते ये सियासतदानों और अख़्बार वालों, अदीबों और शायरों को भी लपेट लिया। ख़ैर झगड़ा ख़त्म करें।"

फिर मुस्करा कर कछुए से कहा "ये क्षमा माँगते हैं। मेरे दोस्त की बातों में कुछ ऐसा ज़ोर था कि आप समझे गालियाँ दे रहे हैं। गालियाँ तो होती ही हैं ज़ोरदार। मगर और बोल भी तो ज़ोर वाले, शोर वाले होते हैं, सब गालियाँ नहीं होते। आप तो सहम गए। इन का मतलब अथवा वही मतबल बुरा न था। और अब इन्होंने सलाह बहुत ठीक दी है कि किसी अदब के माहिर से आप का प्रश्न पूछा जाए। कल हो सका तो उन्हें साथ लेता आऊँगा।

"ये अदब क्या हुआ, मुल्ला जी ?" कछुए ने पूछा।

"कैसे बताऊँ। अदब वह होता है जिस में बड़े सुन्दर शब्दों में आदमी के दिल की बातें कही जाती हैं। शब्दों में कभी ऐसी मिठास घोल देते हैं कि गुड़ से ज़्यादा मीठे लगते हैं। कभी वह बहाव पैदा कर देते हैं कि लगता है दरिया उमंड आया है। वह ज़ोर भर देते हैं कि शब्द दिलों को हिला दें, पहाड़ों को चीर दें। इस में कहानियाँ लिखते हैं जो लोग पीढ़ियों तक याद रखें। इस में शब्दों को ऐसे जोड़ते हैं कि वह सुनते ही जी में उतर जाएँ। लोग उन्हें गाते हैं। गुनगुनाते हैं और मज़ा लेते हैं। इस में आदमी को अपना हाल दिखाई देता है। अदब हंसाता है, रूलाता है, जी को गर्माता है, हिम्मत दिलाता है, हौसला बढ़ाता है, और हमारे हुनर और ऐब सब पर खोल देता है। और न जाने क्या-क्या होता है इसमें। मैं तो दीनियात का उस्ताद हूँ पूरी बात नहीं जानता। मगर यही सब होता है अदब।"

कछुआ बहुत ग़ौर से सुनता रहा और बोला-"मुल्लाजी तुम ने बताया इस से तो हमें ऐसा लगता है अदब साहित्य को कहते होंगे।"

"हाँ-हाँ ठीक कहते हो पंडित जी। साहित्य ही को कहते होंगे अदब। इस लिये कि वह जो हमारी दिल्ली में साहित्य अकादमी है वह अदब ही का इदारा (संस्था) तो है। ठीक है अदब अथवा साहित्य।"

"अच्छा तो मुल्लाजी। कल साहित्य के पंडित को अवश्य लाना। अधिक समय बीता जाता है, और मेरी बेकली दिन-पर-दिन बढ़ रही है। मुझ पर दया कर के कल ही इन्हें साथ ले आना मुल्लाजी।"

"बहुत अच्छा पंडित जी। कल ही साथ लाऊँगा उन्हें। बस अब चलें। आदाब।"

"सब ठीक है।" मुल्ला जी ने कहा और मौलवी ग़ुफ़रान और प्रोफ़ेसर कपचाक़ दोनों पुल की तरफ़ चल पड़े।

"अच्छे झमेले में फंस गए हम तो।" कछुए ने कहा "अब देखें साहित्य वाला क्या कहे। कहीं वह भी गर्म न होने लगे। एक सीधी सी बात पूछते हैं और कोई पता नहीं देता। न जाने कैसी विद्या है इन विद्वानों की। अब देखें कल क्या होता है।"

एम. एफ. हुसैन द्वारा

गुले अब्बास

मैं एक छोटे से काले-काले बीज में रहता था। यही मेरा घर था। इस की दीवारें ख़ूब मज़बूत थीं और मुझे उस के अंदर किसी का डर नहीं था। ये दीवारें मुझे सर्दी से बचाती थीं और गर्मी से भी। कुछ दिन तक मैं इधर-उधर रहा लेकिन मेरा घर काली मिट्टी में दबा दिया गया कि कोई उठा कर फेंक न दे और मैं किसी शरारती लड़के के पैरों तले न आ जाऊँ। ज़मीन की हल्की-सी गर्मी मुझे बहुत अच्छी लगती थी और मैं ने ये सोचा था कि बस अब हमेशा मज़े से यहीं रहूँगा। मगर मेरे कान में अक्सर मीठी-मीठी सुरीली आवाज़ आती थी। यह आवाज़ मुझ से कहा करती थी: ''इस घर से निकल, बढ़, रोशनी की तरफ़ चल।'' लेकिन मैं ज़मीन में अपने घर के अन्दर ऐसे मज़े में था कि मैं ने इस आवाज़ के कहने पर कान न धरा और जब उस ने बहुत पीछा लिया तो मैं ने साफ़ कह दिया: ''नहीं मैं तो यहीं रहूँगा। बढ़ने और धर से निकलने से क्या फ़ायदा। यहीं चैन से सोने में मज़ा है। नहीं मैं तो यहीं रहूँगा।''

ये आवाज़ बंद न हुई। एक दिन इस ने प्रभावशाली ढंग से मुझ से कहा: ''चलो रोशनी की तरफ़ चलो।'' मुझ में लहर सी दौड़ गई और मुझ से रहा न गया। मैं ने सोचा कि इस घर की दीवारों को तोड़ कर बाहर निकल ही आऊँ। मगर दीवारें मज़बूत थीं और मैं कमज़ोर। अब जब वह आवाज़ मुझ से कहती थी कि बढ़ो, चलो, तो मैं पहले से ज़्यादा मज़बूत हो जाता और मुझे मालूम होता था कि मैं बहुत ताक़तवर हो गया हूँ। आख़िर को अल्लाह का नाम ले कर जो ज़ोर लगाया तो खट दीवार टूट गई और मैं हरा किल्ला बन कर उस से निकल आया। उस दीवार के पास ज़मीन थी, मगर मैं ने हिम्मत न हारी और उस को भी हटाया। अब मैं ने अपनी जड़ों को नीचे भेजा कि ख़ूब मज़बूती से जगह पकड़ लें। आख़िर को एक दिन मैं ज़मीन के अंदर से निकल ही आया और आँखे खोल कर दुनिया को देखा। कैसी ख़ूबसूरत और अच्छी जगह है। कुछ दिनों बाद तो ख़ूब इधर-उधर फैल गया और एक दिन अपनी कली का मुँह जो खोला तो सब लोग कहने लगे: ''देखो ये कैसा ख़ूबसूरत लाल-लाल गुले अब्बास है।'' मैं ने भी मन में सोचा कि उस छोटे-से घेरे को छोड़ा तो अच्छा ही किया। आस-पास और बहुत-से गुले अब्बास थे, मैं उन से ख़ूब बातें करता और हंसता-बोलता था। दिन भर हम सूरज की किरणों से खेला करते थे और रात को चाँदनी से। ज़रा आँख लगतीं तो आसमान के तारे आ कर हमें छेड़ते और उठा देते थे। अफ़सोस! यह मज़े ज़्यादा दिन न रहे। एक दिन

सुबह हमारे कान में एक सख़्त आवाज़ आई: "गुले अब्बास चाहिये हैं, गुले अब्बास।" "अच्छा जितने चाहे ले लो।" हमारी समझ में यह बात कुछ न आई और हम हैरत ही में थे कि इस का क्या मतलब है और इरादा कर रहे थे कि ज़रा चल कर अपने दोस्त सितारों से कहें कि दौड़ो हमारी मदद करो। यह कैसा मामला है कि इतने में किसी ने कैंची से हमें डंठल सहित काट लिया और एक टोकरी में डाल लिया।

अब याद नहीं कि इस टोकरी में कितनी देर पड़े रहे। वह तो ख़ैर हुई कि मैं ऊपर था नहीं तो घुट कर मर जाता। शायद मैं सो गया हूंगा क्योंकि जब उठा हूँ तो मैं ने देखा कि पांच-छः और साथियों के साथ मुझे भी एक ख़ूबसूरत धागे से बाँध कर किसी ने गुलदस्ता बनाया है। आस-पास नज़र डाली तो बाग दिखाई दिया न चिड़ियों का गाना। सड़क के किनारे एक छोटी-सी मैली कुचैली दुकान थी। हज़ारों आदमी इधर-उधर से जा रहे थे। इक्के, गाड़ियाँ शोर मचा रहे थे। फ़क़ीर भीख माँग रहे थे और कोई एक पैसा न देता था। मेरा मन ऐसा घबराया कि क्या कहूँ। सितारों को ढूढाँ तो उन का पता नहीं। चाँद को तलाश किया तो वह गायब। सूरज की किरणें भी सड़क तक आ कर रूक गई थीं और मैं पुकारते-पुकारते थक गया कि मुझे जानती हो, रोज़ साथ खेलती थीं। शाम होने को आई तो एक सुन्दर लड़की दुकान के पास से गुज़री। हमारी ओर देखा। फूल वाले ने मुझे और मेरे साथियों को इस ज़ोर से झटका दे कर लड़की के सामने रखा कि मेरी ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की नीचे रह गई। फूल वाले ने कहा: "बेटी ! देखो। कैसे ख़ूबसूरत गुलेअब्बास हैं। एक आने में गुलदस्ता, एक आने में गुलदस्ता, एक आने में।"

लड़की ने इकन्नी दी और हमें हाथ में ले लिया। उस के हाथ ऐसे नर्म-नर्म थे कि यहाँ आ कर ज़रा जान में जान आई। लेकिन थोड़ी देर बाद शायद मैं बेहोश हो गया। असल बात यह थी कि पानी नहीं मिला था और प्यास बहुत लगी थी। लड़की ने शीशे के एक गुलदान में पानी भर कर हमें पिलाया, तो ज़रा तबीयत ठीक हुई और मैं ने सर उठा कर इधर-उधर देखा। अब मैं एक साफ़ से कमरे में था जिस में कि बिस्तर लगे हुए थे। एक तरफ़ से एक बीमार लड़की की आवाज़ सुनी: "डाक्टर साहब क्या मैं अच्छी नहीं हूंगी, क्या अब कभी चल-फिर न सँकूगी और क्या अब कभी गुले अब्बास देखने को न मिलेंगे।" यह कहते-कहते बच्ची की हिचकी बंध गई। आँखों से आँसू पोंछ कर उस ने तकिये पर करवट ली तो उस को मैं और मेरे साथी गुलदान में रखे हुए दिखाई दिये। लड़की ख़ुशी से खिल गई और अपने नन्हे-मुन्ने हाथों से तालियाँ बजाने लगी। पास जो नर्स खड़ी थी उस ने हमें उठा कर उस लड़की के हाथ में दे दिया। उस प्यारी बच्ची ने हमें चूमा और अपने गोरे-गोरे गालों से लगाया और मैं ने देखा कि उस के गोरे-गोरे गालों में हमारी सुर्ख़ी की ज़रा-सी झलक आ गई।

उस वक़्त समझ में आया कि बीज के घर छोड़ कर रोशनी की ओर बढ़ने का मतलब यह था कि एक दुखियारी बीमार बच्ची को कम-से-कम थोड़ी देर की ख़ुशी हम से मिल जाए ।

भाग - 2

समकालीन दृष्टि: जैसा हमने उन्हें जाना

डा. ज़ाकिर हुसैन

मु. मुजीब

उनकी आँखें ही ऐसी थीं जो देखने वाले का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थीं और जिनकी रहस्यमय गंभीरता अपनी वाणी में अपने गहन विचारों और भावों को अभिव्यक्त करती थी। जो लोग उनके नयनों की वाणी को समझने और उन्हें आत्मसात करने की क्षमता नहीं रखते थे उन पर वह केवल मुस्कराते और उन्हें क्षमा कर देते। बात करने की बारी बाद में आती। वह वस्तुत: समझते थे कि लोग भावनाओं की भाषा के विषय में बहुधा अनभिज्ञ होते हैं। किन्तु यह समझने में भी उन्हें इतना आनंद आता था कि उनकी बातचीत में आकर्षण उत्पन्न हो जाता था और सुनने वालों पर जादू का काम करता था। वह जितनी अगाध मानसिक शक्ति रखते थे उतने ही शारीरिक दृष्टि से काहिल भी थे। अनावश्यक मेहनत के बोझ से बचने और दूसरों को अपनी सहायता के लिए उन्मुख करने का एक उपाय उनकी बेबसी की अदा होती थी जो उनके संपूर्ण व्यक्तित्व से इतनी भिन्न होती थी कि हँसी आती थी।

डा. ज़ाकिर हुसैन की पूरी छवि मेरे सामने बर्लिन के निकट श्लास्तेंज़े में श्वानर-परिवार के घर पर उभर कर आई जहां कि डा. आबिद हुसैन और मैं सशुल्क अतिथि के रूप में रह रहे थे। लम्बा भरा शरीर, गठा हुआ और न ढीला, बाल किसी हद तक घुंघराले और कटी-छंटी दुरुस्त दाढ़ी। किंतु इन बातों की ओर तो बाद को ही ध्यान जा पाया था। उनकी ज़बान का यह एक ऐसा जाल था जिस में मेरे जैसे असावधान लोग बार-बार फंस जाते थे। मुझे लगता था कि अपने ऊंचे डीलडौल और वैभवपूर्ण व्यक्तित्व के बावजूद उन्हें सचमुच किसी ऐसे आदमी के सहारे की जरूरत रहती थी जो उनका हाथ पकड़े रहे और उनके साथ-साथ घूमता फिरे। यह तो मैं बाद को ही जान सका कि उनके अंदर मनुष्यों और परिस्थितियों का मुक़ाबला करने के लिए उन बहुतों के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा साहस, कहीं अधिक पहल और कहीं अधिक योग्यता थी जो ख़ुद ही अपने अंदर इन गुणों का दावा करते रहते हैं।

डा. ज़ाकिर हुसैन कोई डायरी नहीं रखते थे। व्यवस्थित जीवन के प्रति उनके अंदर एक वितृष्णा थी जो संभवत: अलीगढ़ में पढ़ते समय उनके अंदर आ गई थी, और जिसे वह दूर नहीं कर सके थे। यूँ तो दूसरों के अंदर व्यवस्था के गुण के वह प्रशंसक थे और

अध्यापक के रूप में उनका गुणगान करते थकते नहीं थे, लेकिन जब अपना सवाल आता था तो ऐसा लगता था कि वह उन्हें अपनी स्वाधीनता पर एक कष्टप्रद बंधन जैसा ही जान पड़ता था। यह स्पष्टत: कमी होती अगर पांच मिनट की बातचीत में तो कोई यह न भांप लेता कि उनकी बुद्धि और कल्पना का चक्र एक साथ कई दिशाओं में चलता होता है और उनका कार्य क्षेत्र कभी सीमित नहीं होता। अत: डा. ज़ाकिर हुसैन न तो कोई डायरी ही रख सकते थे और न पूर्व योजना के अनुसार अपने कार्यक्रम ही निर्धारित कर सकते थे। उनका मस्तिष्क एक ही साथ इतनी दिशाओं में घूमता रहता था कि वह सिर्फ़ आगे की ही ओर देख सकते थे।

उनके कार्यकलाप की समय सारिणी के हिसाब से कोई विवरण पेश करना भी निरर्थक ही होगा क्योंकि प्राय: सभी मौक़ों से पूरा फ़ायदा उठाने की प्रेरणा ही उन्हें आगे बढ़ाती थी। विदेशों में जाकर पढ़ने वाले भारतीय विद्यार्थी पूरी तरह संतुष्ट हो जाते हैं अगर उनके अपने निबंध, शोध-प्रबंध अथवा थीसिस प्रकाशित हो जाएं। किंतु डा. ज़ाकिर हुसैन ने गालिब के 'दीवान' का एक संस्करण सिर्फ़ इसलिए प्रकाशित करा डाला कि बर्लिन में एक ईरानी छापाखाना था जिसमें फ़ारसी के बड़े अच्छे टाइप थे। उन्होंने उसके मालिक और फ़ोरमैन से परिचय प्राप्त किया। फिर उन्होंने जिल्दसाज़ों के सर्वश्रेष्ठ संस्थानों में से भी एक के मालिक से परिचय प्राप्त किया। आख़िर 'दीवान' का एक ऐसा जेबी संस्करण प्रकाशित हो गया जो अब तक के ऐसे संस्करणों में क़रीब-क़रीब सर्वश्रेष्ठ है। इसका ख़र्च उठाने के लिए उनके पास जो भी नक़द रक़म थी उसका अधिकांश हिस्सा तो उसमें खपा ही दिया, साथ ही डा. आबिद हुसैन ओर मुझसे जितना क़र्ज़ ले सके लिया। हम सभी को इस बात के लिए राज़ी हो जाना पड़ा कि जामिया का प्रकाशन विभाग, मकतबा, जिसके फ़ायदे के लिए ही यह काम हाथ में लिया गया था, धीरे-धीरे इस रक़म को चुका देगा, और यह कोई बुरी व्यवस्था नहीं है। इस प्रयास के कारण उन्हें और उनके दोस्तों को जिन आर्थिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा उनसे उनके क़दम नहीं रुके, बल्कि एक दूसरे मौक़े पर भी वैसा करने से वह नहीं चूके।

विश्वविद्यालय से इतर बौद्धिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों से संबद्ध कार्यों में डा. ज़ाकिर हुसैन का मार्ग सुगम करने में गेर्डा फिलिप्सबार्न से बड़ी मदद मिली थी। पहलेपहल उनसे हमारी मुलाक़ात चट्टो की सबसे छोटी बहन श्रीमती नंबियर द्वारा आयोजित होने वाली उन सांध्य गोष्ठियों में से एक में हुई थी जिसका उद्देश्य था सही क़िस्म के जर्मनों और भारतीयों को एक साथ एकत्र होने का अवसर देना। फिर श्रीमती नंबियर ने इन गोष्ठियों का आयोजन करना बंद कर दिया और हमारे सामाजिक जीवन में शून्यता आ गई। मुझे याद है कि एक ऐसी ही शाम को मैं डा. ज़ाकिर हुसैन के पास था जबकि अचानक ही वह अकेलापन महसूस करने लगे थे। उन्होंने श्रीमती नंबियर को फ़ोन करके जानना चाहा कि उनकी अगली गोष्ठी कब होने वाली है, और उनका जवाब सुनकर इस क़दर

खीज उठे। मुझ से बोले कि वह उन्हें यह दिखाकर रहेंगे कि कम से कम उनका काम उनके संग-साथ के बगैर ज़रूर चल सकता है। "तो फिर फ़िलिप्सबार्न को ही क्यों न फ़ोन करके देखा जाए ?" उन्होंने मुझसे पूछा। "क्या आपका ख़याल है कि उनके साथ हमारी जान-पहचान इस हद तक है ?" मैंने जवाब दिया। "देखा-जाए", वह बोले, और उसी दम उन्हें फ़ोन कर बैठे। वह घर पर ही मौजूद थीं और बोलीं कि उन्हें उनसे मिलकर ख़ुशी होगी। यह एक ऐसी मित्रता की शुरूआत थी जिसकी गहराइयों का कोई अंदाज़ा नहीं लगा सकता था और जो 1943 में गेर्डा फ़िलिप्सबार्न की जामिया मिल्लिया में ही मृत्यु होने तक प्रयास चलता रहा।

वह बर्लिन के एक संपन्न यहूदी परिवार की महिला थीं। उनके शौक़ बड़े ही व्यापक थे और प्रमुख शिक्षाविदों, संगीतज्ञों, वाद्यवृंद, नाट्यकारों तथा चित्रकारों में से अनेक के साथ उनका व्यक्तिगत परिचय था। उन्होंने विवाह क्यों नहीं किया यह मैं कभी न जान सका, और न मैंने कभी यह पूछा ही। उनके अंदर भावुकतापूर्ण उल्लास का प्राचुर्य था, साथ ही उनके पास धन और हैसियत थी। डा. ज़ाकिर हुसैन और उनकी दिलचस्पियों के बारे में जब से उनकी जानकारी बढ़ी थी तबसे तो वह उनके लिए सब कुछ करने के लिए तैयार रहती थीं। उनके साथ डा. ज़ाकिर हुसैन ने उच्च से उच्चकोटि की चीज़ें देखीं-संगीत गोष्ठियां, गीति-नाट्य, कला-प्रदर्शनियां, स्कूल। लेकिन दोनों की ही ज़िंदगियां बिल्कुल अलग-अलग थीं। डा. ज़ाकिर हुसैन के अंदर उनके प्रति कोई भावुकतापूर्ण आसक्ति नहीं जान पड़ती थी, और उनके साथ जब वह वार्तालाप में मग्न रहते थे तब, जब भी उसमें शरीक होने का मुझे भी मौक़ा मिला, मुझे यही लगा कि इस प्रकार की किसी आसक्ति के विरुद्ध उनकी आग्रहपूर्ण आत्माभिव्यक्ति का ही यह एक उदात्त और बौद्धिक रूप था।

डा. ज़ाकिर हुसैन से इस बारे में कोई पूछताछ किये बिना ही मैं बरसों तक इस रोमानी दोस्ती के बारे में उनके दृष्टिकोण को समझने की कोशिश करता रहा। मुझे लगता है कि इस मामले में उनका आचरण इस्लाम की 'हया' (मर्यादा) वाली भावना से नियमित होता था। इसे सिर्फ़ शर्म नहीं कहना चाहिये, बल्कि इसके अंदर अन्तःकरण के वे सभी आदेश समाविष्ट हैं जो आचरण को शालीनता और औचित्य के उच्चतम स्तर तक पहुँचा देते हैं और किसी निम्नतर स्तर पर उतरने से रोक देते हैं। मुस्लिम परंपरा के अनुसार हया का तक़ाज़ा यह है कि औरतों का संग-साथ तो दूर रहा, उनकी ओर नज़र उठाकर देखना भी नामुनासिब है, और इस परंपरा ने अगर असामाजिक नहीं तो अप्रिय प्रवृत्तियों के विकास में तो मदद की ही है। डा. ज़ाकिर हुसैन का लालन-पालन हालांकि इसी परंपरा में हुआ था और यूरोप जाने से पहले तक स्त्री-पुरुषों के मिले-जुले समाज का अनुभव उन्हें नहीं हुआ था, फिर भी वह इस तरह के मिले-जुले समाज में बिलकुल सहज रूप से रह सकते थे। उन्होंने जल्द ही यह ज़रूर भांप लिया होगा कि उनका जैसा व्यक्ति सुसंस्कृत यूरोपीय

महिलाओं के लिये आकर्षक है, और केवल सुसंस्कृत महिलाओं के लिये ही नहीं। 1924 के बर्लिन के मई दिवस की एक मज़ेदार घटना मुझे याद है। पेड़ों और झाड़ियों में एक नई ज़िंदगी खिल उठी थी; प्रकृति की छटा लुभावनी थी और सभी को आनंदोत्सव मनाने के लिये प्रेरित कर रही थी। नामुमकिन था कि रोज़मर्रा के काम में घर पर ही दिन गुज़ार दिया जाए। हममें से चार या पांच स्टाड्टबान के स्टेशन आमृत्सा में इकट्ठे थे। वसंत ऋतु का प्रभाव सबसे ज़्यादा डा. ज़ाकिर हुसैन पर ही दिखाई दे रहा था। वह खुले गले वाली एक कमीज़ पहने थे, दाढ़ी सलीक़े से कटी-छंटी थी और हवा को उन्होंने अपने सिर के बालों के साथ छेड़खानी करने की आज़ादी दे रखी थी; उनकी आंखों में एक रोमांचक ज्योति थी। हम सभी कहीं निकल जाना चाहते थे, और जब किसी जगह के बारे में फ़ैसला नहीं हो पाया, तब हम लोग वंज़े के लिए रेल में सवार हो गए जहां झीलें थीं, और जंगल थे। रेल में खड़े रहने भर की ही जगह मिल पाई, और डा. ज़ाकिर हुसैन दरवाज़े पर थे। किसी उपनगर वाले स्टेशन पर कुछ श्रमजीवी लड़कियों की एक टोली दिखाई दी जो किसी रेल गाड़ी के या अपने दोस्तों के इंतजार में थीं। उनकी नज़र डा. ज़ाकिर हुसैन पर पड़ी, और अपनी आदत के मुताबिक़ उन युवतियों ने अपनी खिलखिलाहट से उनका ध्यान अपनी ओर खींचना चाहा। जवाब में जब वह मुस्कुराए तक नहीं, तब वह लड़कियां और भी ज़ोर से खिलखिलाने लगीं। मैं डा. ज़ाकिर हुसैन के नज़दीक ही खड़ा था और उनके चेहरे पर क्या प्रतिक्रिया हो रही है, देख रहा था। उनकी आंखों में एक समझदारी वाली चमक थी, और साथ ही झुंझलाहट और असहायता वाले भाव; और रेलगाड़ी जब उन लड़कियों के सामने से होकर गुज़री तो उन्होंने फ्रांसीसी रंगमंच की उत्कृष्टतम अदा में उन लड़कियों की ओर एक चुंबन उछाल दिया।

गेर्डा फ़िलिप्सबार्न के अलावा भी कई अन्य महिलाएं उनकी मित्र थीं। कभी-कभी मैं यह कह कर उन्हें चिढ़ाता था कि अपनी महिला मित्रों की संख्या में वह गेटे की बराबरी करने लगे हैं, और जिनके बारे में मुझे जानकारी थी उन्हें गिनाना शुरू कर देता। अपने उस वक़्त के मिज़ाज के हिसाब से कभी वह अपनी भौंहें चढ़ाकर इंकार.करते, और कभी मेरी सूची में कोई नाम और जोड़ देते। उनकी अधिकांश मित्र-महिलाएं यहूदी थीं। उनमें से एक फ्रालाइन हेख्त अनिश्चित उम्र वाली एक अविवाहित महिला थीं, तीस से ज़्यादा चालीस के क़रीब। बड़ा सिर था, और उस पर ढेर सारे बाल। कुछ झुक कर चलती थीं, शायद ज़्यादा भारी होने की वजह से। उनकी आंखें भी बड़ी-बड़ी और काली थीं, जिनसे सदियों के भोगे हुए कष्ट और दु:ख झलकते रहते थे, बल्कि और भी आगे आने वाले दु:ख। उनकी ओर आंख उठाकर ताकने के लिए मुझे हिम्मत करनी पड़ती थी, और मुझे याद नहीं कि उनसे मेरी कभी बात हुई हो। किंतु डा. ज़ाकिर हुसैन के प्रति उनका लगाव इस सीमा तक था कि हर वक़्त वह यही सोचती रहती थीं कि उनके लिए वह और क्या कर सकती हैं। इनकी थीसिस का उन्होंने अनुवाद किया और उसे ख़ुद ही टाइप भी करके

तैयार कर डाला; और इसके अलावा भी कितने ही फुटकर काम । इसके सिवा वह और कर भी क्या सकती थीं, पर स्पष्ट ही उनकी निगाह में सिर्फ़ उतना काफ़ी नहीं था । और यह सोचकर भी तो वह कोई सांत्वना नहीं पा सकती थीं कि जिनके दिल में दर्द का कोई इलाज नहीं तो उनमें अकेली वही तो नहीं थीं ।

जान पड़ता है कि जर्मनी में बिताए गए तीन साल, कई वजहों से डा. ज़ाकिर हुसैन की ज़िंदगी के सबसे ज़्यादा ख़ुशी के साल थे । कोई ज़िम्मेदारियां नहीं थीं सिर पर; किसी नियमित दिनचर्या का बंधन नहीं था । उन्हें यही महसूस होता था कि वह ऐसे लोगों के बीच रह रहे हैं जो लड़ाई में अपना सब कुछ गवां देने के बाद सारी कमियों को पूरा कर डालने के लिए संघर्ष कर रहे हैं । अपनी समस्याओं का उन्हें ध्यान था, दूसरों के विचारों के सुनने का आग्रह था, और नए-नए आविष्कार करने, नया सृजन करने के लिये तो वह जैसे दीवाने हो उठे थे । छोटी से छोटी बातों को ध्यान देने के प्रति वह अत्यंत सतर्क थे, और इसी बुनियाद पर उन्होंने पूर्णता की अपनी परिकल्पना को खड़ा किया था । कड़ी मेहनत करते वह थकते नहीं थे, कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ अपना काम करना उन्हें आत्मानुभूति का सर्वोच्च रूप दिखाई देता था । उन बरसों के बीच जिन लोगों ने जर्मन जीवन का अध्ययन किया था उन्होंने उनके इन्हीं पहलुओं को प्रधानता ज़रूर दी होगी ।

फिर भी इसमें संदेह नहीं कि जर्मन लोगों के अंदर अपने पूर्वमान्य मूल्यों के प्रति संदेह उत्पन्न हो गए थे और अपने विचार को दूसरों पर लादने की जगह वह अपने ही मानव-क्षितिज को व्यापक बनाने के लिए अधिक आतुर हो उठे थे । गांधी जी पर लिखी रोमां रोलां की किताब की बिक्री अभूतपूर्व संख्या में हुई थी, और उस विभाग वाले क़रीब-क़रीब हर भारतीय छात्र ने उन दिनों जर्मनों के अंदर भारत के बारे में और भी ज़्यादा जानकारी हासिल करने की लालसा पाई; दर असल यह लालसा जिज्ञासा के लिये भी थी और उच्चतम मूल्य की खोज के लिए भी । डा. ज़ाकिर हुसैन जैसे सूक्ष्मग्राही भारतीय के लिये यह असंभव था कि वह उस बौद्धिक उत्तेजना से और अविराम गति से चलने वाले उस बौद्धिक एवं कलात्मक क्रियाकलाप से प्रभावित हुए बिना रह जाते । ग़ालिब की तरह उन्होंने भी महसूस किया होगा:

> **हज़ारों ख़्वाहिशें ऐसी कि हर ख़्वाहिश पे दम निकले,**
> **बहुत निकले मेरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले ।**

उन्होंने एक नया ही दृष्टिकोण प्राप्त किया; अपनी कल्पना को पूरी छूट देना सीखा; उनके अंदर भी यह लालसा जागी कि अपनी दुनिया को भी एक बेहतर नमूने पर गढ़ें, मानव व्यक्तित्व और महज नकलची और गुलाम बनने देने की जगह उसे अपनी नई दुनिया गढ़ने वाला बनाएं, जो सांस्कृतिक साधन अब तक उपेक्षित ही पड़े रहे हैं उनका उपयोग अपने जीवन को अधिक समृद्ध करने में करें । उन्हें उस असंतोष और अधीरता

की भी छूत लग गई जिनके बीच ही आमतौर पर नया कुछ गढ़ने की प्रवृत्ति पैदा होती है, लेकिन उस वक्त पड़े बीजों में से कई तो बाद को ही अंकुरित हुए जबकि उन्होंने अपने ही देश में शिक्षा संबंधी अपनी धारणा का प्रचार करना शुरू किया।

जामिया – ज़ाकिर साहिब की कामना नगरी:

जामिया से उन्हें जो भी मिलता था उससे उनका गुज़ारा नहीं हो सकता था, यह तो स्पष्ट ही है। क़ायमगंज में उनकी कुछ ज़मीन जायदाद थी जिसकी देखभाल उनके एक रिश्तेदार के सुपुर्द थी जो उसे पूरी तरह अपने इस्तेमाल में ला रहे थे, और उनकी आमदनी में से कुछ भी बचा कर भेजने के लिए ज़ाकिर साहब उन्हें तैयार नहीं कर सके। हिसाब-किताब इस तरह तैयार किया जाता था कि सारी आमदनी उनकी देखभाल पर ख़र्च हो जाती थी। रुपये की तंगी डा. ज़ाकिर हुसैन को हमेशा ही बनी रहती,[1] लेकिन किसी को इसका पता तक नहीं लगने दिया-जामिया के लेखापाल (एकाउंटेंट) तक को नहीं, क्योंकि वह अपना वेतन कभी मांगते नहीं थे। जब भी ज़रूरत पड़ती थी, वह दीनभाव से अपनी पत्नी के सामने जा खड़े होते और कहते कि कुछ रुपयों की ज़रूरत आ गई है। वह या तो प्रतिवाद करतीं या सिर्फ़ एक आह् खींच कर रह जातीं, जब जैसा मिज़ाज रहता उसके अनुसार। और फिर नौकर लड़के को सुब्बा[2] के पास भेजतीं, जो एक बनिया था और नज़दीक ही जिसकी दुकान थी, या एक ठेकेदार मन्नू खां की स्त्री के पास, जिनका मकान बग़ल में ही था, और उनसे उतना रुपया कर्ज लेतीं। बेगम ज़ाकिर हुसैन को अपने दादा की जायदाद से होने वाली आमदनी के अपने हिस्से के तौर पर 10 रुपये माहवार मिला करते थे। अपनी गृहस्थी चलाने के लिए पूरे भरोसे की आमदनी बस यही थी।

मगर इन दिनों भी डा. ज़ाकिर हुसैन हथ-कती और हथ-बुनी खादी की ज़्यादा-से-ज़्यादा साफ़ सुथरी पोशाक में रहते थे, और अपनी सहज-स्वाभाविक गरिमा के कारण ऊंचे घराने के किसी ऐसे व्यक्ति की छाप छोड़ते थे जो ज़्यादा से ज़्यादा सादगी के साथ रहना पसंद करता है। कोई उनसे कर्ज मांगता था तो वह इंकार नहीं कर सकते थे क्योंकि कर्ज लेने वाला यह विश्वास ही नहीं कर सकता था कि उनके पास रुपये नहीं हैं। कायमगंज से अपने परिवार को लाने के पहले उन्होंने जिस मकान को किराए पर लेना चाहा था उसके लिए कुछ फर्नीचर ख़रीदा था। लेकिन शाह साहब ने, जो स्टाफ़ के ही एक सदस्य के पिता और डाक विभाग के एक छोटे-मोटे निवृत कर्मचारी थे, पहली बार की बेत की कुर्सियां उनसे उधार मांग लीं, और पड़ोसियों और मिलने आने वालों को यह बताते रहे कि डा. ज़ाकिर हुसैन उनका ख़ास ख़्याल रखते हैं और यह कुर्सियां उन्होंने उपहार स्वरूप दी हैं। अगले महीने डा. ज़ाकिर हुसैन ने कुछ और कुर्सियां ख़रीदीं। मैं तब उनके कमरे से लगे हुए कमरे में ही रहता था, और मुझे उनसे मालूम हो चुका था कि

पिछली कुर्सियों का क्या हाल हुआ था। एक सुबह डा. ज़ाकिर हुसैन ने मुझे बताया कि शाह साहब इन कुर्सियों को भी उधार के तौर पर ले जाना चाहते हैं, और कुछ ही देर बाद देखता क्या हूं कि दो मज़दूरों के साथ शाह साहब उन्हें लेने के लिए हाज़िर हैं। मुझे ग़ुस्सा आ गया और उनसे पूछ बैठा कि क्या डा. ज़ाकिर हुसैन का सभी-कुछ ले जाने पर तुले हैं ? शाह साहब मानो आसमान से गिरे, और अपना-सा मुंह लिये, अपमानित-सा महसूस करते हुए लौट गए। डा. ज़ाकिर हुसैन को इससे बड़ी तकलीफ़ हुई। 'यह आपने क्या किया, मुजीब साहब?' पर मुझे कोई पछतावा नहीं था, और उसके बाद उनका फ़र्नीचर फिर कभी 'उधार' नहीं मांगा गया।

1927 की शरद ऋतु से लेकर तब तक जब कि ओखला में जामिया के अहाते में ही रहने के लिए वह चले आए, अपने परिवार के साथ एक किराए के मकान में ही बने रहे। सड़क से लगे हुए एक बरामदे में द्वार खुलते थे, जिसके बाद एक आंगन था जिसमें एक ओर रसोईघर और शौचालय था और दूसरी ओर दो कोठरियां; इनके बीच का दरवाज़ा एक गली में खुलता था। करौलबाग, जहां तब जामिया थी, दिल्ली से बिलकुल अलग पड़ता था, और न वहां बिजली थी और न पानी का नल ही। मल-सफ़ाई व्यवस्था भी गई-गुज़री थी, और जो लोग ज़रा सफाई और आराम में रहना पसंद करते थे उनके लिए सिवा बेहतर वक़्त का इंतज़ार करने के कोई चारा नहीं था।

डा. ज़ाकिर हुसैन की और उनकी बेगम की दिनचर्या अलग-अलग थी। ''वह तो सबेरे चार बजे ही उठ जाती हैं।'' उन्होंने अपने ही ख़ास तरीक़े से मुझे बतलाया था, ''बकरी का मिमियाना शुरू होते ही वह उठ जाती हैं। पहले वह बकरी को खिलाती हैं, फिर ख़ुद खाती हैं। मेरी बारी काफ़ी बाद को आती है। वह अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ खाती-पीती हैं, जिसे वह सिर्फ़ अपने लिये ही फ़ायदेमंद बताती हैं। मैं जब अपने काम के लिये तैयार हो जाता हूँ तब एक औंधी टोकरी के नीचे से अपना नाश्ता निकाल लेता हूँ, जहां कि वह बिल्लियों से बचाने के लिए रख दिया जाता है।''

बेगम ज़ाकिर हुसैन स्वभावत: क़ायदे से काम करना पसंद करती थीं। उनके घर पर मैं दो बार काफ़ी लंबे अरसे तक रहा हूँ, और एक बार भी खाने के वक्त में ज़रा भी देर नहीं हुई। वक़्त हो जाने पर नौकर लड़का, बिना मेरे बुलाए ही, आकर देख जाता कि मैं मौजूद हूं या नहीं, और फिर फौरन ही मेरा खाना आ जाता। पठानों के यहां क़ायदा यह था कि पुरुष और स्त्रियां एक साथ खाने के लिये न बैठें, और हो सकता है कि बेगम ज़ाकिर हुसैन इस रिवाज के खिलाफ़ जाना न पसंद करती हों। फिर भी, डा. ज़ाकिर हुसैन जब कभी भी वक़्त की पाबंदी बरतते थे तब उन्हें पुरस्कार स्वरूप ताज़ा गरम खाना मिल जाता था। मगर बेगम ज़ाकिर हुसैन भी दब्बू क़िस्म की महिला नहीं थीं, और उनकी दिनचर्या अलग ही रहती थी। वैसे भी दोनों के लिये यह फ़ायदेमंद था। मियां को वक़्त का पाबंद न पाकर बीवी को कोई शिकायत नहीं थी, और मियां भी अपने वक़्त को अपने ढंग से

बिताने के लिए आज़ाद थे। बेगम ज़ाकिर हुसैन ने जब मेरे सामने पर्दा करना छोड़ दिया, तब उन दोनों के बीच जो बातचीत मुझे सुनने को मिलती थी उसमें भी आज़ादी का इज़हार होता था। ज़्यादतर तो वह दोनों एक-दूसरे से नहीं एक-दूसरे को सुना कर ही कुछ कहते थे।

डा. ज़ाकिर हुसैन का सवेरे का नाश्ता, जो वह क़रीब आठ बजे करते थे, आमतौर पर खिचड़ी का होता था-एक, या दो भी बड़ी-बड़ी तश्तरियां भर कर। अगला खाना साढ़े चार या पांच बजे होता था, जिसे वह टोकरी के अंदर से निकाल लेते थे। फिर कुछ देर आराम करने के बाद या तो दूसरों से मिलने के लिए बाहर निकल जाते थे, और या उन लोगों के साथ टहलने के लिए चल देते थे जो ख़ुद उनके यहां आ पहुंचते थे। बातचीत गंभीर विषयों पर हो सकती थी, और बिलकुल फ़ालतू बात पर भी, और कहीं भी हो सकती थी, कमरे के किसी भी हिस्से में या सड़क के ही किनारे। उनके सहयोगी इस तरह की बातचीत के लिये बराबर उत्सुक रहा करते थे। जहां तक उनका ख़ुद का सवाल था, वह अगमतौर पर बातों को कुछ टेढ़े ढंग से पेश करने में मज़ा लेते थे; मामूली बातों को मामूली ही ढंग से कह डालना उन्हें क़तई पसंद नहीं था, और बिलकुल साफ़ और सीधी बात मजबूरी में ही करते थे। सबसे ज़्यादा मज़ा उन्हें ऐसी बातचीत में आता था, जब किसी ऐसे मसले पर जिस पर दूसरे लोग एकमत हों या जो बात साफ़ तौर पर ही सही दिखाई दे रही हो, वह उलटा ही रुख़ लेने का मौक़ा पा सकें, और तब वह इस तरह दलील पर दलील देते चले जाते थे कि हर एक की अक़्लमंदी और सूझबूझ की परीक्षा हो जाती।

1930 में डा. सलीमुज़्ज़मां सिद्दीक़ी जब तिब्बिया कालेज में रसायनिक अनुसंधानशाला के डाइरेक्टर होकर चले गए, तब से डा. ज़ाकिर हुसैन के शाम के कार्यक्रम में एक तबदीली आ गई। वह एक प्रतिभाशाली रसायनज्ञ, चित्रकार, संगीतज्ञ और बातचीत में बड़े ही पटु थे। साथ ही उनकी तबियत में कुछ ऐसी अलमस्ती थी जो दूसरों को लुभा लेती थी और उन्हें भी कुछ देर के लिये अलमस्त बना देती थी। उनकी जर्मन पत्नी टिली, जिनका हर समस्या के प्रति वही तर्कपूर्ण दृष्टिकोण था जिसके लिए, जाति विख्यात है, सभी बातों में उनसे असहमत रहती थीं, लेकिन फिर भी लगता था कि जैसे पति की तर्क-असंगत दिनचर्या से वह कुछ ज़्यादा परेशान नहीं थीं। जब यह दंपत्ति भी क़रौलबाग़ में आकर रहने लगी थी तब डा. ज़ाकिर हुसैन का मेलजोल उनके लिए नियमित बन गया। डा. ज़ाकिर हुसैन को ख़ुद भी जामिया मिल्लिया की फ़िक्रों और एक ही ढर्रे की बातचीत के बाद उन लोगों के साथ अपनी शाम बिता कर चैन मिलता था। लेकिन कभी-कभी उन्हें जिस तरह की चीज़ें खाने का शौक़ होता था, ख़ासतौर से जामा मस्जिद वाले गरम मसालेदार कबाबों का, उनसे उनके हाज़मे पर असर पड़ता रहा और संभव है कि बाद में उन्हें जो बीमारियां भुगतनी पड़ीं उनका एक कारण यह भी रहा हो मगर उनसे कहा जाता,

तो वह यही जवाब देते कि पुराने वक़्तों से चले आने वाले कबाबों का जो स्वाद है उसे देखते यह ख़तरा मोल लेना भी कुछ बुरा नहीं ।

दिसंबर 1932 में, गेर्डा फ़िलिप्सबार्न भी आ पहुंचीं-आने के ख़िलाफ़ दी गई सलाह, चेतावनियों और फटकारों के बावजूद । उनके सामने और कोई चारा था भी नहीं । जर्मनी में घटनाचक्र जिस तरह घूमा था उससे यहूदियों का भविष्य अंधकारमय हो उठा था, उनके परिवार को अपना घर-बार छोड़ना पड़ा था और देश निकाले का डर उनके सामने था । पहले वह फ़िलिस्तीन गईं, और कुछ अरसे तक वहां काम करने के बाद उन्होंने डा. ज़ाकिर हुसैन को ख़बर भेजी कि वह भारत आ रही हैं । उनके राह ख़र्च का इंतजाम किया गया; और बंबई में जब जहाज़ से उतरीं तो डा. ज़ाकिर हुसैन उन्हें लिवा लाने के लिए वहां मौजूद थे । 1933 में नए वर्ष के दिन वह भी जामिया मिल्लिया के स्टाफ़ में औपचारिक रूप में नियुक्ति पा गईं ।

आ तो गईं, पर उन्हें काम क्या दिया जाए ? प्राक् -प्रारंभिक शिक्षा प्रदान करने के क्षेत्र में उनका कुछ दख़ल था, लेकिन उनके लिए जामिया में तब तक कोई समुचित व्यवस्था नहीं की जा सकती थी । इसलिये उन्हें प्राइमरी स्कूल और सबसे छोटे बच्चों वाले छात्रावास के साथ संलग्न कर दिया गया । प्राइमरी स्कूल के हेडमास्टर अब्दुल ग़फ़्फ़ार मुधोली यों तो नम्र प्रकृति के थे, क़रीब-क़रीब अपने को मिटा देने वाले, लेकिन अनुशासन के मामले में वह ज़रा भी ढील देने को तैयार नहीं थे और वक़्त की पाबंदी और नियमितता उनके लिये अंध-श्रद्धा का रूप ले चुकी थी । डा. ज़ाकिर हुसैन उनकी याद यह कह कर करते थे कि उन्होंने उन्हें वक़्त की पाबंदी की सीख दी थी । एक बार स्कूल की बैठक का सभापतित्व करने के लिये डा. ज़ाकिर हुसैन को आमंत्रित किया गया था और वह दो या तीन मिनट देर से पहुँचे थे । उन्होंने देखा कि बैठक शुरू हो चुकी है और सभापतित्व कोई दूसरा ही कर रहा है । अब्दुल ग़फ़्फ़ार मुधोली किसी के लिये भी कोई छूट देने वाले शख़्स नहीं थे, डा. ज़ाकिर हुसैन तक के लिये भी । गेर्डा फ़िलिप्सबार्न के स्त्री होने या डा. ज़ाकिर हुसैन की दोस्त होने की वजह से उनका ख़ास ख़याल करने की बात तो उनके लिये मुमकिन ही नहीं थी । दूसरी ओर वह महसूस करती थीं कि उनके सुपुर्द जो काम किया गया है वह एक औपचारिकता मात्र है; उनका वास्तविक कार्य था डा. ज़ाकिर हुसैन का साथ, उनकी देखभाल, उनकी सेवा में अपने को समर्पित किये हुए हैं, उनकी सहचरी हैं और उनके लिये प्रेरणा की स्रोत हैं । मुझे याद है कि अब्दुल ग़फ़्फ़ार मुधोली से मिस फ़िलिप्सबार्न के ख़िलाफ़ इस तरह की लिखित शिकायतें पाने पर कि वह देर से काम पर आईं, या उन्होंने अपनी क्लास नहीं ली, डा. ज़ाकिर हुसैन क्षुब्ध हो उठते थे, जबकि वह मानते थे कि किसी योजना पर बात कर रही थीं जो मिस फ़िलिप्सबार्न की निगाह में अपनी क्लास लेने से कहीं ज़्यादा महत्वपूर्ण काम था । तनाव की एक दूसरी वजह थी गेर्डा फ़िलिप्सबार्न का इस बात पर अड़े रहना कि डा. ज़ाकिर हुसैन के ख़ाली

वक़्त में उनके साथ जामिया के बाहर का कोई भी शख़्स हिस्सा नहीं बटा सकता। सिद्दीक़ी दंपति को इस बात से बेहद खीज होती थी, और सच पूछा जाय तो उनका संग-साथ डा. ज़ाकिर हुसैन को भी अधिक प्रिय था और उससे उन्हें वह आराम मिल जाता था जिसकी उन्हें इच्छा भी थी और ज़रूरत भी। मगर उनके वक़्त पर और उन पर गेर्डा फ़िलिप्सबोर्न ने जो क़ब्ज़ा कर रखा था उसे ढीला करने की दिशा में वह कुछ भी कर सकने में असमर्थ थे। गेर्डा फ़िलिप्सबार्न उनके लिये या जामिया मिल्लिया के लिये अपनी निष्ठा का जो दावा करती थीं उसकी बराबरी यह लोग नहीं कर सकते थे और न आंखों में आंसू भरकर प्रतिवाद के हथियार का ही इस्तेमाल कर सकते थे। मगर इसमें भी कोई शक नहीं कि डा. ज़ाकिर हुसैन की कल्याण-कामना और जामिया मिल्लिया के प्रति उनकी सच्ची लगन बहुत गहरी थी। नमक सत्याग्रह और उसके बाद का सत्याग्रह आंदोलन मार्च, 1930 में शुरू हुआ था। जामिया मिल्लिया के अध्यापक और विद्यार्थी राजनीतिक घटनाओं के प्रवाह से कभी भी अपने को अलग नहीं रखते थे, और उनमें से जो लोग ज़्यादा जोशीले और प्रभावशाली थे वह पूरे दिल और उत्साह के साथ गांधी जी और कांग्रेस की राजनीति के पक्ष में थे। गांधी जी के स्वराज फ़ंड का पहला चंदा जामिया में ही विद्यार्थियों और अध्यापकों से मिला था। हर साल 'राष्ट्रीय सप्ताह' (7 से 13 अप्रैल तक) में सभाएं होती आई थीं जिनमें जोशीले भाषण दिए जाते थे; सप्ताह के आख़िरी दिन 13 अप्रैल को, छात्रावास के नौकरों का, चपरासियों का, रसोइयों का, भंगियों का सारा काम अध्यापक और छात्र ख़ुद करते थे, और एक सहभोज के साथ उस दिन कार्यक्रम पूरा होता था। तीन-चार साल तक तो करौलबाग की एक समूची बस्ती में सफ़ाई का काम किया जाता रहा, जिसमें उस बस्ती में रहने वालों को भी शामिल करने की कोशिश होती थी। नमक सत्याग्रह ने एक कठिन समस्या पैदा कर दी। शफ़ीकुर्रहमान किदवई और हाफ़िज़ फ़ैयाज अहमद सत्याग्रह आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने का अपना इरादा पहले ही बतला चुके थे, और ऐसा ही देवदास गांधी ने भी किया था, जो तब जामिया के स्टाफ़ पर थे। सी. कृष्णन नायर, के.सी. डेगा और हसीन हस्सान उन विद्यार्थियों में थे जिन्होंने उसमें भाग लेने का फ़ैसला किया। यह बात तो सभी मानते थे, शफ़ीकुर्रहमान किदवई भी, कि राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सा लेने के लिए गुजरात विद्यापीठ या काशी विद्यापीठ की तरह जामिया मिल्लिया भी अगर अपनी पढ़ाई का काम रोक देती है तो उसके बाद वह फिर चालू हो सकेगी या नहीं, यह उस राजनीतिक संघर्ष के परिणाम पर निर्भर करेगा। अगर आज़ादी हासिल हो जाती है तो जामिया मिल्लिया सबसे ज़्यादा लोकप्रिय मुस्लिम संस्थाओं में गिनी जायगी; अगर नहीं, तो अधिक से अधिक लगन वाले भी राष्ट्रवादी मुसलमान जामिया मिल्लिया को फिर आगे नहीं चला सकेंगे। भारतीय मुसलमान के अंदर वह लगन है ही नहीं जो किसी बड़ी ज़रूरत के वक़्त छोड़ दिये जाने वाले काम को फिर से शुरू करा सके। डा. ज़ाकिर हुसैन को अब यह फ़ैसला करना था

कि जामिया मिल्लिया का काम चलता रहे या वह बंद कर दिया जाए, और उन्होंने पक्का फ़ैसला कर दिया कि उसका काम चलता रहेगा- यह जानते हुए भी कि उससे ग़लतफ़हमियां पैदा हुए बिना नहीं रहेंगी। जैसा कि उन दिनों के अपने एक भाषण में उन्होंने कहा भी था, जामिया का काम है नौजवानों को प्रशिक्षित करके ऐसे नागरिक बनाना जो आज़ादी की लड़ाई को जारी रख सकें और जब आज़ादी मिल जाए तब उसे सार्थक बना सकें और उसे मूर्त रूप दे सकें। अपने इस काम में कोई रद्दोबदल करनेकी बात उनके सामने आती ही नहीं है। लेकिन जो लोग सत्याग्रह आंदोलन में हिस्सा लेना अपना कर्त्तव्य मानते हैं उन्हें ज़रूर ऐसा करना चाहिए। सब से पहले सभा में शफ़ीक़ुर्रहमान किदवई ने सत्याग्रह आंदोलन में हिस्सा लेने के अपने इरादे का ऐलान किया; डा. ज़ाकिर हुसैन ने उन्हें बधाई दी और अपना यह विश्वास प्रकट किया: उन्हों ने अपनी कर्त्तव्य भावना से प्रेरित होकर ही यह फ़ैसला किया है और हर व्यक्ति को इस फ़ैसले का स्वागत करना चाहिए। अत: जहाँ एक ओर जामिया शांतिपूर्ण ढंग से अपना काम करती रही वहीं दूसरी ओर शफ़ीक़ुर्रहमान क़िदवई साहब, हाफ़िज़ फ़य्याज़ अहमद साहब और सी.के. नायर साहब ने सरकार के विरुद्ध होने वाली स्थानीय कार्यवाही में आगे बढ़ कर पहल की।

स्वभाव

1936 की शरद ऋतु में एक दिन वह दफ़्तर से सबेरे ग्यारह बजे घर आए। उन्हें भूख लगी हुई थी। जल्दी-जल्दी उनके लिए कुछ खाना तैयार किया गया और उन्होंने जी भर कर खाया। क़रीब बारह बजे अलीगढ़ से एक दोस्त आ पहुंचे। उनके लिये खाना बनाया गया और डा. ज़ाकिर हुसैन भी बदस्तूर खाने में शामिल हुए, मगर रस्म-अदाई की ख़ातिर नहीं, बल्कि पूरी तरह से। मुश्किल से उनका वह दूसरा खाना ख़त्म हुआ था कि नई दिल्ली के एक दोस्त, जो उन्हें दोपहर के खाने की दावत दिए हुए थे, अपनी मोटर से उन्हें ले जाने के लिए आ गए। डा. ज़ाकिर हुसैन इस दावत की बात बिलकुल ही भूल गए थे और उन्होंने माफ़ी चाही, मगर उन दोस्त की पत्नी ने उनकी पसंद की चीज़ें तैयार करने में बड़ी मेहनत की थी, इसलिए वह किसी तरह भी उन्हें छोड़ने को तैयार नहीं हुए। लाचार डा. ज़ाकिर हुसैन को उनके साथ जाना पड़ा, और चूँकि वह इस सिद्धांत के मानने वाले थे कि अगर कोई काम किया जाए तो पूरी लगन के साथ किया जाए, इसलिए उन्होंने सिर्फ़ खाया नहीं, बल्कि पूरा स्वाद ले-ले कर खाया, और दोस्त की पत्नी द्वारा अपनी ख़ातिर बनाए गए हर खाने की तारीफ़ करते गए।

अगले ही दिन ग्लोकोमा का जबर्दस्त दौरा पड़ा और वह घंटों एक ऐसी यंत्रणा भोगते रहे जैसी पहले कभी नहीं भोगी थी।[1]

जो कुछ उन्होंने किया था ग़लत था, इसमें शक नहीं। लेकिन प्रकृति और बुद्धिमानी

के विपरीत उन्होंने जो कुछ किया था उसे हम उनसे अलग करके नहीं देख सकते। मुस्लिम संस्कृति में अच्छे खाने को बहुत अधिक महत्व दिया गया है और आदमी के लिए उसे ख़ुदा की एक नियामत माना गया है जिसके लिए उसका आभारी होना ज़रूरी है। इस तरह मुस्लिम संस्कृति के अनुसार सामाजिकता का सर्वमान्य आधार आपसी बातचीत, और खाने-पीने की इच्छा तथा उसकी तारीफ़ करना ही है। डा. ज़ाकिर हुसैन अगर खाने-पीने के शौक़ीन न होते तब भी जो सामाजिकता उनकी प्रकृति में थी, और जो उनकी संस्कृति द्वारा भी सराहनीय थी, केवल उसी के कारण उन्हें यह दिखाने के लिए बाध्य होना पड़ता था। जो लोग उनके प्रशंसक थे और उनकी सोहबत चाहते थे उन्हें भी, उसी प्रकार, अच्छे से अच्छे खाने की दावत देनी होती थी और यही मानकर चलना होता था कि परोसी हुई हर चीज़ वह ख़ूब डट कर खाएंगे। यहां तक कि जब यह बात प्रगट थी कि वह मधुमेह रोग से ग्रस्त हैं और चावल और मिठाइयां और गरिष्ट भोजन करना उनके लिए मना है तब भी मैं जामिया के अपने सहयोगियों को इस बात के लिए तैयार नहीं कर पाया कि उन्हें जब वह दावत दें तो दावतों वाला खाना न खिलाकर ऐसा सादा भोजन कराएं जो उनके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक न हो। यह बात नहीं कि उनकी स्वास्थ्य की चिंता उन्हें मुझसे कुछ कम थी, मगर उनके लिए यह बात अकल्पनीय थी कि उस तरह के मेहमान को बिलकुल मामूली और अस्वादिष्ट खाना खिलाया जाए।

मगर डा. ज़ाकिर हुसैन को भी मैं निर्दोष नहीं सिद्ध करना चाहता। बढ़िया खाना खाने से अपने को वह रोक नहीं पाते थे।[1] लेकिन अगर हम आचार-व्यवहार के उनके उस समूचे स्वरूप पर भी ध्यान दें जिसके कि वह ख़ुद भी क़ायल थे, तो हम देखेंगे कि वह भी अपने अनुसार हर खाने के समय शुक्रगुज़ार महसूस करते थे, हालांकि जैसा खाना उन्हें मिलता था वह उनकी मुख़्तसर-सी आमदनी के हिसाब से ही हो सकता था। गेर्डा फ़िलिप्सबार्न ने एक बार उनके शाम के खाने के लिए जर्मन तरीक़े से कलेजी और प्याज़ का एक खाना बनाया। वह आ नहीं सके, तो उन्होंने अगले दिन के भोजन के लिए उसे उठाकर रख दिया। मौसम गरमी का था और अगले दिन गोश्त ख़राब हो चुका था। डा. ज़ाकिर हुसैन जब आए तो अपने साथ अपने सहयोगी हामिद अली खां को भी लेते आए। कलेजी को चखने के बाद डा. ज़ाकिर हुसैन ने हामिद अली खां को उसे न खाने की सलाह दी। नतीजा यह हुआ कि गेर्डा फ़िलिप्सबार्न और हामिद अली खां ने ताज़ी पकाई हुई सब्ज़ियां खाईं और डा. ज़ाकिर हुसैन ने पूरी-पूरी कलेजी ख़ुद खा डाली। बाद को जब उन्हें यक़ीन हो गया कि वह बच जाएंगी तब कहीं जाकर उन्होंने हामिद अली खां को उस गोश्त के ख़राब हो जाने वाली बात बताई और इस बात की सफ़ाई पेश की कि सिर्फ़ उन्होंने ही उसे क्यों खा डाला।

इस तरह की सबसे ज़बर्दस्त मिसाल मुझे उन दिनों देखने को मिली जबकि उन पर ग्लोकोमा का पहला दौरा पड़ा था। वह बिस्तर पर पड़े दर्द से छटपटा रहे थे, कमरे के

दरवाज़े बंद थे और उनके कुछ दोस्त पहरे पर थे, ताकि कोई उन्हें परेशान न करे। लेकिन क़िस्मत की बात कि तभी पंजाब के किसी स्थान से एक मुसलमान सज्जन आ पहुंचे और उनसे मिलना चाहा। उन्हें बताया गया कि डा. ज़ाकिर हुसैन सख़्त बीमार हैं और किसी से मिल नहीं सकते। लेकिन आगंतुक टस से मस न हुए, और बोले कि वह इतना रास्ता तय करके पंजाब से आए हैं, डा. ज़ाकिर हुसैन से मिले बिना हर्गिज़ वापिस नहीं जाएंगे। यह देखकर कि हम भी उन्हें अंदर न जाने देने पर तुले हुए हैं वह और भी ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगे। आख़िरकार हम लोगों के झगड़े की आवाज़ डा. ज़ाकिर हुसैन तक भी पहुंच गई और उन्होंने जानना चाहा कि बात क्या है। उन्हें उस ज़िद्दी आदमी के बारे में बताया गया और यह भी कि उसे कितना समझाया-बुझाया गया है। डा. ज़ाकिर हुसैन ने उस व्यक्ति को अंदर ले आने के लिए कहा। जब उनके दोस्तों ने इंकार कर दिया तो वह बहुत ही बेचैन हो उठे और यह धमकी तक दे डाली कि अगर उस व्यक्ति को अंदर नहीं आने दिया गया तो वह ख़ुद उठकर बाहर जाएंगे। उनके दोस्तों को तब मजबूर हो जाना पड़ा।

उनके इस तरह के व्यवहार का ही एक दूसरा पहलू तब देखने को मिला जब 1933 में उनकी शिशु कन्या रेहाना चल बसी। बड़ी प्यारी बच्ची थी, गुलाबी गाल, भूरे बाल और बड़ी-बड़ी गंभीर आंखें। डा. ज़ाकिर हुसैन उसे बहुत प्यार करते थे। इम्तिहान में पास होने वाले प्राइमरी स्कूल के लड़कों को वह मिठाइयां बांट रहे थे जब एक चपरासी ने आकर उनके कानों में कुछ कहा। वह उसी तरह मिठाई बांटते रहे। कुछ देर बाद फिर वह चपरासी आया और फिर उनके कानों में कुछ कहा। डा. ज़ाकिर हुसैन का चेहरा एक दम पीला पड़ गया, मगर मिठाई बांटने का काम उन्होंने नहीं रोका। इसी बीच ज़ोर-ज़ोर से घंटा बजना शुरू हुआ और बजता ही चला गया। लोगों के बीच खलबली मच गई कि बात क्या है। पता चला कि बिलकुल अचानक ही रेहाना चल बसी।[1] सारा कामधाम बंद हो गया और जामिया के लोग डा. ज़ाकिर हुसैन के घर पर इकट्ठे होने लगे। वह ख़ुद सबसे आख़िर में पहुंचे। देर की वजह पूछे जाने पर बोले कि यह बुरी ख़बर उन्हें मिल तो गई थी किंतु वह स्कूल के एक समारोह में सम्मिलित थे और बच्चे इतने खुश दिखाई दे रहे थे कि वह उन्हें बीच में ही छोड़कर नहीं आ सकते थे। कुछ गुमसुम से ज़रूर नज़र आए, मगर वैसे उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ रहा था। उन्होंने यह ज़ाहिर नहीं होने दिया कि वह अपनी एक बहुत प्यारी बच्ची का अंतिम संस्कार कर रहे हैं। बाद को मैंने बेगम ज़ाकिर हुसैन की ज़बानी सुना कि कई दिन तक रोज़ सबेरे उनका तकिया गीला पाया गया तभी वह भी जान पाईं कि वह सारी रात रोते रहे थे। मुसीबत और तकलीफ़ के वक़्त वह कहां से सहारा लेते थे? अगर उनसे यह सवाल किया जाता तो यह इसका जवाब देते ही नहीं। अपने सहयोगियों से वह कहा करते थे कि हर बीते हुए दिन के लिए हमें कृतज्ञ होना चाहिए। या कभी-कभी वह उनसे यह भी कहा करते थे कि अगर किसी

लक्ष्य को सामने रखकर हम चल रहे हैं तो इतना काफ़ी है, सारी बातों को देखो तो किसी आदमी की ज़िंदगी की क़ीमत ही क्या है? उनके अंदर एक ऐसी विनोदशीलता थी कि जिन लोगों के बीच वह जिस वक़्त होते थे सिर्फ़ उन्हीं के बीच जान नहीं डाल देते थे बल्कि ख़ुद भी रोज़मर्रा की चिंता से इतने ऊंचे उठ जाते थे कि हास-परिहास के वक़्त अपने को भी नहीं बख़्शते थे। उनकी ज़िंदगी को गढ़ने में गांधी जी के व्यक्तित्व का ज़बर्दस्त असर था, मगर उन्होंने एक नहीं कई बार यह बात कही थी कि गांधी जी की जिस बात ने उन्हें सबसे ज़्यादा लुभाया था वह थी ख़ुद अपना मज़ाक़ उड़ा सकने की उनकी क्षमता।

मगर यहां सवाल इस बात का है कि उनकी आध्यात्मिक और नैतिक शक्ति के मूल स्रोत क्या थे। इस सवाल का जो जवाब मैं देना चाहूंगा वह पुरातनपंथी और बिलकुल पुराने ढंग का लगे गा, हालांकि वही मुझे सही मालूम होता है। उनकी शक्ति के स्रोत थे क़ुरान और फ़ारसी काव्य।

जामिया मिल्लिया का दायित्व उन पर आ पड़ने के बाद शुरू के दस साल तक सिर्फ़ मुसलमानों से ही उसमें दिलचस्पी लेने की उम्मीद की जाती थी, उसके लिए यह ज़रूरी था कि उनकी मज़हबी भावनाओं को महत्व दिया जाए। लेकिन उस ज़माने के लिए अपने अधिक से अधिक प्रभावशाली भाषणों में डा. ज़ाकिर हुसैन ने धार्मिक विचारों वाले व्यक्ति के रूप में कभी बात नहीं की। पांच बार नमाज़ पढ़ने की रूढ़ि का भी वह नियमपूर्वक पालन नहीं करते थे। लेकिन नमाज़ वह पढ़ते थे, ज़्यादातर रात को और तड़के सबेरे। क़ुरान वह नियमित रूप से पढ़ते थे; रमज़ान के दिनों में तो वह उसे जितनी बार भी मुमकिन हो सकता था पूरा का पूरा पढ़ जाते थे। यह हमेशा से चले आने वाले क़ायदे के ही अनुसार था। रोज़ा (व्रत) भी वह बराबर रखते थे। कोई यह नहीं कह सकता था कि वह रूढ़िवादी नहीं हैं, न कोई यही कह सकता था कि वह रूढ़िवादी हैं। मगर मुझे याद है कि एक बार जब हम मुसलमान की परिभाषा करने की कोशिश कर रहे थे तब उन्होंने क़ुरान की एक आयत सुनाई थी जिसमें आस्तिक उन्हें बताया गया है जो दृढ़ निश्चय, ईमानदार, आज्ञाकारी और परोपकारी हैं और जो दिन निकलते ही क्षमा याचना करते हैं।[1] इनमें से पिछली यानी क्षमा याचना वाली बात पर ही वह ज़्यादा ज़ोर देते थे। अब यह मेरे ऊपर था कि इसका मतलब मैं जो चाहूं लगाऊं।

जहां तक कि फ़ारसी काव्य का सवाल है, हमें यह याद रखना होगा कि डा. ज़ाकिर हुसैन एक ऐसे समाज में पाले-पोसे गए थे जिसमें काव्य सौंदर्यवादी तथा बौद्धिक स्वतंत्रता का, मनुष्य के रूप में अपने दावे को पेश करने का प्रतीक रहा है और जहां काव्य ने मानव मन को आंदोलित करने वाली हर दूसरी चीज़ के सामने-धर्म, किताबी ज्ञान, सांसारिक विचार, साधारण बोध-अपने इस दावे की वजह से, कि वह प्रेम का अर्थात एक ऐसे विधान का प्रतिनिधित्व करता है जो सभी दूसरे विधानों से ऊपर है- से

अपने को उनके प्रतिद्वंद्वी के रूप में रखा है। हर क्षण ने, हर बड़ी घटना ने, अपने विशिष्ट कवि उत्पन्न किये हैं, अपनी विशिष्ट कविता को जन्म दिया है। जामिया मिल्लिया की स्थापना की यादगार में हमेशा कविता पढ़ी जाती थी और हर ऐसे मौक़े पर भी जबकि जोश पैदा करने की ज़रूरत पड़ती थी। ऐसे शायरों में एक थे मौलाना मुहम्मद अली, एक दूसरे शायर थे धर्मतत्वज्ञ एवं विद्वान मौलाना मुहम्मद अस्लम जैराजपुरी-ऐसे लोग जिनसे इस बात की ज़रा भी उम्मीद नहीं की जा सकती थी कि काव्य देवी के भी वह कृपापात्र हो सकते हैं। डा. ज़ाकिर हुसैन उन लोगों में नहीं थे जो भावुकता के प्रवाह में अपने को बहने देते हैं। फ़ारसी और हिंद-फ़ारसी के शायरों को उन्होंने अपनी पसंद के अनुसार चुन लिया था और उनसे वह अपनी अंतर्रात्मा के लिए बल पाते थे, किसी कवि के उन क्षणों को आत्मसात करते थे जिनके अंदर अनंत में विलीन हो जाने पर किसी अनुप्राणित क्षण की पूरी शक्ति क़ायम रहती थी।

फ़ारसी के सूफ़ी कवि सरमद की एक चौपदी है जिसे उन्होंने जामिया के सबसे बड़े खुशनवीस उस्ताद अली मुहम्मद खां से सजावट के तौर पर अपने पास रखने के लिए लिखवाया था:

सरमद गिला इख़्तसार मी बायद कर्द
यक कार अज़ीं दो कार मी बायद कर्द
या तन बरज़ाए दोस्त मी बायद दाद
या क़ते नज़र ज़े यार मी बायद कर्द

(ऐ सरमद अपना उपालंभ समाप्त कर। तेरे सामने दो ही मार्ग हैं। या मित्र (परमेश्वर) की इच्छा पर स्वंय को समर्पित कर दे और या फिर उससे संबंध विच्छेद कर ले।)

शिक्षा संबधी विचार और आदर्श

डा. ज़ाकिर हुसैन जब उपराष्ट्रपति और राष्ट्रपति के उच्च पदों पर रहे तब उनके धर्मनिरपेक्ष होने की सराहना बहुधा की गई। इस तरह की तारीफ़ करने वालों का मतलब अगर यह था कि इस देश का सर्वोच्च पद उन्हें केवल इसलिये दिया जा सकता था कि वह बहुत कम मात्रा में मुसलमान थे तो भारत के राष्ट्रपति के रूप में वह जामिया मिल्लिया के प्रधान की तुलना में कहीं अधिक मुसलमान बन कर रहे। मगर दूसरी ओर, जो मुसलमान यह मान बैठे थे कि पूरे मुसलमान न होने की छाप डाल कर ही उन्होंने उस उच्च पद को प्राप्त किया था, वह भी उतनी ही बड़ी ग़लती कर बैठे थे। 'धर्म' और 'धर्म निरपेक्ष' पदों का व्यवहार इतने बेहूदा ढंग से किया जाने लगा है कि उनका कोई अर्थ ही नहीं रह गया है, और यह घपला इसलिये और भी बढ़ गया है कि हम लोग कर्त्तव्यों के नहीं अधिकारों के ही बारे में हमेशा सोचते और बात करते रहते हैं। किसी ऊंचे से ऊंचे पद ने भी डा.

ज़ाकिर हुसैन को अच्छे, बल्कि पक्के मुसलमान बने रहने के अधिकार से वंचित नहीं किया था, बल्कि ऐसे ही पद के साथ यह नैतिक दायित्व था कि उसे ग्रहण करने वाला अपने द्वारा अवधारित उच्चतम मानदंड के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का पालन करे। उनके लिये यह उच्चतम मानदंड वही इस्लामी मानदंड थे जिन्हें ज़िंदगी भर वह अपने अंदर पोसते आए थे, भले ही दूसरों की निगाहों में वह उस कसौटी पर न उतरते हों जिस पर हम किसी विशेष धर्म और परंपरागत संस्कृति के प्रतिनिधियों के रूप में एक दूसरे को परखते हैं।

अपने विचारों को उन्होंने 1928 में मैसूर में होने वाले विश्वधर्म सम्मेलन में ही शायद पहले पहल, मुख्यत: एक गैर-मुस्लिम श्रोतामंडली के सामने रखा था। वहां उन्होंने मुसलमानों की पृथक सत्ता के अधिकार को पूरी तरह सही बताते हुए, मुसलमानों को यह चेतावनी दी थी कि इस्लाम तभी क़ायम रह सकता था जब कि वह एक सक्रिय रचनात्मक शक्ति के रूप में अपना काम यानी अपना वह कर्त्तव्य पूरा करता रहे जो उसकी उत्पत्ति और इतिहास में निहित है।

"अगर कुछ लोग यह समझते हैं कि किसी निरकुंश राजसत्ता के प्रमुख को हटा देने से, या औरतों को गंदे घरों की चहारदीवारी से बाहर निकाल लाने से, इस्लाम ख़त्म हो जाएगा, तो फिर इस्लाम ख़त्म हो ही जाएगा। और जो लोग उस इस्लाम को बचाकर रखना चाहते हैं उनकी उम्मीदें पूरी नहीं होंगी। लेकिन अगर इस्लाम ऐसा धर्म है जो नास्तिक को आस्तिक बनाता है, असभ्यों को सभ्य बनाता है, औरतों को समाज में वह हैसियत और जगह देता है जो पहले उन्हें नहीं मिली हुई थी, जो मनुष्यों को भाई-भाई मानते हुए उनके बीच केवल एक ही उच्च वर्ग को स्वीकार करता है जिसका आधार चरित्र है-तो ऐसा इस्लाम, मुझे यक़ीन है, ज़िंदा रहेगा, और मानव समाज को समृद्ध बनाने में अपना योग देता रहेगा।"

मुसलमानों के एक ख़ास वर्ग के साथ ही पूरे मुस्लिम संप्रदाय की पहचान करने के बहुत बुरे राजनीतिक नतीजे हुए। इस संप्रदाय के आम लोगों-कारीगरों, किसानों, मज़दूरों-की शिक्षा की उपेक्षा की गई जिसका नतीजा यह हुआ कि वह अपनी ज़बान नहीं खोल सके और बोलने वाले उच्च वर्गों के हाथ की कठपुतली बन गए। जामिया मिल्लिया उन कुछ संस्थाओं में से है जिन्होंने उच्च वर्ग की इस घेराबंदी को तोड़ कर सीधे मुस्लिम जनता तक, बल्कि उससे भी आगे जाकर भारतीय जनता तक, पहुंचने की कोशिश की। उसका प्रमुख साधन था उसका प्रौढ़ शिक्षा विभाग, जिसे स्थानीय रूप से भारी सफलता मिली। एक अप्रत्यक्ष किंतु काफ़ी कारगर साधन था उनका राष्ट्रीय स्वरूप जिसने उसे उन लोगों से अलग रख जो शिक्षा को प्रारंभिक रूप में सरकारी नौकरी पाने की योग्यता के तौर पर देखते थे। उसके बहुतेरे अध्यापक ज़रूर, कहने को, मध्यम वर्ग के लोग थे, लेकिन सामाजिक भेदभाव को उन्होंने सिद्धांत रूप में भी त्याग दिया था और

व्यवहार में भी । उसके निम्नस्तरीय कर्मचारी वर्ग को, जिसे सरकारी भाषा में चौथे दरजे का कर्मचारी वर्ग कहा जाता है, अंजुमन (कोर्ट) और कार्यकारिणी में प्रतिनिधित्व प्राप्त था, और नियमों में इस तरह की रियायतें दी गई थीं कि वहां उपलब्ध शिक्षा-सुविधाओं से भी वह लोग लाभ उठा सकें ।

लेकिन इस अभिभाषण से यह भी स्पष्ट है कि डा. ज़ाकिर हुसैन इस बात पर भी ज़ोर देते थे कि परंपरागत धर्म और संस्कृति वाले संप्रदाय के रूप में मुसलमानों को अपनी पृथक पहचान बनाए रखने का अधिकार है । 1935 वाले पिछले ज़माने में भी उन्होंने काशी विद्यापीठ के अपने दीक्षांत भाषण में कहा था:

"शिक्षा की राष्ट्रीय पद्धति में मुसलमानों को यह अधिकार दिया जाएगा या नहीं कि वह अपने सांस्कृतिक जीवन को शिक्षा का माध्यम बना सकें? आप लोग जानते हैं कि हमारे राष्ट्रीय जीवन में यह प्रश्न कितना महत्वपूर्ण है । संभव है कि भले इरादे वाले कुछ ऐसे अतिवादी लोग भी हों जो भारतीय राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण से मुसलमानों को यह अधिकार देना दुर्बलता का एक स्रोत और प्रगति के मार्ग की एक बाधा मानें । किंतु यदि सद्भाव द्वारा प्रेरित अनुभवी शिक्षाविद् लोग देश के लिये किसी शिक्षा-पद्धति का निर्माण करेंगे तो मुझे विश्वास है कि वह मुसलमानों की इस इच्छा को ख़ुशी से स्वीकार कर लेंगे कि उनकी शिक्षा उन्हीं की संस्कृति पर आधारित हो, क्योंकि शिक्षा संबंधी सही सिद्धांत यही है और राजनीति का भी यही उचित तक़ाज़ा है । आप मुझे माफ़ करेंगे अगर इस सम्मानित श्रोता-मडंली के सामने मैं साफ़-साफ़ यह कहूं कि जहां एक ओर स्वार्थपूर्ण व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा, हृदय की संकीर्णता और देश के भविष्य के बारे में कोई सही तस्वीर बना सकने की असमर्थता मुसलमानों को एक सर्वमान्य भारतीय राष्ट्रीयता के विचार से दूर करती जा रही है, वहां दूसरी ओर, उनके दिल में यह शंका भी गहरी घुस बैठी है कि किसी राष्ट्रीय सरकार के अंतर्गत मुसलमानों की सांस्कृतिक विशिष्टता को ख़त्म कर दिये जाने का ख़तरा है । यह एक ऐसी क़ीमत होगी जो मुसलमान किसी तरह भी नहीं देना चाहेंगे । और सिर्फ़ मुसलमान होने के नाते नहीं, बल्कि एक पक्के भारतीय होने के नाते भी, मुझे इस बात की खुशी है कि वह यह क़ीमत देना नहीं चाहते ।"

अपनी पृथक सत्ता को क़ायम रखने की हर संप्रदाय की स्वाधीनता अब तो भारतीय संविधान में ही सुप्रतिष्ठित की जा चुकी है और सभी निष्पक्ष और समझदार लोग उसे एक सिद्धांत के रूप में स्वीकार करते हैं । किंतु किसी शिक्षक के लिये इससे एक गंभीर समस्या पैदा हो गई है । जामिया मिल्लिया इसका एक अच्छा दृष्टांत है । इसके संस्थापकों की इच्छा और गांधी जी के आशीर्वाद से इस संस्था में शिक्षा को अपनी ख़ुराक इस्लाम और परंपरागत मुस्लिम संस्कृति से ही लेनी थी । लेकिन इसके संस्थापक की यह भी इच्छा थी कि यहां के गैर-मुस्लिम विद्यार्थियों को अपने ही धर्म और संस्कृति के अध्ययन का मौक़ा मिले । इसलिये यह, किसी मानी में भी सिर्फ़ एक संप्रदाय की संस्था बन कर

नहीं रह सकती थी, लेकिन फिर भी अपने आधारभूत सिद्धांतों के प्रति इसे निष्ठावान रहना था। अपनी स्थापना के कोई तीन साल बाद इसने अपने राजनीतिक स्वरूप का परित्याग कर दिया। परंपरागत संस्कृति के प्रति निष्ठा रखने का जब एक ऐसा राजनैतिक अर्थ किया जाने लगा जो उदारता और मेल जोल के उसके आदर्श और आचरण के प्रतिकूल था, तब इसे अपने क्षेत्र में क़रीब-क़रीब अकेले ही रह जाना पड़ा। 1937 के आख़िर में डा. ज़ाकिर हुसैन ने बुनियादी तालीम के प्रचार की ज़िम्मेदारी ले ली। उन मुसलमानों के बीच, जो कांग्रेस विरोधी प्रचार के शिकार हो गए थे और यह मान बैठे थे कि बुनियादी तालीम की कुछ ऐसी बातें भी हैं जो इस्लाम के और मुस्लिम संस्कृति के ख़िलाफ़ हैं, कुछ वक़्त के लिये इससे वह और जामिया मिल्लिया दोनों ही बदनाम हो गए। उनकी व्यवहार-कुशलता के कारण ही उनके विरोधी खुल कर सामने नहीं आ पाए, लेकिन यह एक ऐसा उदाहरण है जिससे प्रकट होता है कि अगर कोई शिक्षा संस्था किसी एक संप्रदाय के धर्म और परंपरागत संस्कृति को अपना कर चलती है तो इसी संप्रदाय के राजनीतिक रूप में सक्रिय तथा प्रचंड तत्वों के साथ, जो कि शिक्षा देने वाले का और परंपरागत संस्कृति संबंधी उसके उद्देश्यों और आदर्शों की धारणा का ही विरोध कर सकते हैं, उनका संघर्ष उत्पन्न हो सकता है। हमें यह भी याद रखना होगा कि परंपरागत संस्कृति को ज़्यादातर तो बहुसंख्यक लोगों की आदतों, मनोवृत्तियों और हितों के रूप में ही देखा जाने लगता है, जो आमतौर पर आदर्श से बिलकुल ही भिन्न होते हैं। लेकिन इससे इतना ही सिद्ध होता है कि शिक्षा देने वाले का काम आसान नहीं है। जामिया मिल्लिया ने बहुसंख्यक लोगों के रागद्वेषों को कोई छूट दिये, इस्लाम की शिक्षाओं की रूढ़िवादिता पर राजनीतिक व्याख्या को भी स्वीकार किये बिना ही, मुस्लिम परंपरा और संस्कृति का प्रतिनिधित्व किया है। सच पूछा जाये तो उसने मानी हुई परंपराओं और मनोवृत्तियों का समर्थन करने से ज़्यादा उनसे उलटी ओर जाकर अपने एक अलग ही मुस्लिम चरित्र का निर्माण किया है। रूढ़िवादियों को इस बात में आपत्ति है कि जीवित प्राणियों की मूर्ति या तस्वीर बनाई जाए, मगर फिर भी डा. ज़ाकिर हुसैन ने स्कूल के पाठ्यक्रम में चित्रकला को स्थान दिया। उन्होंने नाटकों को लिखवाया भी और उन्हें रंगमंच पर भी प्रस्तुत कराया। प्राइमरी स्कूल में लड़कियों को भी भरती करके उन्होंने सहशिक्षा के लिए ज़मीन तैयार की। रूढ़िवादी बातों को उन्होंने किसी भी शक्ल में लागू नहीं किया। क़ुरान की आयत में यह कह कर कि "धार्मिक विश्वास के मामले में जबर्दस्ती नहीं"[1] सहिष्णुता की ओर ध्यान खींचा गया है। उस पर अमल करते हुए उन्होंने एक ऐसा वातावरण तैयार किया जिसमें विचारों का स्वच्छंतापूर्वक आदान-प्रदान किया जा सकता था और मतभेदों तथा धार्मिक भिन्नताओं के प्रति समझदारी और आदर का भाव रखा जाता था।

रजत जयंती

जामिया मिल्लिया की रजत जयंती 1945 को मनाई जाने वाली थी,[2] और उन्होंने निश्चय किया कि उस मौक़े पर वह कांग्रेस और लीग को एक ही मंच पर ला खड़ा करेंगे। इस मामले में उन्होंने जो कुछ और जिस ढंग से किया था वह योजना बनाने की कला का एक उत्कृष्टतम नमूना था। जामिया मिल्लिया ने पहले एक शिक्षा प्रदर्शनी की, जिसमें उनके साथ एक चक्कर लगाने भर से देखने वाले के दिल में यह बात जमकर बैठ जाती कि उसके काम के पीछे रचनात्मक चिंतन और ठोस व्यावहारिक भावना है, और कतिपय महत्त्वपूर्ण लोगों को उन्होंने उसे देखने के लिये आमंत्रित किया, जिनमें फ़ील्डमार्शल आकिनलेक भी थे। कोई जल्दबाज़ी नहीं की गई। इस बात के लिये काफ़ी वक़्त दिया गया कि बड़े-बड़े लोग आपसी बातचीत में एक दूसरे से फ़ुरसत के साथ इस प्रदर्शनी की चर्चा करें। इसके बाद डा. ज़ाकिर हुसैन ने, इस प्रकार हुए संपर्कों से लाभ उठाकर क़ायदे आज़म जिन्नाह से, हालांकि उन तक पहुंचना यों दुर्लभ था, एक मुलाक़ात पक्की करा ली, और उन्होंने छूटते ही कह दिया कि वह ऐसी हर चीज़ का विरोध करेंगे जो कांग्रेस की तरफ़ से होगी या जिसे कांग्रेस का समर्थन मिलेगा, और इसलिये वह बुनियादी शिक्षा के भी ख़िलाफ़ हैं। मुझे नहीं मालूम कि और भी किन-किन मामलों पर उन दोनों के बीच बातचीत हुई, लेकिन कुछ ही दिन बाद कुमारी फ़ातिमा जिन्ना भी जामिया मिल्लिया वाली शिक्षा प्रदर्शनी को देखने के लिए आ पहुंचीं। उन्होंने निश्चय ही उसकी बड़ी तारीफ़ की होगी, क्योंकि और भी कुछ दिन बाद जिन्नाह ने कहलवा भेजा कि रजत जयंती समारोह में वह भी आएंगे।

जामिया के स्टाफ़ के ही एक सज्जन को तब रसोईघर का काम सम्हालना पड़ा, और किसी तरह मुश्किल से उन्होंने अनाज और गोश्त और तरकारियों का इंतजाम किया। मगर जिस बात ने जामिया वालों को बुरी तरह चिंतित कर दिया था वह तो यह अफ़वाह थी कि कुछ कट्टर मुस्लिम लीगियों ने यह धमकी दी है कि अगर अंतरिम सरकारी मंत्रीमंडल के मुस्लिम सदस्यों में से एक, आसफ़ अली, जामिया मिल्लिया आए तो छुरेबाज़ी से भले ही वह बच जाएं, लेकिन उन्हें अपमानित तो किया ही जाएगा। अगर कोई दुर्घटना न भी हुई तो भी किसी ऐसे समारोह में जहाँ जवाहरलाल नेहरू और जिन्नाह, मौलाना आज़ाद और लियाक़त अली खाँ, सम्मानित अतिथियों के रूप में आ रहे थे, 'प्रोटोकोल' (नयाचार) के उचित पालन की चिंता किसी अधिक से अधिक दक्ष नयाचार-अधिकारी की भी कितनी ही रातों की नींद ख़राब करने के लिए काफ़ी थी। मगर सब कुछ सही सलामत गुज़र गया, और चार दिन के भारी भरकम कार्यक्रम में से एक भी चीज़ छूटने नहीं पाई।

डा. ज़ाकिर हुसैन ज़रूर हर जगह दिखाई पड़ते थे, हर तरह की देखभाल कर रहे थे। मगर उन पर ख़ास ज़िम्मेवारी थी बड़े-बड़े मेहमानों की आवभगत करने और उन्हें प्रदर्शनी दिखाने की-नवाब भोपाल की, जिन्होंने रजत जयंती सभा की अध्यक्षता की,

नवाब रामपुर की, जिन्होंने प्रदर्शनी का उद्घाटन किया, डा. के.ए. हमीद, मौलवी अबदुलहक़ और सर अबदुलक़ादिर की, जिन्होंने दीक्षांत भाषण दिया। शैखुलजामिया (कुलपति) के नाते उन्हें कई मौक़ों पर भाषण भी देने पड़े थे। यह सभी तत्काल-प्रस्तुत भाषण थे और चमत्कारपूर्ण थे। रजत जयंती वाली बैठक में उन्होंने जो लिखित भाषण पढ़ा उसमें उन्होंने जो कुछ पहले कहा था उसका सार तो प्रस्तुत किया ही, बल्कि पिछली सारी बातों से उनका यह भाषण कहीं बढ़ा-चढ़ा था, और शायद उनके जीवन का यह सबसे अधिक भावपूर्ण और प्रभावोत्पादक भाषण था। उनके दाहिने और बाएं वह व्यक्ति बैठे थे जिन पर उस समय भारतीय जनता का भाग्य निर्भर करता था। वह एक ऐसे शिक्षक के नाते बोल रहे थे जिसने बीस साल तक काम किया था और तकलीफ़ें झेली थीं और जो अपने सामने और सभी सच्चे शिक्षकों के सामने इस बात का संकट खड़ा देख रहा था कि उनकी सारी आशाएं चूर-चूर हो जाने वाली हैं। उनकी बातें सुनकर कितनों की ही आंखों में आंसू आ गए थे, और, अगर स्वार्थपरता की वेदी पर उदार भावनाओं को बलि चढ़ा देने की आदत ने मनुष्यों को विवश न कर दिया होता, तो उनकी वह बातें उनकी मनोवृत्ति में ऐसा परिवर्तन ला सकती थीं जिनका भारतीय इतिहास में भारी महत्त्व होता। राजनीतिक नेताओं की ओर मुंह करके वह बोले:

"आप सभी राजनीतिक आकाश के सितारे हैं; आपके लिए हज़ारों नहीं लाखों करोड़ों के दिल में प्रेम और आदर है। आप लोगों की इस उपस्थिति से लाभ उठाकर मैं शिक्षा कार्य में लगे हुए लोगों की तीव्रतम वेदना आप तक पहुंचा देना चाहता हूँ। पारस्परिक घृणा की जो आग इस देश में धधक रही है उसने बगीचे लगाने और उनकी देखभाल के काम को निरा पागलपन क़रार दे दिया है। इस आग में वह मिट्टी भी झुलस चली है, नेक और संतुलित व्यक्तित्व वाले फूल इस में कैसे उगाए जा सकते हैं? आचरण का स्तर जब जानवरों से भी नीचे तक गिर गया हो, तब भला मनुष्य की नैतिक प्रकृति को हम कैसे सजाएं-संवारें? संस्कृति को हम कैसे बचाएं जबकि सर्वत्र ही बर्बरता का राज हो जाए, उसकी सेवा के लिए लोगों को हम किस तरह तैयार करें? जंगली जानवरों की इस दुनिया में हम मानव मूल्यों की रक्षा किस प्रकार कर सकेंगे? मेरी यह बातें आप लोगों को सख़्त लग सकती हैं, लेकिन हमारे चारों ओर के इस वातावरण का वर्णन करने के लिये सख़्त से सख़्त बातें भी बेहद नरम हैं। शिक्षक होने के नाते हमारा कर्त्तव्य हमें बाध्य करता है कि बच्चों के अंदर सम्मान और श्रद्धा की भावना उत्पन्न करें; मैं आपसे किन शब्दों में उस वेदना की बात कहूं जो हमें यह सुनने पर होती है कि पशुता की इस बाढ़ से भोले-भाले बच्चे तक नहीं बच पाए हैं? एक भारतीय कवि ने कहा है कि पैदा होने वाला हर बच्चा अपने साथ यह संदेश लेकर आता है कि ईश्वर मानव जाति के बारे में निराश नहीं हुआ है, किंतु हमारे देश में मानव प्रकृति क्या अपने ही बारे में स्वयं इतनी निराश हो गई है कि वह इन फूलों तक को उनके खिलने से पहले ही रौंद डालना चाहती

है ? ईश्वर के लिये, मेहरबानी करके एक साथ मिलकर इस बात पर विचार कीजिये, और इस आग को बुझाइये? यह मौक़ा इस बात की जांच पड़ताल करने और उसके बाद यह फ़ैसला करने का नहीं है कि आग लगाई किसने ? अभी तो आग लगी हुई है, उसे बुझाना है । सवाल इस जाति के अस्तित्व का या उस जाति के अस्तित्व का नहीं है, सवाल है सभ्य मानव जीवन और जंगली जानवरों के बहशीपन में से एक को चुनने का । खुदा के वास्ते, इस मुल्क के सभ्य जीवन की नींव को जड़-मूल से खोदने की कोशिश को रोकिये जो कि आज की जा रही है ।"

निष्कर्ष

मुझे यह स्वीकार करना ही होगा कि जिस ज़माने में डा. ज़ाकिर हुसैन के साथ मेरा निकट सहयोग रहा, अक्सर मेरी राय एकांगी और आत्मपरक रही । मैं जानना चाहता था कि उनकी अपनी दिनचर्या इतनी ज़्यादा ढीलीढाली क्यों है जबकि दूसरी ओर वह आयोजित रूप में काम करने पर इतना ज़ोर देते हैं, वह ख़ुद इतनी सारी चीज़ों में क्यों फंसे रहते हैं जबकि दूसरों को यह सलाह देते रहते हैं कि 'एक बात को पकड़ लो, और फिर उसी को बराबर पकड़े रहो; और सबसे बड़ी बात यह कि जब इतना सारा काम करने को पड़ा है तब वह इस हद तक शिष्टाचार के बस में क्यों आ जाते हैं कि हर ऐरे-गैरे के लिए खुला और आम निमंत्रण-सा बन जाता है कि वह आए और उनका वक़्त बरबाद करे । अब मुझे लगता है कि मेरी ही दृष्टि उलटी थी । मुझे समझना चाहिए था कि जो पद्धतियां शिक्षा और शिक्षित व्यक्तियों के बारे में डा. ज़ाकिर हुसैन के आदर्श की बुनियाद थीं वह हमें उस 'स्थिति' या 'अवस्था' की ओर ले जाने वाली हैं जहाँ हम अपने लिए कुछ नहीं चाहते और एक रहस्यपूर्ण तरीक़े से हम परिस्थितियों द्वारा आरोपित कामों को स्वत: स्वीकृत कर्त्तव्यों के रूप में पूरा करने में लग जाते हैं । यह स्थिति या अवस्था हमारे रक्त मांस को किसी ऐसे यंत्र का रूप नहीं देती जो निर्धारित काम को अपने आप करता चला जाए, और न मनुष्य को सारी मानवीय दुर्बलताओं से ही ऊपर उठा देती है । और यह बात ख़ासतौर से याद रखनी होगी जब हम ऐसे किसी व्यक्ति पर विचार कर रहे हों जो उपदेशक नहीं शिक्षक है, और जिसके लिए सिर्फ़ उतनी शिक्षा तक ही अपने को सीमित रखना संभव नहीं जितने पर वह ख़ुद भी अमल करता हो । उसे तो उनकी विफलताओं और पराजयों के दर्द में भी हिस्सा बंटाना होता है, और हर विफलता के बाद एक नये प्रयत्न के लिए तैयार करना होता है ।

पर मैं इतना ज़्यादा भी नहीं भटक गया था कि डा. ज़ाकिर हुसैन की जीवन पद्धति को भी उलटी ही दृष्टि से देखता । मैं देखता था कि जहां योजना बनाकर चलना आवश्यक और संभव होता था वहां वह सुयोजित ढंग से ही काम करते थे, और संयोगों के लिए कम से कम गुंजाइश छोड़ते थे । जब कभी कोई समारोह करना होता था वह उसकी पूरी

तफ़सील में जाते थे। जब कभी उन्हें किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति से मिलना होता था सारी बातचीत वह तैयार कर लेते थे। हर तरह के सवालों का जवाब उनके पास पहले से तैयार रहता था। बातचीत में लड़खड़ा जाने या किसी शब्द के छूट जाने का उन्हें इतना डर बना रहता था कि अपने लिखित भाषणों का वह बड़ी सावधानी से अभ्यास करके जाते थे। इसमें संदेह नहीं कि लिखने के लिए बैठने का शारीरिक काम न जाने क्यों उन्हें बेहद नापसंद था। लेकिन जो कुछ उन्हें लिखना होता था उसकी वह शुरू से आख़िर तक की पूरी योजना बना डालते थे, चाहे वह कोई रेडियो वार्ता हो या कोई विद्वतापूर्ण व्याख्यान। दिमाग़ में सारा मसाला बिलकुल सिलसिलेवार तैयार रहता था, मगर लिखते वक्त वह बेचैन रहते थे। मेरे जैसे लोगों को, जो कि वक्त पर ही लिखने बैठ जाते हैं और वक्त पर ही सारा काम कर लेते हैं, यह कुछ विलक्षण सी बात होती थी।

भारतीय संस्कृति के भौतिक पदार्थों के प्रति उनके रसबोध को व्यक्त करने वाली कोई भी चीज़ बरसों तक न उनके दफ़्तर में ही देखने को मिली और न उनके घर पर ही, सिवा जामिया प्राइमरी स्कूल के एक उस्ताद अली मुहम्मद खां के हाथ की रोशन खुशनवीसी के कुछ बहुत ही आला नमूनों के, क्योंकि उस्ताद अली मुहम्मद खां इस कला में भी बड़े माहिर थे। उनकी प्रारंभिक उत्कृष्ट कलाकृतियों की फ़ोटो प्रतियां भी उन्होंने कराई थीं, लेकिन सजावट के तौर पर उनका इस्तेमाल इसलिए नहीं किया जा सका कि उन्हें फ्रेम में मढ़ने के लिए कभी रुपया नहीं हो पाया। डा. ज़ाकिर हुसैन अपने घरेलू संग्रह के लिए कुछ ख़रीदने की बात तब तक सोच भी नहीं सकते थे जब तक कि घर गृहस्थी की आयोजित अर्थव्यवस्था के अंदर उसकी गुंजाइश न निकाली जा सके। जो भी कुछ वह बचा पाए, बड़ी बेटी सईदा के ब्याह के साथ भेजे जाने वाले साज-सामान के लिए जोड़-जोड़कर रखा गया, यह कार्य उसके विवाह की उम्र आने से बहुत पहले से ही शुरू कर दिया गया था। कला वस्तुओं का उनका प्रथम संग्रह था बांस की छड़ियां। जब मुझे इनके शुरू वाले नमूने दिखाए गए और मैंने जानना चाहा कि उन्हें क्या सौंदर्य दिखाई पड़ा, तो उन्होंने मुझे बताया कि इन छड़ियों की खूबी इस बात में होती है कि वह किस क्रम से पतली होती गई हैं, उनकी गांठें कितने फ़ासलों पर हैं, वह कितनी वज़नी हैं और एक अरसे से सरसों के तेल की मालिश करते रहने के बाद उनका रंग कितना गहरा हो चुका है। उनका अगला संग्रह ख़ुशनवीसी का था। जहां-तहां से अपनी औक़ात के हिसाब से ख़रीद ली गई कुछ चीज़ें भी थीं। मुझे एक पीतल के प्याले की याद है जो उन्हें बहुत पसंद था। उसकी शक्ल बड़ी खूबसूरत थी, और जब मैंने यह आपत्ति की कि किनारे अंदर की ओर मुड़े होने की वजह से इसका इस्तेमाल कुछ सुविधाजनक नहीं है तो वह ज़रा चक्कर में पड़ गए। जब तक वह जामिया में रहे, आर्थिक तंगी की वजह से वह अपनी सौंदर्यपूरक रुचि को तृप्त नहीं कर पाए। लेकिन जब उनके पास फ़ालतू पैसा हो गया तब भी वह सस्ती और सीधीसादी चीज़ों के सौंदर्य की ही तलाश में रहते थे।

शिक्षाविद के नाते डा. ज़ाकिर हुसैन की ज़िंदगी की दुखदायी बात यही थी कि उनकी ओजस्विता और गतिशीलता के प्रति, आयोजन, सूक्ष्मता और उत्कृष्टता के लिए प्रचंड आसक्ति के प्रति, उनके सामाजिक परिवेश की प्रतिक्रिया विषम ही रही। जामिया मिल्लिया के उनके सहयोगी धीरे-धीरे यह महसूस करने लग गए कि उन्हें संतुष्ट कर पाना असंभव है। वह ज़रूरत से ज़्यादा बेचैन हैं, ज़रूरत से ज़्यादा उम्मीद कर बैठे हैं। वह यह भी जानते थे कि उनके बिना उनका काम नहीं चल सकता। इसलिए अधिकांश ने तो यही आसान तरीक़ा अख़्तियार कर लिया कि कुछ बहस के बाद, या बिना बहस किये ही, हमेशा उनकी बात मान लो, वह उनसे जो कराना चाहते हैं उसे मन मार कर ढीले-ढाले ढंग से करते चलो, और फिर अपनी कमज़ोरियों को छिपाने के लिए कोई ऐसी कठिनाई सामने रख दो, जिसकी सच्चाई से आमतौर पर इंकार न किया जा सके। प्रारंभिक स्कूल में प्रयोजना-प्रणाली और माध्यमिक स्कूल में दत्तकार्य पद्धति में कुछ ही वर्षों के बाद ढिलाई आ गई; शिक्षक विद्यालय में बड़े जोश के साथ दस्तकारियों के ज़रिये शिक्षा देने का जो काम शुरू किया गया उसमें एक भी शिक्षक ऐसा नहीं था जो उसका एक बाहरी ढांचा खड़ा करने से कुछ ज़्यादा आगे बढ़ सकता था। ओखला वाले प्रारंभिक स्कूल के बागीचे की पहली योजना किसी ऐसे व्यक्ति ने बनाई थी जो समझता था कि वह डा. ज़ाकिर हुसैन से ज़्यादा बाग़बानी जानता है। 1943-44 में शुरू की गई कितनी ही परियोजनाएं जबकि रुपयों की उतनी तंगी नहीं थी, अयोग्यता के कारण अथवा दिलचस्पी की कमी की वजह से विफल हो गईं। फकीरा माली ही अकेला आदमी निकला जिसके तौर तरीक़े और काम से डा. ज़ाकिर हुसैन ख़ुश और प्रभावित जान पड़े, और एक बार तो कह उठे कि अगर उनके वश में होता तो वह फकीरा को ही अपना वारिस बना जाते। जामिया वाली जमात ने इस बात को अपनी आलोचना न समझ यही माना कि अपनी आदत के मुताबिक डा. ज़ाकिर हुसैन ने एक और फुलझड़ी छोड़ी है।

जामिया के काम के बारे में उनका अपना मूल्यांकन आमतौर पर प्रेक्षकों की राय के साथ मेल नहीं खाता था जो कि जामिया की जमात को ऐसे शिक्षकों और कार्यकर्ताओं को एक सजीव, तत्पर और समर्पित संस्था के रूप में देखते थे जो शिक्षा और संस्कृति के ऊंचे, परंपरागत आदर्श को क़ायम कर रहे हैं। उनका अपना मूल्यांकन अवसर के अनुसार बदलता रहता था, क्योंकि जब कोई असाधारण काम आ जाता था तब जामिया के लोग पीछे नहीं रहते थे। लेकिन, जैसा कि वह प्राय: कहा करते थे, शिक्षा के काम में तेज़ी की भी अध्यवसाय एवं दृढ़ता की भी। जामिया के लोगों में तेज़ी तो काफ़ी मात्रा में आ जाया करती थी, लेकिन डटे रहने की क्षमता नहीं थी।

जामिया मिल्लिया के सीमित क्षेत्र से बाहर निकलकर भी ज़ाकिर हुसैन को कुछ अधिक अच्छे परिणाम देखने को नहीं मिले। आराम के मौक़े जैसे-जैसे बढ़ते जान पड़े वैसे-वैसे उनकी व्यथा और भी गहरी होती गई।

नोट: लेख की पुस्तक ''डा. ज़ाकिर हुसैन'' के विभिन्न अध्यायों का सारांश

[1]अपनी आमदनी को बढ़ाने के लिए उन्होंने जो ज़रिए अपनाए उन में से एक था फ्रीड्रिख लिस्ट के 'नत्सोनालइकनमी' की 'अंजुमन तरक्किए-उर्दू' के लिए अनुवाद करना। 2यह लिखते वक़्त सुब्बा जीवित हैं; हालांकि अंधे हो गए हैं। डा.ज़ाकिर हुसैन जब उपराष्ट्रपति और राष्ट्रपति थे तब उन्हें इस बात का बड़ा गर्व था कि वह उनकी आवभगत करते थे और उनके ऊपर मेहरबान थे।

[1]मेरे साथ भी एक बार ऐसा ही हुआ, और मैंने भी यही सबक़ सीखा।

[1]गेर्डा फिलिप्सबार्न की 1943 में कैंसर से मृत्यु हो गई। उनके पेट में बेहद दर्द हुआ करता था लेकिन उन्होंने तब तक कोई इलाज नहीं करवाया जब तक वह ला-इलाज नहीं हो गया। जब उनके रोग की पहचान हुई और उन्हें पता चला कि अब वह ज़्यादा दिनों की मेहमान नहीं हैं. तो उन्होंने डा. ज़ाकिर हुसैन से कहा कि जब भी उन्हें वक्त मिले वह उनको कुरान पढ़कर सुनाया करें। उन्होंने यह भी उनसे कहा कि वह मुसलमानों की ही तरह दफ़नाए जाना चाहेंगी। उनकी ख्वाहिश पूरी भी की गई।

इस जीवन वृत को लिखते वक्त मैंने बेगम ज़ाकिर हुसैन से जानना चाहा कि उन दोनों के संबंधों के बारे में उनका खयाल क्या था। उन्होंने मुझे बताया कि गेर्डा फ़िलिप्सबार्न जब दिल्ली आने को थीं तब डा. ज़ाकिर हुसैन ने उन्हें बताया था कि उन दोनों की जान-पहचान किस तरह हुई थी, और किस तरह उसने एक दोस्ती की शक्ल अखितयार कर ली थी। उस स्त्री के दिल में उनके लिये जो मुहब्बत थी उसका खयाल रखना उनके लिये आवश्यक था। मगर उससे ज़्यादा इस मामले में और कुछ भी नहीं था।

[1]दिल्ली में कुछ प्रारंभिक चिकित्सा कराने के बाद डा. ज़ाकिर हुसैन आंखों वाले एक जर्मन सर्जन से अपनी ख़राब आंख के शल्योपचार के लिए बंबई चले गए। मगर खांसी जुकाम की वजह से शल्योपचार को स्थगित करना पड़ा। तब आप हंसी-खुशी धनसंग्रह के एक दौरे पर निकल पड़े और अपनी खांसी और भी बढ़ाकर लौटे। तब शल्योपचार के लायक़ बनाने के लिए उन्हें बहुत दवाइयां देना पड़ीं।

इस चिकित्सा और शल्योपचार के वक्त वह डा.के.ए. हमीद के घर पर ठहरे थे। डा. और श्रीमती हमीद ने जिस स्नेह और सहृदयता के साथ उनकी देखभाल की थी उसे वह गहरी कृतज्ञता के साथ याद करते थे।

[1]खानेपीने का जब उनका सख्त परहेज़ चल रहा था उन्ही दिनों एक बार मैंने उनके साथ हैदराबाद की यात्रा की थी। रवाना होने से पहले मैंने उनसे कहा कि रेस्तोरां-कार से जो खाना मैं मंगा कर दूं वही वह खाएंगे, और कुछ भी नहीं। ''जो ठीक समझो, करो। मैं तो अब तुम्हारी ही मेहरबानी पर हूं'', उन्होंने जवाब दिया। चौबीस घंटे तक तो मेरी चली। वर्धा स्टेशन पर रेवड़ी बेचने वाला एक लड़का हमारे डब्बे में दरवाज़े पर आया और वह रेवड़ी ख़रीदने लगे।

[1]उसकी मृत्यु हृदय की किसी क्रिया की गड़बड़ी से हुई।

[1]कुरान-3,15। एन.जी. दाऊद वाला, अंग्रेजी अनुवाद। पैंगुइन बुक्स, लंदन, 1956, पृ. 398।

[1]तालीमी ख़ुतबा, पृ. 21-22

[1]बाद को नवंबर 1946 तक के लिए स्थगित।

हमारे ज़ाकिर साहब

रशीद अहमद सिद्दीक़ी

बहुत कम लोगों को विश्वास होगा कि ज़ाकिर साहिब उस समय अधिक कार्य करते थे जब वह अस्वस्थ हों, इसकी अपेक्षा वह उस समय कम कार्य किया करते थे जब वह स्वस्थ हों । जब वह बिस्तर पर होते तो उन के पास बहुत से बौद्धिक कार्य और अतिथियों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के पकवानों के लिए बहुत-सा समय होता । और जब कोई ऐसी दशा में उन से मिलता जब वह अस्वस्थ हों तो उस को इन दोनों बातों का सामना करना पड़ता । वह अपने बारे में बताते कि इन दिनों क्या पढ़ रहे हैं, और आप-से पूछते कि क्या खाना या पीना पसंद करेंगे । यहाँ तक तो सब कुछ ठीक था, परन्तु कठिनाई उस समय होती जब वह किसी मिलने वाले से पूछ लेते कि वह क्या पढ़ रहा है । अब ज़ाकिर साहिब को धोखा देना तो कोई सरल था नहीं, इस लिए कि पहली बात तो ये कि उन को धोखा खाने की आदत नहीं थी, और दूसरी बात ये कि कोई इस भ्रम में पड़ भी नहीं सकता था कि उस ने ज़ाकिर साहिब को धोखा दे दिया है । यदि कोई व्यक्ति ज़ाकिर साहिब से लाभ उठाना चाहता तो वह उन्हें धोखा दिए बिना ऐसा कर सकता था । अब कोई टेढ़े स्वभाव का व्यक्ति या बिल्कुल मूर्ख व्यक्ति ज़ाकिर साहिब को धोखा देने का सिरदर्द मोल ले कर ये सोच सकता था कि वह अपने उद्देश्य में सफल हो गया है ।

कभी ऐसा भी होता कि विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट भोजन और रूचिकर विषय पर बात-चीत करने के बाद लोग इस भावना को साथ ले कर लौटते कि खाना तो बहुत स्वादिष्ट था परन्तु बात-चीत में कहीं कोई कमी रह गई । ये उस प्रकार के लोग हुआ करते थे जो अपने व्यवसाय से बहुत हद तक अपरिचित और विषय की अपूर्ण जानकारी रखते । ऐसे लोग धीरे-धीरे ज़ाकिर साहिब से कतराने लगे ।

एक बार ज़ाकिर साहिब को उन के डॉक्टर की ओर से चेतावनी के साथ सलाह मिली कि वह कुछ सप्ताह पूरी तरह से विश्राम करें । इस सलाह का इस प्रकार पालन हुआ कि ज़ाकिर साहिब ने यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी से तसव्वुफ़[1] पर उर्दू एवं फ़ारसी में पुस्तकें जारी करवायीं । वह पुस्तकें बहुत ही स्थूल थीं, और दीर्घ समय बिताने के कारण पीली और भुरभुरी-सी हो चुकी थीं । नवलकिशोर प्रेस ने इन्हें बहुत समय पहले प्रकाशित किया था और इनकी जिल्द बंदी बड़े ही भोंडे ढंग से हुई थी । वह हर रात 3 बजे तक उन पुस्तकों

को पढ़ते । इस बीच वह कॉफ़ी के बहुत से नुस्ख़े आज़माते । उन्हें काफ़ी बनाने में कुशलता प्राप्त थी । अपनी बीमारी के बावजूद काफ़ी तैयार करते और वे लोगों को, जो उन की सेवा कर रहे होते और वे जो उन से मिलने आये होते, अपने हाथ से उन्हें काफ़ी पिलाते । और इस बीच सूफ़ीवाद पर विचार-विमर्श भी करते जाते ।

उस समय जब ज़ाकिर साहिब ने अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के कुलपति के रूप में अपना पद संभाला, तो यूनिवर्सिटी विभाजन की पीड़ा से ग्रस्त और उसके भयानक परिणाम से भयभीत थी । यूनिवर्सिटी के भीतर और बाहर हर व्यक्ति ये कहता हुआ दिखाई पड़ता कि "अपना रवैया ठीक रखिए ।" समाचार-पत्रों में लगातार हमारी चर्चा होती । राजनीतिक सभाओं और सम्मेलनों में हम चर्चा का विषय बनते, और समय-समय पर हमें भीषण परिणाम की चेतावनियाँ दी जातीं ।

जैसे ही ज़ाकिर साहिब मंच पर आए, ऐसा लगा मानों काले बादल छट गए और धुंधला वातावरण सहसा चमक उठा । फिर हर ओर धूप दिखाई देने लगी और रोचक हवा के झोंके आने लगे । ऐसा प्रतीत हुआ कि अब जनसाधारण को दिन का प्रकाश दिखाई देने लगा और उन का क्रोध ठंडा पड़ गया । फिर तो विख्यात लोग और अपनी कला में निपुण व्यक्ति संसार के भिन्न-भिन्न कोनों से पहुँचने लगे । उन्होंने ज़ाकिर साहिब से श्रद्धा प्रकट करने के साथ ही साथ संस्था के लिए उनकी बहुमूल्य सेवा को भी स्वीकार किया, और जब वे लौटे तो ऐसा प्रतीत हुआ कि वह अपने साथ कुछ ऐसी भावना भी ले गए कि उन्हें एक महान् संस्था में एक महान् व्यक्ति से मिलने की प्रसन्नता और सौभाग्य प्राप्त हुआ है ।

हम में से कई लोगों को वह दिन याद होगा जब यूनिवर्सिटी में विनोबा भावे को निमंत्रित किया गया था । ज़ाकिर साहिब ने उन का स्वागत करते हुए उन लोगों की भर्त्सना की जो यूनिवर्सिटी के बारे में बिल्कुल मनगढ़त बातें फैलाते और छपवाते हैं । मैंने गत 35, 36 वर्षों में स्ट्रेची हॉल को विद्यार्थियों, शिक्षकों एवं शहर के विख्यात लोगों से इस प्रकार खचाखच भरा हुआ कभी नहीं देखा और उन सब लोगों के साथ विनोबा भावे जैसा जन हितैषी और धार्मिक व्यक्तित्व भी उपस्थित था ।

ज़ाकिर साहिब ने यूनिवर्सिटी की स्थिति पर बड़ी निडरता, निष्कपटता और गंभीरता के साथ अपने विचार प्रकट किए । और ये भाषण बड़े शांत ढंग से सुना गया ।

इस भाषण के बाद ज़ाकिर साहिब के यूनिवर्सिटी से प्रस्थान होने तक झूठी अफ़वाह फैलाने वालों का मुँह बंद हो गया था । इसके बाद जब कभी यूनिवर्सिटी की चर्चा प्रेस या किसी दूसरे स्थान पर हुई तो स्टाफ़ और विद्यार्थियों की चर्चा प्रशंसा के साथ की गई । ज़ाकिर साहिब की इस महान् सफलता को वही लोग सराह सकते हैं जो घोर अंधेरों और निराशा के उस संकटकालीन समय से गुजरे हैं ।

नोट: लेखक की पुस्तक "हमारे ज़ाकिर साहब" से उद्धरित।

बुनियादी शिक्षा

बुनियादी शिक्षा-योजना की रिपोर्ट ज़ाकिर साहिब ने अलीगढ़ में मेरे ही घर में एक कमरे में बैठ कर शायद एक सप्ताह के अन्दर तैयार कर डाली । कमरा भी जो एक ही समय में सोने-बैठने, खाने-पीने, लिखने-पढ़ने और हुल्लड़ मचाने के काम आता था । हर प्रकार के लोग बैठे हुए हैं, कुछ देर तक शिक्षा सम्बन्धी मामलों पर वाद-विवाद चलता रहा । कुछ मित्र मिलने के लिए आ गए तो उन से गप-शप शुरू हो गई, पुस्तकों, रिर्पोटों, फ़ाइल आदि के ढेर हैं । कागज़ फैले हुए हैं । ट्रेनिंग कालिज के लोग आ गए तो उन से शिक्षा सम्बन्धी मामलों पर विचार-विमार्श शुरू हो गया । कोई फेरी वाला आ गया जो कुछ उस के पास रहा, उसी से मन बहलाना शुरू कर दिया । डाक्टर आ गए तो रोग व उपचार की चर्चा शुरू हो गई । शेरो-शायरी का कोई शौक़ीन आ गया तो कवि सम्मेलन शुरू हो गया । कोई अच्छा विद्यार्थी आ गया तो उसके विषय पर बातें होने लगीं, अत: जो भी आया उसी के विशेष-विषय की चर्चा होने लगी । इस बीच ज़ाकिर मियाँ सभी मामलों में अपना विचार प्रकट करते और इस भली-प्रकार से करते मानो सारा जीवन इसी में व्यतीत किया है । जो आता बहुत कुछ सीख जाता और ऐसा प्रसन्न हो जाता जैसे उस ने उस दिन कोई बड़ा काम किया था । थोड़ी देर को समय मिलता तो फिर रिपोर्ट की तैयारी में लग जाते । वह हर व्यक्ति के सम्मुख अपने विचार रखते और अपना निष्कर्ष देते । उस की सलाह माँगते, अपनी समझाते, उस की सुनते और फिर अंतिम राय क़ायम कर लेते ।

एक दिन मैंने तंग आकर कहा, "मुर्शिद[1] ये कहाँ का खटराग फैलाया जब देखिए बच्चों की आयु, बच्चों के कार्य, गुल्ली-डंडे और सूत-कपास की बातें हो रही हैं । पूरे दिन निष्कर्मियों और बेकारों की भीड़ लगी रहती है।" कहा "सब ठीक हो गया । आज पेंसिल बनाने के लिए किसी के पास चाक़ू न मिला, नहीं तो शेष समस्याएँ भी हल हो जातीं । अब कल कोई ऐसा रास्ता निकले कि मुझे कुछ घंटे मिल जाएँ । रूप-रेखा तैयार है, रिर्पोट भी तैयार हो जाएगी ।"

दूसरे दिन, मैंने अपने पुराने घर के ऊपरी मंज़िल के एक कमरे में ज़ाकिर साहिब को बंद कर दिया । बंद इस लिए नहीं किया कि कोई मुलाक़ाती उन तक न पहुँच न जाए, बल्कि इस की आशंका थी कि स्वयं मुर्शिद न निकल जाएँ । हुआ वही जिसका डर था । सुबह ऊपरी मंज़िल पर बंद हुए दो घंटे गुज़रे होंगे कि एक परिचित उन से मिलने आए। नौकर ने कहा, "ज़ाकिर साहिब कहीं बाहर गए हुए हैं ।" उन्होंने तकरार की और तर्क देने लगे ।

मुर्शिद के कान तक आवाज़ पहुँची । रोशनदान कुछ ऊँचा न था । स्टूल रख कर रौशनदान में से बोले, अरे मैं यहाँ बंद हूँ । कुंजी रशीद साहिब के पास है लेकिन हर्ज नहीं, आप उस बात का पता लगा लाए ।"

उन्होंने कहा, "हाँ रिपोर्ट नक़्ल कर लाया हूँ।" फ़रमाया, "सुनाइये"

उन्होंने सुनाना शुरू किया। मैं यूनिवर्सिटी से आया तो रोमियो-जूलियट का ये नाटक देखा।

"मैंने कहा, "मुर्शिद ये क्या है ?"

कहा, "ज़रा ठहरिये गा बस एक मिनट।"

कथा ख़त्म हो गई।

मैंने ऊपरी मंज़िल पर पहुँच कर ताला खोला तो मुर्शिद सारा काम करके लेटे कुछ गुनगुना रहे थे। मुझे देखा तो लेटे-ही-लेटे एक छलांग लगाई और सीधे खड़े हो गए, कहा, ज़रा पानी पिलवाइये। काम ख़त्म हो गया।"

मैंने कहा, "ये आप क्या सुन रहे थे।" कहने लगे, "फ़लाँ रिपोर्ट का हवाला[1]" देना था। एक जगह सन्देह होता था, इसलिए इन साहिब से कहा था कि असल रिपोर्ट लाएँ। उन्होंने जो सुनाया तो निश्चिंत हो गए कि जो याद था वह ठीक था।"

मैंने कहा, "अब तो जब तक आप यहाँ ठहरेंगे, कोई गड़बड़ न होगी ?"

फ़रमाया, "हरगिज़ नहीं।" मैंने कहा, "अल्लाह का शुक्र है, आज डाक्टर असग़र के यहाँ चाय पी जाए तो कैसी रहेगी ?" कहा, "ज़रूर उन से बिल्ली का बच्चा भी लेना है।"

मैंने कहा, "बिल्ली ने तो बच्चा नहीं दिया है, कुत्ते ने ज़रूर दिया है।" कहने लगे, "उसी का सही ! सईदा (ज़ाकिर साहिब की बच्ची) के लिए कुछ न कुछ ले जाना ज़रूरी है, घर पहुँचने पर दो ही तो प्रश्न किए जाते हैं। पत्नी कहती है क्या खोया और सईदा पूछती है क्या लाए।"

अध्ययन के लिए बैठक

1920 ई. में हम सब "साहिब बाग़" में एम. ए. (प्रथम वर्ष) और क़ानून के छात्र थे। क़ानून की परीक्षा में मुश्किल से पन्द्रह दिन थे और कोर्स सारा वैसा ही पड़ा था। कई दिन से हम लोगों का ध्यान इसी मुसीबत की ओर था। ज़ाकिर साहिब कहते थे, पढ़ना तो है ही, चाहे परीक्षा से पूर्व पढ़ा जाए या पश्चात्। आवश्यकता केवल इस बात की है कि नाश्ते और खाने का पूरा प्रोग्राम बना लिया जाए। स्वर्गीय नसीर साहिब ने पूछा, "प्रोग्राम से तुम्हारा क्या अभिप्राय है ?"

ज़ाकिर साहिब ने कहा, "आप ने दो बातें एक ही साँस में क्यों पूछ लीं। आप प्रोग्राम के बारे में मेरा निर्देश चाहते हैं या केवल मतलब पूछना चाहते हैं। हो सकता है दोनों एक न हों।"

नसीर साहिब चिढ़ कर बोले, "ज़ाकिर तुम पढ़ाई में बाधा डालते आए हो और अब भी तुम्हारा यही इरादा है, अच्छा बताओ, प्रोग्राम और मतलब में क्या अंतर है ?

ज़ाकिर साहिब ने कहा, "प्रोग्राम तो जनता के लिये बनाया जाता है और मतलब अपना होता है, प्रोग्राम तो ये बताए गा कि कौन-कौन सी चीज़ें किस-किस समय खाने पर होंगी और मतलब ये है कि किस को क्या और कितना मिलेगा, पर ये भी तो देखिये खाना तो हर हाल में डाइनिंग हॉल ही में होगा, परन्तु प्रोग्राम के साथ खाने वाले का मान-सम्मान थोड़ा बढ़ जाता है।"

बड़े वाद-विवाद के बाद प्रोग्राम भी बना और मतलब की भी गुंजाइश रख दी गई। पढ़ाई शुरू हुई। हम तीन-चार आदमी साथ पढ़ते थे। ज़ाकिर साहिब, मैं, सय्यद नसीरूद्दीन अलवी (स्वर्गवासी) और स्वर्गीय ख़लीलुद्दीन। विवाद उठ खड़ा हुआ कि ऊँचे स्वर में कौन पढ़े। इस पर कोई तैयार नहीं होता था। नसीर साहिब हकलाते थे उन को पढ़ने से क्षमा कर दिया गया था और तर्क-वितर्क से भी रोक दिया गया। स्वर्गीय ख़लील साहिब पढ़ने से शर्माते थे। उन का कालिज का नाम भी गुलफ़ाम है।

मैं ने कहा, "मैं पढ़ने के लिए तैयार हूँ परन्तु ज़ाकिर साहिब ने क़ायमगंज से जो घी मंगवाया है वह दोपहर और शाम को दाल में डालने के लिए दो चम्मच अधिक लूँगा।"

नसीर साहिब क्रोधित हो उठे, "- हर - हर - हरगिज़ - नहीं - मैं - पपप - पढ़ूँगा।"

मैंने कहा, "तो फिर तीन चम्मच लूँगा।"

ज़ाकिर साहिब बोले, "वह क्यों ?"

मैंने कहा, "नसीर साहिब पढ़ेंगे तो मुझे एक चम्मच सिर में भी डालना पड़ेगा।"

ज़ाकिर साहिब ने कहा, "मैं पढ़ने को तैयार हूँ परन्तु केवल इतना चाहता हूँ कि आप सब से तीन मिनट पूर्व खाना शुरू कर दूँगा, उसके बाद आप लोग शुरू करें।" इस पर हर व्यक्ति एक साथ चीख़ पड़ा।

हरगिज़ नहीं, हरगिज़ नहीं। हम भूखों मरना नहीं चाहते।"

अत: पढ़ाई शुरू हुई। अलवी साहिब और ज़ाकिर साहिब में कभी-कभी कानूनी मामलों पर बड़े मज़े का और बड़े ज़ोरोशोर से विवाद हुआ करता था। एक बार बहस बहुत लम्बी हो गई तो स्वर्गीय अलवी साहिब ने झुंझला कर कहा, "इस क़ानून का निर्माण करते समय निर्माता ने शायद आप से सलाह कर ली थी।"

ज़ाकिर साहिब ने फ़रमाया, "उस ने परामर्श तो नहीं लिया लेकिन आप को मेरा परामर्श यही है।" इस वाक्य पर अलवी साहिब का ख़ुशी के मारे नाचना-कूदना अब भी याद आता है।

ज़ाकिर साहिब और जामिया

ज़ाकिर साहिब वह सब कर सकते थे और पा सकते थे जो आज कल के हमारे बड़े आदमियों को प्राप्त है। उन को बड़ी-से बड़ी नौकरी मिल सकती थी, वह जनता को

बहका कर या भड़का कर भले मानुस लोगों को दुखी कर सकते थे और घूंस ले या दे कर धन और सत्ता को प्राप्त कर सकते थे । ख़ुदा और रसूल[1] के नाम पर मठ और अनाथालय स्थापित कर के निर्धन लोगों की कमाई और उनकी मर्यादा को मिट्टी में मिला सकते थे । वह दुराचार और पाप में ग्रस्त रह कर भी अपनी क़ौम की सेवा कर सकते थे।

ज़ाकिर साहिब की मानसिक कुशलता और सामर्थ्य इस दर्जे का है कि उसे उन के सारे शत्रु भी नहीं नकार सकते । वह उस सामर्थ्य को अपने स्वार्थ के लिए अनुचित उपयोग कर वह सभी चीज़ें प्राप्त कर सकते थे जिनको पा कर हम गर्व करते हैं । और देखते-ही-देखते एक दिन हमारी मृत्यु हो जाती है । अपने स्वार्थ के लिए हम अपनी ही नहीं दूसरों की बहुमूल्य चीज़ों को भी नष्ट कर देते हैं, और इसे हम अपने भाग्य का साहाय्य और राष्ट्र की जागृति का नाम देते हैं, ज़ाकिर साहिब ने किस प्रकार उस को नियत्रिंत किया, और क्यों किया इसे कौन समझे गा, जबकि उसके समझने से अपवित्र उद्देश्य और बुरी नीयतें सामने आती हैं ।

ज़ाकिर साहिब ने सबसे अलग हो कर, परन्तु सब के लिए जामिया की बुनियाद डाली । मेहनत की, मजबूरियाँ देखीं, गालियाँ सुनीं, निंदा उठाई, प्रतीक्षा का विष पिया लेकिन मुख न मोड़ा, मुस्कुराते रहे । दुश्मन से न डरे न उसे धिक्कारा, उसने माँगा तो दे दिया, उस ने चुरा लिया तो जाने दिया । ख़ुद सहन करते रहे, जामिया को ढाल न बनाया, उस को केवल सँवारा, वह प्रतीक्षा करने से घबराये नहीं इसलिए कि अच्छे और बड़े कामों में प्रतीक्षा का या परिणाम का भय नहीं होता । काम या परिणाम एंक ही तथ्या के दो नाम हैं । परिणाम या पुरस्कार का जिज्ञासु वह होता है जो अपने काम से श्रद्धा न रखता हो न ही उससे संतुष्ट हो । सब से बड़ा और सब से अच्छा पुरस्कार वह है जो हम स्वयं अपने-आप को दे सकें न कि वह जो दूसरे से मिले ।

ज़ाकिर साहिब जामिया को पच्चीस वर्ष से चला रहे हैं । इस बीच जामिया और जामिया में काम करने वालों को विभिन्न प्रकार के कष्ट झेलने पड़े । दोनों पर लगातार और अनैतिक रूप से आक्रमण किए गए । परन्तु यहाँ न कोई आन्दोलन हुआ न किसी का मन बुरा हुआ, न जामिया को छोड़ कर नामवरी और जीविका कमाने के लिए कोई कहीं और गया, और यहाँ ऐसे लोग भी न थे जिन पर जीविका और मौत के द्वार बंद रहे हों और जामिया के अलावा कहीं और ठिकाना न हो, बल्कि इन में से अक्सर अपने ज्ञान व योग्यता में ऐसे मशहूर थे कि भारत की बड़ी-से-बड़ी यूनिवर्सिटी में उन का स्वागत किया जाता । ये केवल ज़ाकिर साहिब का महान् और प्रभावशाली व्यक्तित्व था जिस ने जामिया को बिखरने से बचाया, बल्कि उसे मज़बूती प्रदान की ।

जामिया का हर छोटा-बड़ा हर समय ये देखता था कि स्वयं वह क्या है और क्या कर रहा है, और ज़ाकिर साहिब क्या हैं और क्या कर रहे हैं । सारे झगड़े का अंत यहीं पर हो जाता । मानसिक कौशल में जो व्यक्ति स्वयं को बड़ा समझता था, ज़ाकिर साहिब के

मानसिक कौशल के आगे सिर झुका देता। अपने त्याग और नैतिक गुणों पर जो गर्व करता तो उसे ज़ाकिर साहिब इन गुणों में उस से कहीं आगे निकले दिखाई पड़ते। पारिवारिक गौरव या सामाजिक या सरकारी सम्बन्धों या पहुँच पर किसी को गर्व होता तो वह ये देखता कि उन का सरदार पारिवारिक दृष्टि से भी उन पर भारी है। उस के सम्बन्ध भी अधिक ठोस और अधिक विस्तृत हैं, परिश्रम करने और कर्त्तव्य पालन में उन के बराबर कोई न था। अपने कर्त्तव्य को पूरा करने की चिंता में वह अपने आराम व मनोरंजन को त्याग देते। यदि कोई व्यक्ति स्वयं को बहुत ज्ञानी, बुद्धिमान और प्रवीण समझता तो ये पाता कि इस मामले में भी ज़ाकिर साहिब सब से आगे हैं। कलर्क ये देखता कि ज़ाकिर साहिब उससे अधिक कलर्की करते हैं, चपरासी ये पाता कि ज़ाकिर साहिब उससे अधिक दौड़-धूप करते हैं और छोटे-से-छोटा काम करने में भी आगे-आगे रहते हैं। बच्चा ये देखता कि ज़ाकिर साहिब जैसा कोई बच्चा नहीं, यूवा ये अनुभव करता कि ज़ाकिर साहिब उससे अधिक यूवा हैं और बूढ़ा ये देखता कि जब बूढ़ापा ज़ाकिर साहिब के निकट जाने से डरता है तो फिर वह बूढ़ापे का स्वागत क्यों करे।

इस के अतिरिक्त हर व्यक्ति ये विश्वास रखता था कि ज़ाकिर साहिब दूसरों के लाभ के लिए अपनी जान खपाते हैं, उस के दु:ख को अपने दु:ख और उसकी प्रतिष्ठा को अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं तो फिर कौन ऐसा हो सकता था जो ज़ाकिर साहिब को छोड़ कर अपनी अर्न्तात्मा के धिक्कार को सहन करता।

विद्यार्थी ज़ाकिर साहिब से मिल कर आता है तो उन के और जामिया के बारे में ऐसी भावना और विचार ले कर आता है कि जैसे उसे जीवन में कोई अच्छी और अप्राप्य वस्तु मिल गई है। ज़ाकिर साहिब ने इन विद्यार्थियों से धर्म और राजनीति पर कभी बात-चीत न की। वह कहते थे इन मामलों पर मौलवी और नेता वाद-विवाद के लिए क्या कम हैं। मैं तो केवल ये देखता हूँ कि विद्यार्थी की मानसिक योग्यता किस प्रकार की है, उस की बुद्धि और नैतिकता में किस प्रकार का सम्बन्ध है। उस ने क्या पढ़ा है, किन चीज़ों से प्रभावित है, उस में कौन-सी योग्यताएँ छुपी हुई हैं। वह अपनी योग्यताओं के वश में है या उन योग्यताओं को अपने वश में कर सकता है। उस पर मैं अपना ठप्पा नहीं लगाता बल्कि उसको अपना ठप्पा निश्चित करने में उसकी सहायता करता हूँ। और मैं जानता हूँ कि मुर्शिद का रहस्य अर्थात् "खुल समसम" यही है।

लेख की तैयारी

इलाहाबाद की यात्रा थी, भारतीय अकादमी यू.पी. से ज़ाकिर साहिब ने वायदा कर लिया था कि वह अर्थशास्त्र पर एक लेख पढ़ेंगे। ज़ाकिर साहिब दिल्ली से चल पड़े। मैं अलीगढ़ से साथ हो लिया। इंटर क्लास में ज़ाकिर साहिब मिले, मैं भी जा बैठा, बड़ी भीड़ थी।

बोले, "रशीद साहिब स्थिति बड़ी दयनीय है, लेख लिखा नहीं है, सोचा था रात की यात्रा है, रेल में बैठ कर लिख डालूँगा। अब तो कुछ ऐसा मालूम पड़ता है कि सुबह तक जीवित ही न रह पाएँगे, फिर क्या होगा ?"

मैंने कहा, "मुर्शिद ! चिंता की बात नहीं है, चलिए सेकण्ड क्लास में चलें ।"

बोले, "और किराया ?"

मैंने कहा, "रूपये तो मेरे पास भी नहीं हैं, परन्तु ये अलीगढ़ है। आप उतरें तो रूपये का कोई न कोई प्रबन्ध हो ही जाएगा ।

हम दोनों सामान उतरवा कर सेकण्ड क्लास की ओर चल पड़े। प्लेटफ़ार्म पर पहले परिचित को मैंने देखा टिकट दिए और ये कह कर कि उसे बदल कर सेकण्ड के दो टिकट लाइये और रूपये मेरे घर जा कर ले लीजिए गा। हम दोनों सेकण्ड क्लास में जा बैठे। टिकट मिल गए तो मुर्शिद ने कहा:

"इस से क्या होता है कुछ ज़्यादा रूपये की आवश्यकता पड़ेगी । यात्रा में केवल टिकट कलेक्टर ही नहीं होते, फेरी वाले भी होते हैं ।"

मैंने कहा, "खाना मेरे साथ है ।"

उकता कर बोले, "वह तो मैं जानता हूँ। परन्तु इस से क्या होता है। फेरी वाले की भी तो दिलदारी करनी पड़ेगी ।"

मैंने कहा, "इस की जिम्मेदारी भी मैं लेता हूँ परन्तु एक शर्त है ।"

बोले, "वह क्या ?"

मैंने कहा, "दही बड़े नहीं ख़रीदे जाएँगे, काबली चने वाला पास न आएगा। पुस्तक और समाचार पत्र वालों की ओर आँख उठा कर न देखिये गा और सब से बड़ी और पहली शर्त तो ये है कि आप कम्पार्टमेन्ट में न छोटे बच्चों से दोस्ती करेंगे और न किसी मूर्ख से इस ढंग से बात करेंगे कि जीवन भर वह स्वयं को प्लेटो समझता रहे ।"

बोले, "सब स्वीकार ।"

थोड़ी देर बाद बोले, "रशीद साहिब खाना तो खा ही लिया जाए नहीं तो ध्यान बटा रहेगा। ऐसी स्थिति में गंभीरता और सुखद रूप से बात-चीत नहीं हो पाएगी ।" भोजन निकाला गया। इतने में हाथरस का स्टेशन आ गया। चाक़ू बेचने वाला गुज़रा तो बोले, "एक चाक़ू क्यों न ख़रीद लिया जाए ।"

मैने कहा, "ये क्यों ?"

बोले, "हाथरस के चाक़ू हाथरस से बाहर तो कई बार ख़रीदा है, ख़ुद हाथरस में कभी न ख़रीद सका ।"

मैंने कहा, "ये नहीं हो सकता ।"

खाने से निपट कर निश्चितं हो कर बैठे थे कि टुंडला आ गया।

मैं ऊपर की बर्थ पर बिस्तर ठीक कर के नीचे आया। क्या देखा कि मुर्शिद दालमोठ

और पेठे वाले से सौदा चुका रहे हैं ।

मैंने कहा, "ये क्या ?"

बोले, कुछ नहीं, जानकारी बढ़ा रहा हूँ । आप भी आ जाइये ।"

ये दृश्य देख कर मैं भी नर्म पड़ गया ।

मुर्शिद भाँप गए, बोले, "यात्रा लम्बी है । मालूम नहीं कैसे-कैसे अप्रिय लोगों से रास्ते में सम्पर्क हो । ऐसी स्थिति में विश्वास व ढारस के लिए कुछ न कुछ प्रबंध कर लेना चाहिए । मैं कब कहता हूँ कि हर चीज़ खा लेने ही के लिए ख़रीदी जाती है । आनंद उठाने के लिए भी तो ली जा सकती है ।"

दालमोठ और मिठाई ख़रीद ली गई ।

फिर बोले, "आइये थोड़ा सामान को झूठा भी कर दें । वरन् दुष्ट आत्माओं की परछायीं उन पर पड़ जाएगी ।" ये समस्या भी हल हुई तो मैं ने कहा, "मुर्शीद अब बेकार की बातें ख़त्म । अब लेख शुरू कीजिए ।

बोले, "बैठिये भी, आराम की जगह मिली है । ख़ूब खा-पी लिया है । मौसम कितना अच्छा और दृश्य कितना सुन्दर है ।"

मैंने कहा, "तो फिर ।"

बोले, जी में आता है कि चिड़ा बनूँ ।"

इस पर हम दोनों हंस पड़े, देर तक उस समय को याद करते रहे जब ये अशआर[1] विशेष अवसरों पर पढ़े जाते थे और आनंद लिया जाता था । अंत में मैं ने कहा,

"मुर्शिद बहुत मनोरंजन हो चुका, अब लेख शुरू कर दीजिए और मैं जा कर सोता हूँ ।"

मुर्शिद ने कहा, "ये नहीं हो सकता कि आप सोयें और मैं जान खपाऊँ । अच्छा मैं लिखता जाऊँ और आप पढ़ते जाएँ ।"

बोले, "इस से मेरा लिखने का मोमेन्टम (Momentum) बना रहेगा ।

ये प्रोग्राम थोड़ी देर तक जारी रहा फिर मैं सो गया । सुबह उठा तो मुर्शिद लगभग दस पन्ने फ़ुल स्केप के लिख चुके थे । मैं उसे पढ़ गया ।

कहने लगे कि, "आज के लिए काफ़ी हो गया । कल के लिए फिर लिखूँगा ।

फिर बोले, "आप ने देख लिया । कैसा पाया ?"

मैं ने कहा, "मुर्शिद क्या कहने, कमाल किया है ।"

बोले, "नहीं सच बताइये । कैसा रहा । कभी तो गंभीर हो जाया कीजिए ।"

मैंने कहा, "नहीं मुर्शिद ! ईमान से कहता हूँ बहुत अच्छा लिखा है, इसे पढ़ते समय कई जगह मैंने दु:ख से सोचा कि बस मेरे में तनिक सी बुद्धि और होती तो मैं ये भी समझ जाता ।"

इलाहाबाद में इस लेख की धूम मच गई । बड़े-से-बड़ा बुद्धिजीवी मौजूद था । हर

एक कहता था कि डॉक्टर ज़ाकिर हुसैन को जैसा सुना था उससे भी ऊँचा पाया।

दिल का दौरा

ज़ाकिर साहिब की इस निश्चिंतता और मज़बूती की चर्चा के साथ एक और घटना याद आती है जो आँखों के सामने गुज़री। जब वह यहाँ कुलपति के रूप में आए, तो उन पर दिल का दौरा पड़ा और वह सब बीत गया जो ऐसे में बीता करता है। इस की मैं चर्चा न करता यदि कुछ समय के बाद स्वयं इस घटना से पीड़ित न होता और ये न मालूम होता कि इस की ज़्यादती क्या होती है। हम दोनों शाम को थोड़ी दूर टहल कर वापस आए थे। ज़ाकिर साहिब मेहमान के कमरे में ठहर गए। मैं अंदर चला गया। थोड़ी देर बाद वापस गया तो कोई असाधारण बात न देखी, सिवाय इस के कि श्रीमान् शेरवानी सहित चारपाई पर लेटे हुए हैं और ये कोई नई बात न थी। दिन में वह शेरवानी शायद ही उतारते हों। आराम करना हो तो अचकन सहित लेट रहेंगे और ऐसे अचानक उठ खड़े होंगे जैसे एमरजेन्सी वार्ड के डाक्टरों के आराम करने और उठ खड़े होने का तरीक़ा है। चाहा कि इधर-उधर की कोई बात छेड़ूँ। ज़ाकिर साहिब ने बड़े सरल ढंग से कहा, "दिल का दौरा पड़ रहा है। ऐसा लगा कि जैसा अंतिम समय है। चाहा कि आप को आवाज़ दूँ। फिर सोचा कि जल्दी क्या है, जो होने वाला है, वह हो कर रहेगा। आप भी आते ही होंगे। ज़ाकिर साहिब का शांत रूप देख कर मैं चकित रह गया। उन्होंने बिल्कुल नहीं कहा कि डाक्टर बुलाया जाए। घर पर सूचना दी जाए, वहाँ पहुँचा दिया जाए। डाक्टर बुलाये गए।"

घर पर सूचना भेजी गई। मोटर आई और बड़े शांत ढंग से वह कोठी पर आ गए, जैसे कोई विशेष बात नहीं हुई थी। बाद में डाक्टरों ने बताया कि ज़ाकिर साहिब पर वह सब घटना बीत गई सिवाय ज़िन्दगी की अंतिम घटना के। मेरा हर समय का आना-जाना रहता था। ज़ाकिर साहिब पर चाहे जो भी बीता हो परन्तु बात-चीत या चेहरे से कभी ऐसा प्रतीत नहीं हुआ कि वह हर पल कितनी जानलेवा संभावनाओं से गुज़रे हैं। सदैव उसी प्रफ़ुल्लता से बात-चीत की, जैसे पहले किया करते थे। जालंधर में हत्यारों और उन की नंगी तलवारों और छुरों का सामना किया और मौत को बिल्कुल निकट से देखा। दूसरी ओर अलीगढ़ में दिल का जबरदस्त दौरा पड़ा, परन्तु दोनों परीक्षा को वह साहस के साथ झेल गए।

नोट: लेखक की पुस्तक "हमारे ज़ाकिर साहब" से उद्धरित।

जामियाः व्यक्ति और अवधारणा

ख़ालिदा अदीब ख़ानम

हिन्दुस्तान में व्यवस्था और अनुशासन की कौन कौन सी शक्तियां प्रभावशाली हैं इन्हें समझने के लिये सर्वप्रथम जामिया के संबंध में जानना ज़रूरी है । इस संस्था के दो महत्वपूर्ण उद्देश्य हैं - प्रथम यह कि भारतीय मुस्लिम नवयुवकों का इस प्रकार प्रशिक्षण किया जाए कि वह इस बात से अवगत हों कि भारतीय नागरिक होने के नाते उनके कर्तव्य और अधिकार क्या हैं ? द्वितीय यह कि हिन्दुओं के साथ रहकर इसलामी चिंतन, आचरण और त्योहारों को समान स्तरीय कैसे बनाया जाए । सामान्य उद्देश्य यह है कि एक भावात्मक एकता की भारतीय राष्ट्रीयता उभर कर सामने आए जिसमें मुसलामानों की अपनी अस्मिता सुरक्षित रहे । जहाँ तक मैं देख सकी हूँ इस संस्था के उद्देश्य किसी इसलामी व्यवस्था के विपरीत गाँधी जी के आंदोलन से अधिक मिलते जुलते हैं, भले ही दोनों की कार्यप्रणाली में विभिन्नता हो ।

जामिया की अलीगढ़ कालेज से पूर्व चर्चा ऐसी ही है जैसे किसी घोड़े के आगे चारा डाल दिया जाए । इसलिये कि जामिया है तो अलीगढ़ की ही संतान, भले ही विद्रोही हो । अलीगढ़ पहली संस्था है जिसने इसलामी शिक्षा पद्धति को अपनाया, इसके पश्चात् जामिया का नम्बर आता है ।

जामिया के व्यवस्थापक डा. ज़ाकिर हुसैन हैं । कोई भी बुद्धिजीवी ऐसा नहीं जिसने मुझ से यह न पूछा हो कि डा. ज़ाकिर हुसैन के संबंध में मेरी क्या राय है ? लगता है कि ज़ाकिर हुसैन अपने ही देश वासियों के लिये पहेली हैं । उन जैसा निर्भीक व्यक्ति मिलना कठिन है । आश्चर्यजनक बात यह भी है कि उन पर किसी प्रकार का राजनैतिक ठप्पा नहीं लगा है । उनके कामों में किसी भी दल के प्रति अनुचित अभिरुचि का रंग नहीं चढ़ा है । वह अपना सारा समय और शक्ति शिक्षण और शैक्षणिक कार्यों में लगाते हैं । उनके अधिकांश कार्य रचनात्मक और किसी सीमा तक प्रयोगात्मक होते हैं ।

वह एक पठान हैं - सीमावर्ती क्षेत्र का लम्बा चौड़ा मनुष्य - एक बड़ा आदमी जो उत्साही भी है । उनके पिता का व्यवसाय वकालत था जो अपने मूल स्थान से प्रस्थान करके हैदराबाद चले आए जहाँ उन्होंने असाधारण सफलता प्राप्त की । जवानी में ही उनका देहांत हो गया किंतु वह अपने सात बेटों के लिए पर्याप्त सम्पत्ति छोड़ गए थे जो

उनके बेटों की शिक्षा प्राप्ति के लिये यथेष्ट थी । डा. ज़ाकिर हुसैन सबसे बड़े थे और उस युग में एक प्राच्य परिवार में इसकी भी अत्यधिक महत्ता हुआ करती थी । परिस्थितियों ने इनमें दायित्व की भावना उत्पन्न कर दी थी और जब उन्हें महसूस हुआ कि परिवार की उचित रूप से देखभाल नहीं कर सकते तो उन्होंने बाहर की दुनिया में सुनिश्चित अभिप्राय के अंतर्गत कदम निकाले ।

डा. ज़ाकिर हुसैन की प्रारंभिक शिक्षा धर्म और नीति के बंधनों में जकड़े हुए परिवेश में हुई । उनका मदरसा बहुत ही पुरातन पंथी था । अभी वह बालक ही थे फिर भी नाना प्रकार के लोगों से घर पर संपर्क होता रहता था, कुछ सनकी लोग भी घर आते जाते थे । इनमें कुछ सूफ़ी साधनारत व्यक्ति भी थे जिनके लिये इन्होंने असंख्य पांडुलिपियाँ नक़ल कर डालीं । वह अत्यंत सुलेख लिपिकार थे । उनकी सहनशक्ति सराहनीय थी क्योंकि सूफ़ी साधना के प्रति उनकी रुचि नहीं थी फिर भी पांडुलिपि के लेखन का कार्य वह करते रहे । अलीगढ़ से उन्होंने अर्थशास्त्र में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की और वहीं लेकचरर नियुक्त हो गए । उस युग में अलीगढ़ की स्थिति एक अंग्रेज़ समर्थक संस्था की थी जिसके समस्त सामाजिक और साहित्यिक कार्यक्रमों पर और विशेषत: प्रत्यक्ष कार्यों पर अंग्रेजी की छाप थी । ज़ाकिर हुसैन की रूपवत्ता, वाक्पटुता, प्रभावशाली भाषण क्षमता और मार्गदर्शन की योग्यता के कारण वह अत्यधिक सफल और लोकप्रिय हो गए थे । वह लोगों पर अपनी सर्वांगीण योग्यता का प्रभाव भी डालते थे किंतु साथ ही साथ आचरण स्वछंद था जो तत्कालीन साधारण कोटि के अलीगढ़ी विद्यार्थियों की हिन्दुस्तानी मानसिकता की विशेषता थी । परंतु 1919 में जब एक नवीन आंदोलन ने अलीगढ़ की परंपरा से टक्कर ली तो ज़ाकिर हुसैन ने इसका अनुमोदन किया । इस नवीन आंदोलन के मार्गदर्शक डा. अनसारी और स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली थे । इनका विचार था कि अलीगढ़ उचित रूप से मुसलमानों को प्रोत्साहित करने का और उनकी मानसिकता का ठीक प्रतिनिधित्व नहीं करता । इसको न तो विनष्ट किया जा सकता है और न ही बदला जा सकता है । ऐसी परिस्थिति से निपटने के लिये इन्होंने एक नये केंद्र जामिया मिल्लिया इसलामिया अर्थात् मुस्लिम राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना की जिसमें छोटे बच्चों को सुचारु रूप से कक्षाओं में पढ़ा कर उन्हें प्रशिक्षित किया जाता था । इसमें एक प्रकार से फ़ोरबेल और मांटेसरी का समन्वय किया गया था ।

1922 ई. में ज़ाकिर हुसैन ने उच्च शिक्षा के लिये छुट्टी ली और इसके लिये जर्मनी चले गए और वहाँ से पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की । उसी वर्ष जब वह अपने एक मित्र के साथ छुट्टियाँ मना रहे थे मेरी भेंट उनसे म्युनिख़ में हुई । पच्चीस-तीस वर्ष के रहे होंगे । इतनी कम आयु थी किंतु उनकी दाढ़ी किसी प्रकार उनके युवक होने की परिचायक नहीं थी । इस गरिमामय व्यक्तित्व के कारण वह एक बहुत व्यस्क व्यक्ति लगते थे । इन के साथ एक नवयुवक विद्यार्थी भी था जिसका नाम मुजीब था । तीक्ष्ण मुखाकृति,

दुबला-पतला शारीरिक गठन, विभ्रांत नयन, गंभीर, जो ज़ाकिर हुसैन के शारीरिक गठन की तुलना में उनका बिल्कुल उलट था। किंतु उसके रख रखाव और उसकी मुखाकृति से उसकी कलात्मक क्षमता झलकती थी। देखने में तो यह अपने मित्र के समान ही मितभाषी और दृढ़ संकल्प होने का आभास कराता था, अपने मित्र के ही समान इन दोनों नवयुवक भारतीय विद्यार्थियों ने मुझे बहुत आश्चर्यचकित कर दिया था। यह सुभाषी, सर्वांगीण प्रवृति सहित अपने सशक्त और उत्तेजनापूर्ण प्रतिक्रिया के साथ अत्यंत भिन्न परिलक्षित हुए। निश्चय ही यह नोरडेक्स और लैटिन मितभाषी युवकों से अलग प्रकार के थे।

1926 ई. में ज़ाकिर हुसैन हिन्दुस्तान वापस आ गए। बरलिन विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में पी.एच.डी. उपाधि प्राप्त युवक ! वह जामिया के प्रधानाचार्य बन गए। अपने इसी नैसर्गिक स्वभाव और प्रवृत्तियों का प्रयोग उन्होंने अपने नये केंद्र की स्थापना के लिये योग्य व्यक्तियों के चयन में किया। मुजीब उनमें से एक थे। जब मैं दिल्ली गई तो गत नौ वर्षों से ज़ाकिर हुसैन जामिया के प्रधान थे। उनकी दाढ़ी अब भी वैसी ही थी और मुखाकृति वैसी ही गोल। समय ने अपना कोई चिह्न उन पर नहीं छोड़ा था, परंतु मेरा विचार है कि एक आभ्यांतरिक विश्रांति की प्रतिछाया उनके चेहरे से परिलक्षित होती थी। पद की विविध कठिनाइयों और साथ में प्रतिकूल परिस्थितियों में अपने पर नियंत्रण रखना दुष्कर कार्य था। इन बातों का प्रभाव उनके मुखड़े पर स्पष्टत: दिखाई पड़ता था। ऐसा लगता था कि उन्हें किसी बात ने अपने वशीभूत कर लिया हो। ऐसी स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जब मनुष्य एक ही उद्देश्य के प्रति अपने को समर्पित कर दे। फिर भी मैंने उस आवरण को हटा कर, जिसके पीछे उन्होंने अपनी भावनाओं को छिपा लिया था, उनके स्वभाव के उतार चढ़ाव को देख लिया। मैंने उन्हें अत्यंत क्रोधित अवस्था में भी देखा और आँसू बहाते हुए भी देखा। परंतु उन्होंने सदैव अपने को नियंत्रित रखा। मुझे यह देखकर अत्यधिक हर्ष हुआ कि पाश्चात्य उन्नति और ज्ञान-विज्ञान की प्रगति ने स्वदेश लौटने पर उनमें किसी प्रकार की हीन भावना उत्पन्न नहीं की और न ही उन्होंने अपने आचरण में इसे प्रविष्ट होने दिया। जब एडलस हिग्ले भारत आए तो लोगों की चाटुकारी और आगे-पीछे होने के व्यवहार से बहुत झुंझलाए थे।

इस धैर्यवान मनुष्य को सबसे अधिक जो बातें दुखी करती हैं वह हैं: छिछोरापन, झूठ और स्वार्थपरता। कुछ लोग यहां केवल झूठ को प्रसारित करते हैं और अपनी मनगढ़ंत बातों पर विश्वास करते हैं। यह बातें ज़ाकिर हुसैन ने बार बार आक्रोष में मुट्ठियाँ भींच भींच कर और दांत पीस पीस कर दुहराई हैं। परंतु यह बातें केवल भारत की ही विशेषता नहीं हैं। झूठ उस समय प्रभावशाली सिद्ध होता है जब वह पूर्ण विश्वास सहित बोला जाए, अन्यथा वह दंडनीय होता है।

सच्चाई से समझौता करने में डाक्टर ज़ाकिर हुसैन नितांत डाक्टर अनसारी के पदचिन्हों पर चलने वाले थे। अपने भारत निवास काल में डाक्टर अनसारी से हम लोगों ने राजनीति

और भारतीय राजनीतिज्ञों के प्रत्येक पक्ष पर बातचीत की है । वह सच्चाई की डगर से कभी नहीं हटे । वह उन लोगों का मित्र होना पसंद करते थे जो सफलता पर विफलता को अधिमानता प्रदान करते हों । सफलता का अभिप्राय यदि सिद्धांतों की बलि देना हो तो वह इससे दूर रहते थे । वह कभी अपने आप को उन लोगों से संबंधित नहीं करते थे जो वफ़ादार न हों या भ्रष्ट उपायों द्वारा जिन्होंने सफलता प्राप्त की हो, अपनी उद्देश्यपूर्ति की हो ।

इस प्रसंग में. डा. ज़ाकिर हुसैन की चितंन प्रणाली भिन्न है । इनका कहना है किसी मनुष्य की योग्यता और व्यक्तित्व का प्रशिक्षण किया जाए और उसका संस्कार किया जाए तो आगे चल कर कोई भी आदमी विफल नहीं हो सकता । यही आधारशिला है उनकी सफलता की जिसने उन्हें एक सफल अध्यापक और एक साहसी मार्गदर्शक बना दिया । उनकी अवधारणा है कि किसी भी उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक उचित पद्धति और साधन अपनाना चाहिये । अत: उन्होंने जिन लोगों का प्रशिक्षण इस प्रकार किया है उन्होंने उन्हें कभी निराश नहीं किया । बार बार उन्होंने इस बात को दुहराया है कि राजनीति में विफलताएं उन व्यक्तियों के कारण हुई हैं जो सामाजिक और व्यवहारिक आचरण के बहुआयामी पक्षों से अनभिज्ञ थे । उनका एक विश्वसनीय और उचित दृष्टिकोण यह है कि राजनीति में प्रविष्ट होने के पूर्व लोग प्रशिक्षण प्राप्त करें और इसका संबंध है सामाजिक समस्याओं और सामाजिक अभिप्रायों से ।

महिलाओं की स्वतंत्रता के संबंध में हमेशा उन्होंने यही कहा है कि शिक्षा तो आवश्यक है ही । उन्हें स्वेच्छा से कार्य करने देना चाहिये, उन्हें अपना जीवन आप जीने देना चाहिये । वर्तमान कालीन जीवन पद्धति अपनाने पर उन्हें विवश करना ऐसे ही है कि उन्हें परदा करने पर मजबूर किया जाए । बल प्रयोग आगे चलकर एक निष्क्रिय और गतिहीन समाज की संरचना करता है, या एक प्राच्य अथवा अव्यवस्थित समाज का निर्माण करता है । जामिया के समस्त अध्यापकगण ने अपनी पत्नियों के प्रति इसी प्रकार का व्यवहार किया । कुछ महिलाएँ तो संक्रामक अवस्था में थीं जो या तो परदे में रहती हैं और या थोड़ा बहुत परदा करती हैं । कुछ ऐसी हें जिन्होंने परदे का परित्याग कर दिया है । परंतु इन समस्त महिलाओं का व्यक्तित्व अत्यंत दृढ़ है । कन्याओं को बहुत सावधानी से शिक्षा दी जाती है ।

डाक्टर ज़ाकिर हुसैन ने बताया कि जामिया में प्राथमिक कक्षाओं को पढ़ाने वालों को प्रशिक्षित किया जाता है । यह इस कारण से आवश्यक है क्योंकि वह भी हम जैसे ही साधारण जन होते हैं जिनमें बहुत सी कमियाँ होती हैं । उन्हें प्रशिक्षण द्वारा सुधारा और सँवारा जाता है । राजकीय विश्वविद्यालय का स्नातक कठिनाई से ही प्राथमिक शिक्षा का अध्यापक बनना चाहता है क्योंकि ऐसा करने में तुच्छता का अनुभव करता है और ऐसे लोगों को नौकरी दिलाने में पर्याप्त कठिनाइयाँ सामने आती हैं । इसके विपरीत जामिया से

शिक्षा प्राप्त प्राथमिक शिक्षा का अध्यापक न केवल योग्य होता है बल्कि ऐसा बनना उसकी ज़रूरत होती है । अत: उन्हीं लोगों को इस कार्य के लिये नियुक्त किया जाता है ।

मुझे लगता है कि डा. ज़ाकिर हुसैन इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि भारत में शिक्षा को वरीयता दी जानी चाहिये और यही समय है जब प्राथमिक शिक्षा पर ध्यान केंद्रित किया जाए ।

"आप के स्नातकों को नौकरी मिलने में कठिनाई क्यों होती है ?"

"वस्तुत: हमारे यहाँ उर्दू माध्यम से शिक्षा दी जाती है और अंग्रेज़ी एक विषय के रूप में पढ़ाई जाती है । यह एक नई बात है क्योंकि ऐसी संस्थाएं बहुत कम हैं जहाँ शिक्षा माध्यम स्थानीय या मातृ भाषा हो । हम समझते हैं कि ऐसा होना चाहिये क्योंकि यदि हम चाहते हैं कि उर्दू का विकास हो तो हमें इसे अनिवार्यत: व्यवहार में लाना चाहिये और इसके विकासक्रम को एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान करना चाहिये । परंतु वास्तविकता यह है कि हम उर्दू पढ़ाते अवश्य हैं किंतु हमें राजकीय अनुदान से वंचित कर दिया जाता है और जिन स्नातकों को सरकारी प्रश्रय प्राप्त नहीं होता उन्हें नौकरी पाने में निश्चय ही कठिनाई होती है । सरकार या कोई भी संस्था यदि हमारी सहायता करे तो हम उसका स्वागत करेंगे, केवल शर्त यह है कि वह हमारी शिक्षण पद्धति में हस्तक्षेप न करे । प्रिंसिपल सहित जामिया के सभी अध्यापक पचहत्तर रूपये मासिक वेतन पाते हैं जिसमें गुज़ारा बहुत कठिनाई से होता है ।"

मैं विद्यार्थियों की कक्षा में गई जहाँ इतिहास पढ़ाया जा रहा था । मैंने देखा कि उनमें से कुछ तो अध्यापक से भी अधिक व्यस्क विद्यार्थी हैं । किंतु नवयुवक अध्यापक का आत्मविश्वास सराहनीय था । अध्यापक सहित सभी भूमि पर दरियों पर बैठे थे, सामने लकड़ी की डेस्क रखी थी । पढ़ाई का कार्य उर्दू में हो रहा था । उसे मैं नहीं समझ सकी । परंतु सियाह पटल पर जो नक्शे और प्रतिरूप बने थे उन्हें देख कर मैं भली भांति समझ गई कि वह हिन्दुस्तानी इतिहास के एक विशेष काल से सम्बद्ध थे । विभिन्न एतिहासिक कालों की रुचि के अनुसार बुद्धिमत्ता और पूर्ण स्वतंत्रता की परिकल्पनाओं को ध्यान में रखकर सोद्देश्य पाठ् की सैद्धांतिकी का निर्माण करते थे ।

यह एक नीतिशास्त्ररीय कक्षा है स्नातकोत्तर विद्यार्थियों की । आध्यापक एक भारतीय ईसाई हैं । इसने एक सराहनीय पाठ तैयार किया है । जब वह मानवीय स्वधीनता और विशेषताओं की चर्चा कर रहा था तो मुझे ऐसा लग रहा था कि वह कभी अछूत रहा होगा या उसने इस विषय का गहन अध्ययन किया था । वह अंग्रेज़ी में बोलता है और कहता है कि निर्णय शक्ति और दृढ़ संकल्प के बिना नीति विकसित नहीं हो सकती । मुझे लगा जैसे यह किसी अभियान का नारा हो उनके लिये जो छुवा-छूत की मानसिकता रखते हैं । वह यहाँ तक कहता है कि बाहरी अनुकरण बिल्कुल व्यर्थ है । आगे चलकर मनुष्य के निर्णय पर उन्हीं लोगों का रंग चढ़ जाता है जिनका वह अनुकरण करता है । यह बात

अनुचित है क्योंकि यह अनुकरण ऐसे वर्ग की ओर ले जाए गा जहां मनुष्य की अपनी मानसिक स्वधीनता समाप्त हो जाती है । वह जर्मन विश्वविद्यालय का पढ़ा हुआ एक योग्य व्यक्ति है । इसमें लोगों की मंथर चिंतनधारा ने छुवा-छूत के प्रति घृणा का भाव जाग्रत कर दिया है । उसकी घृणा इतनी बढ़ गई है कि उसे गाँधी टोपी पर भी आपति है जिसे सारे विद्यार्थी धारण करते हैं । उसके अनुसार इससे एक पृथक जाति का आभास होता है - ''गाँधी-जाति'' । परंतु जिन विद्यार्थियों ने स्वेच्छा से टोपी पहनी है वह आदरपूर्वक इसकी बात सुनेंगे अवश्य किंतु टोपी पहनना नहीं छोड़ेंगे । यहाँ मानसिक परिपक्व का आत्मविश्वास और सहनशक्ति का मिश्रण है और पूर्ण स्वतंत्रा है जो केवल इसी प्रकार की शिक्षा के माध्यम से प्राप्त हो सकती है ।

मैंने एक दिन मध्याह्न के उपरांत सारा समय बच्चों के साथ बिताया । पहले उनके बैठने के कक्ष में जहाँ फ़रनीचर नहीं था बल्कि फ़र्श बिछा था जिस पर शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों बैठते थे । अधिकांशत: लड़के थे, किंतु कुछ लड़कियाँ भी थीं । यह सब 6 से 9 वर्ष के रहे होंगे । वहां यह बात स्पष्टत: दिखाई पड़ी कि डा. ज़ाकिर हुसैन सबके प्रिय अध्यापक हैं । छोटे छोटे बच्चे खिसक-खिसक कर उन तक पहुँच गए थे । वह एक ऐसे वृक्ष के समान थे जिसे छोटी-छोटी बेलें चारों ओर से घेरे हुई थीं । कुछ ने अपने मुँह उनके कंधों पर रख लिये थे, कुछ उनके बाजुओं को पकड़े हुए थे । उन्होंने बिना किसी झुंझलाहट और उन्हें हटाए अपने बैठने का कोण बदल लिया ताकि सब बच्चे उन्हें देख सकें और वह उन्हें देख सकें ।

यह दृश्य देख कर मुझे हेमटेड का एक टैक्सी ड्राइवर याद आ गया जिसे मैं प्रतिदिन बड़ी दिलचस्पी से देखा करती थी । गिलहरी अत्यंत लजालु जन्तु है, किंतु बहुत सी गिलहरियाँ उसके शरीर के चारों ओर इस प्रकार घूमा करती थीं जैसे उसका देह कोई खेल का मैदान हो । मैं सोचा करती थी कि टैक्सी ड्राइवर के रूप में दुनिया ने एक महान अध्यापक खो दिया !

बच्चों को अंग्रेज़ी नहीं आती थी । अत: डा. ज़ाकिर हुसैन ने मेरे प्रश्नों का अनुवाद किया । दूसरे बच्चों की तुलना में बहुत प्रखर बुद्धि बालक थे ।

''आप लोग बड़े होकर क्या बनेंगे ?'' मैंने उनसे पूछा । अधिकांश ने उत्तर दिया - व्यापारी - या फिर डाक्टर । एक बच्चा नाविक बनना चाहता था जबकि उसने समुद्र कभी नहीं देखा था । कोई भी पदाधिकारी या सैनिक नहीं बनना चाहता था । मैं समझती हूँ कि यह बात अच्छी थी । उनका हीरो कौन है ? इस संबंध में उनके उत्तर से मैं अत्याधिक प्रभावित हुई । किसी ने भी किसी राजा, बादशाह या सेना नायक का नाम नहीं लिया जबकि भारतीय इतिहास ऐसे विख्यात व्यक्तियों से भरा पड़ा है । सबकी पसंद थे दूसरे ख़लीफ़ा हज़रत उमर । उन्होंने अपनी पसंद का कारण बताया कि वह अत्यंत संतुलित मनुष्य थे । इनके अतिरिक्त उनका दूसरा हीरो एक हिन्दुस्तानी था जिसने अपने मित्र के

लिये अपने जीवन को बलिदान कर दिया और अंत काल तक उसका साथ नहीं छोड़ा।

"क्या यह लोग कविता पाठ् भी करते हैं ?"

ज़ाकिर हुसैन ने मुझे बताया कि कुछ अधिक नहीं। क्योंकि सार्वजनिक स्थानों पर कविता पाठ् साधारणत: निषिद्ध है। क्या भारतवर्ष में कोई नवयुवक ऐसा नहीं जो कुशल वक्ता बन कर किसी स्कूल से निकला हो ?

परंतु इन बच्चों की रुचि अभिनय में थी और इसके लिये इन्हें प्रोत्साहित किया जाता था।

यह मुझे अपने छोटे से उद्यान में ले गए। वह बहुत मोहक बाग़ीचा था - आधा पक्का और आधा हरी-भरी घास का। इस पर वृक्षों की छाया थी। एक छोटा सा हौज़ था जिसके चारों ओर पेड़ लगे हुए थे। प्रत्येक ने अपनी पसंद का जानवर मुझे दिखाया और अपनी पसंद और नापसंद का कारण मुझे बताया। यह सब साधारण पालतु पशु थे जिनमें भूरे रंग का एक नटखट बंदर भी था। इन बच्चों ने हौज़ के चारों तरफ़ एक ड्रामे का मंचन किया। यद्यपि वह उर्दू में था जिसे मैं समझ नहीं पाई, किंतु अनुकृतियां अत्यंत रोचक थीं। इस नाटक में एक बच्चा एक जानवर बना था। उसने देखा कि बहुत से बड़े जानवर उसका पीछा कर रहे हैं तो वह तुरंत पेड़ पर चढ़ गया। मैंने झट से बता दिया कि वह बंदर है। इसके पश्चात् दो पक्षी रूपधारी बच्चों ने बहुत सुंदर गीत सुनाया। यह केवल एक मात्र नाटक नहीं था जो उन्होंने मेरे सम्मुख प्रस्तुत किया हो। हर बार जब मैंने उन्हें अभिनय करते देखा मुझे इस बात का आभास हुआ कि मंचन के समय यह दर्शकों को भूल जाते हैं। यह बात इनके आत्मविश्वास का प्रमाण है।

कुछ देर बाद वह "सलाम हाउस" में तीन-तीन, चार-चार के ग्रुप में मुझसे मिले। उनके साथ एक सुन्दर जर्मन महिला मिस फ़िलिप्स थीं। इन्होंने अत्यंत दक्षता और परिश्रम से इन बच्चों को यह सब सिखाया था। वह मेरे कमरे में आराम से बैठे निस्संकोच भाव से संकेतों के माध्यम से बात-चीत कर रहे थे। फिर वह खेलने भी लगे।

परन्तु जैसे ही अज़ान की अवाज़ सुनाई दी, वह तुरन्त नमाज़ के लिए तैयार हो गए। भले ही वह कितनी ही गम्भीर बात कर रहे हों, या कोई रूचिकर खेल खेल रहे हों, अज़ान की अवाज़ कान में पड़ते ही एक पठान के नेतृत्व में जो उनका लीडर था, मार्च करते हुए बेगम अन्सारी के साथ नमाज़ पढ़ने चले जाते थे। वह पठान लड़का नमाज़ पढ़ाया करता था, इस्लामी सिद्धांतों के अनुसार यह बच्चे पाँचों समय की नमाज़ पढ़ते थे, क़ुरान की जो आयतें पढ़ी जाती थीं, और जो हदीसें (रसुल वचन) सुनाई जाती थीं, उनका बहुत सरल भाष्य भी प्रस्तुत किया जाता था। डा. ज़ाकिर हुसैन भी धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे, यद्यपि वह इसकी चर्चा बहुत नहीं करते थे। किन्तु थे वह पूर्णत: इस्लामनिष्ठ। उन्होंने कभी सुअर नहीं खाया, और न ही शराब पी, वह प्रतिदिन पाँचों समय की नमाज़ पढ़ा करते थे, उनका कहना है कि "समस्त रुचि आस्था पर निर्भर है।" इनके विचार में

हर मनुष्य को चाहिए पहले वह अपने आपको अनुशासित करे और यह बात आस्था के बिना संभव नहीं । जितने भी हिन्दुस्तानी समाज सुधारक आए, कम्युनिस्टों को छोड़कर, सबकी चिंतनधारा यही थी । और मिलजुल कर रहना ही अपने आप में एक सामाजिक आस्था है ।

धर्म के प्रति यह उदार दृष्टिकोण केवल इस्लाम और हिन्दु धर्म के कारण से ही मिला है बल्कि मेरा विचार है कि यह किसी हद तक इस कारण से मिला है कि हिम्दुस्तान ने पाश्चात्य चिंतनधारा और सभ्यता को एंग्लोसैक्सन के माध्यम से अधिक अपनाया, फ्रांससियों की तुलना में एंग्लोसेक्सन के यहां क्रान्तिकारी दृष्टि के कारण कोई धार्मिक या सामाजिक तोड़-फोड़ नहीं हुई है ।

डा. ज़ाकिर हुसैन भी डा. अन्सारी के समान धार्मिक व्यक्ति थे । इसके बावजूद इन लोगों का ज्ञान और विद्या के बारे में एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण था । उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में जो वैज्ञानिक उपलब्धियां हुईं या आविष्कार मानव जाति को प्राप्त हुए, उनके प्रमाण के लिए इन लोगों ने कुरान का आश्रय नहीं लिया और न ही पुराने ज्ञान को इनसे मिश्रित किया ।

अंतिम बार मैं जामिया उस समय गई जब दिल्ली के बाहर सब लोग इकट्ठा हुए और नए भवन का शिलान्यास किया गया । इनके पास पर्याप्त मात्रा में भूमि थी और यह इस संस्था को विशाल पैमाने पर निष्पन्न करना चाहते थे, यह समारोह एक बहुत बड़े शामियाने में आयोजित हुआ । डा. अन्सारी ने अध्यक्षता की और ख़ास ख़ास हिन्दु-मुस्लिम नेताओं को आमंत्रित किया गया । सबसे अधिक धनराशि बड़े-बड़े विख्यात मुसलमानों की तुलना में हिन्दुओं ने दी, इससे सिद्ध होता है कि हिन्दुओं ने जामिया की शैक्षणिक महत्ता को स्वीकार कर लिया था । निश्चय ही मुसलमानों की भी बहुत बड़ी संख्या ने चन्दे दिए, भले ही उन्होंने अपनी अल्प आय से पैसा पैसा बचा कर यह धनराशि एकत्रित की हो । इससे उनकी सद्भावना अभिव्यक्त होती है ।

सबसे छोटे बच्चे ने शिलान्यास कार्य संपन्न किया । वह मंच पर बड़े लोगों के बीच में खड़ा हुआ न जाने कैसा महसूस कर रहा था । मंच के बिल्कुल सामने सब बच्चे बैठे थे और अत्यंत धैर्यपूर्वक बड़ों के भाषण सुन रहे थे । किंतु थोड़े समय पश्चात् चुलबुलाहट आरम्भ हो गयी, और वह आपस में बातें करने लगे । अध्यापकगण यद्यपि इन बच्चों के साथ ही बैठे थे किंतु उन्होंने भी इन्हें ज्यादा टोकना उचित नहीं समझा । सात साल की एक बच्ची ने सबको चुप कराया । वह नाज़ुक सी तीक्ष्ण आकृति और काली आंखों वाली बच्ची थी, उसकी आंखे चमक रही थीं, और कुहनियां मार-मार कर चुपके-चुपके वह बच्चों को चुप करा रही थी । इसके तत्पश्चात् फिर किसी प्रकार की बातचीत नहीं की गयी । वह मुझे नवयुग की भारतीय नारी की प्रतीक जान पड़ी, जिसने अपने अधिकार का पूर्ण प्रयोग करते हुए पुरुषों को खामोश कर दिया ।

कुलभूषण

डा. यूसुफ़ हुसैन खाँ

महान व्यक्तियों में कौन सी ऐसी विशेषताएं होती हैं जिन के कारण हम उनकी महानता के आगे सिर झुकाने पर विवश हो जाते हैं। सर्वप्रथम तो यह कि उनका हृदय मानवीय सहानुभूति से परिपूर्ण होता है। मनुष्य दुनिया के किसी कोने में दुखी हों उनके दिल में टीस होती है। इसमें वह यह नहीं देखते कि दुखी का धर्म या उसकी राष्ट्रीयता क्या है और उसका किस जाति से संबंध है। संवेदना का यह समान गुण है जो दुनिया के महान व्यक्तियों में मिलता है। यह केवल ज़बानी जमा ख़र्च तक सीमित नहीं होता वरन् इन्हें जन सेवा के लिये उकसाता है। यह निस्स्वार्थ भाव अपनों और परायों में भेद नहीं करता।

ज़ाकिर मियाँ के स्वभाव में दो और गुण हैं जिनसे उनके मानव प्रेम की मृदा तैयार हुई है। यह हैं सत्यनिष्ठा और साहस। यद्यपि वह अत्यंत शालीन और विनम्र हैं और कभी किसी का दिल दुखाना या निरादर करना नहीं चाहते। फिर भी जब आवश्यकता हो तो सच्ची बात कहने से चूकते भी नहीं। कुछ वर्ष हुए देहली में राष्ट्रीय एकता सम्मेलन आयोजित हुआ था जिसमें केंद्रीय और प्रांतीय मंत्री तथा कांग्रेस के सबसे बड़े नेता सम्मिलित हुए थे। राष्ट्रीय एकता पर बहुत से भाषण हुए, कुछ ने दूर की कौड़ी लाने की कोशिश की। वार्तालाप रुचिकर किंतु यथार्थ से दूर थी। ऐसा लगता था जैसे रोग का जो उपचार सुझाया जा रहा है वह वाह्य है। आभ्यंतरिक रोग पर दृष्टि गई ही नहीं। लोग जानबूझ कर इस कठोर सत्य की अनदेखी कर रहे थे ताकि उनकी आत्मविडंबना को आघात न पहुँचे। ज़ाकिर मियाँ को बोलने के लिये कहा गया तो उन्होंने कहा कि हमारी राष्ट्रीय एकता के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट जाति-पाति की व्यवस्था है जिसकी जड़ें हमारे जीवन में इतनी गहरी हैं कि स्वाधीनता प्राप्ति के बावजूद, वह अपनी जगह से टस से मस नहीं हुई। हमारा संविधान इसे माने या न माने वह भी इन रूढ़ियों को अकस्मात बदल नहीं सकता जो हज़ारों वर्षों से सामाजिक जीवन को आच्छदित किये हुए हैं, जब तक कि स्वयं समाज अपने नैतिक संकल्प की शक्ति से इन्हें परिवर्तित न करे। उन्होंने इस पर आश्चर्य प्रकट किया कि मौलाना अबुलकलाम आज़ाद को कांग्रेस ने ऐसे चुनाव क्षेत्र से निर्वाचित कराया जहाँ मुसलमान मतदाताओं का बहुमत था। मौलाना इस देश की राजनीति में कोई अज्ञात व्यक्ति नहीं थे। फिर भी उनके साथ ऐसा किया गया। जब

ज़ाकिर साहब ने अपना भाषण समाप्त किया तो हाल तालियों से गूंज उठा । यह करतल ध्वनि एक सत्य बात की स्वीकृति का द्योतक थी ।

धैर्य और सहनशीलता का गुण बड़ी तपस्या के फलस्वरूप उत्पन्न होता है । ज़ाकिर मियाँ कभी कभी अत्यंत स्वार्थी, झूठे और प्रपंची व्यक्तियों को आगे बढ़ाते हैं यद्यपि वह उनकी दुष्प्रवृति से पूर्णरूपेण परिचित होते हैं । इनका विवेक अत्यधिक प्रखर है । कोई चाहे कि झूठी-सच्ची बातों या लप्पो-चप्पो से उन्हें राम कर ले तो वह बड़ी भूल कर रहा है । चाटुकारी से उन्हें घृणा है । वह प्रत्येक व्यक्ति के अभिप्राय की तह तक तुरंत पहुँच जाते हैं । जिन्हें अच्छा नहीं समझते उनके साथ भी शालीनता का व्यवहार करते हैं । मूर्खों और बुद्धिमानों को भी धीरज से झेलते हैं । मैंने उन्हें कुछ ऐसे ही लोगों से बातें करते देखा है । यह लोग इस भ्रम में घर लौटते हैं कि हमने अपनी योग्यता का कैसा सिक्का बैठाया है, मूर्ख कहीं के ! ज़ाकिर मियाँ चाहते हैं कि वह अपने इस भ्रम में लिप्त रहें और भ्रम निवारण का अवसर न आए । यह इसलिये है कि वह किसी का दिल दुखाना नहीं चाहते ।

उच्च चरित्र के निर्माण में जहाँ उच्च मूल्यों से गहन संबंध आवश्यक है वहाँ यह भी ज़रूरी है कि चिंतन की योग्यता भी अत्यधिक मात्रा में विद्यमान हो, ताकि समस्त समस्याओं के बारे में, चाहे उनका संबंध व्यक्तिगत या समष्टिगत समस्याओं से हो, व्यक्ति उचित निष्कर्ष पर पहुँच सके । खुदा ने ज़ाकिर मियाँ को असाधारण विवेक और चिंतन योग्यता प्रदान की है । वह शीघ्रत: अपना मत निर्धारित कर लेते हैं और बहुधा वह राय ठीक होती है । इनकी हर बात में गंभीरता, शालीनता और वज़न होता है । जो मत निर्धारित कर लेते हैं उस पर अमल करते हैं । बुद्धि की कुशाग्रता और निर्विकार प्रवृति का मिलन एक ही स्थान पर कम ही होता है । परंतु ज़ाकिर मियाँ में दोनों विद्यमान हैं । इसी प्रकार बौद्धिक और भावावेशात्मक क्षमताएं एक स्थान पर कम मिलती हैं । परंतु असाधारण व्यक्तियों में इन दोनों के एकीकरण से ऐसे महान कार्य संपन्न होते हैं जिनसे संपूर्ण समाज लाभांवित होता है ।

ज़ाकिर मियाँ का मानव प्रेम विशेषत: इसलामी शिक्षा से अपना प्रकाश और अपनी दूरदर्शिता प्राप्त करता है । वैसे इनका जीवनमूलक दृष्टिकोण विश्वव्यापी है । मानसिक रूप से वह बुद्धिवादी और भावनात्मक स्तर पर धार्मिक मनुष्य हैं । जिस किसी ने उन्हें रातों को क़ुरान का पाठ करते सुना या देखा है वह उनकी श्रद्धाभक्ति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता । वह अपनी धर्मनिष्ठा को छिपाते हैं, अपने निकटतम प्रियजनों से भी । न वह यह चाहते हैं कि कोई उन्हें उपासनारत देखे । मैं समझता हूँ कि यह उनकी श्रद्धा और आस्था तथा मिथ्यारहित एवं अकृत्रिम जीवन का फल है । इनकी उपासना दिखावे के लिये नहीं वरन् वास्तविकरूपेण वन्दना के लिये है । जिस प्रकार इनके पाली-पोसी संस्था जामिया मिल्लिया इसलामिया में राष्ट्रीयता और इसलामीयता को मिलाकर आदर्श रूप में

प्रस्तुत किया गया है उसी प्रकार ज़ाकिर मियाँ के जीवन में यह दोनों सिद्धांत समाहित हो गए हैं और इन के एक्य से ही उनके चरित्र की रूपरेखा निर्मित हुई है, न राष्ट्रीयता उनकी इसलामीयता पर उंगली उठा सकती है और न इसलाम राष्ट्रीयता को अग्राह्य और निरनुमोदित समझ सकता है ।

युवावस्था में ज़ाकिर मियाँ के चरित्र और आचारण पर एक सूफ़ी और दरवेश हसन शाह का गहरा प्रभाव पड़ा जो हमारे दादा के नातेदार होते थे । बहुत गुणवान व्यक्ति थे और अपने रंग के अद्वितीय मनुष्य थे । गर्मियों की छुट्टियों में हम सब भाई क़ायमगंज आते तो हसन शाह दिन भर हमारे यहाँ रहते थे । प्रात: आते और संध्या समय जाते । किंतु हमारे यहाँ भोजन नहीं करते थे । यहियापुर में वह रहते थे । नौ-दस बजे सुबह वहाँ से कुछ खाकर आते और शाम को वापसी पर ही वहाँ जाकर भोजन करते । हमारे यहाँ दिन में चाय ज़रूर पी लेते थे और पान अवश्य खाते थे । वह फ़रुख़्ख़ाबाद के शाह हुसैन मुजीब के ख़लीफ़ाओं में से थे और अपने गुरु से अत्याधिक श्रद्धा रखते थे । स्वभाव में भावावेश का तत्व अत्याधिक व्याप्त था । कभी कभी आचरण की मर्यादा का उल्लंघन भी कर जाते थे । हज़रत मुजीब के श्रद्धालुओं में बहुत बड़ी संख्या हिन्दुओं की भी थी । आप धर्म परिवर्तित करके मुसलमान हुए थे इसलिये आपके अधिकांश संबंधी कायस्थ थे । एक बार हसन शाह किसी हिन्दु श्रद्धालु के माथे पर तिलक देख कर सबके सामने इस पर आपत्ति कर बैठे । यह बात हज़रत मुजीब के सर्वधर्म संभाव की मान्यता के विरुद्ध थी । अत: संत ने हसन शाह को उसी जनसमूह के सम्मुख आदेश दिया कि तिलक लगा कर पहले यहाँ से कश्मीर और फिर वहाँ से दक्षिण भारत में रामेशवरम पैदल जाएँ और उन स्थानों से मुख्य पुरोहितों की चिट्ठियाँ लाकर दें जिनमें वहाँ उनकी उपस्थति को प्रमाणित किया गया हो । हसन शाह ने निस्संकोच अपने गुरु के आदेश का पालन किया और यात्रा पूर्ण करके तीन वर्ष पश्चात् फ़रुख़्ख़ाबाद वापस आए ।

हसन शाह हम सब भाइयों में ज़ाकिर मियाँ को बहुत चाहते थे । उनसे अपने सूफ़ी सिद्धांत संबंधी फ़ारसी ग्रंथों की प्रतिलिपि करवाते थे । ज़ाकिर मियाँ का कहना है कि इस प्रकार प्रतिलिपि करते करते मैं उर्दू सुलेख लिखने लगा । एक बार ज़ाकिर मियाँ बीमार पड़ गए तो प्रतिदिन प्रात: आकर स्वयं अपने हाथ से उनका पेशाब हकीम अहमद शेर खां के यहां ले जाते थे जो सुबहानपुर में हमारे घर से कोई पौन मील की दूरी पर रहते थे । कभी उन्हें रुपये देते थे कि निकट के मुहल्ले में अमुक ग़रीब व्यक्ति को दे आओ, कभी किसी विधवा को रुपये भिजवाते । इसी प्रकार का व्यवहार वह वर्षों करते रहे । पुस्तकों की प्रतिलिपि करवाने के अतिरिक्त उन्होंने ज़ाकिर मियाँ का आध्यात्मिक प्रशिक्षण किया और उन्हें सूफ़ी चिंतन के उच्च मूल्यों से परिचित कराया ।

मनुष्य के चरित्र को परखने के लिये उसके वैयक्तिक जीवन का भी अवलोकन किया जाता है । कुछ लोग ऐसे होते हैं जो महराब और मेम्बर या आज की परिभाषिकी में

सार्वजनिक मंच पर तो बड़े लम्बे-चौड़े दावे करते हैं किंतु उनके निजी जीवन को कुरेद कर देखिये तो वहाँ सब उच्च स्वर से प्रचारित आदर्शों का नकारात्मक रूप ही मिलता है। ज़ाकिर मियाँ का वैयक्तिक जीवन सदैव दर्पण समान स्वच्छ रहा है। इसमें प्रत्येक बात स्पष्ट है, कोई चीज़ ढकी-छिपी नहीं है। जो कहते हैं, वही करते हैं। उनके चारित्रिक गुण सार्वजनिक जीवन और वैयक्तिक जीवन एक समान हैं। वही सादगी, वही अकृत्रिमता, वही दिखावा न करने का आचरण, वही मिलनसारी, प्रेमभाव का निर्वाह, वही रख-रखाव, अपने के प्रति भी और परायों के प्रति भी। वह एक सस्नेही पिता, एक कृपालु भाई, एक सच्चे मित्र हैं। प्रत्येक स्थिति में आदमी उन पर पूरा भरोसा करता है। विश्वस्ता और ईमानदारी की यह शान इस युग में कम ही लोगों में परिलक्षित होती है। यदि किसी से वादा कर लें तो उसे पूरा करें। वह हर एक का काम निकालने को तैयार रहते हैं यदि वह औचित्यपूर्ण और ठीक हो। मैं बहुत ऐसे व्यक्तियों को नहीं जानता हूँ जो ज़ाकिर मियाँ के समान दूसरों की सहायता अत्यंत प्रसन्नता से करते हों। यदि वह किसी का काम नहीं कर सकें तो अत्यंत नम्रतापूर्वक उसे पूरी बात समझा देते हैं कि वह ऐसा क्यों नहीं कर सकेंगे। वह किसी को भ्रम में नहीं रखते थे और ग़लत उम्मीद नहीं बंधाते थे जैसा कि बहुत से सत्ताधारी व्यक्तियों का व्यवहार है जिसे वह अत्यंत नीतिकुशलता समझते हैं। यह भी कोई नीति है। झूठ को चाहे जो भी पवित्र नाम दो, वह झूठ ही रहेगा। एक सत्यवादी और सत्यनिष्ठ व्यक्ति कभी किसी को झूठा आश्वासन देने का प्रयत्न नहीं करेगा और न उसे ऐसा करना चाहिये। सच्चाई मनुष्य को अनेक बुराइयों से बचाती है। ज़ाकिर मियाँ को बड़े-छोटे सभी सच्चा मानते हैं, अपने पराये सब इसके साक्षी हैं। इससे उनकी चारित्रिक महानता का पता चलता है।

देहली में ज़ाकिर मियाँ के जीवन का बहुत बड़ा भाग बीता है। यहाँ हज़ारों लोग ऐसे हैं जो उन्हें जानते हैं और उनसे श्रद्धा रखते हैं। उपराष्ट्रपति की कोठी का दृश्य ईद के दिन देखने योग्य होता है। सैकड़ों आदमी मोटरों में, आटोरिक्शा में और पैदल ईद की शुभकामनाएं देने आते हैं। इनमें धनवान भी होते हैं और निर्धन भी। कोई ऐसा नहीं जिससे वह हाथ न मिलाएं, गले न मिलें। अमले के लोगों और चपरासियों से भी ऐसे ही मिलते हैं जैसे दूसरों से। पुराने जानने वालों से हमेशा जैसे मिलते थे उसी प्रकार अब भी मिलते हैं, सबका सत्कार करते हैं। पटना में जब राज्यपाल थे तो किसी त्योहार के अवसर पर राजभवन के सारे अमले को आमंत्रित किया। वहां जो भंगी रहते हैं उन्हें भी निमंत्रण कार्ड पहुँचा। वह भी दूसरों के समान साफ़ सुथरे कपड़े पहन समारोह में सम्मिलित होने आए। जब खाने-पीने के पश्चात् समारोह समाप्त हुआ तो ज़ाकिर मियाँ ने बारी-बारी सबसे हाथ मिलाया, भंगियों से भी हाथ मिलाया। स्पष्ट है कि ऐसा करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं थी और उनके वास्तविक मानव प्रेम की यही मांग थी। परंतु बिहार वालों के लिये यह अनोखी बात थी जिस की चर्चा मैंने वहां के उच्च वर्गीय समाज में स्वयं

सुना। अभी हाल में बिहार के एक मित्र ने बताया कि यह चर्चा अभी समाप्त नहीं हुई है। लगता है कि यह एक अनहोनी थी जो संजोगवश हो गई। अब न होगी। यह उस देश की दशा है जिसके संविधान में ऊँच नीच और जाति पाति के भेद को अवैध घोषित किया गया है। संविधान में लिख देने मात्र से क्या होता है। जब तक लोगों का हृदय परिवर्तन न हो सामाजिक भेद-भाव मिटने वाला नहीं और जब तक यह नहीं मिटेगा हमारे जनतंत्र की आधारशिला कमज़ोर रहेगी।

मनुष्य के चरित्र की आंतरिक प्रवृत्तियों का पता उसके मनोरंजनात्म कार्यक्रमों से चलता है। ज़ाकिर मियाँ के मनोरंजनात्मक कार्यक्रम पुस्तकें पढ़ने के अतिरिक्त दो और हैं - बाग़बानी और पुराने पत्थर जमा करने का शौक़। एक शिक्षा विशेषज्ञ के लिये, जो नई पीढ़ी के मन और बुद्धि का विकास करना और उन्हें अनुशासन प्रदान करना चाहता हो, बाग़बानी में इसका विशिष्ट सादृश्य विद्यमान है। जिस प्रकार शिक्षण द्वारा वह ऐसा वातावरण उपलब्ध कराता है जिसमें व्यक्तित्व अपने शिखर बिंदु तक पहुँचता है उसी प्रकार बाग़बानी में इस बात की व्यवस्था की जाती है कि पौधे में प्रकृति ने जो क्षमता व्याप्त की है वह पूर्णतया अभिव्यक्त हो। फूल खिले तो ऐसा खिले जो खिलने का औचित्य है, न कि मरा हुआ, मुरझाया हुआ, झुलसा हुआ। बाग़बानी से रुचि रखने वाले बीजों को मिलाने से उनके रंग और रूप बदल देते हैं और यह परिवर्तन अटकल पच्चू नहीं होता बल्कि किसी कल्पना, किसी योजना के अनुसार होता है। इस प्रकार बाग़बानी भी शिक्षा के समान एक रचनात्मक कला है।

जब ज़ाकिर मियाँ अलीगढ़ के कुलपति हुए तो वहां हर तरफ़ धूल उड़ती थी। नये नये भवन निर्मित होते थे किंतु किसी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि फूल-बूटे लगा कर परिवेश को मोहक बनाया जाए। पुराने भवनों पर वीरानी बरसती थी। ज़ाकिर मियाँ के ध्यान देने के फलस्वरूप नई इमारतों के चारों ओर फुलवारी लगाई गई। सारे पुराने भवनों के परिवेश को क्यारियों, पौधों और फूलों से सुन्दर बनाया गया। अभिप्राय यह था कि विद्यार्थी धूल फांकने के स्थान पर क्यारियों और लानों पर आकर बैठें, वहाँ पढ़ें, हंसें बोलें और इस प्रकार उनका दिल लगे और विश्वविद्यालय की चहल-पहल में वृद्धि हो। सात-आठ साल में विश्वविद्यालय का स्वरूप बदल गया। जिन्होंने कुछ समय पूर्व उसे देखा था अब देख कर आश्चर्यचकित थे।

फूलों में ज़ाकिर मियाँ को गुलाब बहुत पसंद हैं। है भी वह फूलों का बादशाह। उन्होंने विश्वविद्यालय के हर कोने में गुलाबों की क्यारियां लगवाईं। हर रंग के गुलाब - लाल, पीले, गुलाबी और सफ़ेद। इस्टाफ़ के कुछ लोगों को भी अपने घरों में गुलाब लगाने का शौक़ हुआ। विश्वविद्यालय में प्रत्येक वर्ष गुलाबों की जो प्रदर्शनी ज़ाकिर मियाँ के कुलपति काल में आरंभ हुई वह अब भी होती है। इसमें नारंजी, सुर्ख़, काले, हरे और प्याज़ी रंग के गुलाब भी देखने में आये। प्रो. रशीद अहमद सिद्दीक़ी का गुलाब

बाग़ विशेष रूप से देखने योग्य है । प्रत्येक वर्ष दो-एक पुरस्कार प्राप्त करने की उनकी विशेषता है । अलीगढ़ की भूमि वैसे भी गुलाब के लिये उचित और उर्वर है । विश्वविद्यालय में कहीं भी निकल जाइये गुलाबों की बहार दिखाई पड़ेगी ।

गुलाबों के अतिरिक्त ज़ाकिर मियाँ के कार्यकाल में विश्वविद्यालय में बुगनवेलिय का भी प्रचलन हुआ । हर तरफ़ इसकी बाढ़ दृष्टिगोचर होती है । जब बुगनवेलिया पुष्पित होती है तो बहुत मोहक दृश्य होता है विशेष रूप से सर सैय्यद हाल के बाहर कमरों की दीवारों के साथ साथ यह दृश्य दर्शनीय है । बुगनवेलिया की बहार के समय बाहर के जो पर्यटक अलीगढ़ आते हैं वह इस दृश्य को देखकर उसका चित्र अवश्य कैमरे में बंद करते हैं । प्रो. हबीबुर्दहमान ने बुगनवेलिया के विभिन्न रंग की बेलें उत्पन्न कीं जिनकी ख्याति अलीगढ़ के बाहर भी पहुँची । प्रकृति ने पौधे और फूल पैदा किये हैं । मनुष्य अपनी रचनात्मक क्षमता से उनके रंग रूप और उनकी आकृति में परिवर्तन लाता है । चुनांचे इस समय मानवीय हस्तक्षेप के कारण हज़ारों प्रकार के गुलाब और बुगनवेलिया विद्यमान हैं । हर देश में रंग बिरंगी संरचना का कार्यक्रम चल रहा है और बुगनवेलिया की उपजातियों की निरंतर वृद्धि हो रही है । ज़ाकिर मियाँ का रचनात्मक मानस मनुष्यों के अतिरिक्त वनस्पति को भी सुन्दर से अति सुन्दर और उत्तम से उत्तमतर बनाता है । जब बिहार के राज्यपाल थे तो पटना के राजभवन में तीन सौ से अधिक विभिन्न प्रकार के गुलाब थे । इनमें कुछ को छोड़कर जो बाहर से मंगाए गये थे सब वहीं के बाग़ के थे ।

देवगढ़ में एक बड़े विख्यात गुलाब उत्पादन के विशेषज्ञ थे जिनका नाम श्री भट्टाचार्य जी है । वह पटना के राजभवन में आये तो ज़ाकिर मियाँ के गुलाबों के शौक़ और उनकी तन्मयता को देखकर बहुत प्रभावित हुए । चुनांचे पटना से वापस जाकर उन्होंने अपने एक गुलाब का नाम "ज़ाकिर हुसैन" रखा है जो सारे देश में और सुदूर विदेशों में इसी नाम से विख्यात है । प्रो. हबीबुर्रहमान ने भी बुगनवेलिया की अपनी रचना का नाम "ज़ाकिरयाना " रखा जिसमें गुलाबी और नारंजी रंगों के मिश्रण से एक हल्का रंग उत्पन्न किया है । दोनों रंग अलग अलग रहते हुए एक दूसरे में व्याप्त हैं । बंगलौर में करोटन अत्यंत उत्तम कोटि के होते हैं । वहां के एक विशेषज्ञ ने ज़ाकिर मियाँ की रुचि को देख कर, जो पौधों और फूलों से उन्हें है, अपनी एक संरचना का नाम "ज़ाकिर हुसैन" रखा है जिसकी रंगा रंगी में सूक्ष्म मेल है जो आँखों के लिये अत्यंत आकर्षक है । राजा साहब भद्री हिमाचल प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल और गिलैडुला के बड़े विशेषज्ञ हैं । उन्होंने अपनी एक संरचना का नाम "ज़ाकिर हुसैन" रखा है । यह एक फूलदार पादप है जिसकी पत्तियां तलवार के आकार की होती हैं ।

इस समय देहली में उपराष्ट्रपति की गुलाब वाड़ी में गुलाब की चार सौ से अधिक क़िस्में विद्यमान हैं । मित्रगण देश और विदेश के गुलाब उपहार रूप में भेजते हैं क्योंकि उन्हें मालूम है कि ज़ाकिर मियाँ को इससे जो प्रसन्नता होती है वह अन्य किसी भेंट से

नहीं होती । चुनांचे इंग्लिस्तान, फ्रांस और जर्मनी से गुलाब भेंट स्वरूप आए जो उपराष्ट्रपति की गुलाब बाड़ी की शोभा हैं । जब गुलाब खिलने की ऋतु आती है तो इस गुलाब बाड़ी की हर क्यारी अपनी बहार दिखाती है ।

ज़ाकिर मियाँ को पुराने पत्थर संग्रहित करने में भी अत्यधिक रुचि है । ऐसे पत्थर जो कभी वानस्पत्य और पाश्विक जीवन से संबद्ध थे परंतु तदोपरांत करोड़ों वर्ष भूमि में दबे पड़े रहने से रसायनिक प्रक्रिया के कारण पाषाण रूप में परिवर्तित हो गए । ज़ाकिर मियाँ के पास सबसे पुरातन जीवाश्म पच्चीस करोड़ वर्ष पहले का है । इस पर उन वृक्षों की प्रतिछाया है जिनसे कोयला बनता है । अलजीरिया से एक पत्थर लाए हैं जो बिल्कुल गुलाब जैसा है । वैसी ही गुलाब की पंखुड़ियां किंतु पत्थर की । इसे वहां मरुभूमि का गुलाब कहते हैं । आस्ट्रेलिया के गवर्नर जनरल लार्ड केसी ने एक दुधिया पत्थर उपहार रूप में भेजा है जो नीलाभ है । यह करोड़ों वर्ष पुराना है । रूसी अकादमी के सदस्य वनाग्रोडाफ़ ने ज़ाकिर मियाँ के जीवाश्म के संग्रह को देखा तो रूस जाकर यूराल पर्वत पर जो बिल्लोरी पत्थर होते हैं उनका एक ढेर भेंट रूप में भेजा जिस में रंग बिरंगे क्रिस्टल हैं । यह स्फटिकाश्म प्रकृति का विचित्र कारनामा हैं । जड़ प्रकृति के ढेर में केवल क्रिस्टलों में क्रम और व्यवस्था उच्च कोटि की मिलती है । यह सुव्यवस्था जड़ प्रकृति की तुलना में वनस्पति में अधिक होती है और मनुष्य में यह अपनी प्राकाष्ठा को पहुंच जाती है । क्रिस्टल में विकास नियम का प्रथम चरण परिलक्षित होता है ।

निश्चय ही ज़ाकिर मियाँ कुलभूषण तो हैं ही किंतु उससे बढ़कर बहुत कुछ हैं । इनके व्यक्तित्व की सीमाएं कुल के बाहर बहुत दूर तक फैली हुई हैं । इनकी आत्मा की ज्योति से बहुत सारे हृदय और बहुत सी संगोष्ठियां प्रदीप्त हैं । यदि उन्हें राष्ट्र रत्न कहा जाए तो यह अधिक उचित होगा ।

डा. ज़ाकिर हुसैन – मर्दे मोमिन, मर्दे हक़
(योगी पुरुष, सत्यकाम पुरुष)

डा. सैय्यद आबिद हुसैन

ज़ाकिर साहब हिंदुस्तानी स्वतंत्रता आन्दोलन के तूफ़ानी युग में पले और बढ़े । इस तूफ़ान और कोलाहल के काल में जहाँ जीवन-समुद्र के तल पर तट से टक्कर लेने वाली प्रचंड और कोलाहलपूर्ण तरंगें उभरीं वहाँ सागर के अन्त:तल में उन मोतियों का भी पोषण हुआ जिन में ग़ालिब के कथनानुसार सागर का क्षोभ अवशोषित हो गया था । एक ऐसा मोती जिस की निस्तब्धता में तूफ़ानों की तीक्ष्ण शक्ति निहित थी नवयुवक ज़ाकिर हुसैन थे जो मुस्लिम ऐंग्लों ओरियंटल कालिज अलीगढ़ की एम.ए. फ़ाइनल की कक्षा में पढ़ रहे थे ।

ज़ाकिर साहब के वैयक्तिक विकास की कहानी 1920 ई. से आरंभ करने के दो कारण हैं । पहला तो यह कि यह साल उन की आयु का अत्यंत उलझा हुआ और महत्वपूर्ण मोड़ था, जहाँ से उनके एक नए जीवन का आंरभ हुआ और उनके इसी व्यक्तित्व की चर्चा मुझे करनी है । दूसरे यह कि इसी साल मेरी भेंट उनसे हुई और दोस्ती और सहयोग का वह संबंध आरंभ हुआ जो अर्द्धशताब्दी जारी रहने के पश्चात् अब से चार सप्ताह पूर्व समाप्त हो गया और मेरे जीवन में एक उदासीनता, एक नीरसता छोड़ गया । इस सारे काल में मैं उनके विकास के वृत्तांत का उल्लेख लगभगग एक प्रत्यक्ष साक्षी के रूप में कर सकता हूँ।

अक्टूबर 1920 ई. में जब मैं मेवर संट्रल कालिज इलाहाबाद से बी.ए. की परीक्षा पास करके अंग्रेज़ी साहित्य में एम.ए. करने के लिए मुहम्मडन ऐंग्लो ओरियंटल कालिज में प्रविष्ट हुआ तो सारा कालिज ज़ाकिर हुसैन के यशगान से गुंजरित था । वह अर्थशास्त्र के द्वितीय वर्ष के छात्र थे और अर्थशास्त्र विभाग में जूनियर लेक्चरर भी । मुझे प्रथम भेंट में नहीं तो दो-चार मुलाक़ातों में भली-भाँति आभास हो गया कि मैं ने इनके असाधारण मानसिक और नैतिक गुणों के संबंध में जो किंवदन्तियाँ सुनी हैं वह अधिकांशत: सत्य हैं। मुझे इनकी प्रतिभा में एक ओर विवेक और प्रज्ञा का और दूसरी ओर चिंतन और संकल्पना का एक मिश्रण परिलक्षित हुआ जो इस से पहले कभी न देखा था । आप उनसे बात करें तो क्षणिक मात्र में वह बात के तथ्य तक पहुँच जाते थे और फिर शनै: शनै:

उभर कर ऊपरी तल पर आते थे । वह स्वंय किसी भी समस्या पर विचार करें उनकी निर्णायक शक्ति विद्युत के समान कौंध-कौंध कर उस समस्या के समाधान के नाभीक बिंदु को प्रकाशित कर देती थी । पुन: शनै: शनै: पूर्ण वृत में यह प्रकाश फैलाता था । इन के भाषणों में भी यह विशेषता थी कि पहले उन की बातें सीधी हृदय में उतर जाती थीं और फिर तर्क द्वारा मस्तिष्क को प्रभावित करती थीं । उनके व्यक्तित्व में अत्याधिक आकर्षण था । किंतु यह आकर्षण उस काल तक सर्वव्यापी नहीं था । जो लोग मानसिक और नैतिक दृष्टि से उनके समरूप थे और एक ही रंग में रंगे थे वह निसंकोच उनकी ओर खिंचते थे किन्तु जो उन के जैसे नहीं थे वह उन से घबराते थे और डरते थे । बड़े बड़े धुरंधर प्रतिपक्षियों को जब प्रतियोगिता और वादविवाद में उनसे पाला पड़ता तो उनके चुभते हुए हास्य-व्यंग्य और शास्त्रार्थ की अगाध शक्ति के सम्मुख ठहरना कठिन हो जाता । विहंगम दृष्टि से देखने वाले को ऐसा लगता था कि वह एक प्रफुल्लमन और चिंतामुक्त स्वभाव के व्यक्ति हैं । जीवन उनके लिए कोई गहन, गूढ़ और गंभीर लक्ष्य नहीं बल्कि एक हल्की-फुल्की रोचक क्रीड़ा है ।

परंतु कुछ दिनों पश्चात् ही ज़ाकिर साहब के व्यक्तित्व का एक नया पहलू जो अब तक दबा और छिपा हुआ था उभर कर दृष्टिगोचर हुआ और ज्ञात हुआ कि इस प्रकटत: मनमौजी और चिंतामुक्त नवयुवक के सीने में एक निष्ठावान, दयालु और साहसी हृदय भी है और इस हृदय में दृढ़ आस्था, अटल संकल्प और अथाह साहस है ।

अक्टूबर 1920 ई. के आरंभ में जब महात्मा गाँधी, मौलाना मुहम्मद अली और मौलाना आज़ाद ने अलीगढ़ के छात्रों का स्वाधीनता संग्राम में भाग लेने के लिए आह्वान किया तो इस पुकार पर हुँकारी भरने वालों के नेता ज़ाकिर साहब थे । यह मनचले अध्यापक और विद्यार्थी सरकारी अनुदान पर चलने वाले कालिज का परित्याग कर एक स्वतंत्र शिक्षालय में प्रविष्ट हो गए जो जामिया मिल्लिया के नाम से स्थापित की गई और हिन्दुस्तानी मुसलमानों में राष्ट्रीय आंदोलन की हलचल बन गई ।

अपने मित्र और सहकर्मी ख़्वाजा अब्दुल हमीद के आग्रह पर ज़ाकिर साहब उच्च शिक्षा अर्जन के लिए जर्मनी पहुँचे जहाँ मैं बर्लिन विश्वविद्यालय में शिक्षार्थी था और मुजीब साहब बी.ए. (विशेष) की उपाधि आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय से प्राप्त करके मुद्रणकला में निपुणता प्राप्त कर रहे थे । बर्लिन में तीन वर्ष से कुछ अधिक के निवास काल में ज़ाकिर साहब को वह अनुकूल वातावरण मिला जिस में नवीन क्षमताओं के उभरने और नवीन मूल्यों के विकसित होने से उनके व्यक्तित्व में विशालता, गंभीरता और प्रौढ़ता उत्पन्न हो गई । काव्य और साहित्य से उन्हें पहले से ही लगाव था । यहाँ रहकर ललित कलाओं, संगीत, चित्रकला, नाटक और वास्तुकला के प्रति अभिरूचि जाग्रत हुई और परवान चढ़ी । विश्वविद्यालय में उनका अध्ययन क्षेत्र अर्थशास्त्र था, किन्तु अपने विशेष विषय से कहीं अधिक रुचि वह शिक्षा और शिक्षण पद्धति में रखते थे । इन्हें मेरे

अध्यापक प्रोफ़ेसर एडवर्ड एश्प्रेंगर से, जो दर्शनशास्त्र के मूर्धन्य पंडित समझे जाते थे, अत्याधिक श्रद्धा थी, बहुत चाह से उनके लेक्चर सुनते थे और उन की पुस्तकें पढ़ते थे। इसके अतिरिक्त जर्मनी के विभिन्न क्षेत्रों में जो स्कूल आधुनिक शिक्षा अवधारणाओं और शिक्षण पद्धति का प्रयोग करते थे, वहाँ जाकर उनके प्रयोग को अनुशीलन और अन्वेक्षण की दृष्टि से देखते थे। अवकाश के समय में उन्हों ने जर्मनी के विभिन्न क्षेत्रों के अतिरिक्त इंगलिस्तान, फ़्रांस, डेनमार्क, नार्वे और स्वेडन की भी यात्रा की और पाश्चात्य सभ्यता के भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृश्यों को विभिन्न रूपों में देखा और समझा। अपने मानस को पाश्चात्य ज्ञान और बुद्धि के प्रकाश से दीप्तिमान करने के बावजूद अपने मन में आस्था की ज्योति को बुझने नहीं दिया।

भारत वापस आकर ज़ाकिर साहब ने जामिया मिल्लिया के नेतृत्व की बागडोर संभाली और कुछ वर्षों में उसे राष्ट्रीय शिक्षा की एक ख़ानक़ाह (आश्रम) बना दिया जहाँ वह और उनके सहकर्मी गाँधी जी की प्रेरणा से नवयुग के साधुओं के समान साफ़-सुथरा भिक्षुतुल्य जीवन व्यतीत करते और बच्चों तथा युवकों को ईश्वर प्रेम, मानव प्रेम और देश प्रेम की शिक्षा देते थे। आगामी तेइस वर्षों में ज़ाकिर साहब ने जामिया मिल्लिया में शिक्षा के जिस सिद्धांत के अनुकूल कार्य को रूपायित किया वह "काम द्वारा सीखने" का सिद्धांत था। "काम" की अवधारणा उनके यहाँ मात्र बौद्धिक नहीं बल्कि अधिकांश मात्रा में आध्यात्मिक थी। इस का बौद्धिक तत्व उन्हों ने आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा शास्त्रियों विशेषत: कीर्शन अस्टाइज़ से ग्रहण किया और आध्यात्मिक तत्व महात्मा गाँधी से लिया था और दोनों के मिश्रण से स्वंय अपने शैक्षणिक दृष्टिकोण को रूपायित किया था। इस दृष्टिकोण के ढाँचे में उन्हों ने मौलिक राष्ट्रीय शिक्षा की परियोजना ढाली थी जो ज़ाकिर हुसैन योजना के नाम से प्रसिद्ध हुई।

यदि इस सिद्धांत को हम थोड़े से शब्दों में बताना चाहें तो यूँ कह सकते हैं कि शिक्षा नाम है किसी जाति के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों को उसकी नई पीढ़ियों तक इस प्रकार पहुँचाने का कि वह उस की जीवनचर्या का अंग बन जाएँ। यह मूल्य साकार रूप में जाति की सांस्कृतिक संपदा के विभिन्न विभागों में विद्यमान होती हैं जैसे धर्म, शिष्टाचार, ज्ञान, कला आदि में। शिक्षक का कार्य यह है कि पहले इन मूल्यों को स्वंय अपनाए और फिर अपने शिष्यों - बच्चों, नवयुवकों - को इन्हें ग्रहण करने में सहायता दे। मूल्यों की प्राप्ति का प्रभावशाली साधन केवल "काम" है अर्थात धर्म केवल धर्माचार से, शिष्टाचार केवल शिष्ट व्यवहार से, ज्ञान केवल प्रयोग से और कला केवल कला के अभ्यास से प्राप्त हो सकते हैं। इस सिद्धांत को दृष्टि में रखकर ज़ाकिर साहब ने जामिया को एक आदर्श "काम" का मदरसा (शिक्षालय) बना दिया था। जहाँ पुस्तकीय पाठन कम से कम होता था और शैक्षणिक मूल्य की व्यवहारिक क्रियाएं अधिक से अधिक संपन्न होती दिखाई देती थीं। काम-लाभदायक सुव्यस्थित निपुणतापूर्ण काम-ज़ाकिर

साहब के निकट केवल शिक्षा और शिक्षण का साधन ही नहीं बल्कि इससे कहीं अधिक उच्च और उत्तम वस्तु है। इस से मनुष्य जीवन का सुख भोग सकता है, इसी से व्यक्ति के रूप में और समाज के सदस्य के रूप में अपने जीवन लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है और इसी से मोक्ष और ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकता है।

इसी जीवनदर्शन की ओर एक शिक्षक के रूप में ज़ाकिर साहब हमें अग्रसर करते थे। इसीलिए कहना पड़ता है कि वह अपने काम और अपने निजत्व को एक समझते थे क्योंकि एक मनुष्य के रूप में उन के जीवन की सार्थकता केवल इसी संवेदना की पृष्ठ भूमि में दिखाई जा सकती है जो शिक्षक के रूप में उनकी विशेषता थी। ज़ाकिर साहब के व्यक्तित्व में जो विशालता और बहुरंगी थी वह योरप में रहने से उत्पन्न हुई थी और इसे एकलन और सामंजस्य उस साधना से प्राप्त हुआ जो उन्हों ने जामिया के शैक्षणिक आश्रम के ऋषि के रूप में की थी। विभिन्न मनुष्यों के स्वभावगत इस मानचित्र के अनुसार, जो एडवर्ड इश्प्रेंगर ने बनाया है, ज़ाकिर साहब एक सामाजिक मनुष्य बन गए अर्थात एक ऐसे व्यक्ति जिस की प्रवृत्ति जनसेवा और प्रेम की ओर अधिक उन्मुख हो। यद्यपि उनके व्यक्तित्व के चित्र में धार्मिक आस्था, चिंतन-मनन, सौंदर्योपासना के गहरे रंग विद्यमान थे किन्तु इस की समस्त पृष्ठभूमि मानवप्रेम के रंग में रची हुई थी। इस के दो चिह्न थे। एक यह कि उन के लिए मनुष्य से, चाहे वह व्यक्ति के रूप में हो या समूह के रूप में, प्रेम और उस की सेवा मात्र धार्मिक या नैतिक कर्त्तव्य नहीं था जिस के लिए चेतना और संकल्प की आवश्यकता हो बल्कि उन की प्रकृति का और स्वत: प्रकृति का नियम था जो बिना सोचे स्वत: अपना काम करता था। जहाँ तक मैं जानता हूँ उन्हें कभी इस बात का एहसास नहीं हुआ कि उन्हों ने अपने जीवन को राष्ट्र सेवा में समर्पित किया है और इस के लिए कोई त्याग और बलिदान किया है। यदि एहसास हुआ तो बस यह कि जीवनधारा अपने आप एक ओर प्रवाहित है और उन्हों ने कहा कि अच्छा है, बहने दो। इन में "अपनत्व" और "परत्व" की भावना का इस प्रकार घुल मिल कर एकीकरण हो गया था कि मनुष्य की तुलना में, चाहे वह किसी देश, धर्म या वर्ग का हो, उन्हें हीनभावना और उच्चता की भावना के तनाव से गुज़रना, आत्मगौरव आत्मविस्मृति के बीच झूलना नहीं पड़ा। नए आदमी से वह इस खुले मन और निसंकोच भाव से मिलते थे कि जैसे वर्षों पुराना मित्र हो। मनुष्य को पुस्तक समझ कर उसकी आलोचना और विश्लेषण नहीं करते थे बल्कि अपने जैसा ही भवसागर का एक बूँद जान कर वह जैसा भी हो सारे का सारा ले लेते थे और आप को संपूर्णतया उसके हवाले कर देते थे।

ज़ाकिर साहब जामिया मिल्लिया में अध्यापकों और विद्यार्थियों की पर्याप्त जाँच-परख कर लेते थे। जाँच-परख उनकी बौद्धिकता और योग्यता से कहीं अधिक उनकी शालीनता और उनकी मानवीयता की होती थी। दो ढाई सौ लोगों का यह दल एक संयुक्त, सामंजस्यपूर्ण परिवार था। परिवार के मुखिया के समान ज़ाकिर साहब हर छोटे बड़े को

भली भांति जानते थे, हर एक के दुख-सुख में संमिलित रहते थे और प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार काम लेते थे। उनका प्रत्येक व्यक्ति के साथ एक विशिष्ट व्यवहार था जो न केवल मानुषिक प्रवृत्ति की उनकी समझ पर बल्कि एक हद तक उन की प्रज्ञा पर भी आधारित था। किसी को वह कटुआलोचना करके उकसाते थे, किसी की प्रशंसा करके उसे प्रोत्साहित करते थे, किसी का पदे-पदे मार्गदर्शन करते थे और किसी को एकाकी छोड़ देते थे कि जाओ और अपना मार्ग स्वंय ढूँढो।

उनकी सहानुभूति और प्रेम का यह हाल था किसी साथी या शिष्य को किंचित मात्र भी कष्ट हो तो वह व्याकुल हो जाते थे। परंतु इसी स्नेह का एक रूप प्रकटत: क्रूरता के रूप में भी देखने को मिलता था। यदि उनका कोई प्रिय साथी उन कठिनाइयों और दुखों से, जिन का जामिया के लोगों को चौथाई शताब्दी तक सामना करना पड़ा, घबरा कर जामिया को छोड़ना चाहता था तो वह उन नैतिक बंधनों को, जिन्हों ने उस व्यक्ति को ज़ाकिर साहब और उन की संस्था से संबद्ध कर रखा था, इस प्रकार कस देते थे कि वह हिल नहीं सकता था। किंतु ऐसी स्थिति बहुत कम उत्पन्न होती थी। साधारणतया यही देखने में आता था कि जब कोई साथी अर्द्धक्षुधित जीवन से तंग आकर उनके पास जाता कि उन्हें अपना दुखड़ा सुना कर, उपालंभ करके, व्यंग्यबाण बरसा कर अपने मन का बुख़ार निकाले तो वह स्वंय ज़किर साहब की मनोदशा देख कर और उनके धैर्य से लज्जित होकर या उनके स्नेह और विश्वास से प्रफुल्लित हो कर लौटता। वह उसे रोटी के बदले 'काम' देते थे और वह व्यक्ति गौरव तथा उल्लास से फूला नहीं समाता था।

मैंने कहा था कि छात्रजीवन काल में जहाँ ज़ाकिर साहब के व्यक्तित्व की मोहनी अच्छों को उन की ओर खींचती थी वहाँ उनकी तर्कवितर्क की काट और हास्यव्यंग्य की धार बुरों को उन से दूर रखती थी। परंतु अब तो कुछ शिक्षक धर्म के आध्यात्मिक अपेक्षाओं से, कुछ सूफ़ी-संतों के उपदेशों से, कुछ गाँधीजी के उदाहरण से उन में अत्याधिक सहनशक्ति और खादारी उत्पन्न हो गई थी। शिक्षक होने के नाते वह प्रत्येक व्यक्ति के चारित्रिक दोषों की उपेक्षा करके उस के गुणपूर्ण पहलू ढूँढ निकालते थे और उसके गुणों की प्रशंसा करते और उसे प्रोत्साहित करते थे। महात्मा गाँधी के अनुयायी होने के कारण वह दुष्ट और उसके दुष्टाचार में भेद करते थे। बुराइयों और विशेषत: कमीनापन और बेवफ़ाई से उन्हें घृणा थी। किंतु बुरे काम करने वालों के प्रति अत्यंत क्षमाशीलता, स्नेह और सहानुभूति का व्यवहार करते थे कि यदि उस में तनिक भी मानवता होती थी तो उसके चारित्र का कायाकल्प हो जाता था।

उदारता और आत्मसंतुष्टि में उन जैसा मिलना कठिन है। उन बाइस-तेइस वर्षों में, जब वह जामिया में पचहत्तर रुपये मासिक वेतन पाते थे और इसके साथ अपनी निजी संपत्ति से प्राप्त थोड़ी सी आय मिला कर तंगी से गुज़ारा करते थे, न केवल सुपात्र विद्यार्थियों की सहायता करते थे बल्कि किसी योग्य या अयोग्य याचक की याचना को

तीन भाई - ज़ाकिर हुसैन, युसुफ़ हुसैन, महमूद हुसैन

अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के दीक्षान्त समारोह के अवसर पर कर्नल बशीर हुसैन ज़ैदी (चाँसलर) और नवाब छतारी प्रो. चाँसलर) के साथ

जामिया मिल्लिया इस्लामिया प्रथम दीक्षान्त समारोह, 1921 ई.
समारोह का एक दृश्य : हकीम अजमल ख़ाँ, डॉ. मुख़्तार अहमद अंसारी, अबुलकलाम आज़ाद, टी.ए.के. शेरवानी, मौलाना शौकत अली

द्वितीय बेसिक एजूकेशन कान्फ़ेरेन्स, जामिया, 1941 ई.
राजेन्द्र प्रसाद, अब्दुल मजीद ख़्वाजा, ख़्वाजा गुलामुस्सैयदैन, ज़ाकिर हुसैन, जी.सी. चैटर्जी
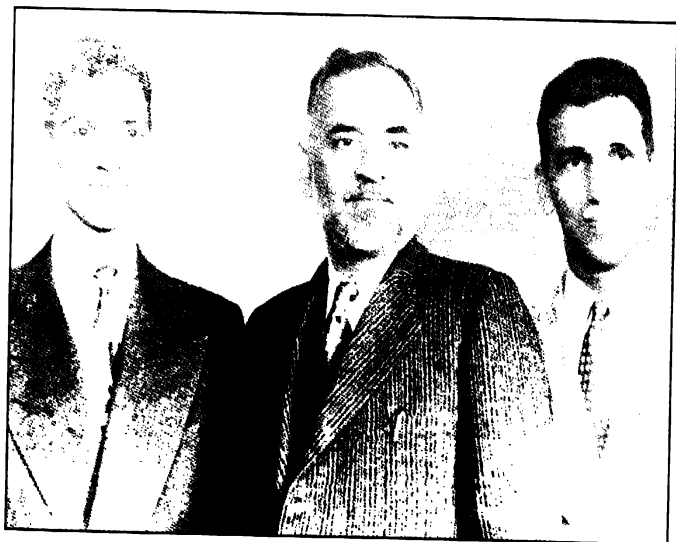
मित्रों के साथ, अब्दुर्रऊफ़, इकराम ख़ान

महात्मा गाँधी के साथ

जवाहरलाल नेहरू के साथ

विनोबा भावे के साथ

जामिया के स्थापना दिवस, 1964 ई. के अवसर पर, मुहम्मद मुजीब और अख्तर हुसैन फारूकी के साथ

ख़ान अब्दुलगफ़्फ़ार ख़ाँ के साथ
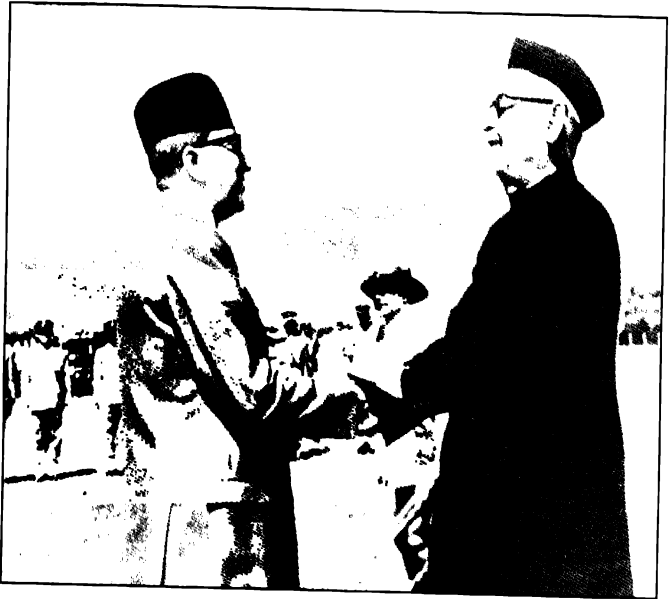
काठमंडो में नेपाल के राजा महेन्द्र के साथ

भारत के उपराष्ट्रपति के रूप में शपथ ग्रहण करते हुए

सऊदी अरब के शाह फ़ैसल के साथ

मिस्र के जमाल अब्दुलनासिर के. साथ

युगोस्लाविया के मार्शल टीटो के साथ

नहीं टालते थे, चाहे इस कारण उन्हें कितना ही कष्ट भोगना क्यों न पड़े ।

ज़ाकिर साहब की प्रफुल्लता और सफलता का काल उसी दिन समाप्त हो गया जब पंडित नेहरू और मौलाना आज़ाद के आग्रह पर जामिआ मिल्लिया छोड़ कर वह अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति होकर गए । उन्होंने ने भय और त्रास तथा विक्षोभ के उस विकराल अनुभूति को, जो देश विभाजन के पश्चात् विश्वविद्यालय पर आच्छदित थी, दूर किया । दुर्भाव और विरोद्ध के उस तूफ़ान को, जो उस की ओर चारों ओर से उमड़ रहा था, रोका और उसकी आर्थिक तथा शैक्षणिक स्थिति को बहुत कुछ ठीक किया । परंतु उनका यह प्रयास कि, जिस प्रकार जामिया मिल्लिया में उन्हों ने एकता और सामंजस्य का स्फुरण किया था उसी प्रकार मुस्लिम विश्वविद्यालय को समरस और सामंजस्य संस्था बना दें, स्वीकार्य न हो सका । अलीगढ़ में उन्हें जामिआ मिल्लिया जैसी सफलता न मिलने के दो कारण हैं । एक वहाँ पहुँचने के थोड़े ही दिन पश्चात् वह हृदयरोग ग्रस्त हो गए और उन का स्वास्थ्य, जो पहले भी कुछ बहुत अच्छा नहीं था, और अधिक बिगड़ गया । इसलिए वह उतनी मेहनत और लगन से जो इतने बड़े आवासीय विश्वविद्यालय को चलाने के लिए आवश्यक थी, काम न कर सके । दूसरे जो सहकर्मी उन्हें मिले थे वह उनके द्वारा चयन किए हुए नहीं थे और जिस परिवेश में जीवन व्यतीत करना था वह उनके द्वारा निर्मित नहीं था ।

इसके पश्चात् जब राष्ट्रीय सेवा के लिए बुलाए गए तो पहले बिहार के राज्यपाल हुए, फिर उपराष्ट्रपति और अंत में राष्ट्रपति बने । इस समय से उनकी जीवन पुस्तक का एक नवीन अध्याय आरंभ हुआ । ज़ाकिर साहब के घनिष्ठ मित्रों को अच्छी तरह मालूम है कि जब मरहूम (स्वर्गवासी) मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति पद से हटा कर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रथम ग़ैरसरकारी अध्यक्ष बनाए जाएँगे, किंतु जब यह नहीं हुआ और उन्हें इस के बदले राज्यपाल पद पेश किया गया तो उन्हों ने निश्चित रूप से इंकार कर दिया । फिर एक देश में राजदूत के रूप में जाने को कहा गया, उन्होंने इस पद को भी स्वीकार नहीं किया । कुछ समय पश्चात् उन का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया और वह चिकित्सा हेतु जर्मनी चले गए । कुछ स्वस्थ हुए थे कि बर्लिन में नियुक्त भारतीय राजदूत द्वारा उन्हें पंडित जवाहर लाल नेहरू की प्रेमस्निग्ध धमकी मिली कि मैं तुम्हें बिहार का राज्यपाल बनाना चाहता हूँ, तुम्हें वहाँ जाना ही पड़ेगा, कोई हीला-बहाना नहीं सुना जाएगा । ज़ाकिर साहब ने उत्तर के लिए कुछ दिनों की मोहलत माँगी और हिंदुस्तान में अपने मित्रों को पत्र लिख कर सलाह माँगी । जहाँ तक मुझे मालूम है सब की यही राय थी कि ज़ाकिर साहब के स्वास्थ्य की जो दशा हो गई है उसे देखते हुए उन्हें राज्यपाल पद स्वीकार कर लेना चाहिए इसलिए कि उस समय तक राज्यपाल का जीवन अपेक्षाकृत कोलाहलरहित था । फिर यह विचार था कि भले ही निर्वाचित सदस्याओं के मंत्रीमंडल की उपस्थिति में राज्यपाल वैधानिक रूप से राज्य के कार्यव्यापार में हस्तक्षेप नहीं कर

सकता, फिर भी अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से राज्यपाल कुछ न कुछ सरकार की नीति पर प्रभाव डाल सकता है। यह आशा थोड़ी बहुत पूरी भी हुई। ज़ाकिर साहब को बहुत सी समस्याओं (विशेषत: शिक्षा संबंधी समस्याओं) के बारे में सरकार को परामर्श देने और उन्हें कार्यान्वित कराने का अवसर मिला। राज्यपाल की पाँचवर्षीय अवधि समाप्त होने पर वह निश्चय कर चुके थे कि सेवा अवधि में और पाँच वर्ष का विस्तार, जो लगभग निश्चित था, स्वीकार नहीं करेंगे। परंतु जब भारत सरकार ने उन्हें अपना उपराष्ट्रपति बनाना चाहा तो उन्हों ने यह समझकर स्वीकार कर लिया कि इस पद का काम भी हल्का होगा और असुचारू रूप से सरकार को परामर्श देने का भी अवसर मिलेगा। आंरभिक कुछ वर्षों में वस्तुत: यह आशा पूर्ण हुई। राज्यसभा में, जिसकी अध्यक्षता उन का मुख्य कार्य था, उनके नेतृत्व के अंतर्गत अत्यंत रोचक और शांतिपूर्ण वातावरण उत्पन्न हो गया था और भारत सरकार भी बहुत से मुद्दों पर सुचारू रूप से उन से परामर्श करती रहती थी। परंतु अंतत: जब सामन्यतया देश में एक तूफ़ान और कौतूहल की स्थिति उत्पन्न हो गई और उस के फलस्वरूप राज्यसभा का सभागार भी पहलवानों का अखाड़ा बन गया तो जो अस्थायी शांति ज़ाकिर साहब को उपलब्ध हुई थी, नष्ट हो गई, यद्यपि अत्यंत सगरिमा और सधैर्य इस तूफ़ान में राज्यसभा के नाव खेते रहे। किंतु हर समय की कुढ़न का उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने निश्चय कर लिया और घोषणा भी कर दी कि वह उपराष्ट्रपति का कार्यकाल समाप्त होने के पश्चात नये निर्वाचन में इस पद के प्रत्याशी नहीं होंगे। परंतु 1967 ई. के आम चुनाव के फलस्वरूप देश के इतिहास में एक ऐसा नाजुक मोड़ आ गया जिसमें लगता था कि केन्द्रीय सरकार भी उसी बिखराव और पतन का शिकार हो जाएगी जो कुछ राज्यों में परिलक्षित हो रहा था। इस अवसर पर देश की सत्ताधारी पार्टी में यह विचार हुआ कि यदि ज़ाकिर साहब राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचित हो जाएँ तो संभव है कि केन्द्रीय राजनीति में, जो बुरी तरह डाँवाडोल हो रही थी, संतुलन उत्पन्न हो जाए।

ज़ाकिर साहब अपने जीवन में अनेक कड़ी परीक्षाओं से गुज़रे थे, किंतु यह उनके लिए अत्यंत कठिन परीक्षा थी। उनका स्वास्थ्य लगभग साथ छोड़ चुका था। इस कोलाहल में, जो सारे देश में व्याप्त था, इस बात की कुछ अधिक आशा नहीं थी कि वह राष्ट्रपति निर्वाचित हो सकें गे और यदि हो भी गए तो बिगड़ी हुई स्थिति उनके योगदान से सुधर जाएगी।

परंतु संकटों से टक्कर लेना ज़ाकिर साहब का स्वभाव बन चुका था। वह अपनी जान जोखिम में डाल कर इस अग्निपरीक्षा के लिए उद्यत हो गए। आशा के विपरीत जनमत के प्रतिनिधियों के भारी बहुमत ने उन का साथ दिया और वह राष्ट्रपति निर्वाचित हो गए। निर्वाचन पूर्व और उसके पश्चात् कुछ लोगों ने अनजाने में संदेहवश और कुछ लोगों ने जानबूझ कर विद्वेषवश उन पर नाना प्रकार के दोषारोपण किए किंतु कुल मिलाकर उनके

आकर्षणपूर्ण व्यक्तित्व की मोहनी ने मित्रामित्र सभी के मन को मोह लिया और उन्हें वह लोकप्रियता प्राप्त हुई जो उनसे पहले बहुत कम राष्ट्रीय नेताओं को मिली। परंतु जहाँ तक देश की बिगड़ी को बनाने का संबंध है वह इससे अधिक न कर सके कि एक ओर उनके व्यक्तिगत अनुकूल संबंधों के आधार पर जो उनमें और लगभग सभी राजनैतिक दलों के नेताओं में स्थापित हो गए थे, उन्हें समझा बुझा कर उनके पारस्परिक प्रतिद्वंद्वता और शत्रुता को एक सीमा से आगे न बढ़ने दें और उन्हें प्रकट रूप धारण न करने दें और दूसरी ओर विदेशी नेताओं के सत्कार या अतिथि के रूप में उन के हृदय में हिंदुस्तानी गरिमा और प्रतिष्ठा का चित्र अंकित करें। उनके यह कारनामे अपनी जगह कुछ कम न थे। किंतु स्वंय उन के निकट यह राष्ट्रीय निर्माण और प्रगति की तुलना में कुछ अधिक वज़न नहीं रखते थे। दुनिया ने सार्वजनिक जीवन के मापन से नाप कर उनकी महानता को सराहा और उन्हें सफलताओं का मुकुट पहनाया। परन्तु उनके मन के संसार में अनुपलब्धि और विफलता के भाव से दुख की छटा छाती रही। ज़ाकिर साहब मूलत: एक शिक्षक थे किंतु उन्हें यहाँ निपटना सुलझना राजनीतिज्ञों से था जिन्हें शिक्षा देना अत्यंत दुष्कर कार्य है। शिक्षक केवल नैतिक प्रभाव डाल सकता है और राजनीतिज्ञ अन्य प्रत्येक प्रभाव से प्रभावित हो सकते हैं (दो-चार के अतिरिक्त)। ज़ाकिर साहब ने इस अंतिम काल में भी जनता की शिक्षा के लिए इतना कुछ किया कि देश के इतिहास में बहुत ही कम लोगों ने किया होगा। इसलिए वह कितने भी खिन्नमन क्यों न हों, हताश नहीं थे। उनका मत था कि यदि जनता शिक्षित हो जाएगी तो वह स्वंय अपने राजनैतिक नेताओं को यथा आवश्यकता पाठ पढ़ा सकेगी।

जैसा कि मैंने आंरभ में कहा था कि ज़ाकिर साहब के यहाँ इक़लाब के मर्दे मोमिन (योगी पुरुष) और महात्मा गाँधी के मर्देहक़ (सत्यकाम पुरुष) दोंनों का वैभव परिलक्षित होता है। उन्होंने "फ़क़ीरी में भी शाही" और शाही में भी फ़क़ीरी की। उन्हों ने कभी "तलवार पर भरोसा" नहीं किया, आजीवन बिना हथियार के लड़ते रहे। उन्हों ने कभी भाग्य का आश्रय नहीं लिया बल्कि स्वंय "पूर्वनिर्धारित नियति" बन कर अपने राष्ट्र की भाग्यलेखा बदलने की चेष्टा की। परमेश्वर उनकी आत्मा को अनादि शांति प्रदान करे और हम सब के हृदय में वह शुभ विह्वलता और क्षोभ उत्पन्न करे जो निर्वाण का मार्ग दिखाता है।

नोट : मर्दे मोमिन, मर्दे हक़, इस्लाम और अस्लेजदीद, पृष्ठ 25

निष्ठावान पुरुष: डाक्टर ज़ाकिर हुसैन

ख़्वाजा गुलामुस्सैयदैन

ज़ाकिर साहब की गणना उन्हीं गिने चुने लोगों में है जिन पर प्रकृति ने रूप और गुण, मन और मस्तिष्क, शालीनता और बुद्धिमत्ता, दोस्ती और नेतृत्व के असाधारण गुणों की वर्षा की है। परंतु वह इन्हें इस निष्काम भाव और सहज रूप से व्यवहार में लाते हैं कि विहंगम दृष्टि मात्र से इस का अनुमान नहीं होता और दूरदर्शियों को उनकी उच्चता और महत्ता बुरी नहीं लगती। यह बात अपने आप में एक बड़ी कसौटी है। ज़ाकिर साहब उन लोगों में नहीं जो अपनी महत्ता की दुकान लगा कर बैठते हैं और ग्राहकों को हटपूर्वक वहां आने का निमंत्रण देते हैं। उन्हें स्वयं भी संभवत: अपने मूल्य का पूर्ण आभास नहीं या अगर है तो ऐसा ही है जैसा गुलाब को या चंद्रमा को होता है अर्थात उनके लिये महक फैलाना और ज्योतिर्मय करना अत्यंत प्राकृतिक बात है। इसके लिये किसी सराहना या कुछ पाने की बात उनके मन में आ ही नहीं सकती।

मेरा विचार है और संभवत: ज़ाकिर साहब के बहुत से मित्र और जानने वाले इस बात से सहमत होंगे कि वह जीवन के जिस अंग को भी अपनाते उसमें अपनी ईश्वर प्रदत्त क्षमताओं के बल पर कीर्ति, लोकप्रियता और श्रेष्ठता प्राप्त कर सकते थे। संजोगवश वह डाक्टर होते होते रह गए, चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा आरंभ करके छोड़नी पड़ी। अन्यथा हो सकता है कि वह डाक्टर अंसारी और हकीम अजमल खां की कमी को पूर्ण कर देते। प्रकृति की विडंबना है कि उन्हें हिंदुस्तान के गुलामाबाद में पैदा किया। यदि उनका जन्म किसी स्वाधीन और गुणवत्ता के पारखी देश में होता तो उसके राजनैतिक जीवन में उनके लिये प्रतिष्ठित स्थान सुरक्षित होता और वह देश की राजनीति और नैतिकता के टूटे हुए नाते को जोड़ने के कर्तव्य का निर्वाह करते। यदि वह पैसा कमाने वाले पेशे वकालत को अपनाते तो उनकी भाषण पटुता, विवेचन क्षमता, हाज़िर जवाबी, न्यून्याधिक से हट कर मूल तथ्य की पकड़ उन्हें प्रथम श्रेणी के वकीलों में जगह दिलाती। इनमें समझदारी है, निष्ठा है, व्यक्तिगत [illegible] है और [illegible] मनुष्य को ऐसी शक्ति प्रदान करते हैं कि वह [illegible] ढंग से पूरा कर सकता है। [illegible] अनुमोदन है और व्यक्तिगत [illegible] वफ़ादारी और विश्वास की

संपदा उपलब्ध होती है और काम करने में आसानी होती है । शिक्षा का सौभाग्य है कि उन्होंने अपने कार्यक्षेत्र के लिये इसका चयन किया ।

परंतु किसी असाधारण योग्यता के व्यक्ति के लिये इस मैदान को चुनना अपने आप में अनहोनी सी बात है क्योंकि इसमें बड़े धैर्य और आहुति की आवश्यकता है, मानव प्रेम और जनसेवा भाव की ज़रूरत है, मन को मार कर मेहनत करने की आवश्यकता है । यह गुण साधारणतया ऐसे लोगों में नहीं पाए जाते जो अपनी मानसिक क्षमता की ऊँची कीमत लगाते हैं और उसे शीघ्रातिशीघ्र, सत्ता, प्रभाव, ख्याति और नेतृत्व के सिक्कों में प्राप्त करना चाहते हैं । वह साधारणत: राजनीति, वकालत या नौकरी का मैदान चुनते हैं जहां यह सारी बातें सरल रूप से हाथ आ सकती हैं या कम से कम एक आकर्षक मरीचिका के समान लभ्यप्राय ज्ञात होती हैं । इसलिये अधिकांश व्यक्ति इन चमकीली रंगीनियों के लिये अपना सब कुछ तज देते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि उनके हृदय का जोश और मस्तिष्क की आभा जो शायद उनके सहजातियों की अंधकारमय रात्रि को समाप्त करती केवल उनके जीवन की तंग कोठरी को गर्म और प्रकाशवान रखती है । परंतु ज़ाकिर साहब उन असाधारण व्यक्तियों में से हैं जिनका विचार है कि जातियों को बनाने में शिक्षक के मौन और जान खपाने के कार्य का महत्व राजनीतिज्ञों की आपा धापी और कोलहल से अधिक है, अर्थात उनको आतिशबाज़ी और तारों की ठंडे प्रकाश का सूक्ष्म अंतर ज्ञात है । शिक्षक मनुष्यों के मन मस्तिष्क में उन मौलिक गुणों का बीजारोपण कर सकता है जिन पर न केवल स्थायी राजनीतिक सफलता निर्भर है बल्कि जिनके बिना सच्ची वैयक्तिक और सामाजिक शालीनता की प्राप्ति असंभव है । यदि व्यक्तियों में ऐसे गुण विद्यमान न हों तो राजनीति की सारी खींच तान और संघर्ष ऐसी है जैसे रेत में हल चलाना या समुद्र के पानी को मथ कर उसमें से दूध निकालने की कोशिश करना । ज़ाकिर साहब का यह कार्य चयन अपने आप में उनके चरित्र के एक उज्जवल और केन्द्रीय पक्ष की ओर संकेत करता है । जब मनुष्य के संमुख बहुत सी राहें खुली हों और प्रत्येक जीवन की सफलताओं को प्रस्तुत करती हों और वह कष्ट को सुविधा पर, सेवा को सत्ता पर, निष्ठा को संपदा पर तरजीह दे तो वह बुद्धि सांसारिक व्यक्तियों की दृष्टि में अक़्ल की दुश्मन है । परंतु वास्तविकता यह है कि संसार का इतिहास और मानव जाति की उन्नति में ऐसे उन्माद का स्थान बुद्धि से कहीं अधिक ऊँचा है ।

वह उन लोगों में से हैं जिनके सिद्धांत और आचरण, मान्यता और नीति में सामंजस्य है, जिनका मन उनके मस्तिष्क से टकराता नहीं रहता और जिह्वा मन के भाव को वाणी देती है । उनके समग्र व्यक्तित्व में वह संतुलन व्याप्त है जो यूनान के दार्शनिकों और इसलामी नीति के व्याख्याताओं की दृष्टि में मनुष्य का श्रेष्ठतम गुण है । अत: ज़ाकिर साहब के व्यक्तित्व को समझ लेने से उनके शैक्षणिक विचार की कुंजी भी हमारे हाथ में आ जाती है ।

मेरे विचार में ज़ाकिर साहब का सर्वश्रेष्ठ गुण मानव जीवन के मूल्यों की समीचीन परख है । वह कार्यों और उद्देश्यों के अतिरिक्त मूल्यों का बहुत सही अनुमान लगाते हैं । बहुत सी बातें जो लोगों की आँखों पर परदा डाल देती हैं उनकी दृष्टि और उनके मन को कभी अभिभूत नहीं कर सकतीं । यह प्रत्यक्षत: साधारण सी बात मालूम होती है किंतु वस्तुत: दुर्लभ गुण है और भाग्यशाली है वह मनुष्य जो परीक्षाओं और उत्तेजनाओं के हंगामे में अपने मूल्यों की व्यवस्था को ठीक रखे और उसकी रक्षा कर सके । वस्तुत: शिक्षा का सबसे बड़ा उद्देश्य ही यह है कि वह मनुष्यों को मूल्यों की परख सिखाए । इसलिये एक शिक्षक के मन में मनुष्य और उसकी दुनिया का उचित चित्र होना चाहिये ताकि वह महत्वपूर्ण और अमहत्वपूर्ण, असली और नक़ली, सच्ची और झूठी बातों में भेद कर सके । यदि उसके विचार और आचरण में अनुचित और घटिया चीज़ों का मान और मोह बसा होगा तो उसके शिक्षार्थी अपने आप इन्हीं बातों को आदरणीय समझेंगे । ज़ाकिर साहब का महत्व एक शिक्षक के रूप में वस्तुत: इस कारण से नहीं है कि उन्हें अर्वाचीन और प्राचीन शिक्षा सिद्धांतों और शिक्षण प्रणाली की बहुत अच्छी जानकारी है या उन्होंने एक विख्यात विद्यालय की स्थापना की है और उसे विकसित किया है बल्कि इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि उनके अपने व्यक्तित्व में हमारे श्रेष्ठतम नैतिक और सांस्कृतिक मूल्य समाहित हैं और समकालीन शैतानी कोलाहल में उन्होंने अपनी औचित्यपूर्ण अभिरुचि और शालीन मनोभाव को स्थिर रखा है और यह बात विद्या और आचरण के कारनामों से कहीं अधिक व्यापक है ।

ज़ाकिर साहब के मूल्यों का अनुमान आप को दो उदाहरणों से हो जाए गा । उनका मानना है कि शिक्षा के मैदान में संपति को सेवक होना चाहिये, ज्ञान को संपति के दर का भिक्षुक नहीं बनाना चाहिये । यदि धनवान और सत्ताधारी अपने धन या अपनी सत्ता के बल पर शिक्षालय या शिक्षा प्रणाली पर अधिपत्य कर लेंगे और उसकी स्वतंत्रता को छीन कर अपना साधन बना लेंगे तो शिक्षा की आत्मा मृत्यु को प्राप्त हो जाए गी और वह अपने मुख उद्देश्य को पूर्ण नहीं कर सकती । हिन्दुस्तान में शिक्षा पर सरकार का, पाश्चात्य देशों में संपति और सत्ता दोनों का आधिपत्य रहा है और इसके कुपरिणाम बार बार देखने में आए हैं । परंतु ज़ाकिर साहब के समान कम लोगों को सौभाग्य प्राप्त हुआ कि वाणी से नहीं (वह तो सरल है !) आचरण से इस ख़तरे के विरुद्ध आवाज़ उठाएं । जामिया मिल्लिया इसलामिया के लिये उन्हें हमेशा चंदा करने की ज़रूरत रहती थी । हिन्दुस्तान में किसी संवेदनशील व्यक्ति के लिए यह कार्य अत्यंत कठिन और श्रमसाध्य है क्योंकि इसमें मांगने वाले को विवश होकर अपने अहम् को प्रदूषित करना पड़ता है । किंतु ज़ाकिर साहब का चंदा जमा करने का एक निराला ढंग है और कोयलों की इस दलाली में भी उन्होंने अपने हाथों को स्वच्छ रखा है और जामिया की आत्मा की पवित्रता को प्रदूषित होने नहीं दिया है । प्रारंभ में तो उन्होंने इस प्रयोजन के हेतु धन वालों की ओर देखा ही

नहीं बल्कि निर्धन और मध्यम वर्ग के लोगों की ऐसी मंडली "हमदर्दान" नाम से स्थापित की जो थोड़ा-थोड़ा चंदा सुचारु रूप से देते थे और "हमदर्दे जामिया" नाम पत्रिका के माध्यम से विद्यालय की गतिविधि और उसकी उन्नति तथा कठिनाइयों से अवगत रहते थे। इस प्रकार प्रारंभ से जामिया का संबंध जनता से स्थापित हो गया जो प्रत्येक राष्ट्रीय संस्था के स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है। अन्यथा चिंता इस बात की बनी रहती है (जैसा कुछ संस्थाओं के साथ हुआ) कि वह एक विशिष्ट और ग़ैरज़िम्मेदार दल की इजारादारी बन कर रह जाएं गी और जीवन के नीतिपरक विचार उन को प्रभावित न कर सकेंगे। वह जामिया के लिये धनवानों से सहायता के इच्छुक होते हैं तो उनके मांगने के ढंग में ऐसा अनुनय नहीं होता जैसे वह किसी का एहसान ले रहे हों। वह धनवानों के सम्मुख झुकना जानते ही नहीं थे। उनका विचार है कि संपत्ति की मुक्ति और शालीनता इसी में है कि वह विद्या की सेवा करे और अच्छे कामों के क़दम चूमे अन्यथा वह धन वालों के गले में तिरस्कार का हाला है। एक बार एक धनवान ने सहायता का वादा करके उसे पूरा नहीं किया। रक़म अच्छी ख़ासी थी और उसके न मिलने से उनके सहकर्मियों को परेशानी हुई और उन्होंने सालह दी कि ज़ाकिर साहब उनसे दुबारा मिलें और तक़ाज़ा करें। परंतु ज़ाकिर साहब के संतोष के ललाट पर लकीर नहीं पड़ी और उन्होंने केवल इतना कहा कि एक समय आए गा कि यह लोग स्वयं ख़ुशामद करेंगे और चंदा देंगे। एक व्यक्ति ने पूछा कि यदि न देंगे तो ? ज़ाकिर साहब ने तुरंत अपने विशिष्ट ढंग से उत्तर दिया जिसमें हमेशा कोई न कोई गहरी सच्चाई निहित होती है- "न देंगे तो ? स्वयं उनकी हवा बिगड़ जाए गी।" यह बात नहीं कि वह रुपये का मूल्य नहीं समझते या उसकी परवाह नहीं करते। जिन लोगों ने पैसा-पैसा जोड़ कर संस्थाओं को चलाया है वह जानते हैं कि उनके कार्यकर्ताओं को रुपये की कितनी आवश्यकता होती है और किस प्रकार इसकी चिंता में उनका दिन का आराम और रात की नींद जाती रहती है। जामिया पर बार-बार ऐसी कठिन घड़ियां आई हैं जब निर्धनता की परेशानी आस्था की शक्ति से टकराई है। परंतु यह निष्ठावान कभी इस बात के लिए तत्पर नहीं हुआ कि रुपये के लिए जामिया के विशिष्ट और स्वतंत्र उद्देश्य पर आंच आने पाए। एक बार ज़ाकिर साहब जामिया की रजत जयंती के लिए चंदा लेने रामपुर गए थे। उस अवसर पर आम जलसे में उन्होंने जो भाषण दिया था, वह चंदा मांगने से अधिक धनवानों को शिक्षित करने के लिए था। इसमें उन्हें उनका कर्तव्य याद दिलाया गया था। भाषण का अत्यधिक प्रभाव प्रत्येक की मुखाकृति पर दृष्टिगोचर था, बल्कि किसी-किसी के आंखों से आंसू टपकने लगे थे। उन्होंने अपने भाषण में कहा था कि यदि जामिया का काम अच्छा नहीं है, अगर छान-बीन करने के पश्चात् आप इससे संतुष्ट नहीं हैं तो किसी की सिफ़ारिश से आप उसे एक पैसा न दीजिए। परंतु यदि उसकी पच्चीस वर्षीय संघर्ष को आपने देखा है और आप समझते हैं कि यह काम देश और राष्ट्र के लिए लाभदायक है तो जामिया के कार्यकर्ताओं का कर्तव्य

नहीं कि दान के लिए.हाथ फैलाएं । आपका अपना काम है कि आप उसकी सहायतार्थ हाथ बढ़ाएं । जो जाति अपने बलिदानी सेवकों का सम्मान नहीं करती और उनके कामों को आगे बढ़ाने में संलग्न नहीं होती उसे विदित होना चाहिए कि उसमें इस प्रकार के कार्य करने वाले उत्पन्न ही न हों गे और उसका जीवन केवल बार-बार, धनोपार्जन या पारस्परिक लड़ाई झगड़े के दलदल में फंस कर रह जाए गा । साधारणत: लेने वाले का हाथ नीचे और देने वाले का हाथ ऊपर होता है । परंतु दौलत का सौभाग्य यह है कि विद्या और शिक्षा की सहायता करते समय अपना हाथ नीचे रखे और लेने वालों का हाथ ऊपर रहे । ज़ाकिर साहब की दरवेशी में भी यह अनोखी शान है कि यदि काबे (मुसलमानों का तीर्थस्थान) का द्वार न खुले तो वह उलटे वापस आ जाते हैं और यही कारण है कि धनवान और राजनैतिक नेतागण उनसे झुक कर मिलते हैं, उन्हें अभिभूत नहीं कर सकते । एक अवसर पर जामिया के जीवन मूल्य की व्याख्या उन्होंने निम्न शब्दों में की है:

"स्थायी पूंजी जामिया की न है, न कभी हो गी । उसकी पूंजी उसके कार्यकर्ताओं का साहस, बलिदान और जाति की सहानुभूति है । संभव है आप इसे पर्याप्त न समझते हों किंतु मेरे विचार में यह अक्षय धन है । यदि जामिया देश और जाति की किसी आवश्यकता को पूरा नहीं करती तो वह नहीं चले गी और न उसे इसका अधिकार हो गा । परंतु यदि वह लाभदायक सेवा कर रही है तो प्राकृतिक नियम उसे जीवित रखे गा और संसार की कोई शक्ति उसे विनष्ट नहीं कर सके गी ।"

इसी प्रकार की दिल में चुभने वाली बात उन्होंने उस स्मरणीय अवसर पर कही थी जब ओखले में जामिया के भव्य भवन का शिलान्यास हो रहा था । ज़ाकिर साहब की अनूठी कल्पना का एक करिश्मा यह था कि उन्होंने शिलान्यास किसी विख्यात महानुभाव से नहीं कराया बल्कि यह सम्मान जामिया के सबसे कम आयु के विद्यार्थी को प्राप्त हुआ । दिखाना यह था कि उनकी दृष्टि भविष्य की ओर है और जिसका निर्माण उस नई पीढ़ी का काम है जो आज स्कूलों में शिक्षा पा रही है । इस अवसर पर उन्होंने अपने भाषण के दौरान भावुकतापूर्ण भर्राई हुई आवाज़ में कहा था - बड़े बड़े भव्य भवन के निर्माण में हमेशा आशंका रहती है कि कहीं शिक्षा की आत्मा उनमें बंदी बनकर न रह जाए और साज-सामान का आधिक्य विद्यालय के उद्देश्य को दबाकर नष्ट न कर दे । आप को मालूम है कि जामिया को छोटी-छोटी कच्ची इमारतों और झोपड़ियों में शुरू किया गया था और उसके कार्यकर्ताओं की सदैव यह कोशिश रही कि इस भौतिक साधन के अभाव की स्थिति में उसकी आज़ादी और उच्च लक्ष्य को स्थिर रखा जाए । यदि इन नये भवनों के बनने से यह आशंका हो कि जामिया अपने उच्च आदर्श पर चल न सके गी तो मैं प्रार्थना करूंगा कि यह भवन तैयार होने से पहले ही बरबाद होकर धराशायी हो जाएं ।

ज़ाकिर साहब के मन में विद्वानों और शिक्षा सेवियों का बहुत आदर-सम्मान है । वह इस बात को सहन न कर सकते कि शिक्षा संस्थाओं में प्रबंधकगण या धनवान उनके साथ

वेतन प्राप्त नौकरों जैसा व्यवहार करें । ऐसा करना न केवल उनके स्वाभिमान के विरुद्ध है बल्कि शिक्षा कार्यों में भी इससे रुकावट पड़ती है क्योंकि कार्यकर्ताओं को जिस मन: शांति, आज़ादी और आत्मसम्मान के आभास की आवश्यकता होती है वह उन्हें उपलब्ध नहीं होता । उनका विश्वास है कि शिक्षा संस्थाओं का प्रबंध अधिकांशत: उसके अध्यापकों के हाथ में होना चाहिए । परंतु यदि कोई उच्च कोटि का प्रशासक दल हो तो उसे अपने अध्यापकों के साथ वही व्यवहार करना चाहिए जो सम्मानित सहकर्मियों के साथ किया जाता है । उन्होंने प्रत्येक अवसर पर हमेशा इस संबंध में स्टाफ़ के उचित अधिकारों का नेतृत्व किया है और जहां कहीं धनोन्माद या सत्ता के नशे के प्रभावाधीन अध्यापकों के साथ सम्मानोचित व्यवहार नहीं हुआ उन्होंने अत्यंत साहसपूर्वक उनके पक्ष में आवाज़ उठाई है । वह चाहते हैं कि शिक्षा संस्थाओं में एक ऐसा वातावरण उत्पन्न किया जाए जिसमें अध्यापक जीविका की चिंता से मुक्त हों । अपना सारा समय और अपना समस्त ध्यान पठन पाठन में लगा सकें और जीवन के अन्य पक्षों में प्रगति के लिए जिस दौड़ भाग और तिगड़म की आवश्यकता होती है उससे दूर रहें । कितनी भिन्न है यह अवधारणा उस वातावरण से जो आज कल साधारणतया हमारे अधिकांश स्कूलों, कालिजों और विश्वविद्यालयों में उत्पन्न हो गया है जिसमें वैयक्तिक स्वार्थों, व्यक्तिगत पदोन्नति और वेतन वृद्धि, अपना अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने की होड़ में शिक्षा की आत्मा कुंठित हो जाती है । जामिया को जो सफलता और सुख्याति प्राप्त हुई उसका एक सबसे बड़ा कारण यह था कि ज़ाकिर साहब ने सुयोग्य, जागरूक और निष्ठावान कार्यकर्ताओं की एक ऐसी मंडली संगठित की थी जिसके साथ वह आदर, निष्ठा और मैत्री का व्यवहार करते थे और जिसके मन में उनके प्रति श्रद्धा थी । उनके व्यक्तित्व के आकर्षण का वरदान है कि वह दीर्घकाल तक ऐसे अध्यापक कार्य करते रहे जिन्हें अन्य स्थानों पर उत्तम अवसर प्राप्त हो सकते थे किंतु उनके अन्तस्तल में उन्हीं मूल्यों की लगन थी और उसी प्रेम का दीपक दीप्तिमान था जो ज़ाकिर साहब के सीने में प्रज्वलित है । इसलिए वह जामिया छोड़कर कर जाने के लिए तैयार नहीं हुए । उन्हें कभी जीविका की ओर से संतोष प्राप्त नहीं हुआ । परंतु इसके बदले उन्हें विश्वास, मित्रता, समानता की संपति प्राप्त थी जो कुछ स्वार्थपरता से अनभिज्ञ व्यक्तियों के निकट धनोपार्जन से अधिक मूल्यवान वस्तु है ! यदि ज़ाकिर साहब का व्यक्तिगत आकर्षण उन्हें जामिया की ओर न खींचता तो इस संस्था का भी वही परिणाम होता जो उन दर्जनों राष्ट्रीय विद्यालयों का हुआ जो 1920 के राजनैतिक आंदोलन के पश्चात् स्थापित हुए थे । राष्ट्रीयता के जोश और आकांक्षा ने इन्हें प्रस्थापित किया था और जाति ही की लापरवाही और स्थिरता की कमी ने इनका अंत कर दिया । 1927 में ज़ाकिर साहब ने जामिया का काम अपने हाथ में लिया था । वह उस समय मृत्युप्राय थी और उसके व्यवस्थापकों और कार्यकर्ताओं के मस्तिष्क में इसकी कोई स्पष्ट रूप रेखा नहीं थी, इसका कोई उद्देश्य नहीं था । कुछ इसे एक शैक्षणिक संस्था मात्र बनाना

चाहते थे। कुछ की इच्छा थी कि इसमें राजनैतिक कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण किया जाए। परंतु जहाँ तक इसके माली और प्रबंधात्मक दायित्व का संबंध है कोई व्यक्ति भी (दो-तीन महानुभावों के अतिरिक्त जिन्होंने यदा कदा इसकी सहायता की) इस बोझ को उठाने को तैयार नहीं था बल्कि हकीम अजमल खां के पश्चात् परीक्षा का ऐसा समय आया था जब देश के समस्त नेतागण का मत यह था कि इस संस्था के चलने की संभावना. नहीं है, इसको बंद कर देना चाहिए। परंतु ज़ाकिर साहब के साहस और आदर्शवादिता और उनके साथियों के बलिदान ने इस निराशावादी मत को नहीं माना और गांधी जी की प्रेरणा के फलस्वरूप अपने बल बूते पर वह न केवल सख़्त घड़ियां झेल गए बल्कि जामिया को उस स्थान पर पहुँचा दिया जहां उसने देश और विदेश के शिक्षा विशेषज्ञों से प्रशंसा प्राप्त की।

जामिया के कार्यकर्ताओं की दृष्टि में जामिया की शैक्षणिक अवधारणा और मुसलमानों का राष्ट्रीय जीवन में कर्तव्य क्या है ? इस प्रश्न का विस्तृत और स्पष्ट उत्तर देना उन्हीं का काम है। मैं तो केवल एक झलक जामिया के उस उद्देश्य की दिखाना चाहता हूं जो ज़ाकिर साहब के मन में है। उनका विचार है कि अलीगढ़ के शैक्षणिक आंदोलन ने मुसलमानों की बहुत बड़ी सेवा की और उनके मध्यवर्ग और उच्चवर्ग को नयी शिक्षा प्रणाली और नवीन विद्याओं की ओर आकृष्ट करके उन्हें मध्य युगीन अंधकार से निकाला और वर्तमान कालीन मार्ग दिखाया। परंतु सर सैयद के समय से अब तक की स्थिति बहुत बदल चुकी है और शिक्षा, संस्कृति, राजनीति और समाज की समस्याओं को नवीन दृष्टि और नवीन व्याख्या की आवश्यकता है। उस समय शिक्षा की समस्या एक सीमित समस्या के रूप में समझी जाती थी अर्थात उच्च वर्ग के व्यक्तियों की माध्यमिक और उच्च शिक्षा का प्रबंध कर दीजिए, उनको अच्छी नौकरियां दिला दीजिए, अंग्रेज़ी के अध्ययन और पाश्चात् विद्याओं के साथ साथ थोड़ी सी धर्म शिक्षा दे दीजिए और बस, दीन दुनिया दोनों की समस्याओं का समाधान हो जाए गा। परंतु तत्कालिक समस्याएं इससे नितांत भिन्न हैं। अब किसी विशेष समूह की शिक्षा और सुसंस्कार का प्रश्न नहीं बल्कि राष्ट्र के समस्त व्यक्तियों की शैक्षणिक, व्यवहारिक और कलात्मक योग्यताओं का प्रशिक्षण करके उन्हें समाजोपयोगी व्यक्तित्व प्रदान करना है। जीवन की मांगें इतनी तीव्र और उनका मुक़ाबला इतना कठिन हो गया है कि केवल परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने से व्यवहार कुशलता का प्रमाण पत्र नहीं मिलता। आवश्यकता है कि एक अत्यंत श्रेष्ठ और समीचीन शिक्षा द्वारा उनके मानसिक प्रशिक्षण का प्रबंध किया जाए। पुस्तकीय शिक्षा की कच्ची पक्की इमारत बना कर उस पर धर्म शिक्षा की सफ़ेदी का एक हाथ फेर देने से काम नहीं चलेगा बल्कि संसार को "साहित्य में लिखित धर्म" न बनाकर जीवन की गहराईयों में से शिक्षा के पाठ्यक्रम के लिए तथ्य उपलब्ध कराने की आवश्यकता है। अतीत की निरर्थक रूढ़ियों और परंपरा प्रेम के लक्षणों ने इस स्पष्ट सत्य को, इस यथार्थ क्रांति को दृष्टि से ओझल

कर रखा था। परंतु ज़ाकिर साहब की पैनी और दूरदर्शी दृष्टि ने इसको निरावरण देखा और उसके प्रकाश में उन्होंने अपने शैक्षणिक अवधारणाओं को रूपायित किया। उनकी संस्था एक प्रयोगशाला है जहां साधारण जन, विशेषरूप से साधारण मुसलमानों के लिए समीचीन और उत्तम शिक्षा की रूपरेखा तैयार करने का प्रयत्न किया जा रहा है और वह चाहते हैं कि शिक्षक, शिक्षार्थी और प्रबंधक सब मिल कर स्वतंत्र वातावरण में शिक्षा की वास्तविक समस्या के समाधान का प्रयास करें और यह उस समय संभव है जब वह उन बंधनों और मानसिक अवरोधन से मुक्त हों जिसमें भारतीय शिक्षा विगत सौ साल में विकसित हुई है और जिनके कारण अध्यापकों की दृष्टि परीक्षा और परीक्षाफल की भूल भुलइयां में फंसकर रह गई है। विद्यार्थियों की मानसिकता नौकरी प्राप्ति के चक्रव्यूह से बाहर नहीं निकलती और प्रबंधक विभागीय पदाधिकारियों को प्रसन्न रखना और उनसे माली सहायता प्राप्त करना अपना उच्चतम अभिप्राय समझते हैं। ज़ाकिर साहब ने अंग्रेज़ी शासनकाल में जामिया की स्वाधीनता को सुरक्षित रखने के लिए प्रथम मौलिक सिद्धांत यह स्थापित किया कि इसके लिए न सरकारी सहायता स्वीकार करें और न उसका चार्टर, जिसके साथ विभिन्न प्रकार के प्रतिबंध लगते हैं। उनकी नीति का परिणाम यह हुआ कि वहां के उत्तीर्ण विद्यार्थी के लिए चोरी का खटका तक न रहा और वह विद्या को, शिक्षा को शिक्षा हेतु ग्रहण करने का अर्थ समझने लगे। दूसरी ओर अध्यापकों को यह अवसर मिला कि शिक्षा के उन पक्षों पर बल दें जो राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करते और जनता के जीवन को बनाते हैं।

इसी प्रकार राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में ज़ाकिर साहब का एक बड़ा कारनामा यह है कि वह इसको एक सीमित और पारंपरिक जलडमरूमध्य से निकालकर जीवन समुद्र में लाए ताकि वह उन आंदोलनों से प्रभावित हो सके जो जीवन की गहराइयों से उत्पन्न होकर उसको नवीन आग्रहों से सुसमृद्ध करते रहते हैं। दार्शनिक दृष्टि के रूप में हिन्दुस्तान में अन्य व्यक्ति भी इस सिद्धांत का प्रचार करते रहे थे। परंतु उन्होंने मौखिक और लेखन द्वारा ही अपने विचारों को प्रचारित किया। तन आसानी के स्थान पर ज़ाकिर साहब ने अपने लिए दुष्कर मैदान पसंद किया। इसीलिए कई साल हुए अपनी एक पुस्तक ''भविष्य के विद्यालय'' को ज़ाकिर को इन शब्दों के साथ मैंने समर्पित किया था:

''डाक्टर ज़ाकिर हुसैन के नाम जो चुपचाप भविष्य के विद्यालय का निर्माण कर रहे हैं जबकि दूसरे लोग अधिक से अधिक इसके संबंध में व्याख्यान देते हैं या लेख लिखते हैं।''

ज़ाकिर साहब ने हमेशा यह प्रयास किया कि जामिया मिल्लिया को राष्ट्रीय शिक्षा के लिए एक नमूने की संस्था बनाएं जहां एक अनुकूल वातावरण में विभिन्न प्रकार के शैक्षणिक प्रयोग किए जाएं और उनकी रोशनी में राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के सिद्धांत और प्रयोजन तथा उसके पाठ्यक्रम का निर्धारण किया जाए। इसी कारण जामिया के विस्तार

की जो परियोजना उनके सम्मुख थी उसमें विभिन्न कक्षाओं की संस्थाओं के लिए स्थान रखा गया था । उदाहरणत: एक छोटे बच्चों का स्कूल, एक प्राथमिक शिक्षा का स्कूल, एक माध्यमिक स्कूल जिसमें विभिन्न विषयों का पाठ्यक्रम पढ़ाया जाए । एक तकनीकी स्कूल, एक कालेज, एक लेखन और संकलन की संस्था, कुछ अनुसंधात्मक संस्थाएं जो देश की सभ्यता के विभिन्न तत्वों का कुशलतापूर्वक अध्ययन करें ।

यह तो हुआ उनकी जामिया का उद्देश्य । परंतु जब तक किसी शैक्षणिक उद्देश्य को राष्ट्र और जाति के साथ संबंधित न किया जाए उस समय तक उसमें सार्थकता, प्रभाव और गहराई उत्पन्न नहीं हो सकती । अत: इस चर्चा के साथ साथ स्वभावत: यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ज़ाकिर साहब की बुद्धि में मुसलमानों की राजनीति का चित्र क्या है और वह हिन्दुस्तान में उनके लिए किस स्थान की आशा रखते हैं ? इस कठिन और असहिष्णु के युग में जब लोगों ने मतभेद को विरोध और विरोध को अपराध और गद्दारी समझ लिया है, ज़ाकिर साहब ने जिस साहस के साथ अपने विचारों और मान्यताओं को आगे बढ़ाया वह अपने आप में एक रोचक मनोवैज्ञानिक अध्ययन है जिसकी चर्चा का यहां अवसर नहीं है । प्राय: जब किसी देश में राजनैतिक बाढ़ आती है तो प्रत्येक व्यक्ति से आशा की जाती है कि वह अपने ही दल के समसामयकि विचारों, भावों और भेदभाव को एक अटल वास्तविकता मानकर उनके सम्मुख नत मस्तक हो जाए । चुनांचे जिस समय हिन्दु और मुसलमान, दक्षिण पंथी और वाम पंथी पार्टियां, अंग्रेज़ पक्षधारी और अंग्रेज़ विरोधी सब ही इस अशुभ मानसिकता से पीड़ित थे, ज़ाकिर साहब ने अपना सोचा समझा रास्ता नहीं बदला और विरोध का झंझावात उनकी आस्था का दिया नहीं बुझा पाया ।

यह आस्था क्या है ? ज़ाकिर साहब को इस संस्कृति और सभ्यता से गहरा और सच्चा प्रेम है जो हिन्दुस्तान में इसलाम के प्राणवर्धक प्रभाव से उत्पन्न हुई और उनके मन में उस जीवन दर्शन का, उस ज्ञान-विज्ञान का, उस सामाजिक व्यवस्था का अत्यधिक आदर है जो इसलाम ने दुनिया के सम्मुख प्रस्तुत किया है परंतु इसके साथ साथ उनमें उस सभ्यता और संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था तथा दार्शनिक सिद्धांतों और मूल्यों को परखने और उनके अनुशीलन की असाधारण योग्यता भी है । वह एक द्रष्टा के समान शब्दों के स्तर से नीचे उतर कर अर्थों की गहराइयों तक पहुंच जाते हैं । उनके इसलामी जीवन दर्शन में जहां एक सच्चे और पक्के मुसलमान का विश्वास है वहां इसमें समकालीन आंदोलनों और मांगों को अपनाने की योग्यता भी है । इसी कारण राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के समाधान में वह "प्रगतिशील" हैं । परंतु यह वह "प्रगतिशीलता" नहीं जो भविष्य के लिए उतावली होकर अतीत की संपदा को ठुकरा देती है । बल्कि यह तो साहसपूर्वक भूत और भविष्य दोनों का अनुशीलन करती है और अपनी सांस्कृतिक थाती के श्रेष्ठ तत्वों को लेकर उनसे भविष्य का निर्माण करना चाहती है । इसी मध्यम मार्ग को

अपनाने के कारण उनके लिए यह संभव न था कि वह जामिया को किसी विशेष राजनैतिक दल से सलग्न करें और शायद कोई संगठित राजनैतिक दल उनको अच्छी तरह आत्मसात भी नहीं कर सकता। पार्टी आलोचना और व्यक्तिवादिता के स्थान पर अनुसरण चाहती है, उसे अधिकार से अधिक सत्ता की खोज होती है और दुर्भाग्यवश ज़ाकिर साहब का स्वभाव कुछ ऐसा था कि वह अधिकार को सत्ता से उच्च समझते हैं बल्कि अधिकार को ही सत्ता समझते हैं।

ज़ाकिर साहब की सदैव यह इच्छा रही कि मुसलमान हिन्दुस्तान के भविष्य निर्माण में प्रत्यक्ष और गौरवशाली योगदान करें और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने धर्म और अपनी संस्कृति के श्रेष्ठतम तत्वों को न केवल अपनी जातीय अहं में व्याप्त करें बल्कि उनके माध्यम से भारतीय संस्कृति को भी समृद्धशाली बनाएं। ज़ाकिर साहब से ही इस कर्तव्य परायणता की व्याख्या सुनिए जो मुसलमान को उनके धर्म ने सौंपा है:

''यदि हम मुसलमान के रूप में स्वतंत्रता प्रेमी होने पर विवश हैं, यदि हम संसार से प्रत्येक प्रकार की दासता को मिटाने पर नियुक्त हैं, यदि मानवता का हम ऐसा राजनैतिक संगठन चाहते हैं जिसमें अमीर और ग़रीब का भेद अधिकांश मनुष्यों को उनकी प्रवरता से ही वंचित न कर दे, यदि रंग और नसल के भेद को मिटाना हम अपना कर्तव्य समझते हैं, तो इन कर्तव्यों को पूरा करने का अवसर सर्वप्रथम अपने प्यारे वतन में है जिसकी मिट्टी से हम बने हैं और जिसकी मिट्टी में हम वापस जाएं गे ... हमारे नौजवान रोटी भी कमाएं गे और नौकरियां भी करें गे। परंतु उनकी नौकरी खाली पेट की चाकरी न होगी बल्कि अपने धर्म की, अपने देश की सेवा होगी जिससे उनके पेट की आग ही नहीं बुझे गी वरण् मन और आत्मा की कली भी खिले गी। यह अपने ध्येय ही के कारण अपने देस की, जिसे कभी दुनिया स्वर्ग कहती थी, सेवा करें गे और इसे ऐसा बनाएं गे कि फिर इसके भूखे, रोगी, असहाय, अशिक्षित प्राधीन वासियों के सामने इन्हें अपने कृपालु, दयानिधान, रोटी देने वाले, सबके पालनहार ख़ुदा का नाम लेते समय लज्जा से सर झुकाना न पड़े गा, क्योंकि इन्हें कुछ के अत्याचार और कुछ के निकम्मेपन ने, कुछ की ज़्यादतियों और कुछ की उपेक्षा ने आज इस स्थिति को पहुंचा दिया है कि उनका अस्तित्व संकीर्ण दृष्टि से देखने पर पालनहार के वैभव पर एक धब्बा सा ज्ञात होता है।''

ज़ाकिर साहब चाहते हैं कि हिन्दुस्तान के विभिन्न समुदाय अपनी विशेषताओं को सुरक्षित रखते हुए एक सुव्यवस्थित, सहनशील और उदार राष्ट्रीयता की आधारशिला रखें और अपनी-अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक धरोहर और क्षमताओं से हिन्दुस्तानी संस्कृति और सभ्यता को उन्नत करें। इसीलिए उन्होंने जामिया में एक साथ राष्ट्रीय और इसलामी मूल्यों को मिलाने का प्रयास किया।

ज़ाकिर साहब ने अपने अभिभाषणों में बारंबार इस बात पर ज़ोर दिया है कि शिक्षा को सामुदायिक संस्कृति और उसके भौतिक तथा अभौतिक निधियों से लाभान्वित होना

चाहिए। उन्हें इस बात का पूर्ण ज्ञान भी है कि व्यक्तियों के मानसिक, सौंदर्यात्मक और शैक्षणिक क्षमताएं अत्यंत भिन्न प्रकार की होती हैं। अत: विभिन्न मानसिकता के व्यक्तियों को एक ही प्रकार का भोज्य पदार्थ रुचिकर नहीं हो सकता। उसे वही "वस्तु भाती है जिसकी मानसिक संरचना उसकी अपने मानसिक गठन के अनुकूल हो।" इस वास्तविकता को भूलना ऐसा है (उनके कथनानुसार) जैसे "अंधे को रंग और बहिर को स्वरों से प्रशिक्षित करने का प्रयास।"

काम के नैतिक और व्यवहारिक महत्ता पर भी वह अत्यधिक बल देते थे। उन्होंने अपने एक अभिभाषण में अत्यंत सुन्दर ढंग से इस बात को कहा है:

"जो अपने स्वार्थ का काम करता है वह सिद्धहस्त तो ज़रूर हो जाता है किंतु शिक्षित नहीं होता। जो मूल्यों का पोषण करता है वह विद्यार्जित कर लेता है। मूल्य की सेवा में मनुष्य काम का हक़ अदा करता है, अपना मज़ा नहीं ढूंढता। इससे वह आदमी बनता है, अपना सदाचार संवारता है... काम का यह गुण हाथ के काम में हो सकता है और मानसिक कार्य में भी, हाथ का काम भी इससे ख़ाली हो सकता है और मानसिक काम भी। काम को शिक्षा का माध्यम बनाने वालों को प्रत्येक क्षण याद रखना चाहिए कि काम निरुद्देश्य नहीं होता। काम हर नतीजे पर राज़ी नहीं होता, काम बस कुछ कर के समय काटने का नाम नहीं। काम केवल विनोद नहीं है, काम खेल नहीं है, काम काम है, सोद्देश्य श्रम है। काम शत्रु के समान अपना लेखा-जोखा लेता है। फिर इसमें पूरा उतरता है तो वह ख़ुशी देता है जो कहीं नहीं मिलती। काम तपस्या है, काम पूजा है।"

ज़ाकिर साहब की दृष्टि में शिक्षा का सबसे बड़ा, सबसे महत्वपूर्ण, सबसे उच्च उद्देश्य यह है कि वह नवयुवकों को सेवा भाव के जीवन के लिए तैयार करे और उस स्वार्थपरता और संकीर्णता के विरुद्ध संघर्ष करे जो समकालीन जीवन के समस्त पक्षों पर हावी हो गई है। वह इस बात को पर्याप्त नहीं समझते कि शिक्षा व्यक्तियों की क्षमताओं को विकसित करने के पश्चात् उन्हें आजाद छोड़ दे कि वह जिस ओर चाहें उधर चल पड़ें और उनके प्रयासों और आचरण की कोई मंजिल, कोई दिशा निर्धारित न हो। वस्तुत: उचित उद्देश्य का निर्धारण ही मनुष्य की क्षमताओं और दक्षताओं को व्यक्ति और समाज दोनों के लिए लाभप्रद बनाता है। अन्यथा केवल बुद्धिमत्ता और चातुर्य की अभिव्यक्ति तो सट्टेबाज़ी में भी हो सकती है और कुशलता जिस प्रकार से युद्ध के विनाश में दिखाई जा रही है उसका उदाहरण शांति के कार्य में नहीं मिलती। ज़ाकिर साहब ने एक बार अपने अभिभाषण में, जो उन्होंने पंजाब के एजूकेशन फ़ैलोशिप के सम्मुख दिया था, अत्यंत संक्षेप में समाज की खुली ढकी त्रुटियों को एक-एक करके गिनाया था और उनका कारण उसी मौलिक स्वार्थपरता को बताया था जिसने हमारे समस्त व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवन को खोखला और नैतिक दृष्टि से दूषित कर दिया है।

यह विचार करना ग़लत होगा कि ज़ाकिर साहब को अपने काम में विरोधों का सामना

नहीं करना पड़ा। किंतु उनकी ईमानदारी, निष्ठा और योग्यता पर संभवतः उनके सबसे बुरे विरोधियों और कटुआलोचकों ने भी उंगली नहीं उठाई। उन पर आपत्ति की गई कि उन्होंने स्वयं को एक ऐसे आंदोलन से संबंधित किया है जिसका संबंध गांधी जी से है। एक दूसरी आपत्ति यह थी कि जब वार्धा शिक्षा योजना में धार्मिक शिक्षा के लिए स्थान नहीं है तो उन्होंने उसका समर्थन क्यों किया। इसका उत्तर तो समय अब तक पर्याप्त विस्तार के साथ दे चुका है और आपत्ति करने वालों की आंखों पर से इस वास्तविकता का परदा हट चुका है कि एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के सरकारी स्कूलों में विधिवत "धार्मिक शिक्षा" की व्यवस्था करने में क्या क्या और किस प्रकार के ख़तरे हैं। इतिहास में बहुधा यह हुआ है कि सत्ताधारियों ने धर्म और धार्मिक शिक्षा को अपने विशेष लाभों की उपलब्धि के लिए प्रयुक्त किया है और ज़ाकिर साहब नहीं चाहते थे कि हिन्दुस्तान की शिक्षा प्रणाली में सरकारी तौर पर धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था करके यह ख़तरा मोल लिया जाए। इसलिए उनका कहना था कि वह मुसलमान जो धर्मपरायण हैं स्वयं धार्मिक शिक्षा की एक स्वतंत्र व्यवस्था करें और एक समुदाय के रूप में इसे चलाएं।

मैंने उनके कुछ बड़े कामों और विचारों की चर्चा की है परंतु ज़ाकिर साहब की श्रेष्ठता यह है कि वह अपने कारनामों से भी ज़्यादा बड़े हैं। आप उनके सारे कारनामों को गिना दीजिए, उनकी समस्त मानसिक योग्यताओं की सूची तैयार कर लीजिए, यदि जी चाहे तो इसमें उनका नखशिख भी सम्मिलित कर दीजिए, किंतु ज़ाकिर साहब का विविधतापूर्ण और रोचक व्यक्तित्व इन सारी चीज़ों के समुच्चय से बड़ा सिद्ध होगा, जिस तरह एक कुशल चित्रकार की कृति उसके रंगों, लकीरों और वृत्तों से बढ़कर कोई वस्तु होती है जैसे उसमें एक विशिष्ट आत्मा प्रविष्ट हो गई हो जो उसको सौंदर्य और आकर्षण प्रदान करती है। उनसे मिलकर मनुष्य हमेशा यह महसूस करता है कि उसके अपने जीवन में कुछ अधिक उदारता, अधिक गहराई, अधिक गर्मी पैदा हो गई है। उनका व्यक्तित्व एक "देने वाला" व्यक्तित्व है, दान की धारा निरंतर बह रही है। एक सरिता प्रवाहित है, जिससे लोग आते हैं और लाभान्वित होते हैं। परंतु "देने" के ढंग में ऐसी शालीनता, आकर्षण और नम्रता है कि लेने वालों को बुरा नहीं लगता। इसमें कुछ श्रेय उनके उस गहरी निष्ठा को है जो उनके जीवन के प्रत्येक पक्ष पर आच्छादित है और कुछ वाक्पटुता का योगदान है जिसमें सच्चाई, विनोद, विचारों की व्याख्या, स्नेह, उत्साह और सादगी का ऐसा सुन्दर मिश्रण है जो आजकल यदा कदा ही देखने में आता है।

टिप्पण: लेखक की पुस्तक "आंधी में चिराग़" से उद्धरित और संक्षेपित।

वरूदे मसउद (शुभागमन)

मसउद हुसैन ख़ाँ

वह दृश्य मैं कभी नहीं भूलूँगा जब फरवरी 1926 ई. की एक शाम क़ायमगंज वालों का एक जनसमूह उन्हें लेने के लिए रेलवे-स्टेशन पर आगरे की ओर से आने वाली गाड़ी की प्रतीक्षा कर रहा था। मैं भी अपनी टाँगों के बावजूद एक नौकर की गोद में लदा वहाँ मौजूद था। रेल सीटी देती हुई प्लेटफ़ार्म पर आ कर रुकी। उस में से एक लम्बे चौड़े युवक को गाड़ी में से निकलते देखा जिसे भीड़ ने चारों ओर से घेर लिया। मुझे उन तक पहुँचते-पहुँचते काफ़ी समय लग गया। परन्तु उन्होंने मुझे एक पल में पहचान लिया और गोद में लेकर सीने से लिपटा लिया। कुछ ही दिनों के बाद ये निर्णय हुआ कि मेरे छोटे चचा महमूद मियाँ (डॉ. महमूद हुसैन ख़ाँ) मुझे अपने साथ लेकर जामिया मिल्लिया दाख़िले के लिए जाएँगे।

बी.ए. के दिनों में मुझे पहली बार ज़ाकिर मियाँ को निकट से देखने का अवसर मिला। उस से पूर्व मैंने जामिया में छः वर्ष बोर्डिंग में व्यतीत किए थे। अब उठते-बैठते चौबीस घंटे का साथ था। उस समय वह दरिद्रता के दिन गुज़ार रहे थे। और उन का घर केवल चची साहिबा (शाहजहाँ बेगम उर्फ़ पुतली बेगम) की सलीक़ामंदी से चल रहा था। घर के सामने सुब्बा बनिये की दुकान थी जहाँ से प्रायः सौदा उधार आता था। ये सुब्बा उस समय जीवित था जब ज़ाकिर मियाँ उपराष्ट्रपति होकर 1962 ई. में बिहार से दिल्ली आए, वह उन से एक बार आ कर मिला भी। दोनों के बीच क्या बीता, मुझे नहीं मालूम।

अब मुझे अनुभव होता है कि मुझे उन के यहाँ ऐसी स्थिति में जा कर नहीं पड़ जाना चाहिए था। लेकिन मेरे वहाँ रहने से उनके माथे पर बल तक नहीं आया। चची साहिबा जो पकातीं वह सब खाते। दोनों बच्चियों सईदा और सफ़िया के खाने - पहनने के लिए कोई विशेष प्रबंध नहीं होता था। उन्होंने भी बचपन में सादा खाया और मोटा पहना। चची साहिबा बड़ी प्रसन्नता के साथ खाना पकातीं। उन के इस सादा खाने में एक गोश्त का सालन और एक दाल, में जो आनंद मिलता था वह कहीं नहीं मिलता था। बावर्ची खाने में बैठ जाता। वह गर्म-गर्म रोटियाँ पकाती जातीं और मैं खाता जाता। ज़ाकिर मियाँ भी इसी भोजन से संतुष्ट थे। हाँ जब जर्मन लेडी मिस फ़िलिप्स बोर्न जो सारी जामिया की आपा जान थीं, जामिया आ गयीं तो उन के यहाँ जा कर मुँह का मज़ा बदल लेते।

उनका जीवन भी इस शेर पर पूरा उतरता था :

हासिले उम्र निसारे रहे यारे करदम
शादम अज़ ज़िन्दगी-ए-ख़्वेश कि कारे करदम

(जीवन का समस्त सार मित्र के मार्ग पर निछावर कर दिया और मैं अपने जीवन से प्रसन्न हूँ कि एक काम कर डाला।)

कभी-कभी वह घर आ कर मेरे माध्यम से चची साहिबा से बात-चीत का सिलसिला छेड़तीं और बतातीं कि ज़ाकिर साहिब राष्ट्र के लिए बहुत बड़ा काम कर रहे हैं, हम सबको उन की सहायता करनी चाहिए, तो चची साहिबा न मालूम किस भावना से प्रेरित हो कर कहतीं, "चल झूठी कहीं की।" इसका मैं अंग्रेजी में अनुवाद न कर पाता।

मैंने आपा जान को अंतिम बार डॉ. जोशी के अस्पताल में मौत से लड़ते हुए देखा।

उन दिनों मैं ने ज़ाकिर मियाँ की मधुरता और क्रोध दोनों देखा। मधुरता की गवाही तो बहुत मिल जाएँगी, क्रोध की एक घटना सुनाता चलूँ। घर में ऊपर के काम के लिए छोटा-सा लड़का लतीफ़ नौकर था। वह शरारत की पुड़िया था। किसी वक्त निचला नहीं बैठता और कोई न कोई शरारत किए जाता। न तो उस पर चची साहिबा की डाँट असर करती और न मेरा या किसी और का बुरा-भला कहना। एक दिन उस की इसी तरह की शरारत की शिकायत ज़ाकिर साहिब के कानों तक पहुँची , बहुत दिनों से उस की शरारतें देखते और सुनते आए थे। एक दम क्रोधित हो उठे और कहा लाओ आज इसे मैं ठीक करूँगा। घर में एक बड़ा गहरा खारी पानी का कुँआ था। उस पर डोल-रस्सी पड़े रहते थे। तुरंत रस्सी का एक सिरा लिया और उस से लतीफ़ की कमर और हाथ जकड़ दिए। लतीफ़ की सैकड़ों चीख़ें थीं। घर में हलचल मच गई। चची साहिबा डर गयीं कि यदि कुछ हो गया तो। ख़ैर बड़ी मुश्किलों से ज़ाकिर मियाँ को रज़ामंद कर लिया गया कि इस बार छोड़ दें। मज़े की बात यह थी कि जो हर समय शिकायतें करते थे अब गिड़गिड़ा कर सिफ़ारिशें कर रहे थे। उसके बाद पहचाने ही नहीं जाते थे कि यह वही लतीफ़ हैं। फिर तो हर-हर कदम पर 'जी हुजूर' और 'जी हाँ' करते थे।

ज़ाकिर मियाँ का अधिकतर समय जामिया के कार्यालय और उस के विभिन्न कार्यों में व्यतीत होता। घर में जो ख़ाली समय मिलता वह घर के सब से छोटे कमरे में लेट कर गुज़ारते और कुछ पढ़ते रहते। मैंने प्राय: उन्हें ग़ालिब, इक़बाल या किसी फ़ारसी शायर के अश्आर (पद्य) गुनगुनाते सुना। उन्हें वही अश्आर पसंद थे जो ख़ुद उन के जीवन पर पूरे उतरते थे। इसीलिए इक़बाल उन के सब से प्रिय कवि थे। वह सही अर्थों में सुन्दरता, नैतिकता और शेर के आदमी थे। अर्थशास्त्र से, जो उन की उच्च्व शिक्षा का विषय रहा था, दूर हो चुके थे। उनके इर्द-गिर्द बहुत कम किताबें देखने में आतीं और जो थीं उनका अर्थशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं था। क़रौल बाग़ के इस मकान में न तो गुलाब थे, न सब्ज़ा व गुल, न गमले न तस्वीरें। ख़त्ताती (सुलेखन) के कुछ नमूने अवश्य नज़र आते।

ज़ाकिर मियाँ का जीवन अव्यवस्थित था । ठीक वक़्त पर काम करते । मेरे विचार में उनकी गद्य में जो शायराना उतार-चढ़ाव मिलते हैं उसका एक कारण ये भी था कि वह कड़े दबाव में और उत्तेजित हो कर क़लम उठाते थे । जब लिखते तो अपनी कोठरी में बंद हो जाते । मिलने-मिलाने का सिलसिला बंद हो जाता । खाना आदि वहीं भेज दिया जाता । उसके बाद भी घर में चैन नहीं मिलता तो सलीमुज़ज़माँ सिद्दीक़ी साहिब, मुजीब साहिब या आपा जान (मिस फ़िलिप्स बोर्न) के यहाँ ख़ुद को क़ैद कर लेते और उस समय तक बाहर नहीं निकलते थे जब तक कोई अभिभाषण, लेख या रेडियो का भाषण तैयार न हो जाता । 1949 ई. में अलीगढ़ पहुँच कर इसी दशा में उन पर दिल का पहला दौरा पड़ा था ।

जीवन में अव्यवस्था की कमी को दूर करने के लिए उन्होंने सहन-शक्ति को अपनाया था । मुझे याद नहीं पड़ता कि उन्होंने मुझे या अपनी बच्चियों को कभी भी किसी बात पर झिड़का या डाँटा हो । मैंने घर के अंदर या बाहर उन्हें कभी क्रोध में नहीं देखा, हालाँकि उन के दादा झम्मन खाँ का क्रोध क़ायमगंज में मशहूर था । यूसुफ़ मियाँ ने अपनी ख़ुदनविशत (आत्मकथा) "यादों की दुनिया" में ज़ाकिर मियाँ की अहिंसा के स्रोत की खोज करते हुए संकेत किया है कि बचपन में वह अपने छोटे भाई ज़ाहिद हुसैन ख़ाँ से पिट लिया करते थे । इसलिए परिवार वालों की हमदर्दी प्राप्त करने के लिए वह 'अहिंसा' की नीति पर चलते । संभव है ऐसा ही हो । परन्तु उन के आगे के त्याग के जीवन के लिए ये शिक्षा अच्छी थी, चाहे वह छोटे भाई से मिली हो ।

डॉ. ज़किर हुसैन जिस समय (49 ई. से 56 ई.) कुलपति थे, वह समय अलीगढ़ के लिए अत्यन्त अशांति का समय था । पंडित नेहरू और मौलाना आज़ाद ने इस अभागी संस्था को राजनीतिक उथल-पुथल से बचाने के लिए डॉ. ज़ाकिर हुसैन का चयन किया था । अलीगढ़ ने उन्हें मानसिक हिचकिचाहट के साथ स्वीकार किया । इस लिए कि इस संस्था को उस का भविष्य हर पल आईना दिखाता था । मौलाना आज़ाद के सामने भारतीय मुसलमान के पूर्ण निवास की मुख्य समस्या थी । डॉ. ज़ाकिर हुसैन उन की दृष्टि में पूर्ण रूप से इस के लिए प्रमाणित भी थे और विश्वस्त भी । अपने किए पर पछतावा नहीं था । निजी भेंटों और बैठकों में सक्ते (मूर्छना) की हालत होती या सुकूत (मौन) की ।

इस सक्ते और सुकूत की हालत को ख़त्म करने के लिए डॉ. ज़ाकिर हुसैन नियुक्त किए गए थे । वह दिल में बड़ा साहस ले कर आए थे परन्तु आते ही 49 ई. में उन पर दिल का दौरा पड़ा । अब अलीगढ़ को नया जीवन देने के प्रोग्राम के साथ ख़ुद को जीवित रखने का प्रोग्राम भी शामिल हो गया । मेरा विचार है कि व्यक्तित्व के परिवर्तन में उनके इरादों की कमज़ोरी और उनके इस रोग का बड़ा हाथ था । वह अब नर्सों, डाक्टरों और शाम के बैठने वाले कुछ निकट के लोगों में घिर कर रह गए । उन में रशीद अहमद सिद्दीक़ी साहिब, डॉ. हफ़ीज़ुर्रहमान (मेडिकल आफ़िसर) सय्यद नूरूल्लाह साहिब

(प्रो. वाईस चाँसलर), हकीम अब्दुललतीफ़ साहिब (प्रिंस्पिल तिबिया कालिज) और डॉ. अब्दुलअलीम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । बीमारी के बावजूद विनोद-भावना क़ायम रही । डॉ. अब्दुल अलीम कभी-कभी आते परन्तु बहुत देर बैठते । जिस ज़रूरत से आते उसे सब से अंत में कहते । उन की लम्बी बैठक के बारे में एक दिन कहने लगे, "भई ये बहुत भारी पेंदे के आदमी हैं ।" इसके साथ-साथ उनमें आलोचनात्मक-शक्ति भी मौजूद थी । एक दिन कहने लगे कि "अल्लाह की तौफ़ीक़ (सामर्थ्य) न हो तो दुनिया की सारी सहूलतें मिल जाने पर इंसान काम नहीं करता ।" ये संकेत था इतिहास-विभाग के अध्यक्ष के उस अनुरोध की ओर कि उन के विभाग की कार्य-शक्ति को बढ़ाने के लिए उन के लिए टेलीकाम आवश्यक है ।

वह अक्सर मुझ से कहते थे: जीवन का खेल एक प्रकार की पतगंबाज़ी है । पतगं का पेंच ढील से भी लड़ाया जाता है और खींच कर भी । मैं ढील का पेंच लड़ाने वालों में हूँ। उसके बाद कहते, अल्लाह मियाँ की रस्सी भी ढीली बताई जाती है । मैंने एक बार कह दिया कि ज़्यादा ढीली रस्सी दीजिए तो जानवर रस्सी सहित भाग जाता है । ये सुन कर अर्थपूर्ण ढंग से चुप हो गए ।

ज़ाकिर साहिब के ढील देने की कार्य-पद्धिति अलीगढ़ में सफल न हो सकी । जामिया मिल्लिया एक छोटी-सी बिरादरी थी । पुरानी मैत्री की यादें अभी तक ताज़ा थीं । ज़ाकिर साहिब अगर एक ओर व्यंग्यपूर्ण ढंग से कहते थे कि "ये चिड़िया के बराबर दिमाग़ रखने वाले लोग हैं ।" तो दूसरी ओर मनाने की चिंता में रहते । बच्चों के लेखक, इलियास मुजीबी साहिब उन के सेक्रेट्री थे । बेगम साहिबा से कुछ रिश्तेदारी भी होती थी। बड़ी तीव्र प्रकृति रखते थे । ज़ाकिर साहिब उन की कोमल प्रकृति से तंग रहते । एक दिन कहने लगे "हमारे जीवन का उद्देश्य केवल ये है कि मुजीबी साहिब से निभाए जाएँ ।"

अलीगढ़ ज़्यादा बड़ी दुनिया थी । यहाँ बिरादरी के उसूलों से नहीं, जोड़-तोड़ से काम चलता था । ज़ाकिर साहिब जिस साँचे में ढल चुके थे वह अलीगढ़ के लिए अनुकूल नहीं था । वह एक बुद्धिमान व्यक्ति थे इसलिए दोस्त-दुश्मन सब के सामर्थ्य को समझते थे परन्तु समझ के अनुसार उस को व्यवहार में नहीं लाते थे । इस लिए प्राय: 'उस्ताद' क़िस्म (.चतुर-चालाक) के लोग अच्छे उस्तादों को पीछे हटा कर आगे बढ़ जाते थे ।

इसे अलीगढ़ का दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है कि अलीगढ़ कभी भी बहुसंख्यकों के मन में घर न कर सका हालाँकि इस संस्था में ग़ैरमुस्लिम छात्रों और अध्यापकों की संख्या अच्छी-ख़ासी रही । ज़ाकिर साहिब चाहते थे कि अलीगढ़ को धर्मनिरपेक्ष भारत का "सूक्ष्म चित्र" बना दिया जाए । उनके विचार में मुस्लिम अल्पसंख्यक के अस्तित्व के लिए यही एक उपाय बचा था । इसमें हिन्दू-मुस्लिम दोनों की समस्या थी । हिन्दू समझते थे कि पाकिस्तान बनने के बाद मुसलमानों का भारत पर कोई अधिकार नहीं रहा, वह यहाँ से चले जाएँ या उन की शर्त्तों पर इस देश में रहें । मौलाना आज़ाद और डाक्टर ज़ाकिर

हुसैन दोनों को अपने मुसलमान होने पर गर्व था। इसी के साथ वह स्वंय को भारतीय भी समझते थे।

मेरे विचार में भारतीय राष्ट्रीयता और मुसलमान के सिलसिले में मौलाना आज़ाद और ज़ाकिर साहिब का बताया हुआ मार्ग भारतीय मुसलमानों के लिए आज भी उचित है। हमें इस देश में हर प्रकार से रहना है। इसलिए अपने अस्तित्व के लिए ज़रूरी है कि इससे वफ़ादारी निबाही जाए परन्तु इस शर्त्त पर कि हमें भी यहाँ सुदृढ़ होने के अवसर प्राप्त हों।

पुराने साथी की स्मृति

ख़्वाजा अब्दुलहमीद

डा. ज़ाकिर हुसैन ने महात्मा गाँधी की अपील पर सरकारी अनुदान प्राप्त समस्त संस्थाओं का बायकाट कर दिया और जब मुस्लिम यूनीवर्सिटी को छोड़ा तो वह अकेले नहीं थे बल्कि उनके साथ लगभग एक हज़ार विद्यार्थियों का ग्रुप भी था। मैंने उनका अनुसरण किया और इलाहाबाद के मेयोसेंट्रल कालेज को छोड़ दिया। उस समय मेरे साथ चार सौ विद्यार्थी थे। मैं अपने पैत्रिक वतन अलीगढ़ आ गया, जहाँ असहयोग आन्दोलन ज़ोरों पर था।

डा. अंसारी, हकीम अजमल खाँ और अली बन्धुओं ने महात्मा गाँधी की सहायता से 1920 ई. में एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय का शुभारंभ किया जिस का नाम जामिया मिल्लिया था। डा. ज़ाकिर हुसैन के निकट मैं उस समय आया जब मैं सौ रूपया मासिक वेतन पर जामिया मिल्लिया में एक अध्यापक के रूप में आ गया। मुझे अच्छी तरह वह दिन याद हैं जब स्वतंत्रता संग्राम जारी था और डा. ज़ाकिर हुसैन और उनके सहयोगी इसमें बढ़ चढ़ कर हिस्सा ले रहे थे।

1921 ई. में जामिया का प्रथम दीक्षांत समारोह अलीगढ़ में आयोजित हुआ जिसमें हकीम अजमल खाँ, डा. अंसारी, अबुलकलाम आज़ाद, तसद्दुक़ अहमद खाँ शेखानी, मौलाना शौकत अली और अन्य महानुभाव, जिन का संबध असहयोग आन्दोलन और ख़िलाफ़त आन्दोलन से था, दीक्षान्त समारोह के जुलूस में सम्मिलित हुए। डा. ज़ाकिर हुसैन और मैं 1929 ई. में अहमदाबाद काँग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित हुए और एक सप्ताह साबरमती आश्रम में गाँधी जी के साथ रह कर उनके नैकट्य का सौभाग्य प्राप्त किया।

1923 ई. में जब गाँधी जी ने असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया तो डा. ज़ाकिर हुसैन उच्च शिक्षा के लिए जर्मनी चले गए। अगले वर्ष अत्यंत कठिनाई से मुझे पासपोर्ट मिल सका और मैं भी जर्मनी चला गया और बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रवेषित हुआ जहाँ डा. ज़ाकिर हुसैन पहले से ही विद्यार्जन में संलग्न थे। एक दूसरे से मिलकर हम कितने ख़ुश हुए थे, इस का वर्णन करना संभव नहीं है।

जर्मनी में डा. ज़ाकिर हुसैन की बहुत से लोगों से दोस्ती हो गई। इनमें सम्मिलित थे बर्लिन विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर और कुछ प्रतिष्ठित हिन्दुस्तानी, विशेषरूप से वह लोग जिन का संबंध राजनैतिक विप्लव से था और इस समय बर्लिन में ही रहते थे। डा. ज़ाकिर हुसैन और बहुत से हिन्दुस्तानी विद्यार्थी बहुधा मिल बैठते थे और हिन्दुस्तान की आज़ादी के संबंध में वाद-विवाद किया करते थे।

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् जर्मनी में क़ैसर विलियम के साथ राजकीय सत्ता का युग समाप्त हो गया और वाटमर विधान लागू हुआ। अब यह स्वतंत्र देश था जहाँ दुनिया के सारे बाग़ी आकर मिल सकते थे। हिन्दुस्तानियों में सरोजनी नाइडू के बड़े भाई श्री चट्टोपाध्य, श्री एम.एन. राय, प्रो. बरकतउल्ला, राजा महेंद्र प्रताप सिंह, ख़ैरी बन्धु और श्री नम्बियार सम्मिलित थे।

राजा महेन्द्र प्रताप, ख़ैरी बन्धुओं और श्री राय को युद्ध पश्चात् हिन्दुस्तान लौटने की अनुमति मिल गई। प्रो. बरकतउल्ला फ्रांसिस्को चले गए। वहाँ ही उनका देहान्त हो गया। राजा महेन्द्र प्रताप लोक सभा के सदस्य बन गए और देहरादून में रहने लगे। श्री नम्बियार बोन में भारत के राजदूत नियुक्त हुए। श्री राय भारत लौटे और देहरादून में मृत्यु को प्राप्त हुए। श्री चट्टोपाध्याय रूस चले गए और वहीं उनका देहांत हो गया।

डा. ज़ाकिर हुसैन और सब लोग इन क्रान्तिकारियों को अत्यतं आदरणीय और सराहनीय समझते थे। हम लोग इन सब से बातें करते और सलाह लेते कि हम अपने देश को कैसे स्वतंत्र कराएँ। हालाँकि डा. हुसैन जो महात्मा गाँधी के भक्त थे और अहिंसा में विश्वास रखते थे, इन क्रांतिकारियों की जोड़-तोड़ से पूर्णतः सहमत नहीं हुए थे।

डा. ज़ाकिर हुसैन अत्यतं प्रतिभाशाली बुद्धिजीवी थे। उन्होंने जर्मन मूल के विद्यार्थियों और अध्यापकों में अपनी पहचान बना ली। प्रो. हर शवानेर जो विदेशी भाषाओं के संस्थान के निदेशक थे और जिन्होंने हमें जर्मन भाषा पढ़ाई थी, बहुधा हम लोगों को अपने घर चाय पार्टियों में और क्रिस्मस के अनुष्ठानों में आमंत्रित किया करते थे। डा. ज़ाकिर हुसैन बहुत रूपवान विद्यार्थी थे और उनकी फ्रेंचकट दाढ़ी ने उनके व्यक्तित्व को आकर्षक बना दिया था। जर्मन मित्र उन्हें "जीनियस" नाम से संबोधित किया करते थे।

दूसरे भारतीय विद्यार्थी जो हमारे ग्रुप में सम्मिलित हुए वह थे डा. सैयद आबिद हुसैन, प्रो. मुजीब, डा. टोपा, डा. क़ुरैशी। हम सबने डा. ज़ाकिर हुसैन का नेतृत्व स्वीकार कर लिया और प्रण किया कि हिन्दुस्तान लौटने पर जामिया के लिये काम करेंगे। हकीम अजमल ख़ाँ और डा. अंसारी ने जो काँग्रेस और असहयोग आन्दोलन के दीप्तिमान नक्षत्र थे, जामिया की बुनियाद डाली और 1925 ई. में जामिया के अलीगढ़ से दिल्ली आने के पश्चात् 1925 ई. में योरप गए।

डा. ज़ाकिर हुसैन इन महानुभावों से मिलने पैरिस गए। अपनी और अपने मित्रों की ओर से इन्हें विश्वास दिलाया कि हम लोगों ने जामिया के प्रति अपना जीवन समर्पित

करने की शपथ ली है । डा. ज़ाकिर हुसैन ने मुझ से, डा. आबिद हुसैन, प्रो. मुजीब और अन्य दूसरे व्यक्तियों से कहा कि हम लोग स्वयं डा. अंसारी और हकीम अजमल खाँ के पास जाकर शपथ लें । हम चारों वियाना गए और इन लोगों से मिले । उनके सम्मुख जामिया मिल्लिया और काँग्रेस के प्रति अपनी निष्ठा की शपथ ली ।

डा. ज़ाकिर हुसैन और हम उनके दोस्त बहुधा मिल बैठ कर हिन्दुस्तान की समस्याओं पर बात करते थे । हम लोग बहुधा पिकनिक पर जाया करते थे । 1926 ई. में डा. ज़ाकिर हुसैन ने एक स्वागत समारोह का आयोजन किया और सारे भारतीय विद्यार्थियों की ओर से बर्लिन के प्रोफ़ेसरों को आमंत्रित किया । मुझे अच्छी तरह याद है कि डा. ज़ाकिर हुसैन ने अपने प्रोफ़ेसरों के स्वागतार्थ बहुत सुन्दर भाषण दिया था । इसके उपरांत विख्यात नोबेल पुरस्कार विजेता प्रो. हेज़ ने अत्यंत ओजपूर्ण भाषण दिया और भारतीय विद्यार्थियों को आशीश दिया कि वह भारत को स्वतंत्र कराने के अपने संघर्ष में सफल हों और जर्मनी के प्रत्येक प्रकार से सहयोग का उन्हें आश्वासन दिया ।

डा. ज़ाकिर हुसैन ने 1926 ई. में अर्थशास्त्र में पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की और उसी वर्ष के अन्त में भारत वापस आ गए । मैं और लुंबा, जिनसे मैंने बाद में विवाह कर लिया, उन्हें स्टेशन पर विदा करने गए । 1926 ई. में मेरे भारत लौटने पर मेरी पत्नी डाक्टर हुसैन के साथ पहली बार उनके घर पर रहीं और बेगम ज़ाकिर हुसैन की बहुत घनिष्ठ मित्र बन गईं । मेरी वर्षगाँठ के अवसर पर डा. ज़ाकिर हुसैन ने भाषण देते हुए मेरी पत्नी के प्रति स्नेह और सद्भाव दर्शाया । उन्होंने कहा था "डा. हमीद लुंबा से जर्मनी में मिले। आजीवन साथ निभाने की कहानी तो अच्छी तरह वह ही सुना सकते हैं । मैं तो केवल इतना जानता हूँ कि मुझे लुंबा के रूप में एक बहन मिल गई, साक्षात स्नेह जो आज की दुनिया में सरल नहीं है । मैं समझता था कि सर्जरी एक अत्यंत निर्दयी पेशा है और रूग्ण होना निश्चय ही अरूचिकर कार्य है । परन्तु लुंबा के संबंध में यह अवधारणा पूर्णत: निराधार सिद्ध हुई । लुंबा की योग्यता, उन का स्नेह, उनकी मधुभाषिता और मनमोहक रख रखाव आज भी मेरे हृदय पटल पर अंकित हैं और मेरे जीवन का हिस्सा हैं ।

1926 ई. में जर्मनी से वापसी के उपरांत डा. ज़ाकिर हुसैन ने मेरे आदरणीय चचा मान्यवर अब्दुलमजीद ख़्वाजा साहब से जामिया का चार्ज ले लिया । वह ज़ाकिर साहिब की वापसी तक जामिया को सुचारू रूप से चला रहे थे । उसके बाद से डा. ज़ाकिर हुसैन इस विश्वविद्यालय को चलाते रहे । उन्होंने अपना जीवन जामिया को अर्पित कर दिया और उसे एक आदर्श शिक्षा संस्थान बनाया और सबसे बढ़कर उसे राष्ट्रीय एकता के एक केन्द्र का रूप दिया ।

1946 ई. में डा. ज़ाकिर हुसैन ने बहुत बड़े पैमाने पर जामिया की रजत जयंती मनाने का निर्णय किया । वह शफ़ीकुर्रहमान के साथ चन्दा इकट्ठा करने बम्बई आए और मेरे साथ दो महीने रहे । मुहम्मद हारिस, जहाँगीर पटेल और बहुत से लोगों ने उनके साथ

मिल कर ढाई लाख रूपया एकत्रित किया ।''

डा. ज़ाकिर हुसैन वह एकमात्र व्यक्ति हैं जो तीन महत्वपूर्ण व्यक्तियों पंडित नेहरू, सरदार पटेल और जिन्नाह को एक साथ मंच पर लाए और उन सबने एकत्रित जनसमूह को संबोधित किया ।

अन्तिम बार वह 6 दिसम्बर 1968 को मेरी वर्षगाँठ के अवसर पर बम्बई आए । यह समारोह ताजमहल होटल में आयोजित हुआ था । उनकी यह महानता थी कि उन्होंने मेरा निमंत्रण स्वीकार किया और इस समारोह की अध्यक्षता की । राष्ट्रपति के उच्च पद का विचार किये बिना उन्होंने व्यैक्तिक रूप से एक मैत्रीपूर्ण सामाजिक समारोह में भाग लिया। इस अवसर पर उनका भाषण स्मरणीय था जो एक महान पुरूष का अपने पुराने साथी के लिए अविस्मरणीय उपहार था । वह दोस्त जो जीवन भर का साथी था, समस्त कार्यों में बराबर का हिस्सेदार था, हिन्दुस्तान में भी और विदेशों में भी । मैं उनके भाषण के आरंभिक वाक्यों को ही यहाँ उद्धरित करना चाहता हूँ । ''मुझे यह गौरव प्राप्त है कि डा. हमीद के मित्रों में एक मैं भी हूँ और इनकी मैत्री पाकर मैं बहुधा सोचता हूँ कि एक अच्छे मित्र से बढ़कर कोई ख़ुदा से और कौन सा वरदान मांग सकता है ।''

कीमियागर

मुहम्मद हफ़ीज़ुद्दीन

कहते हैं पिछले ज़माने में ऐसी जड़ी-बूटियाँ होती थीं कि उनसे लोहा, ताँबा और पीतल जैसी घटिया धातें सोना बन जाती थीं। जो लोग इन बूटियों को जानते थे वह कीमियागर कहलाते थे। इसी तरह एक "पारस पत्थर" भी होता था। उससे लोहा छू जाए तो सोना बन जाए।

मशहूर है कि नर्बदा दरिया के किनारे-किनारे एक राजा के हाथी जा रहे थे। उनमें से एक हाथी की ज़ंजीर ज़मीन से घसिटती चली जा रही थी। संयोगवश किसी पारस पत्थर से छू गई और सोना हो गई। चारों ओर शोर मच गया। फिर क्या था उस रास्ते से हाथी पर हाथी हज़ारों बार गुज़ारे गए परन्तु एक कड़ी भी सोने की न बनी।

यह पत्थर इस प्रकार प्रसिद्ध हो गया है कि किसी व्यक्ति के बहुत अच्छा होने की प्रशंसा की जाती तो कहते हैं : "उस का क्या कहना, वह तो पारस है।"

इस बारे में एक चुटकुला भी सुन लीजिए। अकबर का प्रधानमंत्री अब्दुर्रहीम ख़ानेख़ाना बड़ा गुणवान व्यक्ति था। देने-दिलाने में तो लाखों लुटाता था। इसलिए लोग उसे पारस कहते थे। एक स्थान पर उसके आने का समाचार मिला तो एक भोली-भाली देहातिन बुढ़िया इस ताक में रही कि किसी प्रकार उसके पास पहुँचे। जब ख़ानेख़ानाँ प्रोग्राम के अनुसार उस स्थान पर पहुँचा तो यह ग़रीब बुढ़िया अवसर पाकर आव देखा न ताव, एक तवा लेकर दौड़ी और उसके शरीर से रगड़ने लगी। सब हायँ-हायँ करते रह गए। उसने किसी की न सुनी। इस पहेली को कोई न बूझ सका, पर ख़ानेख़ाना बात ताड़ गए। अपने सेवकों से कहा, "इसे तवे के बराबर एक सोने का तवा ला दो। यह मुझे पारस समझ कर ऐसा कर रही है।"

पिछले ज़माने में बड़े-बड़े गुणी लोग गुज़रे हैं। कोई कीमियागर था तो किसी के पास पारस पत्थर था। कोई अलाउद्दीन का जादूई चिराग़ रखता था। यह सब बातें क़िस्से कहानियों में पढ़ी हैं। ईश्वर जानता है ऐसा था भी या नहीं।

परन्तु आजकल बीसवीं शताब्दी में ऐसी-ऐसी बातें देखने और सुनने में आ रही हैं कि कभी देखी न सुनीं। मनुष्य हवा के घोड़े पर सवार होकर महीनों की यात्रा सप्ताह में, और सप्ताह की घंटों और मिनटों में पूरी कर लेता है। चंदा मामा सदा दूर बैठे अपनी मुस्कान

बिखेरते रहते, न स्वयं कभी आते, न किसी को अपने पास बुलाते थे। लाखों करोड़ों बच्चे न जाने कितने समय से यह कहते-कहते थक गए।

चंदा मामा दूर के; हम को देखें घूर के

कितने बच्चे बूढ़े हो गए और सो गए। पर चंदा मामा टस से मस न हुए। परन्तु अब इस समय के नटखट बच्चे स्वयं उनकी चंदिया पर मसाला पीसने जा रहे हैं। यह समय बड़ा अजीब, चंचल और अनोखा है।

हमने भी उस समय एक कीमियागर देखा था। शायद उसके पास कीमिया बनाने के अजीब नुस्ख़े भी थे। "पारस पत्थर" भी था और अलाउद्दीन का जादूई चिराग़ भी था। उसके चिराग़ से बहुत से छोटे-बड़े दिए प्रकाशित हो उठे। कोई रौशनी का मीनार बन गया। कोई भूले-भटकों को मार्गदर्शा रहा है, कोई अपने छोटे-से क्षेत्र में प्रकाश की ज्योति बिखेर रहा है।

अतः उसके चमत्कार बहुत हैं और अमिट हैं। कहाँ तक कोई गिनवाए। वह जिधर से गुज़र जाता था चमत्कार की एक दुनिया पैदा कर देता था। हम केवल नमूने के रूप में दो-चार की यहाँ चर्चा करेंगे जैसे अन्न के बहुत बड़े ढेर में से नमूने के मुठ्ठी भर दाने।

कितना ही बड़ा मनुष्य क्यों न हो सफल उसी समय होता है जब वह अपने लिए कोई अच्छा कार्य चुन ले और उस पर जम जाए। अपने लक्ष्य के लिए अपना तन, मन, धन, जी जान से लगा दे, ये बात हमारा कीमियागर भली प्रकार जानता था। इसलिए उसने पहले दिन ही से निश्चित कर लिया था कि वह एक अच्छा अध्यापक बनेगा और जीवन इसी काम में लगा देगा।

सच पूछो तो प्रकृति ने एक अच्छे अध्यापक के सभी गुण उस में एकत्रित कर दिए थे और वह जन्म से ही शिक्षक था। उस ने अपने कीमिया के नुस्ख़े होशियार और कुढब बच्चों, सभ्य और अनपढ़ लोगों पर आज़माए और हर एक को कुंदन बनाकर छोड़ा।

इस कीमियागर को देखने के लिए किस का मन न चाहेगा। हम ने तो उसे कल तक देखा है, पर अब तुम को न दिखा सकेंगे। हाँ, तुम उस के ख़ामोश चित्रों को देख सकते हो। उसके लिखे हुए लेखों को पढ़ सकते हो। उसके दिए हुए भाषणों को, यदि रिकार्ड में सुरक्षित हों तो सुन सकते हो, और उस की बनाई हुई संस्थाओं और बनाए हुए मनुष्यों को देख सकते हो। इन सबमें उसकी झलक तो दिखाई देगी परन्तु वह पूरी तरह दिखाई न देगा।

मई की 3 तारीख़ को वह हम से बिछड़ गया। कोई उसे राष्ट्रपति के रूप में, कोई उपराष्ट्रपति के, तो कोई राज्यपाल के रूप में और कोई कुलपति (वाईस चाँसलर) के रूप में जानता है। परन्तु वह हर पर्दे में एक अच्छा अध्यापक और एक बहुत अच्छा व्यक्ति था जिसे अपने-पराए ज़ाकिर साहिब कहते थे और इस नाम से एक आत्मिक शक्ति और ढारस अनुभव करते थे।

ज़ाकिर साहिब एक अच्छे खाते-पीते घराने में पैदा हुए थे। उन्होंने तालीमो तर्बीयत के हर अवसर से लाभ उठाया। विदेशी शिक्षा में यूरोप की सबसे ऊँची डिग्री पी.एच.डी. प्राप्त की। आत्मिक विकास मानवता के उस दर्जे पर पहुँच गया था कि कुल मिला कर उनसे अच्छे व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती।

बचपन में ख़ुदा का दिया सब कुछ था। न जाने कितने लोग उनके पिता की डयोढ़ी पर पलते थे मगर वह अपने पिता से प्रेम और स्नेह के इनामों के अलावा अपने बड़ों से कुछ काम मज़दूरी पर ले कर शौक़ से किया करते थे। बड़े भी इसे बच्चे का खेल समझकर रूचि लेते।

उन की उर्दू, अंग्रेज़ी सब की लिखावट बहुत अच्छी थी। ये छोटा मज़दूर बुज़ुर्गों की लिखी हुई चीज़ों की नक़्ल से जो मज़दूरी पाता था पाई-पाई जोड़ कर रखता था। आस-पास में किसी दुखी की ख़बर पाता तो अपनी मेहनत की सारी कमाई और जोड़ी हुई पूँजी उस को सौंप आता, वह भी इस प्रकार कि एक हाथ से दिया दूसरे हाथ को ख़बर न हुई।

उस के साथी नादान या शेख़ी दिखाने वाले बच्चे मन ही मन में सोचते कि इतने बड़े घर का लड़का कितना कंजूस मक्खीचूस है। कभी-कभी इस की भनक उस के कान में भी पहुँच जाती थी। जी में आता कि सब रहस्य खोल दे फिर तो ये साथी बहुत लज्जित हो जाएँगे परन्तु उन्होंने कभी ऐसा नहीं किया। क्योंकि वह उस रहमते आलम के दिल से अनुयायी थे जिस ने कभी किसी से बदला नहीं लिया। कभी किसी का मन नहीं दुखाया।

वह बच्चों को ईश्वर की धरोहर और राष्ट्र की पूँजी समझते थे। उन को सँवारने की तद्बीरें रात-दिन सोचा करते। अनाथ बच्चों को देख कर उन का मन भर आता था। दिल्ली के एक मुहल्ले दरियागंज में एक अनाथालय क़ायम किया गया। उन्होंने इस की भरपूर संरक्षता की। सब से पहले तो इस का प्यारा नाम "बच्चों का घर" रखा। घर में हर प्रकार के विश्राम का प्रबंध, फिर उस के चलाने वाले दो ऐसे निष्कपट कार्यकर्त्ताओं का चयन किया जिस से अच्छा चुनाव हो ही नहीं सकता। ये बुज़ुर्ग अब्दुशशकूर साहिब और फ़ारूक़ साहिब हैं जो लगभग तीस वर्ष से इस घर की सेवा में लगे हुए हैं। कुछ लोग तो उन का काम जानते होंगे, नाम शायद बहुत कम लोग जानते होंगे। ऐसे बिना नामवरी के काम करने वाले बहुत कम होते हैं। जिस अच्छे ढंग से ये घर चल रहा है, जैसी मेहनत और घरेलूपन वहाँ मौजूद है वही लोग उस का मूल्य समझ सकते हैं जिन्होंने कभी उस घर को देखा हो। इन बच्चों का अनाथ होना उन के लिए कृपा का द्वार खोल गया है। ज़ाकिर साहिब ने इस घर को और उस के सँवारने वालों को कभी नहीं भुलाया। बात लम्बी हो जाएगी वरन् यहाँ की चर्चा विस्तारपूर्वक की जाए तो बहुत सी संस्थाओं के लिए नमूना और प्रेरणा का काम दे सकती है।

ज़ाकिर साहिब के जीवन की सब से बड़ी कृति जामिया मिल्लिया इस्लामिया है। इसे इस मार्ग पर उन्होंने ही चलाया कि ये सही अर्थों में इस्लामी, क़ौमी और तालीमी संस्था

बन गई । त्रुटियाँ और दोष कहाँ नहीं होते परन्तु आज भी इस के वातावरण में इस्लाम की ख़ुश्बू, राष्ट्र से अपनापन और प्रेम और शिक्षा व ज्ञान के चर्चे फैले हुए हैं ।

घर और समाज में सब से निर्बल जानदार बच्चा है । इसलिये माँ-बाप, शिक्षक, मुहल्ले-पड़ोस के लोग उस की थोड़ी-सी भूल पर उसे दंड देने से नहीं चूकते । प्राय: बिना कारण ही उस पर अपना क्रोध उतारते हैं । ज़ाकिर साहिब दंड देने का कड़ा विरोध करते थे । दंड में प्रत्यपकार, बदला, क्रोध आदि की भावना उत्पन्न हो जाये तो इस से बुरी कोई चीज़ नहीं । इसलिये जामिया के अध्यापकों से प्राय: कहा करते थे कि बच्चा प्रेम करने के लिए है क्रोध उतारने के लिए नहीं ।

जामिया के प्राइमरी स्कूल में एक बहुत सदाचारी एवं लोकप्रिय मौलवी साहिब थे । सब उनका बहुत आदर करते थे । अफ़ग़ानिस्तान के रहने वाले थे । बड़े सच्चरित्र, गंभीर और हंसमुख । कभी-कभी जामिया के अध्यापक बच्चों को छोटी-मोटी सज़ाएँ दे दिया करते थे । किसी न किसी प्रकार ज़ाकिर साहिब तक बात पहुँच जाती तो वह अच्छे ढंग से अध्यापकों को समझा दिया करते थे ।

एक बार उन मौलवी साहिब ने भी एक बच्चे को सज़ा दे दी और थोड़ी कड़ी सज़ा दी। ज़ाकिर साहिब इसे सहन न कर सके । उन्होंने अपने-आप को बहुत संभाला, आदेश देने का उनका स्वभाव न था । फिर भी एक लेख गश्त कराया । "जामिया में बच्चों को सज़ा देना सख़्त मना है । अगर सज़ा की ज़रूरत पड़ जाये तो संस्था के अफ़सर की इजाज़त लेना और बहुत सोच-समझ कर सज़ा देना चाहिए । जो लोग इस तरीक़े को अपना न सकेंगे तो मैं समझूँगा कि वह मेरे साथ काम करना नहीं चाहते ।"

इस घटना के बाद वर्षों तक कोई ऐसी शिकायत सुनने में नहीं आई । न केवल ये बल्कि अध्यापकों ने इस मार्ग को इतना अपनाया कि ज़ाकिर साहिब देख कर अत्यन्त प्रसन्न हो गए ।

जब जामिया क़रोल बाग़ में थी जामिया के अध्यापकों के एक बहुत प्रतिष्ठित परिवार में से एक साहिब ने घर पर अपने बच्चे को किसी बात पर सख़्त सज़ा दी । वह ख़ुद अध्यापक न थे । उन का ये बच्चा जामिया का छात्र था । सज़ा से उस के शरीर पर नील के निशान पड़ गए थे । चेहरे पर भी एक निशान साफ़ दिखाई दे रहा था । इस दुर्दशा में बच्चा दूसरे रोज़ पढ़ने आया तो वह सज़ा भूल चुका था, हंसता खेलता आया लेकिन अध्यापकों की नज़र पड़ी तो सब ने दु:ख प्रकट किया और अपनी तालीमी कमेटी की सभा बुलाई । एक सुझाव में पिता के इस तरीक़े की घोर निन्दा की और इस सुझाव की नक़्ल उन्हें भेज दी । वह उत्तेजित हो उठे परन्तु ज़ाकिर साहिब अति प्रसन्न थे कि उन्होंने अपनी कामना को इस प्रकार पूरा होते देख लिया । जहाँ ज़ाकिर साहिब बच्चों का बहुत ख़्याल रखते थे वहाँ माँ-बाप, अध्यापक, कर्मचारी सब का आदर-सत्कार मन से किया करते थे ।

क़रोल बाग़ में सब से छोटे बच्चों का बोर्डिंग ख़ाकसार मंज़िल था। जिस समय की ये बात है उस समय इर्शाद साहिब और स्वर्गीय मौलाना साहिब वहाँ के संरक्षक थे। एक छोटा-सा ऐसा बच्चा इस बोर्डिंग में प्रवेश हुआ जिसके माँ-बाप दोनों में आपस में झगड़ा था और मुक़दमे बाज़ी हो रही थी। पिता नहीं चाहता था कि माँ या ननिहाल का कोई भी व्यक्ति बच्चे से संपर्क रखे। मौलना साहिब बड़े अच्छे स्वभाव के सुशील व्यक्ति थे, ऐसे लोग अब चिराग़ ले कर ढूँढो तो नहीं मिलेंगे। इसलिए जब कभी ग़रीब माँ आ जाती तो उस ममता की मारी पर तरस खा कर बच्चे से मिलने की अनुमति दे देते। वह अपने लाल को देख कर ख़ुश हो जाती। घड़ी दो घड़ी बैठ कर कुछ खिला-पिला कर बहुत दुखी और निराश हो कर लौट जाती। मौलाना के इस व्यवहार से ननिहाल वालों का साहस बढ़ा। एक दिन बच्चे के मामा ने आकर बच्चे को किसी समारोह में घर ले जाने के लिए मौलवी साहिब पर ज़ोर दिया। समस्या जटिल थी। मौलवी साहिब इतनी ढील देने के लिए तैयार न हुए, उस ने उन्हें मामूली मौलवी समझ कर जो मुँह में आया बका। क्रोध में उल्टी-सीधी बातें कर के इस अहंकार में कि ज़ाकिर साहिब से आर्डर ले आएगा उनके मकान पहुँचा।

इधर मौलवी साहिब जैसे अभिमानी और जोशीले व्यक्ति के लिए ये बर्ताव बड़ा दुख:दायक था। मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक, वह भी ज़ाकिर साहिब के यहाँ पहुँचे। अब दोनों साहिब एक स्थान पर इकट्ठे हो गए। ज़ाकिर साहिब कुछ मामाजी की ज़बान से सुन कर समझ चुके थे। कुछ मौलवी साहिब को क्रोधित देख कर ताड़ गए। बच्चे के मामा एक प्रतिष्ठित और बड़ी पोज़ीशन के व्यक्ति थे। उन को संबोधित कर के कहा, "हज़रत इस वक़्त आप मेरे ग़रीब ख़ाने पर हैं, मशरिक के आदाब के लिहाज़ से इस वक़्त आप से कुछ नहीं कह सकता। लेकिन इतना सुन लीजिए कि जिस शख़्स के साथ आप ने ये बेअदबी की है वह मेरा ऐसा साथी है कि मैं उस की जूतियाँ उठा कर सर पर रख लूँ तो ये मेरे लिए गर्व की बात होगी।"

ज़ाकिर साहिब किसी काम को तुच्छ नहीं समझते थे। जब जामिआ, जामिआ नगर आ गई और सब लोग एक स्थान पर एकत्रित हो गए तो काम रोज़ बरोज़ बढ़ने लगे। जामिआ के कार्यकर्त्ताओं की संख्या भी बढ़ी। उन की एक संस्था बनाई गई जिसमें भंगी, माली, चौकीदार से ले कर चपरासी और ड्राईवर तक सब सम्मिलित थे। सब से पहले सभा में ज़ाकिर साहिब (कुलपति) आए। उन्होंने बड़ा प्यारा भाषण दिया।

अपने भाषण में बहुत साफ़-साफ़ कहा कि "हमारे काम अलग-अलग हैं, जो काम हम जानते हैं वह करते हैं। इस से किसी के रूत्बे में फ़र्क नहीं आ जाता। फ़ज़ीलत (प्रधानता) केवल उस को प्राप्त है जो अपना काम पूरी ज़िम्मेवारी से करता है। और फ़र्ज़शनासी (कर्त्तव्यपरायणता) को सब से अधिक अहमियत (महत्व) देता है। तुम में से हर शख़्स सलाहियत (योग्यता) प्राप्त कर के शेख़ुलजामिया (कुलपति) भी बन सकता

है। अपने-आप को यहाँ के इंतज़ामों में बराबर का शरीक समझ सकता है ।"

वह संस्था अब तक जीवित है । इस के नुमाइन्दे को ये सम्मान दिया गया कि कॉनवेकेशन के जुलूस के जुब्बा पोशों में इस संस्था का एक जुब्बापोश नुमाइन्दा भी होता है। ये कैसी अद्वितीय बात है । आज के विकसित युग में संसार की किसी संस्था में नहीं मिल सकती ।

अब एक अंतिम बात पर ये लेख समाप्त होता है । जब ओखले (जामिया नगर) में जामिआ की नींव रखी जाने लगी तो ये प्रश्न उठा कि किन हाथों से ये कार्य पूर्ण हो । किसी ने विद्वानों की ओर नज़र दौड़ाई, किसी ने क़ौम के प्रसिद्ध नेताओं की ओर देखा । कोई प्रतिष्ठित लोगों में से किसी को ढूँढने लगा । लेकिन ज़ाकिर साहिब ने बिल्कुल नई चीज़ सुझाई । उन्होंने कहा कि "इस काम का हक़दार और योग्य तो बच्चा है जिस के लिए ये इमारत खड़ी की जा रही है । फिर हम इधर-उधर क्यों देखें ।" इस पर बहुत वाद-विवाद हुआ । अंत में यही निश्चित हुआ कि जामिया का कोई मासूम बच्चा ये नींव रखेगा । और नींव जामिआ के उस्तादों के उस्ताद मौलाना शर्फ़ुद्दीन के भाँजे टोंकी साहिब के नन्हे बच्चे ने रखी । उस ने अपने छोटे-छोटे हाथों से ये बड़ा कार्य पूर्ण किया । कितना महान् विचार था जो रहती दुनिया तक बच्चे की महानता और बड़ाई की गवाही देता रहेगा ।

ज़ाकिर साहिब इस संसार में नहीं रहे, 3 मई 69 को ये सूर्य सदैव के लिये अस्त हो गया । परंतु इस की किरणें वातावरण में प्रकाश बिखेरती रहेंगी । इसके लिए उनके काम और उनके बोल हमें अपने कर्त्तव्य की याद दिलाते रहेंगे । जब ये बुरी ख़बर कानों में पड़ी तो लोग आतुर हो कर राष्ट्रपति भवन की ओर दौड़े परन्तु वहाँ क्या था, वह पवित्र आत्मा तो कब की निकल चुकी थी । शव को सुरक्षित रखने से पूर्व जिन्हों ने वह गुलाब-सा खिला हुआ चेहरा देखा तो सहसा कह उठे, "मरने वाले तुझ पर ईश्वर की कृपा हो, तेरे मुख पर वह ज्योति बिखर रही है जो ईश्वर के नेक और सालेह बंदों की निशानी है।" मेरठ के काज़ी मौलाना जैनुलआबिदीन ऐसे ज्ञानी व बुज़ुर्ग के क़लम और ज़बान से भी ये वाक्य निकल कर रहे । क्यों न हो जानने वाले जानते हैं कि उन्होंने जब किसी काम के लिए क़दम उठाया तो सब से पहले ईश्वर की प्रसन्नता को सामने रखा और अपने प्यारे नबी के तरीक़ों को ढूँढते रहे । उन के मार्गदर्शन में अपनी यात्रा पूरी की । ईश्वर ने उस की ये अंतिम यात्रा भी सरल कर दी और अंतिम विश्रामगृह पर अपनी कृपा के वितान फैला दिए ।

अब वह अपने लगाए हुए चमन के एक कोने में सुख की नींद सो रहा है । कैसा शुभ कोना मिला है जिस के सरहाने मस्जिद है, रात-दिन अज़ान की आवाज़ कानों को ठंडक पहुँचाती है । एक ओर पुस्तकालय का वातावरण होगा । पायीं बाग राष्ट्रीय एकता और प्रेम के दृश्य से भरपूर और राष्ट्रीय गान से वातावरण गूँजता रहेगा ।

ऐ लोगों की नज़रों से छुप कर अंतिम विश्रामगृह में सोने वाले ! तुझे जीवन में हम ने बहुत झिंझोड़ा, तेरी रातों की नीदें छीन लीं, दिन का सुख छीन लिया, तुझे हम ने बहुत सताया। अब तो क़यामत तक आराम से सो। बाह्य रूप से समाधि की रक्षा और देख-भाल सरकार के कारिन्दे करेंगे। आत्मिक सीमाओं की रक्षा रहमत के फ़रिश्ते कर रहे होंगे।

अब न कोई अशिष्ट हाथ तेरे दामन की ओर बढ़ेगा और न कोई धृष्ट स्वर तेरे कानों तक पहुँच सकेगा।

मियाँ

सईदा ख़ुर्शीद आलम

घर में हम सब उन को मियाँ कहा करते हैं । मियाँ की प्रारंभिक शिक्षा घर पर हुई । मियाँ की माँ बहुत समझदार और नेकदिल औरत थीं । उनकी दान और सहानुभूति की चर्चा अब भी क़ायमगंज की बड़ी-बूढ़ियाँ, जिन्होंने उन्हें देखा है, करती हैं । मियाँ भी प्राय: उनकी चर्चा बड़ी मुहब्बत से करते थे और उनके मरने की घटना का हाल सुनाते समय उनका दिल भर आता था और आँखों में आँसू आ जाते थे । वह अपने बच्चों से बेहद प्रेम करती थीं । उनके सात लड़के थे । कोई उनसे संख्या पूछता तो प्राय: टाल जातीं कि कहीं इन हीरों को नज़र न लग जाए । उनके जीवन में केवल एक बच्चे की मृत्यु हुई थी, जिस की आयु छ: वर्ष थी । ये घटना उनके लिए बहुत घातक थी । ये भी उन पर ख़ुदा की कृपा थी कि एक के बाद एक तीन हट्टे-कट्टे जवानों को और अपने दिल के टुकड़ों को अपनी आँख से मिट्टी में मिलते नहीं देखा ।

वह हमेशा लोगों को देती रहती थीं । कोई भिखारी उनके दर से ख़ाली हाथ न जाता और देना भी ऐसा होता कि इस हाथ से दिया और उस हाथ को ख़बर न हुई । जिससे मिलतीं बड़ा आदर-सत्कार करतीं चाहे वह किसी भी हैसियत का आदमी हो । नौकरों तक से बराबर का सुलूक करतीं, उनके आराम का ध्यान रखतीं । बर्ज़ुगों का आदर और मान तो उनकी घुट्टी में पड़ा हुआ था । रख-रखाव ऐसा कि अपने पराये सब ख़ुश और उनका दम भरते थे । इन विशेषताओं के साथ उन्होंने अपने बच्चों की जैसी शिक्षा-दीक्षा की होगी उसका अनुमान लगाना कठिन नहीं । उनकी मुहब्बत नादान औरतों की तरह अंधी न थी । वह अपने बच्चों के भविष्य के प्रति सावधान थीं । वह जानती थीं कि क़ायमगंज में उनकी शिक्षा का अच्छा प्रबंध होना कठिन है, इसलिए उन्होंने अपनी आँखों के तारों को नज़रों से दूर भेजना स्वीकार कर लिया और उन पर जब प्लेग का आक्रमण हुआ तो बच्चों की परेशानी और उनकी शिक्षा में रूकावट के ख़्याल से अपनी बीमारी की सूचना तक न दी और बच्चों को अंतिम बार देखने की इच्छा अपने दिल में लिए हुए इस दुनिया से विदा हो गयीं ।

ख़ुदा ने बचपन से ही मियाँ को लेखन और भाषण पर पूर्ण अधिकार दिया था, जो बात वह कहते थे ऐसे सलीक़े और ढंग से कहते थे कि सुनने वाले के मन में उतर जाती थी ।

राज़ भवन, पटना
बैठे हुए : विजय लक्ष्मी पंडित, राबेआ (नातन), जवाहरलाल नेहरू
ज़ाकिर हुसैन, इंदिरा गाँधी
खड़ी हुई : अंजुम (नातन)

लाल बहादुर शास्त्री के साथ
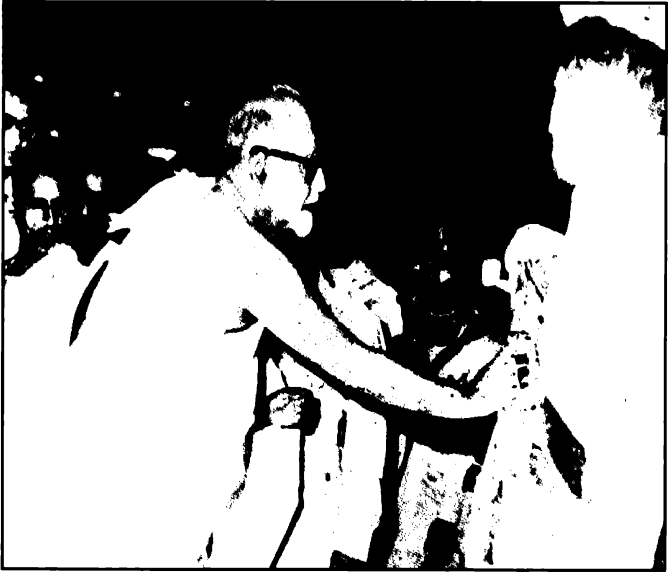
मक्का में हज़्ज की अदायगी के समय एहराम में

हज़रत निज़ामुद्दीन में ख़्वाजा हसन सानी निज़ामी, मुस्तहसन फ़ारुकी,
शौकत अली फ़हमी और हाफ़िज इब्राहीम
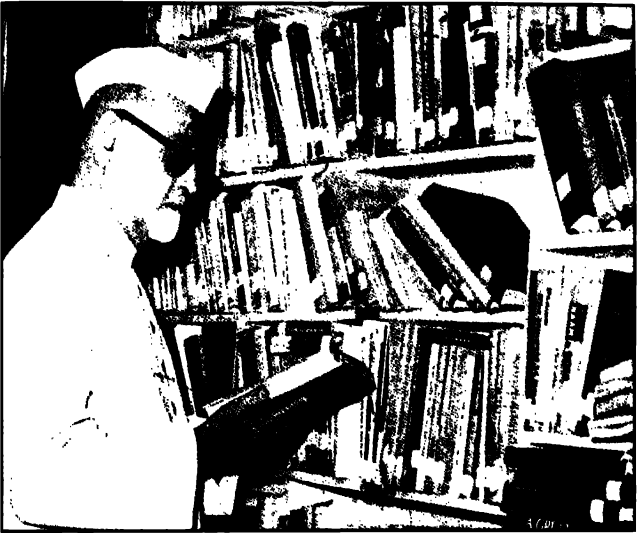
अध्ययन कक्ष में

इंदिरा गाँधी, राजीव गाँधी, सोनिया गाँधी और वी.वी. गिरी के साथ
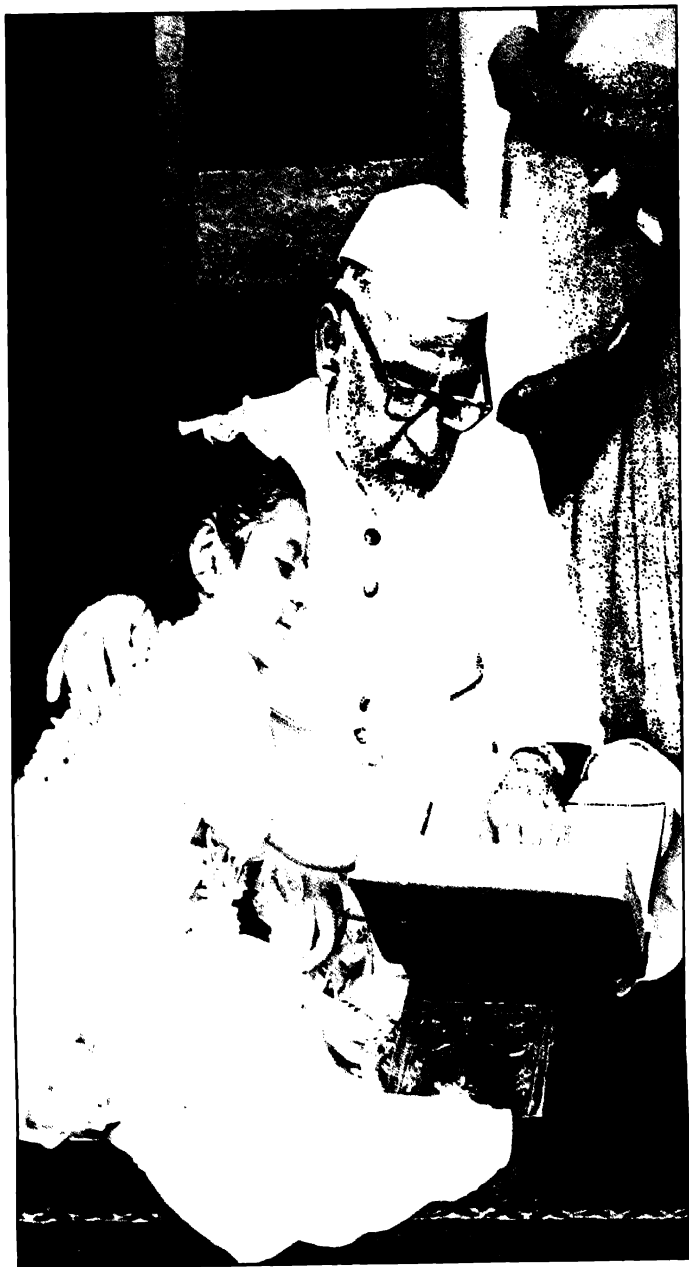
नातन राबेआ को कुरान पढ़ाते हुए

सईदा खुर्शीद और बेगम ज़ाकिर हुसैन के साथ
नातन हुमा को गोद लिये हुए

अपने प्यारे नाती, नातनों नीलोफर, सलमान, आसिया और अंजुम के साथ

दीर्घकालीन मित्र सालेहा आबिद हुसैन के साथ
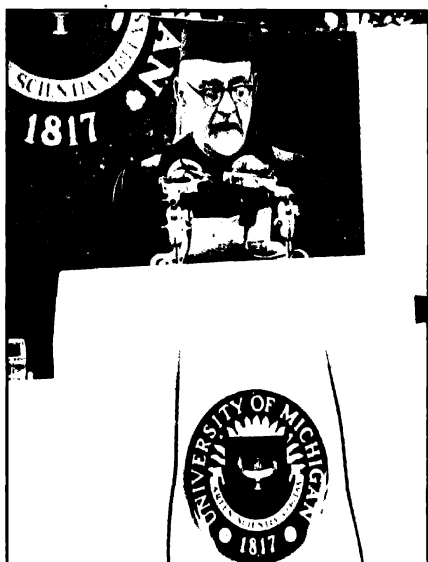
मिशीगन यूनिवर्सिटी में भाषण देते हुए

भारत के राष्ट्रपति डॉ. राधा कृष्णण, 'भारत रत्न' का पुरस्कार देते हुए

जामिया मिल्लिया इस्लामिया में स्थित समाधि

उस समय तुर्की और इटली में युद्ध हो रहा था। सामान्यत: भारत के मुसलमानों में तुर्की के प्रति सहानुभूति का बहुत जोश था। मियाँ भी उसमें बहुत आगे रहे। उनके आह्वान पर लोगों ने माँस खाना बंद कर दिया था ताकि जो रुपये बचें उससे तुर्कों की सहायता की जाए। वे जगह-जगह भाषण भी देते थे और चंदा जमा करते थे। उनका ऐसा ही एक भाषण उनकी शादी का कारण बना। उस ज़माने में चंदा इकट्ठा करने के लिए क़ायमगंज में भी एक भाषण दिया जिसमें हमारी माँ के दादा भी उपस्थित थे। उन पर भाषण का बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपना बटुआ मियाँ की टोपी में उलट दिया, साथ ही यह भी दिल में तय किया कि अपनी लाडली पोती का विवाह इसी लड़के से करेंगे। उनकी माँ का देहांत हो चुका था। दादा की वह इकलौती पोती थीं। वह उनकी आँखों का तारा थीं। वह उन्हें प्यार में 'पुतली' कहा करते थे। वैसे हमारी माँ का नाम शाहजहाँ बेगम है। मियाँ माँ के दादा के सगे भाई के नाती थे। उन्होंने मियाँ की माँ अर्थात् अपनी भतीजी को बुलाया और कहा मैं ज़ाकिर से अपनी पोती का विवाह करना चाहता हूँ। हमारी दादी अर्थात् मियाँ की माँ यह प्रस्ताव सुन कर बहुत ख़ुश हुईं। लेकिन दोनों के भाग्य में यह खुशी देखनी नहीं लिखी थी।

सन् 1915 में मियाँ इटावा से हाई स्कूल की परीक्षा पास करके अलीगढ़ में शिक्षा पा रहे थे। उस समय उनके भाई ने उनका विवाह कर दिया। हमारी माँ की गिनती कोमल और सुंदरतम लड़कियों में होती। अपनी इस उम्र में भी उनका सौंदर्य बना हुआ है। बल्कि बुढ़ापे ने उनके मुख पर पवित्रता और तेज को बढ़ा दिया है। वह बहुत ही भोली-भाली और नि:स्वार्थ हैं। सत्तर साल की आयु हो चुकी है। इतनी आयु के बाद भी शर्मोहया (लज्जाशीलता) की मूर्ति हैं। उन्होंने दुनिया की चमक-दमक, पद और उपाधि को बड़ी तटस्थता से देखा है और अपने को हर चीज़ से इस प्रकार अलग रखा जैसे यह सब चीज़ें बस देखने के लिए हैं, अपनाने के लिए नहीं। उन्होंने अपना सारा जीवन अपने पति और बच्चों की सेवा और घर की देख-भाल में बिताया। अपने पति की खुशी को अपनी खुशी जाना और उन्हें कभी घर की ज़िम्मेदारियों की चिंता में लीन न होने दिया। कम आय में भी घर को बड़े सुघड़पन से चलाया।

मियाँ को दावतें करने और दोस्तों को खिलाने-पिलाने का बड़ा शौक़ था। अम्मा के हाथ का खाना उन्हें बहुत पसंद था। वह दोस्तों को अच्छे से अच्छा खाना खिलाना चाहते थे इसलिए हमेशा दावतों में अम्मा स्वयं अपने हाथों से पकाती थीं और कभी-कभी पचास-पचास आदमियों का खाना अकेले पकातीं। प्राय: मियाँ दावत दे आते और घर में कहना भूल जाते और अम्मा उनकी इस भूल को इतनी ख़ूबी से निभातीं कि किसी को अंदाज़ा न हो पाता कि प्रबंध इतनी जल्दी में हुआ है। इधर कुछ दिनों से अम्मा का स्वास्थ ख़राब रहने लगा जिसके कारण यह अधिक समय इस ओर न दे सकती थीं। मियाँ कभी-कभी खाना खाते समय उनके सामने मुस्कुरा कर कहते कि हमारे यहाँ भी खाना

बहुत अच्छा पका करता था, जब हमारी बीबी ज़िन्दादिल थीं। यह अम्मा के हाथ के पके खाने की सौंदर्यपूर्ण मांग थी। दूसरे ही दिन रसोई घर में पाई जातीं।

अम्मा का अपना रंग इतना दृढ़ रहा कि दुनिया का कोई रंग उन पर न चढ़ सका। जामिया के जीवन से लेकर राष्ट्रपति भवन तक उन्हें हमने एक ही रंग में पाया। उनके रहन-सहन और स्वभाव में ज़रा भी अंतर नहीं आया। वह आज भी उतनी ही भोली और सादा है। उन्हें ख़ुदा ने बड़ा नर्म दिल दिया है। आदमी तो आदमी वह जानवर की तकलीफ़ भी नहीं देख सकतीं। मुझे वह ज़माना याद है जब उनकी चहेती बकरी एक अंधे कुएं में गिर गयी थी। उसके छोटे-छोटे बच्चों को वह अपने हाथ से दूध पिलाती थीं और उनके अनाथ होने पर आंसू बहाती जाती थीं। हम लोग छोटे-छोटे थे, हंसा करते थे। बकरी को ढूंढने चारों तरफ़ आदमी दौड़ रहे थे। आख़िर में कुएं के पास से कोई गुज़रा तो बकरी की मैं-मैं सुनाई दी, झांका तो बकरी मौजूद। झटपट निकाला गया। उस वक़्त अम्मा की ख़ुशी देखने की थी। इस तरह राष्ट्रपति भवन की एक घटना है। राष्ट्रपति भवन के बाहर के बरामदों में जंगली कबूतर बहुत ज़्यादा घोंसले बना लेते। जब यह बहुत बढ़ जाते हैं और इनकी वजह से गंदगी होने लगती है तो प्रायः उन्हें बंदूक से मार दिया जाता है और कुछ दिन के लिए उनमें कमी हो जाती है। वहाँ अम्मा के ज़माने में भी एक बार यही सब हुआ। बंदूक़ की आवाज़ आने लगी तो उन्होंने पूछा कि यह बंदूक़ क्यों चल रही है ? नौकरों ने बताया कि कबूतर मारे जा रहे हैं। यह सुनकर उनके दिल पर इतना असर हुआ कि उनकी तबीयत खराब होने लगी। वह चाहतीं तो आज्ञा देकर मना करा सकती थीं किंतु उस समय भी उन्होंने बड़े सहज ढंग से कहला भेजा। जब कबूतरों को मारना हो तो मुझे बता दिया जाया करे, मैं ओखले चली जाऊंगी, आंखों के सामने यह सितम (अत्याचार) मुझ से नहीं देखा जाता। उनका यह संदेश पहुंचते ही कबूतर मारना बंद कर दिया गया और जब तक वह राष्ट्रपति भवन में रहीं यह दोबारा नहीं हुआ।

प्रतिभा और शिक्षा की दृष्टि से अम्मा का मियाँ से कोई मुक़ाबला न था, लेकिन उनके स्नेह, प्रेम और त्यागमयी सेवा ने मियाँ को जो कुछ दिया वह कोई और औरत नहीं दे सकती थी, मियाँ भी इस बात को ख़ूब समझते थे। वह प्रायः हम लोगों से उनकी तारीफ़ करते और कहते कि तुम्हारी मां तो वलीअल्लाह (महात्मा) हैं। अम्मा का बर्ताव अपने नौकरों से हमेशा बराबरी का रहा, वह नौकरों के आराम का बहुत ध्यान रखती हैं, उनकी परेशानियों में बराबर की भागीदार बन जाती हैं और चाहती हैं उन पर कम से कम काम का बोझ पड़े। मुझे याद है ओखले में हमारे यहां एक नौकरानी थी जिसे हम सब बुआ कहा करते थे। उनकी शान यह थी कि आठ बजे से पहले सो कर नहीं उठती थीं।

अम्मा हमेशा से सुबह बहुत सवेरे उठती हैं और सुबह उठकर अंगीठी जलाकर नाश्ते का सामान तैयार कर देती थीं। उस वक्त बुआ उठतीं और पहले ख़ुद चाय पीतीं, जो लगभग तैयार होती थी, उसके बाद कोई दूसरा काम करती थीं।

अम्मा का स्वभाव बहुत निर्लिप्त और उदासीन है । उन्हें बहुत कम किसी चीज़ की इच्छा होती इसीलिए वह मियाँ से बहुत कम फ़रमाइश करती थीं, किंतु यदि मियाँ को मालूम हो जाए कि उन्हें अमुक चीज पसंद है तो वह किसी न किसी तरह ज़रूर मंगवा देते थे । हमारी अम्मा को जानवर पालने का बहुत शौक़ रहा है । बिल्ली, तोते, मैना, गाय, बकरी हमेशा उन्होंने पाली हैं । मियाँ को यह मालूम था । वह उनका यह शौक़ पूरा करने की कोशिश करते और उनके लिए अच्छी नस्ल के जानवर मंगवा कर देते । मृत्यु से एक सप्ताह पहले अंतिम भेंट जो उन्होंने अम्मा को दी थी वह आसाम की बोलती हुई मैना थी जो दुर्भाग्य से उनके स्वर्गवास के आठ दिन बाद ख़ुद भी चल बसी ।

अम्मा हमेशा पर्दे में रहीं । मियाँ ने कभी उन्हें बाहर निकलने पर मजबूर नहीं किया । कभी-कभी लोग कहते थे कि बेगम साहब को बाहर आना चाहिए तो वह हंस कर जवाब देते कि मैं व्यक्ति की आज़ादी में यक़ीन रखता हूं और किसी पर अपनी आज्ञा नहीं लादता।

दिल्ली आने पर मियाँ की व्यस्तता बहुत बढ़ गयी । घर वालों के साथ निश्चितं हो कर बैठने का अवसर उन्हें अधिकतर भोजन के समय ही मिलता । वह खाना खाते जाते और लतीफ़े सुनाते जाते । उनके लिए कोई विशेष चीज़ पकी हो या पर्हेज़ी खाना हो वह अपने हाथ से सब को बाँट देते और स्वयं वही खाना जो सबके लिए पका हो खाते । आमों के ज़माने में आम भी स्वयं तराश-तराश कर सबको खिलाते । आम उन्हें बहुत पसंद था । आमों की क़िस्मों, उनके बोने और तोड़ने के तरीक़ों, बाग़ की देख-भाल पर जिस समय बात-चीत शुरू करते तो मालूम होता सारा जीवन इसी काम में बिताया है । आम खाते समय प्राय: ये शेर पढ़ा करते:

आबर्गी के बहुक्म-रब्बुन्नास
भर के भेजे हैं सर बमुहर ग्लास

मियाँ की बात-चीत का तरीक़ा अत्यन्त सुलझा हुआ होता । वह बड़ी सरलता से अपनी बात दूसरों को समझा देते और अपना सहमत बना लेते । उनकी बातों में ऐसा जादू था कि ऐसे लोग भी जिन्हें उनके विचार से सहमति न होती, एक बार उनसे बात करने के बाद अपनी राय बदलने पर मजबूर हो जाते ।

वह न ज़्यादा ज़ोर से हंसते न ज़्यादा ज़ोर से बोलते । मैंने कभी उन्हें क़हक़हा मारकर हंसते नहीं देखा । नौकरों से बहुत नर्मी से बात करते और नाम के साथ मियाँ या साहिब ज़रूर लगाते ।

अपने कर्मों पर उनकी नज़र गहरी थी, परन्तु दूसरों की बड़ी से बड़ी भूल को क्षमा कर देते । कई घटनाएँ तो ऐसी हैं जिनमें उन्होंने लोगों की बड़ी-बड़ी ग़लतियों पर पर्दे डाल दिए हैं बल्कि दूसरों की ग़लती को अपने ऊपर ओढ़ लिया है । यहाँ तक कि उनके चाहने वाले भी उनसे बदगुमान हो गए हैं लेकिन उन्होंने ये मार्ग नहीं छोड़ा ।

मियाँ के व्यक्तित्व का एक बड़ा पहलू यह था कि वह पक्षपाती नहीं थे । हम ने कभी उन्हें किसी धर्म या किसी दल को बुरा कहते नहीं सुना । उनके मन में किसी भेद-भाव की गुंजाइश नहीं थी । इसी बारे में अपने मुर्शिद हसन शाह साहिब का एक वाक़िया सुनाते हैं । हसन शाह पठान थे । एक दिन क्रोध में किसी हिन्दू को कुछ ग़लत बात कह गए । उनके पीर को मालूम हुआ तो कहने लगे हसन शाह सूफ़ियों के लिए ये सुशोभित नहीं । तुम्हारे मन को अभी पवित्रता की आवश्यकता है । इसमें अभी मैल है और वह दूर इसी प्रकार होगा कि दंड के रूप में तुम कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक पैदल यात्रा करो इस हालत में कि सर पर चोटी हो और माथे पर तिलक, ताकि इस हालत में तुम्हें अधिक से अधिक लोग देख लें और हसन शाह ने अपने दिल को पाक करने के लिए ऐसा ही किया ।

मियाँ सुन्दरता के प्रेमी हैं । फूल, पत्थर, कला, जीवन हर चीज़ में इसे तलाश करते रहे। बदनुमाई और बिगाड़ को उनके दिल ने कभी स्वीकार नहीं किया । आज कल फूल, पत्थर और मॉर्डन (नए) आर्ट के चित्रों को इकट्ठा करना उनकी हॉबी है । इन सब चीज़ों से वह बहुत अभिरूचि रखते थे । हमेशा बेह्तर से बेह्तर की तलाश में रहे । क़ीमती और अप्राप्य पत्थरों का एक बहुत बड़ा ढेर उनके पास है । पत्थरों के बारे में एक बार कहने लगे, "मुझे फूल बहुत प्रिय हैं । परन्तु पत्थर उनसे भी अधिक, कि पत्थर निराश नहीं करते फिर हंस कर कहने लगे और अगर ज़रूरत पड़ जाये तो मारने के काम भी आ जाते हैं ।

लिबास के बारे में वह हमेशा बहुत सचेत रहते थे । तंगी के ज़माने में भी हमेशा इस चीज़ का ख़्याल रखा । उनका लिबास हमेशा खद्दर का रहा । परन्तु स्वच्छ और सुन्दर। ये कभी नहीं देखा गया कि उनकी अचकन में कहीं झोल हो या टोपी छोटी-बड़ी हो ।

खाने-पीने का भी यही हाल था । वह एक तरफ़ तो बुरे-से बुरा खाना खा सकते हैं और दूसरी तरफ़ चाहते हैं कि खाना अच्छे से अच्छा पकाया जाए केवल मुँह के मज़े के लिए नहीं बल्कि पकाने वाले के आर्ट के कमाल के लिए भी । स्वयं अच्छा खाना खा कर इतना आनंद अनुभव नहीं करते जितना दूसरों को खिला कर करते ।

बुरा खाना खा लेने की कई घटनाएँ हैं जिनमें एक इटावा की घटना है जब वह शिक्षा प्राप्त कर रहे थे । स्कूल के मैनेजर जनाब बशीरूद्दीन साहिब ने मियाँ और उनके कुछ साथियों के खाने में एक-एक ग्लास पानी मिलाकर खाने को दिया । सब साथी एक-एक नवाला ले कर उठ गए लेकिन उन्होंने निश्चितं हो कर पूरा खाना खाया और इस प्रकार उठ गए जैसे बहुत मज़ेदार खाना खाया हो ।

बशीरूद्दीन साहिब ये सब तमाशा देख रहे थे । बुला कर बड़े प्रेम से हाथ फेरा और कहा, "मैंने केवल तुम लोगों को आज़माने के लिए जान-बूझ कर खाने में पानी मिलाया था । मैं देखना चाहता था कि तुम में से कौन ज़बान के स्वाद को त्याग सकता है । मेरा

विचार था कि तुम ही सफल होगे। मुझे प्रसन्नता है कि मेरा विचार सही निकला।"

बिहार की गवर्नरी के समय की एक रूचिकर घटना है। एक जगह खाने पर गए। बहुत बड़ी दावत थी। सेक्रटरी साहिब ने मेज़बान को निर्देश दिया था कि पर्हेज़ का ध्यान रखा जाए। इसलिए कि गवर्नर साहिब को डाइबिटीज़ की शिकायत है, मीठा नहीं खा सकते। सैक्रीन प्रयोग करते हैं। मेज़बान साहिब ने बड़ी मुहब्बत से सैक्रीन का मीठा बनवाया। परन्तु बनाने वाले ने सैक्रीन की मात्रा भी शायद शक्कर के बराबर डाल दी जिससे वह कड़वा हो गया। खाने के बाद मीठा आया। मुँह में दिया तो बेहद कड़वा। बड़ी मुश्किल से किसी प्रकार ख़त्म किया। मेज़बान का ज़ोर कि और लीजिए। मेज़बान का दिल कैसे तोड़ते और लिया और उसी चाहत से खाया। घर आ कर सारा क़िस्सा मज़े ले-लेकर सुनाया। हम लोगों ने कहा, आप ने छोड़ दिया होता। कहने लगे, भाई, मेज़बान बेचारे ने मुहब्बत से तैयार कराया था। कितनी शर्मिन्दगी उठानी पड़ती। लेकिन ये ज़रूर है कि तुम लोग खाना पका कर जरूर चख लिया करो। उनको बच्चों से बहुत दिलचस्पी थी। इसलिए फिर भी कुछ न कुछ समय मिलने-जुलने का निकाल लेते थे।

मेरे बच्चों से उन्हें बहुत प्यार था। जब तक वह दिन में दो-चार बार उनके पास न जाएं वह बेचैन हो जाते थे। प्राय: ऐसा हुआ है कि मैंने अपने बच्चों को डांटा है कि उनके विशेष कक्ष में न जाएं ताकि विश्राम में बाधा न पड़े। यह बात उन्हें बच्चों से मालूम हो गयी तो वह मुझ पर नाराज़ हुए- "ये मेरे सुख का कारण हैं इन्हें रोको मत। तुम्हें ज्ञात नहीं कि हमारे रसूल (मोहम्मद साहब) के नवासे सजदे में उनके कंधों पर बैठ जाते थे तो आप सिर्फ़ इसलिए सजदे से न उठते कि बच्चों को कंधों से हटना पड़ेगा। ज़रा सोचो तो बच्चे न आएं तो मुझे कितनी निराशा होगी। मैं और मेरी बहन मजबूर हो जाते और चुप साध लेते। बच्चे कमरे में ऊधम मचाते और वह उसी हालत में बहुत इत्मिनान के साथ अपने अध्ययन में लीन रहते। उनको न केवल हमारे बच्चों से दिलचस्पी थी बल्कि कोठी के किसी कर्मचारी, माली या चौकीदार के बच्चे या बच्ची की बीमारी का सुनते तो बेचैन हो जाते और जब तक स्वयं जाकर मरीज़ बच्चे को न देख लेते और यह तसल्ली न कर लेते कि दवा और भोजन का उचित प्रबन्ध हो गया है तब तक संतुष्ट न होते। प्राय: कहा करते कि मैं उस रोज़ समझूंगा कि हमारा देश आज़ाद और खुशहाल है जब हर बच्चा स्कूल जा सके, उसके पास साफ़-सुथरे कपड़े हों, पैर में जूते हों और वह खुराक मिल सके जो एक बच्चे के लिए ज़रूरी है।"

मेरे बच्चे अपनी छोटी-छोटी समस्याएँ जिन्हें घर में कोई दूसरा ध्यान योग्य नहीं समझता, उनके पास ले कर जाते और हमेशा निश्चिंत और प्रसन्न हो कर लौटते। वह उनके लिए हिसाब के प्रश्न भी हल करते और अंग्रेज़ी नज़्म की बारीकियाँ भी समझाते। बच्चे भी उनसे बहुत हिले हुए थे। विशेष रूप से मेरी बड़ी लड़की रेहाना को तो उनसे बेहद प्रेम था। एक बार जब वह आठ-नौ वर्ष की थी कहने लगी, "अम्मी जब मैं सोचती हूँ कि अल्लाह मियाँ कैसे होंगे तो मुझे लगता है वह बिल्कुल मियाँ जैसे होंगे।"

ज़ाकिर साहिब एक शिष्य की दृष्टि में

उबैदुलहक़

संसार में हर चीज़ की क़िस्में होती हैं, फूलों की, वृक्षों की, मनुष्यों की, उसी प्रकार शिक्षकों की भी क़िस्में होती हैं। एक स्कूल के इंस्पेक्टर साहिब ने एक लड़के से पूछा: "दीवाने ग़ालिब किस ने लिखा है ?" लड़के ने डर कर कहा, "सच कहता हूँ, मैंने नहीं लिखा।" उसके उस्ताद ने इंस्पेक्टर को समझाते हुए कहा, "दीवाने ग़ालिब इसी ने लिखा होगा। इस समय स्वीकार नहीं कर रहा है। मान जाएगा।"

शिक्षकों की एक क़िस्म वो है जिन को एक बूढ़ा जो चालीस वर्ष तक नहीं भूल सका। एक शिक्षक को किसी अपराध के सिलसिले में न्यायलय लाया गया तो जज को अपना चालीस वर्ष स्कूल का समय याद आ गया, उसने आदेश दिया, "पहले इसको बेंच पर खड़ा करो और मुर्ग़ा बनाओ।"

परन्तु ऐसे भी शिक्षक होते हैं जो सदा के लिए जीवन पर अपना चिह्न छोड़ जाते हैं और ऐसी बातें सिखा देते हैं जिन को न केवल हम आप याद रखते हैं बल्कि ये बातें अपनी संतान के लिए भी छोड़ जाते हैं। सौभाग्यवश जामिया में ऐसे शिक्षकों की कभी कमी न रही।

हमने नमाज़ें न पढ़ने पर अपने ईसाई शिक्षक कैलॉट साहिब की मार खाई है और कड़कड़ाती सर्दियों में अपने घर से होस्टल तक आ कर उन्हें फ़जर की नमाज़ के लिए जगाते देखा है। धर्म को क़ुरआन व हदीस में बंद रखने और नमाज़ व रोज़े तक सीमित रखने पर मौलाना असलम जैराजपूरी की कड़ी आलोचना सुनी है। भारतीय संस्कृति की बहुत सी बातों को उचित रूप से न बरतने पर अपनी जर्मन आपा मिस गर्दा फ़िल्पिसबार्ने के उपदेश सुने हैं, और फिर डॉक्टर आबिद हुसैन साहिब की कक्षा में आदर-सम्मान के बावजूद अपनी नासमझी के कारण हँसे हैं और बाद में, शर्मिन्दा भी हुए हैं। परन्तु जिनके मानसिक सुझाव का उदाहरण मिलना कठिन है। मुझे याद है कि जामिया का एक विद्यार्थी ओखले की नहर में डूब कर मर गया था। हम सब लोग आबिद साहिब के पास पहुँचे, एक साथ बोले, "पानी ख़तरनाक चीज़ है। लड़कों का नहर में तैरना बंद कर देना चाहिए।"

फिर हम मुजीब साहिब के साथ रहे हैं जो सिगार का धूँआ तक होंठों के कोने से निकालते हैं कि सामने वाले को कष्ट न हो, जो चोर को चोर कहना तक पसंद नहीं करते। सत्य तो ये है कि मेरे जीवन की कुछ धुंधली रूप रेखाओं में जो सुदृढ़ रंग उत्पन्न हुए है ये सब उन्हीं की कृपा का परिणाम है ।

जामिया के इन असाधारण योग्यता रखने वाले शिक्षकों की सूची में सब से पहले जो नाम आता है वो ज़ाकिर साहिब का है जिन की शिक्षाएँ दिये से दिया जलाती हैं, और लोगों को जीवन से संघर्ष करने का ढंग सिखाती हैं ।

ज़ाकिर साहिब़ से मेरा पहला परिचय उस समय हुआ जब मैं दूसरी कक्षा में पढ़ता था और क़रौलबाग में जामिया के हॉस्टल 'ख़ाकसार मंज़िल' में रहता था । अख़्तर हुसैन साहिब फ़ारूक़ी को जिन को मैं चचा कहता था और मेरे पिता इर्शादुलहक़ साहिब हमारी बोर्डिंग में लाए । उन के साथ एक मेम साहिब भी थीं । हम सब को जमा कर के मौलाना साहिब ने बताया कि ये तुम्हारी आपा जान हैं जो जर्मनी से आई हैं, तुम्हारे साथ रहेंगी और तुम सब की देख-भाल करेंगी । हम बहुत ख़ुश हुए मगर खद्दर की टोपी, शेरवानी और पायजामे में उन मौलाना साहिब को न पहचान पाए । उन के जाने के बाद अख़्तर साहिब ने बताया कि ये ज़ाकिर साहिब थे हमारे शेख़ुलजामिया (कुलपति) ।

शेख़ुलजामिया का शब्द मेरे लिए उतना ही कठिन था जितना तहतानिया या वुस्तानिया यानि प्राइमरी स्कूल या हाई स्कूल, धीरे-धीरे इन सब शब्दों से परिचित हो गया । और शेख़ुलजामिया से ज़्यादा ज़ाकिर साहिब से, इसलिए कि वो अक्सर हमारे हॉस्टल आते और हमारी जर्मन आपा जान उन्हें ज़ाकिर साहिब ही कह कर संबोधित करती थीं ।

एक दिन ज़ाकिर साहिब ने हम से कहा सिखाओ, आपा जान को तुम लोग अच्छी उर्दू बोलना सिखाओ, और तुम उन से अंग्रेज़ी सीखो और जर्मन भी । आगे चल कर उन के उपदेश अब भी याद हैं कि अधिक से अधिक भाषाएँ सीखो, कुछ नहीं तो उन से परिचित अवश्य हो जाओ । न सीखने से वंचित रह जाओगे और अनुभव भी न होगा, और सीखने से ज्ञान के द्वार खुलते हैं ।

आपा जान के साथ रहने के कारण ये लाभ हुआ कि कुछ अंग्रेज़ी आ गई और जर्मन शब्द भी सीख लिये थे । एक दिन सुबह-सुबह नाश्ते के समय ज़ाकिर साहिब आ गए और उन के साथ आपा जान भी थीं । हम ने "गुइन मार्गिन" कहकर उनका स्वागत किया फिर हम ने उन से पूछा, "वालन ज़ी म्लश हाबन ?" यानि क्या आप दूध पियेंगी ? आपा जान ने उर्दू में कहा, "नहीं शुक्रिया" हमारी ज़बान से जर्मन और आपा जान से उर्दू सुन कर ज़किर साहिब को आश्चर्य भी हुआ और बहुत प्रसन्नता भी हुई । वो हर अच्छे परिवर्तन पर प्रसन्न होते । सच तो ये है कि समय के हर छोटे-बड़े अच्छे परिवर्तन में ज़ाकिर साहिब का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में हाथ ज़रूर होता ।

सातवीं कक्षा में ज़ाकिर साहिब का शिष्य बननें का अवसर प्राप्त हुआ । अंग्रेज़ी बोल-

चाल के प्राथमिक नियम सब से पहले उन्हीं से सीखे। नेसफ़ील्ड की ग्रामर और पार्ज़िंग करते-करते मन उकता चुका था कि एक दिन क्लास में ज़ाकिर साहिब पधारे और पुस्तक पढ़ाने के बजाय अंग्रेज़ी में बातें शुरू कर दीं। नाम पूछे, मिज़ाज पूछा, घर के बारे में पूछ-ताछ की और हमारे प्रिय कार्य मालूम किए। वो पहला दिन था जब हमें मालूम हुआ कि "How do you do ?" कब कहते हैं और उसका उचित उत्तर Fine, thank you. नहीं बल्कि How do you do ? ही है। उस दिन उन्होंने हम को बहुत से जर्मन और अंग्रेज़ी चुटकुले सुनाए। चुटकुले सुनाने का उन्हें बहुत शौक़ है। क्लास का वो दिन हमारे लिए इतना अच्छा था कि जिस का आनंद मैं आज तक नहीं भूला।

कॉलिज में भी ज़ाकिर साहिब के पढ़ाने का यही ढंग था। कठिन शब्दों से सदैव बचते और अपनी बात को इस प्रकार समझाते जैसे उस समय हम हाई स्कूल में पढ़ते हों। "मेरी योग्यता और मेरा ज्ञान अर्थहीन है, यदि उसको आप तक न पहुँचा सकूँ। मेरी सफलता तो इसमें है कि आप मेरी बात को भली प्रकार समझ जायें।" विद्यार्थियों को भी यही निर्देश देते कि परीक्षा में उत्तर देते समय वो अपनी बात को इस प्रकार समझायें जैसे परीक्षा लेने वाला बिल्कुल अनपढ़ है या वो एक बच्चा है जिस की समझ कम है।

फ़र्स्ट इयर (प्रथम वर्ष) में "अर्थशास्त्र क्या है ?" के शीर्षक से हमें एक लेख लिखने के लिए दिया गया। क्लास में कई सप्ताह पढ़ने के बाद भी भली प्रकार समझ में न आया था। किसी प्रकार लेख लिख कर ले गया परन्तु संयोगवश उस दिन हमारे शिक्षक बीमार पड़ गए और उन के स्थान पर ज़ाकिर साहिब स्वंय पधारे। यथापूर्वत इधर-उधर की बातें करने के पश्चात् पूछा "अर्थशास्त्र के विषय में रूचि है ?" सब चुप थे मैंने कह दिया "जी हाँ मुझे रूचि है।" लेख तो तैयार कर लिया ? "जी हाँ"। तो फिर बिस्मिल्लाह सुनाइये। मुझे हिचकिचाहट हो रही थी परन्तु उन के आदेश से पढ़ना शुरू कर दिया। दो पन्ना सुनने के बाद जब वह अपना धैर्य खो बैठे तो बोल उठे: "लेख का प्रारंभ तो बहुत अच्छा है। ज़बान भी बहुत अच्छी है, किन-किन पुस्तकों से फ़ायदा उठाया ?" मैं इसका उत्तर क्या देता। काटो तो मेरे जिस्म में लहू नहीं (काटो तो शरीर में रक्त नहीं) मेरी परेशानी देख कर ख़ुद ही कहने लगे: "आप ने तो एक ही पुस्तक पढ़ कर इस विषय को इतना समझ लिया और इस पुस्तक के लेखक ने तो अनगिनत पुस्तकें पढ़ डालीं जब भी वह जाहिल है।" मैं बेहद लज्जित हुआ। इसलिये कि जिस पुस्तक की भूमिका को नक़्ल कर के ले गया था उसके लेखक स्वंय ज़ाकिर साहिब ही थे।

दूसरे दिन वह क्लास में नहीं आए, मगर वार्षिक परीक्षा से दो महीने पूर्व वह हमें अर्थशास्त्र अवश्य पढ़ाते, उनका दफ़्तर ही हमारी कक्षा थी। वहीं बुला लेते और फ़र्श पर बैठे-बैठे पढ़ाते। अन्य विषयों के समान अर्थशास्त्र भी एक अनिवार्य विषय था। यदि ऐच्छिक होता तो इस ओर ध्यान न देता परन्तु ज़ाकिर साहिब ने इसमें ऐसी रूचि पैदा कर दी कि परीक्षा में अच्छे नम्बरों से सफल हो गया, शुष्क और कठिन विषय को रूचिकर

और सरल ढंग से पढ़ा देना ज़ाकिर साहिब की बहुत बड़ी कला थी ।

हम अपने अध्यापकों का बहुत आदर करते थे, चाहें वह कालिज के हों या प्राथमिक विद्यालय के । अध्यापकों से अशिष्टता या उद्दंडता की हम कल्पना भी नहीं कर सकते थे। हाँ कभी-कभी झूठ अवश्य बोल लेते थे । ज़ाकिर साहिब को इस से घृणा थी । उन को इससे दुखः होता था कि वह अपना क़ीमती समय दे कर कक्षा में आयें और हम में से कोई अनुपस्थित हो । हमारे एक पठान मित्र चार दिन के पश्चात कक्षा में आए तो ज़ाकिर साहब ने अनुपस्थित रहने का कारण पूछा, मालूम हुआ कि वह सख़्त बुख़ार में थे । "तो आप ने किसी डॉक्टर को भी दिखलाया ?"

"जी हाँ कल डॉक्टर शर्मा को दिखाने शहर गया था और उसके बाद नमाज़ पढ़ने जामा मस्जिद चला गया ।"

"तो क्या डॉक्टर शर्मा ने दही बड़े भी लिखे थे जिसे आप घंटा घर पर बैठे खा रहे थे ? और उस से फ़ायदा न हुआ तो डॉक्टर मसीता को दिखाने जामा मस्जिद चले आए और नमाज़ तो आप ने सीढ़ियों पर ही अदा कर दी थी । कितनी कुल्फ़ियाँ खायीं?" ज़ाकिर साहिब के हर प्रश्न के उत्तर में मेरे दोस्त लगातार झूठ बोले जा रहे थे । जब झूठ सहन न हुआ तो उनको क्लास से बाहर निकाल दिया । जब ज़ाकिर साहिब का क्रोध ठंडा हुआ तो बताया कि उन्होंने ख़ुद उन्हें मसीता कबाब वाले की दुकान से निकलते और जामा मस्जिद की सीढ़ियों पर क़ुलफ़ियाँ खाते देखा था ।

वह कभी-कभी कहा करते, सबसे अभागा वह है जो अपने शिक्षक का आदर न करे। झूठ बोलना भी इसी के समान है । झूठ बोल कर विद्यार्थी उस सम्बधं को कमज़ोर कर देता है जो शिक्षक और विद्यार्थी के मध्य होता है और ये आदत तो अल्लाह की बर्कतों से भी दूर कर देती है ।

"जो कार्य इस योग्य है कि किया जाये वह इस योग्य है कि उसे भली प्रकार किया जाए।" ज़ाकिर साहिब का यह कथन किस को याद नहीं । अपने साथियों से वह यह आशा रखते और विद्यार्थियों को भी यह उपदेश देते: "काम से मना कर दो यह कहीं अच्छा है इस से कि ज़िम्मेवारी ली जाए और पूरी न की जाए ।"

ज़ाकिर साहिब काम लेने के ढंग से भली प्रकार परिचित थे और इसका एक रहस्य था। वह हर एक से हर प्रकार के काम की आशा न रखते बल्कि जिस में जो योग्यता देखी उसे वैसा काम दे दिया । किसी में व्यवस्था-सम्बन्धी योग्यता है तो उसे इस कार्य का अवसर प्रदान किया । किसी में शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता है तो उसे वैसा ही कार्य सौंप दिया । इस प्रकार काम करने वाला भी प्रसन्न रहता और काम लेने वाला भी निश्चिंत रहता । और फिर उन के निकट हर काम का महत्व था । काम करने वालों में वह कोई भेद न करते यदि ऐसा करते तो वो पच्चीस वर्ष तक अपने साथ सब को लेकर कैसे चलते। एक ओर वह मतबख़ (पाकशाला) के बावर्ची और दफ़्तर के चपरासी की पीठ पर

हाथ रखते तो दूसरी ओर निरीक्षकों के प्रोत्साहन में भी कोई कमी न आने देते।

अध्यापकों और विद्यार्थियों के प्रोत्साहन के अजीब-अजीब ढंग थे। भाषण भी, लेख भी, परन्तु सबसे अधिक कर्म। जब हमारी कमियों की ओर ध्यान दिलाते तो इसका भी एक ढंग था। आवश्यकता पड़ती तो बेधड़क ऐसे काम भी कर दिखाते जिन को हम सामाजिक रूप से घटिया समझते हैं। इस प्रकार देखने वाले के मन पर ऐसा प्रभाव पड़ता कि जीवन भर भुलाए न भूलता। मुझे याद है कि एक समय जब वह सेकन्ड्री स्कूल के संरक्षक का कर्त्तव्य निभा रहे थे, एक बोर्डिंग के पाख़ानों की सफ़ाई, भंगी की बड़ी झाड़ू उठा कर स्वंय अपने हाथों से की और देखने वाले देखते रहे। उसके सुबह के तराने (गान) में जो भाषण दिया उसका विषय पाख़नों की सफ़ाई था: "यदि हम इन को साफ़ नहीं रख सकते तो हमें यह भवन छोड़ कर जंगल में बस जाना चाहिए।"

जुबली से पहले ज़ाकिर साहिब ने कुछ दिनों के लिए मुझे प्राथमिक विद्यालय का इन्स्ट्रक्टर बना दिया और पढ़ाने का काम भी सौंप दिया। एक दिन सुबह को कक्षा में जाने की तैयारी कर रहा था कि अचानक शीशा टूटने की आवाज़ आई। ऊपर से झाँक कर देखा तो ज़ाकिर साहिब हाथ में एक पत्थर लिए डाइनिंग हॉल की एक खिड़की के शीशे तोड़ रहे थे। कुछ नौकर भी इकट्ठे हो गए थे। ज़ाकिर साहिब ने आराम से रूमाल से हाथ साफ़ किया, जेब में रखकर आगे बढ़ गए। मतबरव् के निरीक्षक से केवल इतना कहा कि "यह शीशे बहुत गंदे थे, अब आप को कष्ट नहीं होगा। मैं ने उन्हें अब बिल्कुल साफ़ कर दिया है।" चीज़ों को यदि ढंग से न रखा जाए और उनकी सुरक्षा न की जा सके तो उन को प्रयोग करने का हमें कोई अधिकार नहीं।" बोर्डिंग में चारपाइयाँ टेढ़ी देखकर मिर्ज़ा मज़हर जानेजानाँ की याद दिलाते कि जब वो सड़क पर चलते हुए किसी चारपाई को टेढ़ी बिछी देखते तो उसे सीधा कर देते क्योंकि उन के निकट टेढ़ी चारपाई से व्यवहार पर बुरा प्रभाव पड़ता है। फूलों विशेषकर गुलाब से ज़ाकिर साहिब को जो अभिरूचि है वह कौन नहीं जानता। इस शौक़ को उन्हों ने अपने ही तक सीमित नहीं रखा बल्कि दूसरों में भी पैदा किया। जब पहली बार इंगलैंड से गुलाब के पौधे लाए तो जामिया में उनकी बहुत चर्चा थी। छोटे-छोटे चंबेली के फूल के समान। उसको देखने रोज़ एक चक्कर लगाते। एक दिन पूछ लिया "पसंद हैं ?" मैंने कह दिया कि "यह तो बहुत छोटे हैं।" कहा "हर वस्तु की अपनी शोभा होती है। छोटे हैं परन्तु इनकी भी अपनी सुन्दरता है जो बड़े फूलों में नहीं।" उस के बाद मेरी शेरवानी के खुले हुए बटन अपने हाथ से बंद किए और यह कहकर आगे चल दिए: "बटन केवल इस लिए होते हैं कि उन्हें लगाया जाए।"

"बी.ए. पास करने के बाद मैंने सोचा कि बम्बई जा कर आर्ट की शिक्षा प्राप्त करूँ। मुझे अपने दफ़्तर बुला कर इस इच्छा का कारण पूछा, मैंने कहा, "रुपया कमाना चाहता हूँ।" "तो फिर डाका क्यों नहीं डालते, या फिर किसी फ़िल्मी हीरोइन से शादी कर लो।

पैसा कमाने के तो और भी रास्ते हैं ।" मैं चुप रहा, मेरी परीक्षा लेने के लिए सलाह दी कि अध्यापकों के विद्यालय में प्रशिक्षण ले लूँ । परन्तु मुझे चर्ख़े और बाग़बानी से कोई रूचि न थी और माध्यमिक शिक्षा का अध्यापक बनना नहीं चाहता था । चर्ख़ें पर गाँधी जी का उदाहरण दिया और बाग़बानी पर मुजीब साहिब के शौक़ की चर्चा की कि अपने हाथ से बाग़बानी करते हैं, कितने अच्छे फूल लगाए हैं, सब्ज़ियाँ पैदा की हैं ।

अंत में मेरी इच्छा को मान गए परन्तु एक बात ज़रूर समझाई कि "कला अवश्य सीखिए परन्तु इस से दूसरों को भी लाभ पहुँचाइये । कलाकार बन जाना सरल है परन्तु यह न भूलिये कि शिक्षा के हर चरण पर कला की आवश्यकता पड़ती है ।"

"फिर जब 54 ई. में अलीगढ़ के कुलपति थे और जामिआ आए तो यह शुभ समाचार मैं ने उन्हें सुनाया कि आगे की शिक्षा के लिये अम्रीका जा रहा हूँ । कहा, "मगर भाई अब जामिया में रहकर भी कुछ काम कर डालिये, कहाँ तक पढ़ियेगा । कार्य करने वाले डिग्रियों के बिना भी कार्य कर लेते हैं ।"

जामिया में जुबली के अवसर पर अध्यापकों और विद्यार्थियों ने जिस तन्मयता और लगन से काम किया वह अपना उदाहरण आप हैं । न प्रंशसा की चाह न किसी बदले की इच्छा । शिक्षा के साथ मज़दूरों के समान कार्य किए, सड़कें बनायीं, सर पर मिट्टी ढोई । पंडाल में भूमि को समतल करने से ले कर फ़र्श और कुर्सियां बिछाने तक काम किया । ऐसे अवसरों में ज़ाकिर साहिब कोई अफ़सर या संरक्षक नहीं दिखाई पड़ते थे बल्कि हर कार्य को करने में वह बराबर सब के साथ सम्मिलित रहे । कार्य को पूरी गंभीरता से करना और दूसरों के सामने इसका उदाहरण प्रस्तुत करना उनका हमेशा तरीक़ा रहा है ।

देश में हर ओर साम्प्रदायिक झगड़े हो रहे थे । दिल्ली का वातावरण भी बिगड़ा हुआ था । जुबली की तिथियाँ निकट आयीं तो दिल्ली के अधिकतर क्षेत्रों में करफ़्यू था । लोगों का विचार था कि दूसरे दिन उद्घाटन समारोह न हो सकेगा । ज़ाकिर साहिब का वह वाक्य अब तक याद है, "कोई न होगा तो हम आप तो होंगे । मैं उन ख़ाली कुर्सियों के सामने भाषण दूँगा ।" परन्तु दूसरे दिन विशाल सभा आयोजित हुई । सभी राजनीतिक दल के चोटी के नेता उपस्थित थे । मौलाना आज़ाद, पंडित नेहरू, राजा जी, मुहम्मद अली जिन्नाह, लियाक़त अली खाँ । उस सभा में ज़ाकिर साहिब ने उस समय की छोटी सी जामिया के कार्यों का परिचय कराया और उन नेताओं के सम्मुख जो राजनीति के क्षेत्र में अपनी ज्योति बिखेर रहे थे, जिस दर्दनाक ढंग से झगड़ों और निर्दोष बच्चों के प्रति हिंसा की चर्चा की, उन के शब्दों की गूँज आज भी अपने कानों में अनुभव करता हूँ ।

लोग कहते हैं कि ज़ाकिर साहिब का व्यक्तित्व अपने अन्दर बहुत आकर्षण रखता है और वह सत्य ही कहते हैं । परंतु आख़िर वह कौन-सी बात है जिससे वह हर किसी का दिल मोह लेते हैं । व्यक्तित्व को अलग-अलग ख़ानों में नहीं बाँट सकते । परन्तु ज़ाकिर साहिब के व्यक्तित्व का आधार कर्म है । उन को प्रकृति ने इस गुण से परिपूर्ण कर दिया

है कि वह हर एक को साथ लेकर काम कर सकें। जामिया के जीवन में उन्हों ने विभिन्न विचार के लोगों को एक प्लेटफ़ार्म पर ला कर खड़ा कर दिया जिन में हिन्दु, मुसलमान, ईसाई, कांग्रेसी, मुस्लिम लीगी, कम्युनिस्ट, स्वतन्त्र विचारक और कट्टर धार्मिक सब प्रकार के लोग थे। इन सभी लोगों को लेकर इतना सुन्दर गुलदस्ता बनाए रखा जिस की रंगीनी, जिस की सुन्दरता और जिस की सुगंध आज भी बनी हुई है।

आप शायद मेरी इन बातों को मेरी भावनाओं का परिणाम समझें इसलिए कि अब समय बदल गया है, जामिया बहुत बड़ी हो गई है, जामिया अब एक उच्च शिक्षा-संस्था है, अच्छे भवन हैं, अच्छा वेतन भी है, परन्तु इनके साथ सच्चाई यह भी है कि हम पहले से भी अधिक बेचैन हैं और अब ज़रा-ज़रा सी बात पर शिकायतें करते हैं। कुछ दिन हुए कुछ छात्रों ने एक विषय के मुश्किल होने की शिकायत की। मुझे उस समय ज़ाकिर साहिब याद आ गए। उनके पास कुछ विद्यार्थी गए और कहा, अंग्रेज़ी बहुत कठिन विषय है, कुछ कीजिए। ज़ाकिर साहिब ने कहा, "ये शिकायत मैं चार-पाँच वर्ष से सुन रहा हूँ। इतने समय" में यदि आप चाहते तो अंग्रेज़ी का केवल एक शब्द प्रतिदिन और यह भी सामर्थ्य न होता तो दो-दिन में एक शब्द याद कर लेते और इस का प्रयोग भी सीख लेते तो मुझ से अच्छी अंग्रेज़ी हो जाती। परन्तु मुझे विश्वास है कि आप आगामी दस वर्ष तक इसी प्रकार शिकायत करते रहेंगे।

मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि जिस वाटिका की सिंचाई में योग्यता से अधिक निष्कपटता, व्यक्तित्व से बढ़कर त्याग और शीलता से ज़्यादा प्रेम का हाथ रहा है, आने वाले लोग उस वाटिका की सुन्दरता को किस प्रकार बनाए रखेंगे ?

भाग - 3

समकालीन दृष्टि
बहुआयामी व्यक्तित्व

ज़ाकिर हुसैन का महात्मा गाँधी से पत्रव्यवहार

प्रो. बिमला प्रसाद

मैं 1982 ई. में भारत के विभाजन की पृष्ठभूमि का अध्ययन करने के लिए क्राची क़ाइदे आज़म अकादमी में रिसर्च करने गया था। वहाँ जिन्नाह के कागज़ों में, जो माइक्रो-फ़िल्म पर मौजूद हैं, मुझे संयोग से एक अप्राप्य संग्रह गाँधीजी और ज़ाकिर हुसैन के पत्रों के देखने का अवसर मिला (रील न. 15, फ़ाइल न. 179)। ये स्पष्ट नहीं है कि ये पत्र किस प्रकार वहाँ पहुँचे, परन्तु उनके महत्व में कोई सन्देह नहीं। इस में से दो पत्र गाँधीजी के कागज़ों में शामिल हैं। परन्तु शेष के बारे में ये नहीं कहा जा सकता। ज़ाकिर साहिब के लिखे हुए पत्र भी कहीं और नहीं मिले। इस के अतिरिक्त इन पत्रों का ऐतिहासिक महत्व भी स्पष्ट है क्योंकि इन से न केवल गाँधीजी और डा. ज़ाकिर हुसैन के गहरे व्यक्तिगत सम्बन्ध का पता चलता है बल्कि 1936 से 1938 ई. के समय में ज़ाकिर साहिब के विचार का भी अनुमान लगाया जा सकता है जो उन के मन में हमारे सामाजिक जीवन की विभिन्न समस्याओं के बारे में थे।

पहला पत्र विचारणीय है, जो गाँधीजी के काग़ज़ में मौजूद है। ये पत्र गाँधीजी की अपनी लिखाई में है और 25, मार्च 1936 ई. का लिखा हुआ है (ग्रन्थ 62 पृष्ठ 441-442) ये पत्र डा. अंसारी की मृत्यु के दस दिन बाद का लिखा हुआ है। डा. अंसारी कांग्रेस के अध्यक्ष और उस की पार्लियामेन्ट्री बोर्ड के चेयरमैन रह चुके थे और संसार भर में 1920 ई. और 1930 ई. के बीच कांग्रेस के राष्ट्रवादी मुसलमानों में सब से अधिक लोकप्रिय, योग्य और महान् नेता माने जाते थे। हालाँकि मौलाना अबुलकलाम आज़ाद उस समय काँग्रेस और देश की राजनीति में बहुत आगे-आगे थे, अथवा काँग्रेस के अध्यक्ष भी रह चुके थे, परन्तु हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न को हल करने के लिए गाँधीजी की दृष्टि अपना परामर्शदाता बनाने के लिए ज़ाकिर साहिब पर ही पड़ी कि वह उस स्थान की पूर्ति करें जो अंसारी साहिब की मृत्यु के कारण ख़ाली हो गया था। साथ ही गाँधीजी ने ये बात भी स्पष्ट कर दी कि उन की राय में "डा. अंसारी के दर्जे के अद्वितीय नेता की बराबरी कोई भी नहीं कर सकता। ये योग्यता का प्रश्न नहीं, बल्कि विश्वास की बात

है।" परन्तु फिर भी उन्होंने ज़ाकिर साहिब को डा. अंसारी को स्थानापन्न किया और लिखा:

"मैं आप से प्रश्न करना चाहता था और अब भी करना चाहता हूँ कि क्या आप मेरे लिए वह बन सकते हैं जो हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर डाक्टर साहिब थे ? मेरे लिए सब से बड़ी चिंता का कारण अपने सद्‌भावक मित्र या एक पुण्यात्मा और धर्मात्मा व्यक्ति के छोड़ जाने का ही नहीं है, बल्कि हिन्दू-मुस्लिम एकता के बारे में एक उचित नेता की अनुपस्थिति है । इस समय हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर मेरे मौन का कारण ये नहीं कि मैं संवेदनाशून्य हूँ बल्कि यह इस गहरे विश्वास का प्रतीक है कि ये एकता स्थापित होकर रहेगी । अब मैं आप से पूछता हूँ कि क्या आप डा. अंसारी का स्थान ले सकेंगे ? इसके उत्तर में आप अपने सामाजिक प्रतिष्ठा का ख़्याल न कीजिएगा । यदि आप में आत्मविश्वास है तो आप "हाँ" कर दीजिए । लेकिन यदि नहीं है तो आप अवश्य "न" कह दीजिए । मुझे आप की ओर से कोई भ्रम पैदा नहीं होगा । मैं आप का इतना आदर और आप से इतना प्रेम करता हूँ कि इस में भ्रम का प्रश्न ही नहीं उठता ।"

इसके उत्तर में ज़ाकिर साहिब का पत्र मौजूद नहीं है । परन्तु गाँधीजी के अगले पत्र से (जो उनके रचना-संग्रह में नहीं है), जो उन्होंने 8 या 9, जूलाई 1936 ई. को ज़ाकिर साहिब को लिखा था, स्पष्ट होता है कि ज़ाकिर साहिब ने "हाँ" कर दी थी । गाँधीजी की प्रसन्नता की कोई हद न थी, जब वह लिखते हैं:

"मेरे प्रस्ताव पर आप की उदारता और पूरी इच्छा से स्वीकृति पर मुझे अपनी चिंता से कुछ मुक्ति मिली । यह बात उन पानी से भरी बाल्टियों के समान है जो मनुष्य सदैव भरी रखता है चाहे उन्हें प्रयोग करने का अवसर ही न आए । परन्तु इस से संतोष बना रहता है कि यदि कभी आग लग जाए तो इन बाल्टियों की सहायता से तुरंत बुझाई जा सकती है । यह कर्त्तव्य डा. अंसारी भली प्रकार पूरा कर रहे थे और अब आप मेरे लिए यही स्थान रखते हैं । मुझे उन के इस विशेष कर्त्तव्य निर्वाह की ज़्यादातर आवश्यकता नहीं पड़ी थी और हो सकता है कि आप को भी कष्ट देने की नौबत न आए, और आप का समय नष्ट न हो । परन्तु यह विश्वास कि नाज़ुक स्थिति में आप मेरी सहायता के लिए मौजूद हैं, मेरी निश्चिंतता के लिए काफ़ी है ।"

II

यह सब कुछ लिखने के बाद गाँधीजी "हिन्दी-हिन्दुस्तानी" विवाद की चर्चा करते हैं जो उस समय देश में बड़े ज़ोरों से जारी थी । इस से कुछ सप्ताह पूर्व गांधी जी ने संयोग से नागपुर की एक साहित्यिक सभा में "हिन्दी-हिन्दुस्तानी (उर्दू की चर्चा किए बिना) का वाक्य प्रयोग किया था । इस कारण बहुत-से उर्दू-समर्थकों को ज़बरदस्त शिकायत थी कि गाँधीजी वास्तव में हिन्दुस्तानी के भेस में हिन्दी को बढ़ावा देना चाहते हैं और उर्दू के

विरोधी हैं। गाँधीजी ने अपने पत्र में इस की चर्चा की है। वह लिखते हैं "मेरे निकट इस विरोध का कोई कारण नहीं है। अगर ऐसा हुआ है तो हमें इस को दूर करना पड़ेगा।"

हमारे पास गाँधीजी के दोनों पत्रों के उत्तर में ज़ाकिर साहिब के पत्रों की कोई कॉपी नहीं है परन्तु गाँधीजी के दूसरे पत्र से पता चलता है कि इन दोनों के बुनियादी सिद्धांतों में इस बारे में कुछ-न-कुछ भ्रम अवश्य था। गाँधीजी अपने दूसरे पत्र में लिखते हैं कि उन्होंने अपने सेक्रेट्री महादेव देसाई से कहा है कि वह ज़ाकिर साहिब को 9, मई और 16, मई 1926 ई. के "हरिजन" पत्रिका की कापियाँ भेज दीं जिस में इस विषय पर गाँधीजी का लेख प्रकाशित हुआ था। वह लिखते हैं कि उस समय वह इस बारे में किसी वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहते हैं क्योंकि उस समय तक ज़ाकिर साहिब ने उन के यह लेख नहीं पढ़े थे। वह लिखते हैं:

"यदि आप को मेरी राय से पूरी तरह सहमति नहीं है तो मैं चाहता हूँ कि आप खुल कर मेरा विरोध करें क्योंकि मैं नहीं चाहता कि हमारे बीच शील या स्थायी मैत्री विचार विनिमय में बाधक़ हो क्योंकि इस की कोई आवश्यकता नहीं है..."

भाषा के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए गाँधीजी लिखते हैं:

"मैं समझता हूँ कि हिन्दी और उर्दू के मेल-जोल से कोई नई भाषा को प्रारंभ करने की आवश्यकता नहीं है। मुझे विश्वास है कि ऐसी भाषा मौजूद है चाहे इसे किसी नाम से पुकारा जाए और यह वह भाषा है जो उत्तरी भारत में हज़ारों हिन्दू और मुसलमान बोलते हैं। यानि विंध्याचल के उत्तर में जो प्रांत हैं सिवाय उन चंद प्रांतों के जहाँ हिंन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू के अतिरिक्त, जो चाहे देवनागरी लिपि में हो या फ़ारसी में, और भाषाएँ भी बोली जाती हैं। अर्थात यह सब इस लिए लिखा जा रहा है कि यदि कुछ और मतभेद रह गए हों तो वह भी साफ़ हो जाएं। हमारे बीच इस प्रश्न पर सहमति होना चाहिए जो मेरे निकट काफ़ी सरल है, कम-से-कम जहाँ तक सिद्धांतों का सम्बन्ध है।"

III

गाँधीजी का अगला पत्र (जो उन के कागज़ों में कहीं नहीं मिला) 7, जून 1937 ई. का लिखा हुआ है जिसका ज़ाकिर साहिब ने एक लम्बा उत्तर भेजा था। (जिस की हाथ की लिखी कापी जिन्नाह के कागज़ों में मौजूद है) इस पत्र में गाँधी जी लिखते हैं कि वह ज़ाकिर साहिब को डा. अंसारी का "आध्यात्मिक उत्तराधिकारी" मानते हैं। इस पत्र के लिखने का कारण था हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों के बारे में, जो पिछले दिनों बम्बई में हुए थे, ज़ाकिर साहिब का विचार जानना और उर्दू के बारे में भी अर्थात्, उस मतभेद के बारे में भी जो मद्रास के एक मंत्री ने व्यक्त किया था और तीसरे उस घोषणा के बारे में जो बिहार के दो नगरों में कोर्ट की कार्यवाही में उर्दू-हिन्दी दोनों ही लिखाई की अनुमति मिल गई थी। गाँधी जी कुछ दिनों पहले काँग्रेस की "मुस्लिम मास कंटैक्ट" आन्दोलन के बारे में

भी ज़ाकिर साहिब की राय जानना चाहते थे। उस समय बम्बई में साम्प्रदायिक झगड़े शुरू हो जाने पर गाँधी जी की परेशानी और चिंता विशेष रूप से विचारणीय है।

"ये झगड़े मुझे बहुत परेशान कर रहे हैं। जहाँ तक मेरी समझ में आता है इस बम्बई के दंगों का कोई विशेष कारण नहीं दिखाई पड़ रहा है। अब क्या किया जाए ? ये समस्या राजनीतिक संधियों की हद से बहुत बाहर निकल चुकी है..."

ज़ाकिर साहिब के उत्तर आने में काफ़ी देर हुई क्योंकि जब गाँधी जी का पत्र आया तो जामिया में गर्मी की छुट्टियाँ थीं और वह दिल्ली से बाहर थे। इस लिए जूलाई के अंत में ही वह उत्तर दे पाए। जिन्नाह के कागज़ों में जो उन के उत्तर की कॉपी है उस पर कोई तारीख़ नहीं है। लेकिन अन्दाज़ा यह है कि गाँधी जी को ज़ाकिर साहिब का उत्तर 30 जुलाई 1937 ई. से पहले ही मिला था, क्योंकि इसी तिथि का लिखा हुआ गाँधीजी का एक पत्र जवाहर लाल नेहरू के नाम का है जिस में उन्होंने ज़िक्र किया है कि वह नेहरू को ज़ाकिर हुसैन के "एक समझ-बूझ कर लिखे हुए पत्र" की कॉपी भेज रहे हैं जिसमें उनके (ज़ाकिर साहिब के) बम्बई के दंगे, और "दुखदायक उर्दू-हिन्दी विवाद" के बारे में विचार हैं। (ग्रन्थ 65, पृष्ठ 445) जिन्नाह के कागज़ों में भी गाँधी जी का ज़ाकिर हुसैन के नाम एक पत्र शामिल है जहाँ इस बात का ज़िक्र है। हालाँकि गाँधी जी नेहरू से इसका ज़िक्र करना शायद भूल गए परन्तु ज़ाकिर साहिब के इस पत्र का महत्व उन के "मुस्लिम जनसंपर्क अभियान" के बारे में उन की राय और उस पर टिप्पणी के कारण भी हैं।

चूँकि हमारे पास ज़ाकिर साहिब के अपने समय के मुख्य लोगों के बहुत कम पत्र मौजूद हैं और इस पत्र में विशेष रूप से उस समय के कई विशेष मामलों पर उनके विचार मौजूद हैं इस लिए यह पूरा पत्र (सिवाय थोड़े-से वाक्यों के जो पढ़े नहीं जाते) परिशिष्ट में प्रस्तुत किया जा रहा है। और साथ में गाँधी जी को लिखा हुआ ज़ाकिर साहिब का 30, जून 1938 ई. का पत्र भी संलग्न किया जा रहा है जिस की कॉपी केवल जिन्नाह के कागज़ों में है। इस में ज़ाकिर साहिब ने अपनी राय लिखी है। नेहरू और जिन्नाह की बात-चीत के बारे में, और उन शर्तों के बारे में जो जिन्नाह ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग में बात-चीत के प्रारम्भ करने के लिए रखी थीं। ये पूरा पत्र भी परिशिष्ट में दिया गया है। इस प्रसंग में यह भी कह दिया जाए कि इस पत्र के उत्तर में 11 जुलाई 1938 ई. को गाँधी जी लिखते हैं:

"आप के पत्र पर पूरा ध्यान दिया जा रहा है। यह समस्या बड़ी जटिल है। ख़लीक़ुज़्ज़मां से पत्र-व्यवहार जारी है। यदि केवल पद की व्याख्या ही पर बात-चीत टूट गई तो यह बहुत दुखदायक घटना होगी। मैं तो केवल यह कह सकता हूँ कि मैं अपनी अंतिम सीमा तक यह प्रयत्न करूँगा कि कोई भी बात शीघ्रता या क्रोध में न की जाए..."

जैसा कि सब को मालूम है यह सब सावधानी धरी रह गई और इस का कोई परिणाम

न निकला, बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि इसी प्रश्न पर यह बात-चीत समाप्त हो गई, बल्कि अधिक उचित होगा यदि कहा जाए कि यह बात-चीत कभी शुरू ही नहीं हुई। और दोनों पार्टियाँ एक-दूसरे से दूर होती चली गयीं।

परिशिष्ट I

30, जुलाई 1937 ई. से पूर्व की कोई तिथि-- ज़ाकिर साहिब का पत्र महात्मा गाँधी के नाम:

आज कल हमारे यहाँ गर्मी की छुट्टियाँ हैं। इसलिए मैं अधिकतर दिल्ली से बाहर रहा और वापसी पर आप का पत्र मिला। जब आप मुझे डॉक्टर अंसारी का "आध्यात्मिक उत्तराधिकारी" कह कर सम्बोधित करते हैं तो मैं काँप उठता हूँ। यह घबराहट उस उत्तरदायित्व के कारण है, इस शर्मिंदगी और दुख: के बोझ से है कि डा. अंसारी के बाद मुझ से अधिक योग्य और उचित उत्तराधिकारी क्यों नहीं है।

आप ने मुझ से हिन्दू-मुस्लिम दंगे के बारे में पूछा है। मेरी इन दंगों के बारे में हमेशा यह राय रही है कि इन की बुनियाद धार्मिक कम ही होती है, चाहे धर्म के बुरे से बुरे अर्थ क्यों न लिए जाएँ। यह दंगे तो उन लोगों के शुरू किए हुए हैं जिन का कोई छुपा हुआ हित होता है, और वह ही शुरू कराते हैं। इस के लिए वह उस जनता की धार्मिक भावनाओं को काम में लाते हैं जो इन के छुपे हुए हितों से नितांत अनभिज्ञ होती है, दुर्भाग्य की बात यह है कि उन का अनुमान ग़लत नहीं होता। और अपने उद्देश्य में ज़्यादातर यह लोग सफल हो जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सामान्य रूप से लोगों में सतह के नीचे एक प्रकार का संदेह या बदगुमानी छुपी होती है जिस का अनुचित प्रयोग किया जा सकता है। इन दंगों को शुरू करवाने वालों का उद्देश्य साधारण रूप में राजनीतिक या आर्थिक होता है, परन्तु जिस सन्देह की भावना को वह इस के लिए प्रयोग करते हैं वह मनोवैज्ञानिक होती है। इन लोगों की योजना को असफल करने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि सत्ता का निष्पक्ष रूप से और प्रभावपूर्ण ढंग से उपयोग किया जाए। परन्तु यह उपयोग पूरी ईमानदारी से होना ज़रूरी है वरन् यह मनोवैज्ञानिक संदेह और भी बढ़ जाएगा। यह मैं विशेष रूप से इसलिए कह रहा हूँ कि हो सकता है आप इस समय भी ऐसा निर्णय कर रहे हों जिस के कारण सत्ता की बाग-डोर कांग्रेस के हाथ में आ सकती है और दूसरी समस्या के समाधान के लिए केवल दोनों ओर के नेताओं की निरतंर कोशिशें ही सफल हो सकती हैं, यदि वह विशेष रूप से आगे बढ़ कर यह काम कर दिखाएं, जिस से लोगों का शक और बदगुमानी दूर हो सके और इन में विश्वास और भरोसा पैदा हो जाए। मैं "आगे बढ़ कर" जान-बूझ कर कह रहा हूँ क्योंकि केवल यही काफ़ी नहीं है कि आप ठीक काम कर रहे हैं क्योंकि केवल ठीक होना न मनोवैज्ञानिक उलझनों को सुलझाता है और न ही सुलझा सकता है। परन्तु है कौन जो आगे बढ़ कर

ऐसा करेगा ? हर व्यक्ति अपनी जगह पर, अपने छोटे से क्षेत्र में ऐसा कर सकता है मिल कर परंतु मेरे सामने ऐसे बहुत लोग हैं जो एक बड़े पैमाने पर ऐसा कर सकेंगे। मुसलमानों में सिवाय ख़ान अब्दुल ग़फ़्फ़ार खाँ साहिब के और हाँ, मौलाना अबुलकलाम आज़ाद के, जिन का प्रभाव उनके अलग पड़ जाने के बावजूद काफ़ी है। और कौन ऐसा है। लेकिन व्यवहारिक रूप से यह काम वह केवल उस समय कर सकते हैं जब वह मुसलमानों की आवश्यकताओं एवं उचित अधिकारों की मांग को भली प्रकार समझ सकें और अपना सकें। परन्तु दुःख की बात तो यह है कि हमारे राष्ट्रवादी मुसलमानों में से अधिकतर ने अपने आप को अपने राष्ट्र की समस्याओं से अलग रख कर स्वयं मुसलमानों की गहरी मनोवैज्ञानिक उलझनों का हल तलाश करने के बजाय शांत रहना पसंद किया। हालाँकि इन की राष्ट्रीयता पर कोई सन्देह नहीं कर सकता। परन्तु इन की बुद्धिमानी पर सन्देह होता है क्योंकि केवल मुसलमानों की सच्ची सेवा कर के ही वह देश और राष्ट्र की सच्ची सेवा कर सकते हैं।

मैं इस दोहरी वफ़ादारी की कठिनाइयों को समझता हूँ और मुझे उन लोगों की दशा से हार्दिक सहानुभूति है जो इस समस्या को सरल समझ कर इस से भागने की कोशिश करते हैं। यह तो मनुष्य का, जो सदाचारी है, भाग्य है क्योंकि उसे इन उलझनों से कोई छुटकारा नहीं। उसका स्वभाव ही ऐसा है कि वह पहले खोता है और फिर अपना संतुलन पाता है। क्योंकि ये संतुलन स्पष्ट रूप से विभिन्न और प्रतिकूल स्थितियों से गुज़रने के बाद ही प्राप्त हो सकता है। जो एक नए जीवन की ओर संकेत है। अलग-अलग रहना सरल तरीक़ा हो सकता है, परन्तु सरल तरीक़ा सदैव उत्तम तरीक़ा नहीं हो सकता।

यह मैं विस्तार से इस लिए लिख रहा हूँ कि शायद मुसलमानों में जन संपर्क आन्दोलन इस दृष्टिकोण की उपेक्षा न कर दे। कांग्रेस के मुसलमान कार्यकर्ताओं के लिए यह बेहद आवश्यक है कि उन को अपनी क़ौम का पूरा विश्वास प्राप्त हो वरन् दूसरी शक्ल यह है कि वह केवल नाम के मुसलमान हों और जान-बूझकर ईमानदारी से हर वह चिन्ह, विश्वास और रीति-रिवाजों का अंत न करना चाहते हों जिनके कारण उन्हें मुसलमान कहा जाता है... (आगे के दो वाक्य नहीं पढ़े जाते) और मैं यह भी चाहता हूँ कि कांग्रेस बिना कारण उन लोगों को न छेड़े जो बाह्य रूप से मुसलमानों के नेता हैं। यह नीति ठीक नहीं हैं। चाहे उन नेताओं का कोई विशेष महत्व हो या न हो और वह कोई विशेष कार्य पूरे कर पाएं या न कर पाएं। मुझे यह इच्छाजनित विश्वास बिल्कुल नहीं है कि इन में अच्छा कार्य करने की योग्यता है परन्तु इन की हानि पहुँचा सकने की योग्यता को भी याद रखना चाहिए। क्योंकि अच्छाई धीरे-धीरे प्रभाव दिखाती है जबकि बुराई आग के समान भड़कती है। जो ईश्वर मुद्दतों में बनाता है वह शैतान पल में नष्ट कर सकता है। मुझे आशंका है कि इन नेताओं को जो एक विशेष महत्व रखते हैं यदि बिना कारण छेड़ा जाएगा तो हम उनको उस संदेह और बदगुमानी को सामने लाने में सहायता करेंगे जो

लोगों के मन में पल रही है । और कोई आश्चर्य नहीं कि जब अगला चुनाव हो, और यदि इस में कांग्रेस के मुसलमान उम्मीदवार हुए तो चुनाव के जोश के साथ-साथ दंगे भी शुरू हो सकते हैं । सत्ता कोई अपने हाथ से छोड़ना नहीं चाहता, विशेष रूप से शरारती लोग । परन्तु कांग्रेस ने बिना कारण इन नेताओं को तंग नहीं किया तो लोग समझ जाएंगे कि यह हारी हुई लड़ाई लड़ रहे हैं और फिर वह स्वयं ही हथियार डाल देंगे । इस दूरी को कम करना इस पर निर्भर करता है कि कांग्रेसी नेता कितनी राजनीतिक सूझ-बूझ और बुद्धिमानी से काम लेते हैं ।

अत: नेताओं का यह कर्तव्य है कि वह मुसलमानों के इस भय और आशंकाओं को हर क़ीमत पर दूर करें । यह मैं एक मुसलमान होने के कारण नहीं कह रहा हूँ बल्कि राष्ट्र के एक शुभचिंतक के रूप में कह रहा हूँ । हम एक संयुक्त राष्ट्र की आशा किस प्रकार कर सकते हैं, यदि हमारे मुसलमान भाई आशंका और भय से ग्रस्त हों । ग़ैर-मुस्लिम लोगों में किस के पास यह जादू है जो इस आशंका और भय को विश्वास और भरोसे में बदल सकें । आप और पंडित जवाहर लाल जी । (कुछ शब्द पढ़े नहीं जाते) जवाहर लाल जी के सोचने का ढंग ही कुछ और है । वह उन लोगों के विचार पर ध्यान नहीं देते जो दूसरों की कार्यप्रणाली, विश्वास, रूचि व अरूचि, रीति-रिवाज और एकत्व को स्वीकार करके उन विशिष्ट प्रणालियों को महत्व देते हैं जिन को धर्म का नाम दिया जाता है । वह सरलीकरण को पसंद करते हैं और इस से शीघ्र ही अच्छा परिणाम निकल भी सकता है परन्तु मुझे डर है कि किसी बड़े पैमाने पर इस विचारधारा से समस्याओं का समाधान होना कठिन है । परन्तु आप जो स्वयं धार्मिक व्यक्ति हैं, आप यह चमत्कार कर सकते हैं बल्कि आप ने कर दिखाया ही था । पिछले कुछ वर्षों में स्थिति में इतना अधिक परिवर्तन आया है कि लगता है अभी इसका समय नहीं आया । परन्तु मेरे दिल में यह आशा छुपी है कि आप अवश्य यह चमत्कार दिखाएंगे । मैं नहीं कह सकता कि मुझे ऐसा क्यों लगता है परन्तु यह तो अपने विश्वास का मामला है । मैं यह भी देख रहा हूँ कि आप को यह स्थिति देखकर कितना ज़्यादा दुख: पहुँचता है । परन्तु अनुभव करना और दुख उठाना उस के भाग्य में होता है जो मनुष्य की आत्मा के उत्तम तत्वों की प्रतिमा है । और चूँकि आप स्वंय ऐसे हैं इसलिए मैं आशा करता हूँ कि आप इस आत्मा के संघर्ष को शांत करने में सफल होंगे । इस का परिणाम इतना अच्छा होगा कि इस के लिए कोई भी मूल्य चुकाया जा सकता है ।

आप ने मुझ से बिहार और मद्रास में उर्दू और हिन्दी के बारे में की गई घोषणाओं के बारे में भी पूछा है । मद्रास के बारे में तो मुझे कुछ अधिक जानकारी नहीं । और पिछले दो दिनों में, जब से आप का पत्र मिला है कोई विशेष बात मालूम भी नहीं कर पाया । बिहार के बारे में जो समाचारपत्रों में निकला है वह मैं ने पढ़ा है । यदि बिहार के मंत्री ने कुछ प्रांतों में जहाँ अब तक न्यायालय में केवल हिन्दी का प्रयोग हो रहा था, उर्दू के प्रयोग की भी आज्ञा दे दी है और यदि यही है जो उन्हों ने किया है तो मैं समझता हूँ कि

बिल्कुल उचित किया है । मैं चाहूँगा कि काँग्रेस मंत्रीमंडल, हर प्रांत में, सरकारी कार्यालयों में, उर्दू एवं हिन्दी दोनों लिखावटों की सरकारी रूप में आज्ञा दे दे ताकि दोनों प्रयोग की जा सकें, या तो इन प्रांतों में कोई भी ऐसा न होगा जो उर्दू की लिखाई पढ़ सकेगा तो ऐसी स्थिति में यह आज्ञा बेकार हो जाएगी और किसी का इससे कोई हर्ज न होगा । या हो सकता है कुछ नागरिक या एक भी नागरिक उर्दू पढ़ना और लिखना चाहे तो हमारे संयुक्त भारतीय राष्ट्र के विकास और भारत की मिली-जुली संस्कृति के विकास के लिए यह बहुत हानिकारक बात होगी कि इसको यह अवसर न मिल सके । अब यह अवश्य कहा जा सकता है कि ऐसा करने से ख़र्च अधिक होगा या कठिनाई होगी । परन्तु जहाँ देश के दो इतने प्रमुख समुदायों का प्रश्न है वहाँ किसी ख़र्च या कठिनाई के बारे में सोचने का प्रश्न उठना ही नहीं चाहिए । उर्दू के प्रयोग से रोकने को अधिकतर मुसलमान दुश्मनी समझेंगे और बहुत से गैरमुस्लिम भी इस को बिल्कुल पसंद नहीं करेंगे । नहीं बापूजी । भाषा और लिपि की इस समस्या पर हम को ईमानदारी से वह रवैया क़ायम करना पड़ेगा जो एक बार काँग्रेस ने अपनाया था । हिन्दुस्तानी सब की भाषा और देवनागरी और उर्दू दोनों सरकारी रूप से मान्यता प्राप्त लिपियां, यह सुझाव पूरे ढंग में लागू होना चाहिए । चाहे यह परिहास क्यों न लगे । क्योंकि यह इस से अच्छा है कि भाई-भाई एक-दूसरे पर शक करें ।

मैं इतना ही लिख पाया था कि मुझे अचानक ही अलीगढ़ जाना पड़ा । इस लिए यह पत्र नहीं भेज सका और मुझे यह भी अनुभव हुआ कि आप वर्किंग कमेटी की मीटिंग में व्यस्त होंगे । इस लिए यह पत्र इतने दिन यहां पड़ा रहा ।

पत्र लम्बा हो गया है, इसके लिए क्षमा चाहता हूँ । असल में मैं इतने कम पत्र लिखता हूँ कि आप मुझे क्षमा कर देंगे कि मैं ने आप का इतना बहुमूल्य समय लिया । अब समाप्त करता हूँ ।

आप का शुभचिंतक

परिशिष्ट II

शिमला, 30, जून 1938 ई.

महात्मा जी,

पिछली बार जब मैं आप से भारतीय शैक्षिक संघ की पहली मीटिंग के अवसर पर मिला था तो मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर आप को मानसिक कष्ट हो रहा है । और आप अपने विशेष ढंग से दुआओं के साथ कोई ऐसा रास्ता ढूँढ रहे हैं जिस की तलाश किसी भी भारतीय नेता की सबसे पहली समस्या है । उसी दिन मैं ने यह बयान भी पढ़ा जो आप ने मिस्टर जिन्नाह से भेंट के दिन दिया था, वह बिल्कुल आप की

सोच की तरह था । मैं आप की और मिस्टर जिन्नाह की आपस की बात-चीत की सब रिपोर्टें भी पढ़ता रहा जो आवश्यकतानुसार संक्षिप्त और अस्पष्ट थीं और फिर लगभग सांस रोक कर बोस और जिन्नाह की बात-चीत भी पढ़ी और ईश्वर से प्रार्थना की कि वह इन सब वार्तालापों को सफल बनाए जो हमारे देश के भविष्य के लिए इतनी भरपूर आशाएं रखती हैं । अब से पहले मैं ने आप को पत्र नहीं लिखा क्योंकि मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं व्यर्थ में आप का क़ीमती समय नष्ट नहीं करूँगा । परन्तु अब इस लिए लिख रहा हूँ कि मुझे महसूस होता है कि अब लिखना ही चाहिए ।

नेहरू और जिन्नाह के पत्रव्यवहार का प्रकाशन बिल्कुल कुसमय थी । उस समय तो ऐसा लगा मानो बात-चीत बिल्कुल ख़त्म ही हो गई है । परन्तु बाद में जो कुछ हुआ उस से स्पष्ट होता है कि अभी कुछ आशा बाक़ी है । इस बारे में कुछ मित्रों से मेरी बात-चीत हुई और उन से पता चला कि यह बात-चीत भूमिका निर्धारण के मामले पर टूट सकती है हालाँकि सब का विचार था कि संधि की मूल शर्तों पर इसके टूटने की संभावना नहीं है, तो यह तो बहुत दुख: की बात होगी कि जब समझौता इतने निकट है तो काँग्रेस और लीग में इस बात पर पृथकता हो जाए और फिर न जाने कब मिलें ।

यदि मेरी जानकारी सही है तो मालूम होता है कि जिन्नाह साहिब प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि काँग्रेस और लीग में क्या अन्तर है । वह काँग्रेस को हिन्दुओं का प्रतिनिधि दल और लीग को मुसलमानों की विश्वस्नीय पार्टी मानते हैं । अब यह तो स्पष्ट है कि काँग्रेस के लोग इस ब्यान को स्वीकार नहीं करेंगे कि काँग्रेस केवल हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व करती है । क्योंकि इस का अर्थ तो होगा एक मूल सिद्धांत को छोड़ना । यदि जिन्नाह साहिब काँग्रेस का स्पष्टीकरण न करें तो मेरा विचार है कि वह जिस प्रकार भी लीग की चर्चा करना चाहें, उसमें कोई हर्ज नहीं । काँग्रेस लीग से बात-चीत करना चाहती है, इस का अर्थ ही यह है कि वह लीग के इस रवैये को स्वीकार करती है । और कोई दूसरा दल इस कार्य को पूर्ण नहीं कर सकता । काँग्रेस के मुसलमान अपनी बिरादरी को अपने साथ नहीं मिला सकते । यदि वह ऐसा कर सकते तो काँग्रेस को अपने अतिरिक्त किसी और इस्लामी दल से बात-चीत करने की क्या आवश्यकता थी ।

मैं उन कठिनाइयों से भली प्रकार परिचित हूँ जो आप के सामने आ रही हैं । यदि लीग को मुसलमानों की अकेली पार्टी मान लिया जाए तो इसका अर्थ होगा उन मुसलमानों और पार्टियों की उपेक्षा करना जिन्होंने कांग्रेस के साथ काम किया है । मैं समाचारपत्रों में ऐसी मुस्लिम पार्टियों के ब्यान पढ़ता रहा हूँ जिन्होंने काँग्रेस से प्रार्थना की है कि वह लीग की इस पोज़ीशन को मान्यता न दे जो उस ने स्वंय को दे रखी है (यानि मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि दल) । परन्तु स्थिति क्या है ? क्या ये पार्टियाँ इस की आशा कर सकती हैं कि वह कम मुद्दत में भारतीय मुसलमानों की सामूहिक शक्ति को देश की स्वतंत्रता और भारत के भविष्य को संवारने के लिए प्रयोग में ला सकती हैं ? इन पार्टियों की पूरी तरह

से उपेक्षा करना भी उचित न होगा। परन्तु हिन्दु-मुस्लिम समस्या पर इस पैमाने की जटिल गुत्थियाँ सुलझाने की कोशिंश में हम यह नहीं सोच सकते कि क्या उचित है और क्या अनुचित है। केवल एक निडर और निर्भीक कार्य या संकेत ही इस समस्या को सुलझा सकता है। यह संकेत कहाँ से आ सकता है। यदि आप की ओर से न आये और आप की सलाह से काँग्रेस की ओर से आये ? उचित और अनुकूल कार्य तो हर कोई कर सकता है। परन्तु अब आवश्यकता है ऐसे कार्य और व्यवहार की जिससे मुद्दतों का बैठा हुआ शक और शुब्ह दूर हो सके। यदि बिना कारण लीग इस पर ज़ोर देती है कि केवल वह ही मुसलमानों का प्रतिनिधि दल है तो काँग्रेस का क्या बिगड़ेगा कि वह इस को मान ले और इसकी घोषणा कर दे बल्कि इससे तो काँग्रेस का राष्ट्रीय चरित्र और भी सुदृढ़ होगा। परन्तु यदि काँग्रेस ने ऐसा करने से इंकार कर दिया तो उस का राष्ट्रीय चरित्र कमज़ोर पड़ जाएगा, और मुसलमान भी इसे से अलग हो जाएँगे। मैं भली प्रकार देख सकता हूँ कि यदि सामयिक बात-चीत इस मामले पर टूट गई कि काँग्रेस ने मुस्लिम लीग को मुसलमानों का प्रतिनिधि दल के रूप में मान्यता देने से मना कर दिया है तो क्या परिणाम निकलेगा। इस कारण लीग और भी अधिक मुसलमानों का प्रतिनिधि दल बन जाए गी। आप को शायद मालूम होगा कि लीग की सामयिक शक्ति प्रत्यक्ष रूप से पंडित जी के इस बे सोचे-समझे ब्यान से सम्बन्ध रखती है जो उन्होंने जिनाह से शब्दिक युद्ध के दौरान दी थी और कहा था कि भारत में केवल दो ही पार्टियाँ हैं, काँग्रेस और अंग्रेज़। मुझे बाद में स्वंय उन से पता चला कि इससे उन का अभिप्राय मुसलमानों के अस्तित्व से इंकार नहं था परन्तु किसी भी प्रकार का स्पष्टीकरण मुसलमानों को यह विश्वास दिलाने में सफल न हुआ कि ऐसा न था। और वह सब एक-एक कर के जिनाह के साथ हो गए ताकि उन को यह विश्वास हो सके कि वह भी एक मान्य दल हैं और दूसरों को भी यह ज्ञान हो सके कि इस सत्य से इंकार नहीं किया जा सकता चाहे संकेत ही में क्यों न हो।

यदि अब भी काँग्रेस लीग के राजनीतिक चरित्र को मानने से इंकार करेगी तो उस पर फिर आरोप लगेगा कि वह मुसलमानों की अकेली प्रतिनिधि पार्टी का अंत करने का प्रयत्न कर रही है और मुसलमानों में फूट पैदा कर रही है और किसी प्रकार के समझौते की बात-चीत करने के बारे में गंभीर नहीं है। मुझे यहाँ उन आरोपों के उचित और अनुचित होने से मतलब नहीं है, परन्तु यह आरोप लगाए जाएँगे और सरलता से लगाए जाएँगे। साम्प्रदायिक भावना एक मनोवैज्ञानिक अवस्था है जो इन आरोपों से और भड़केगी और इसका परिणाम क्या होगा यह सोचने योग्य नहीं है।

इस बात पर ज़ोर दिया जा सकता है और जैसा कि मैं समझता हूँ कि दिया गया है कि यदि एक बार भी काँग्रेस मुस्लिम लीग को प्रतिनिधि दल स्वीकार कर ले तो फिर वह लीग की किसी माँग या बात को आसानी से रद्द नहीं कर पाएगी। यह अवश्य है कि उस की माँग को आसानी से अस्वीकार नहीं करना चाहिए। परन्तु यदि वह राष्ट्रीय हित के

विरुद्ध हों तो उन को रद्द किया जा सकता है और करना चाहिए। देखा जाए तो जब काँग्रेस वर्किंग कमेटी आप की सलाह पर लीग के साथ बात-चीत कर रही थी, तो क्या उस समय उस को यह विश्वास न था कि वह मुसलमानों के प्रतिनिधि दल के साथ बात-चीत कर रही थी, तो क्या उस समय वह इस पर तैयार नहीं थी कि इस दल के उचित सुझावों को स्वीकार कर ले और उन सुझावों को रद्द कर दे जो राष्ट्रीय हित के विरुद्ध हों। और अब भी काँग्रेस ऐसा ही कर सकती है।

मैं आपका और अधिक समय नहीं लूँगा। कृपया मेरे हस्तक्षेप को क्षमा कीजिएगा। परन्तु मुझे आशा है कि आप मेरी चिंता को समझ लेंगे।

यहाँ सेन्ट्रल एडवाईज़री कौंसिल की मीटिंग ठीक प्रकार से हो गई। आशा है कि कमेटी की रिपोर्ट वरधा स्कीम के समर्थकों की स्थिति को और सुदृढ़ करेगी, ग़ैरकाँग्रेसी प्रांतों में भी...

आदर के साथ

डा. ज़ाकिर हुसैन-यादों के झरोखे से

डा. सलामत उल्ला

डा. ज़ाकिर हुसैन के नाम से मैं पहलेपहल 1934 में परिचित हुआ। हाई स्कूल परीक्षा पास करने के बाद मैंने गवर्नमेंट कॉलेज, इटावा में प्रवेश लिया था। उस ज़माने में इटावा का इस्लामिया हाई स्कूल उत्तरी हिन्दोस्तान में बहुत प्रसिद्ध था, यह स्कूल अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी की भांति बहुपक्षीय शिक्षा और प्रशिक्षण की संस्था समझी जाती थी। इसी स्कूल में ज़ाकिर साहिब ने शिक्षा पाई थी। इसके हैडमास्टर अलताफ़ हुसैन साहिब न केवल एक प्रसिद्ध अध्यापक और अच्छे व्यवस्थापक थे वरन् एक पुण्यात्मा के रूप में सुविख्यात थे। यही वह व्यक्ति थे जिनकी चर्चा राष्ट्रपति का पद संभालने के बाद पहली ही सभा में ज़ाकिर साहिब ने अत्यंत सम्मान के साथ की थी कि मेरे चरित्र की रचना में मेरे माँ के समान उनका बड़ा हाथ है। उन्हीं की तरह स्कूल के मैनेजर मौलवी बशीरुद्दीन साहिब भी अनेक गुणों के मालिक थे। उन दोनों पुण्यात्माओं के व्यक्तित्व में कुछ ऐसा आकर्षक था कि न केवल दूरवर्ती क्षेत्रों से इस्लामिया हाईस्कूल में विद्यार्थी ही आते थे वरन् शहर और शहर से बाहर से विद्वान विभिन्न समस्याओं पर विचार विनिमय के लिए उनके पास आया करते थे। इसलिए ज़ाकिर साहिब के अभिभावकों ने इसी ख्याति के कारण उन्हें इस स्कूल में प्रविष्ट कराया था। यद्यपि मुझे यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ तथापि माध्यमिक शिक्षा के समय मुझे इन पुण्यात्माओं की संगत से लाभ प्राप्त करने का अवसर मिला। उनके सदाचार और स्नेहपूर्ण व्यवहार ने ऐसा आत्मविश्वास उत्पन्न कर दिया था कि अपनी निजी समस्याएं भी उनके सामने रखने में मुझे कोई संकोच नहीं होता था, इस प्रकार जब मैंने माध्यमिक परीक्षा पास कर ली तो आगे की शिक्षा के संबंध में अनुदेश प्राप्त करने उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। उस अवसर पर मौलवी बशीरुद्दीन साहिब ने ज़ाकिर साहिब की चर्चा की, बताया कि तुम्हारी तरह एक होनहार विद्यार्थी हमारे स्कूल में, बीस-पच्चीस साल हुए, पढ़ता था, ज़ाकिर हुसैन ख़ाँ। जब उसने हमारे स्कूल की शिक्षा पूरी कर ली तो मैंने उसे यहां खाने पर बुलाया और यह पता लगाने के लिए कि इस युवक में कितनी सहनशक्ति है, उसकी प्लेट के सालन में कच्चा पानी मिलवा दिया। मैं ध्यानपूर्वक देखता रहा कि अस्वाद खाना खाते हुए उसके चेहरे पर अप्रियता के लक्षण प्रकट होते हैं या नहीं। मुझे आश्चर्य हुआ कि वह यथारीति खाना

खाता रहा। इस तरह ज़ाकिर ख़ाँ धैर्य की परीक्षा में पूरा उतरा। इस पर मैंने उसे शाबाशी दी और कहा कि बेटा, तू एक दिन बड़ा आदमी होगा। मेरी यह भविष्यवाणी ठीक सिद्ध हुई। आज वही लड़का एक प्रसिद्ध शिक्षक और एक अद्वितीय राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान का अध्यक्ष है, डा. ज़ाकिर हुसैन ख़ाँ। मुझे ऐसा लगा कि इस कथा से मौलवी साहिब मुझे धैर्य का उपदेश देना चाहते थे।

ज़ाकिर साहिब के प्रारंभिक जीवन के इस वृत्तांत का मुझ पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा और उनके विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने और उनसे मिलने की उत्सुकता उत्पन्न हुई। मुस्लिम यूनिवर्सिटी में प्रवेश के बाद एक दिन हमदर्दाने जामिया विभाग के एक कार्यकर्ता से भेंट हुई जो जामिया मिल्लिया इस्लामिया के लिए आर्थिक सहायता एकत्र करने और जामिया के मिशन से लोगों को परिचित कराने के उद्‌देश्य से हर महीने एक बार अलीगढ़ आते थे। मैंने उनसे जामिया से संबंधित लिट्रेचर प्राप्त किया और हमदर्दाने जामिया का नियमित सदस्य बन गया। उस लिट्रेचर से जो जानकारी मिली उसने ज़ाकिर साहिब से भेंट की अभिलाषा को दूना कर दिया। पता चला कि वह प्राय: अलीगढ़ किसी न किसी काम से आते रहते हैं और अपने एक घनिष्ठ मित्र प्रो. रशीद अहमद सिद्‌दीक़ी के यहां निवास करते हैं। सोचा कि जब कभी संभव होगा, ज़ाकिर साहिब से रशीद साहिब के घर जाकर मिलूंगा, परंतु यह अवसर बहुत देर बाद मिला।

1939 में जब मैंने बी.टी. की परीक्षा दे दी तो रशीद साहिब ने ज़ाकिर साहिब से मिलने का मुझे पहली बार अवसर दिया। उनसे जो बातचीत हुई तो ऐसा लगा कि वे पहले ही मेरी शिक्षा से संबंधित विशेष योग्यताओं और संकल्पों की जानकारी प्राप्त कर चुके थे। मैंने अपना उद्‌देश्य बताया कि अब मैं कोई राष्ट्रीय सेवा का काम करना चाहता हूं और इसमें आपका निर्देशन चाहता हूं। ज़ाकिर साहिब ने अपनी विशिष्ट वाक्यपटु शैली में कहा कि हर कार्य राष्ट्रीय सेवा है अगर लगन, सत्यनिष्ठा और इस चेतना के साथ किया जाए कि उसका परिणाम संबंधित लोगों के लिए अच्छा होगा। इस तरह छोटे से छोटा काम उदाहरणार्थ सड़कों की सफ़ाई राष्ट्रीय सेवा का कार्य है। मूल बात यह है कि आप किस काम के योग्य हैं और क्या करना चाहते हैं; इसलिए काम के विशेषीकरण की ज़िम्मेदारी स्वयं व्यक्ति विशेष पर लागू होती है, कोई दूसरा उसका निर्णय नहीं कर सकता। यह पहला उपदेश था जो मैंने ज़ाकिर साहिब से लिया। उनके बेलाग परामर्श का मुझ पर सकारात्वमक प्रभाव पड़ा और मैंने गंभीरता से सोचना शुरू किया कि इस परामर्श की रोशनी में मुझे क्या करना चाहिए।

राष्ट्रीय स्वंतत्रता आंदोलन से दिलचस्पी होने के कारण जी चाहता था कि अपने क्षेत्र के उन बच्चों की शिक्षा और प्रशिक्षण का कोई उपाय निकालूं, जिन्हें भौतिक साधनों की अप्राप्यता ने इस विभूति से वंचित रखा है। ट्रेनिंग कॉलेज में इस प्रकार के प्रयोगों का अध्ययन किया था। विशेष रूप से *पेस्तालोज़ी* का प्रयोग आकर्षक और उत्साहजनक था,

जिसने अनाथ और बेसहारा बच्चों की शिक्षा और प्रशिक्षण के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया था, और इसके लिए अपना सब कुछ तज दिया था, तथा इस के लिए निधर्नता को अपने जीवन का नियम बना लिया था । उसके इस कथन ने कि "मैंने इसलिए फ़क़ीरों जैसा आचार-व्यवहार अपनाया है ताकि फ़क़ीर समान जीवन बसरकर सकूं ।" मेरे मन-मस्तिष्क पर इसने गहरी छाप छोड़ी थी और फिर ज़ाकिर साहिब और उन के साथियों के बलिदान ने, जो वह क़ौमी शिक्षा के क्षेत्र में कर रहे थे, मेरी इस इच्छा को और उकसाया कि मुझे भी कुछ ऐसा ही काम करना चाहिए । लेकिन ज़ाहिर में इसका कोई उपाय नज़र नहीं आता था । एक अस्पष्ट सी बात मन में आ रही थी कि काश जामिया मिल्लिया के काम में सहयोग करके सीधे तौर पर अनुभव प्राप्त कर सकता तो फिर शायद मैं स्वंय अपने स्वप्न को यथार्थरूप दे सकूँ ।"

इसी उधेड़बुन में था कि एक दिन जामिया के कार्यालय से पत्र प्राप्त हुआ कि ज़ाकिर साहिब की इच्छा है कि मैं जामिया के काम में सहयोग दूँ और काम यह है कि जामिया ने अभी हाल में प्रारंभिक क़ौमी शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए अध्यापकों के प्रशिक्षण का जो काम आरंभ किया है और इस के लिए जो एक नया कार्यालय "उस्तादों का मदरसा" स्थापित किया है, इस में अध्यापन का कार्य संपन्न करूँ । इस पत्र से मुझे प्रसन्नता तो बहुत हुई लेकिन अपनी अयोग्यता का एहसास भी हुआ कि यह काम मेरी योग्यताओं से उच्चतर है । इस पत्र में ज़ाकिर साहिब ने जामिया में मिलने के लिए एक तिथि भी निश्चित की थी । आत्मविश्वास की कमी के बावजूद मैंने निश्चित समय पर ज़ाकिर साहिब से भेंट की । संभवत: यह जुलाई 1939 की बात है । ज़ाकिर साहिब की एक आँख में बहुत तकलीफ़ थी और इसके उपचार के लिए उन्हीं दिनों वह जर्मनी जाने वाले थे । मैंने कहा कि जो प्रस्ताव आपने किया है उस का मुझे कोई अनुभव नहीं है । मुझे तो प्रारंभिक शिक्षा के बारे में भी ऊपरी जानकारी है । मैं प्रस्तावित कर्तव्य क्यों कर निभा सकूँगा । ज़ाकिर साहिब ने अपने विशेष अंदाज़ में कहा । भई हर काम आरंभ में सब के लिए नया होता है । इस काम से आप को जो झिझक है वह मुझे भी है । पत्थर तोड़ कर पहाड़ी रास्ता बनाना कठिन कार्य है । लेकिन हम सब मिल कर अपनी-अपनी योग्यताओं को काम में लाएंगे तो रास्ता तैयार हो जाएगा । प्रारंभिक क़ौमी शिक्षा के केवल चंद नियम ही हमारे सामने हैं, उन्हें किस रूप से कार्यान्वित किया जाएगा इसकी व्यापकता और सीमाओं का निश्चय करना है । और यह हम सब कुछ कर सकेंगे, अगर उच्चोत्साह, दूरदर्शिता और सहयोग से काम लेंगे । ज़ाकिर साहिब की इन बातों से कुछ हिम्मत बंधी और मैंने उन के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया ।

जामिया के अधिकतर कार्यकर्ताओं के निकट ज़ाकिर साहिब की प्रतिष्ठा एक साथ एक मित्र, दर्शनशास्त्री, और मार्गदर्शक की थी । स्वंय ज़ाकिर साहिब के शब्दों में टोली का प्रबंधक बराबरवालों में अगुआ की श्रेणी रखता है । जामिया में हम लोगों के संबंधों

का आधार पारस्परिक विश्वास पर निर्भर था। ज़ाकिर साहिब और हमारे बीच औपचारिक व्यवहार की दीवार नहीं थी। इसलिए हम अपने व्यक्तिगत कामों में भी उनसे परामर्श और सहायता माँगने में कोई झिझक या हिचकिचाहट महसूस नहीं करते थे। मुझे याद पड़ता है कि एक बार मेरे घर वालों को अचानक एक आर्थिक आवश्यकता का सामना करना पड़ा, जिसे मैं स्वंय पूरा नहीं कर सकता था। मैंने ज़ाकिर साहिब से अपनी परेशानी बताई कि अगर पूंजी का तुरंत प्रबंध न हो सका तो मेरे घर वालों को बड़ी लज्जा और कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। यह बात सुन कर ज़ाकिर साहिब चिंताकुल हो गए। मैंने कहा कि आप ने मुझे कुछ लिखने का काम दिया था, वह मैं कर रहा हूँ। इसके बदले में यह पूँजी काटी जा सकती है। अगर पूंजी का अग्रिम भुगतान हो सके तो इस समस्या का समाधान हो जाएगा। ज़ाकिर साहिब ने भरोसा दिलाया कि इसी दिन दोपहर तक मेरे पास रक़म पहुँच जाएगी। अत: मैं कॉलिज में एक बजे तक प्रतीक्षा करता रहा। मायूस हो कर ज़ाकिर साहिब को याद दिलाने के लिए एक पत्र चपरासी द्वारा भेजा और अपने घर पर बहुत उदास पहुँचा तो ज्ञात हुआ कि रक़म दो घंटे पहले मिल गई थी। मुझे अपनी उतावलेपन और अधीरता पर बड़ी लज्जा आई और प्रतिज्ञा पालन की शक्ति का एहसास हुआ।

यूँ तो ज़ाकिर साहिब के सामने जो समस्या आती थी उस के बारे में अपने विचार सोच समझ कर बनाते थे, लेकिन दूसरों की विरोधी सोच-विचार को उदारता और गंभीरता के साथ सुनने के लिए तैयार रहते थे। यही कारण था कि हम स्वतंत्रता के साथ किसी भी समस्या पर उन से वाद-विवाद कर सकते थे। अगर कोई उन की बात से सहमत न हो सके तो उन में इतनी सहनशक्ति थी कि विरोधी राय को दबाने का प्रयत्न नहीं होता था। यहाँ मुझे चंद वृत्तांत याद आते हैं। जब भावनाओं के जोश में मेरा उनसे टकराव हुआ। लेकिन उस कारण से बाद में उन के व्यवहार में कोई अंतर नहीं आया।

उदाहरणार्थ यहाँ ऐसी दो घटनाओं की चर्चा करूँगा। एक घटना तो यह है कि ज़ाकिर साहिब ने देहली के चीफ़ कमिश्नर को ओखला गाँव की प्रारंभिक पाठशाला के भवन का उद्घाटन करने के लिए निमंत्रित किया था। यह पाठशाला न्यूनाधिक टीचर्स कॉलिज के कर्मचारी वर्ग के प्रयत्नों का गुण था। मैं और मेरे कुछ साथी ज़ाकिर साहिब के इस कार्यक्रम पर बहुत अप्रसन्न थे। इस का विशेष कारण उस समय के राजनीतिक हालात थे जिन से देश गुज़र रहा था। यह दूसरे महायुद्ध का समय था जबकि शासक क़ौमी आंदोलन को कुचलने के लिए अत्याचार कर रहे थे, यहाँ तक कि कुछ प्रान्तों में जहाँ युद्ध से पहले प्रारंभिक शिक्षा का कुछ काम आरंभ हो गया था उसे भी किसी न किसी बहाने से बंद करवा दिया था। मैंने ज़ाकिर साहिब को इस सम्बंध में बहुत कड़वी और तीखे अंदाज़ में बातें कही थीं और इस बात पर ज़ोर दिया था कि अपने निर्णय पर पुन: विचार करें लेकिन निष्फल, क्योंकि उन की सोच थी कि इस कार्यवाही से देहली के क्षेत्र

में प्रारंभिक शिक्षा का काम फैलाने में सहयोग मिलेगा। प्रोग्राम के अनुसार सभा हुई, यद्यपि मैंने और दो एक साथियों ने इसका बाईकॉट किया।

दूसरी घटना जामिया के विद्यार्थियों के यूनीफ़ार्म में टोपी के डिज़ाइन की तबदीली से संबंधित है। इस ज़माने में विशेष रूप से जामिया के प्राथमिक और माध्यमिक पाठशालाओं के बच्चों के वस्त्र में यह टोपी एक पहचान थी जिसे आम भाषा में गाँधी कैप कहा जाता था। जामिया के अध्यापक और दूसरे कार्यकर्ता भी प्राय: वही टोपी प्रयोग करते थे। उस समय में जबकि मुस्लिम लीग की नेतृत्व में पाकिस्तान का आंदोलन पूरे ज़ोरों पर था, तो मुसलमानों का उल्लेखनीय समुदाय लीग के अनुसरण में हर उस चीज़ को घृणा की दृष्टि से देखता था जिस का संबंध कांग्रेस पार्टी से हो। इस कारण कैप भी उन लोगों के निकट निंदा का कारण थी और वह उस मुसलमान के साथ अत्याधिक अभद्र व्यवहार करने से भी नहीं चूकते थे, जो गाँधी कैप पहने हुए दिखाई देता। आवाज़ें लगाते कि काफ़िरों का ग़ुलाम जा रहा है। हमारे एक कार्यकर्ता के साथ शहर में यह अशिष्ट व्यवहार हो चुका था। उस के सिर से टोपी उड़ा दी गई थी। ज़ाकिर साहिब पर मौजूदा स्थिति का यह प्रभाव पड़ा कि वह टोपी का डिज़ाइन बदलने पर तैयार हो गए। जामिया के कार्यकर्ताओं में लोगों की अधिक संख्या थी जो इस प्रकार के परिवर्तन के विरोधी थे। मैंने ज़ाकिर साहिब से विवाद किया कि गाँधी कैप को रखना चाहिए, इसलिए कि यह टोपी हमारी स्वतंत्रता की संघर्ष का एक चिन्ह है। यह केवल एक सिर ढकने की चीज़ नहीं है बल्कि इस के साथ बलिदानों का एक इतिहास जुड़ा है, अनगिनत स्वतंत्रता सेनानियों के बलिदानों का इतिहास। ज़ाकिर साहिब ने अपने निश्चय का यह औचित्य व्यक्त किया कि हमारे विद्यार्थी इस टोपी के कारण अत्यंत अशलील व्यंग्य का निशाना बनते हैं। उन पर भाँत-भाँत की फबतियाँ कसी जाती हैं जिससे उन्हें अपमान सहना पड़ता है। फिर अंतत: इस टोपी में ऐसी कौन सी पवित्रता है कि इसे बदला न जा सके, जबकि कुछ चोटी के कांग्रेसी मुस्लिम लीडरों ने यह टोपी कभी नहीं पहनी। न हकीम अजमल ख़ाँ ने, डॉक्टर मुख़्तार अहमद अन्सारी ने और न ही मौलाना अबुलकलाम आज़ाद यह टोपी पहनते हैं।

ज़ाकिर साहिब की महत्ता का यह प्रमाण है कि मेरी इन बातों ने जो स्पष्टत: अनुचित थीं, उन्होंने अपने न्यायप्रियता को प्रभावित नहीं होने दिया और मैं निरंतर उन की सहायता और दया दृष्टि का पात्र बना रहा। उनका व्यक्तित्व इंद्रियदमन का एक नमूना था। बड़ी से बड़ी अनुचित उत्तेजना भी उनके मानसिक संतुलन को बिगाड़ नहीं सकती थी। वह ऐसी दशा में अपने ऊपर कंट्रोल रखते थे जो दूसरों के लिए क्रोध का कारण हो सकती है। यही कारण है कि जामिया में लोग कहा करते थे कि ज़ाकिर साहिब में झेलने की असीम योग्यता है।

तर्क-वितर्क में ज़ाकिर साहिब प्राय: विपरीत पद्धति अपनाया करते थे। आप किसी

विषय में जो मत प्रकट करते, वह जानबूझ कर उसके विरोध में युक्ति देते। उनका उद्देश्य यह होता था कि वह इस प्रकार आप की सोच की गहराई का अंदाज़ा लगा सकें, और यह कि आप के निश्चय का आधार किस हद तक दृढ़ है। इस तर्क के फलस्वरूप आप को अपनी निर्बलता का ज्ञान हो जाएगा तो अपनी चिंतन के संशोधन का अवसर मिलेगा। अगर ज़ाकिर साहिब देखते कि आप की सलाह ठोस आधार पर स्थित है, तो उचित रूप से सराहते और प्रोत्साहित करते। निश्चित रूप से ज़ाकिर साहिब आदर्शवादी थे, लेकिन वह जीवन के ठोस यथार्थ का भी एहसास रखते थे। उन्हें विश्वास था कि किसी काम की पूर्णता में अंततः मनुष्य की योग्यता ही निर्णायक होती है। हवाई क़िले बनाना निरर्थक है। मनुष्य के व्यक्तित्व पर ही निर्भर है कि कितने प्रयत्न और परिश्रम के साथ किया जाएगा और उसका फल क्या हो। यही कारण था कि ज़ाकिर साहिब ने सदैव यह सलाह दी कि हम ऐसी योजनाएँ हाथ में लें जिन्हें उन मानवीय और भौतिक साधनों की सहायता से पूरा किया जा सकता हो जो हमारी पहुँच के अंदर हैं। वह मानवीय विषयों में गहरी दृष्टि और सूझ-बूझ रखते थे। वह मनुष्य की योग्यता का थोड़ा बहुत सही अनुमान लगा लेते थे कि उस में कौन सी अच्छाई और बुराई है, उस की संभावनाएँ और सीमाएँ क्या हैं, उस से क्या आशा की जा सकती है और कौन सी चीज़ उस की शक्ति से बाहर होगी। इस विश्लेषण की रोशनी में ज़ाकिर साहिब उचित आदमी को ठीक समय पर उचित काम सुपुर्द करते थे। इस प्रकार दोहरा लाभ होता था। एक तो काम व्यवस्थित रुप से पूर्ण हो जाता था और दूसरे यह कि संबंधित व्यक्ति को अपनी योग्यताओं को कार्यान्वित करने की संतुष्टि प्राप्त होती थी। यह पद्धति थी जिस ने उन लोगों को लेखक बना दिया जिन्हें पहले कभी अपनी किसी चीज़ को प्रकाशित करने की हिम्मत नहीं हुई थी। कुछ ऐसे थे जिनमें न कोई विशेष शैक्षिक योग्यता थी और न कोई व्यवसायिक कौशल, लेकिन उन्होंने रचनात्मक शिक्षण में नाम कमाया। उस का एक स्पष्ट उदाहरण प्राइमरी स्कूल के एक अध्यापक अब्दुलग़फ़्फ़ार मुधोली साहिब थे कि वह हाई स्कूल तक की शिक्षा भी पूरी नहीं कर सके थे। कुछ नवागन्तुक और अनुभवहीन अध्यापक उदाहरणतः अतीक़ अहमद साहिब प्राइमरी स्कूल के निरीक्षक बनाए गए और इसमें सफल हुए।

ज़ाकिर साहिब ने विभिन्न प्रकार के उत्तरदायित्व देकर मेरी योग्यताओं को भी उजागर किया। 1941 में प्रारंभिक क़ौमी शिक्षा के दूसरे कुल हिंद अधिवेशन का सम्मेलन जामिया में होना तै पाया। इस संदर्भ में एक शैक्षिक प्रदर्शनी का भी प्रबंध करना था। ज़ाकिर साहिब ने यह काम मेरे सुपुर्द किया। यद्यपि मुझे इस प्रकार का कोई अनुभव नहीं था। इस प्रदर्शनी के लिए प्रारंभिक शिक्षा से संबंधित साहित्य तैयार कराने का काम विशेष महत्त्व रखता था। मुझे जामिया में आए हुए अभी संभवतः दो साल हुए थे और लेखन-तथा संपादन का काम मेरे लिए एक दम नया था। लेकिन जिस सहानुभूति से ज़ाकिर साहिब ने मार्गदर्शन किया और जिस उदारता से दूसरे साथियों ने साहस बढ़ाया उससे काम

करने में बड़ा आनंद आया। कठिनाईयाँ कम से कम होती चली गईं और अंततः अच्छी ख़ासी प्रदर्शनी तैयार हो गई। कुछ समय पश्चात् पत्रिका "नई तालीम" के उर्दू संस्करण के संपादन की ज़िम्मेदारी मेरे सुपुर्द की गई जबकि इससे पहले मेरा कोई उल्लेखनीय लेखन प्रकाशित नहीं हुआ था। नई तालीम का हिंदी संस्करण हिंदुस्तानी तालीमी संघ के केंद्रीय कार्यालय सेवाग्राम (वरधा) से प्रतिमास प्रकाशित होता था। गाँधी जी के रचनात्मक प्रोग्राम में प्रारंभिक क़ौमी शिक्षा का काम भी संमिलित था और इस के विकास और उन्नति के लिए उन्होंने हिंदुस्तानी तालीमी संघ का कार्यालय स्थापित किया था जिसके अध्यक्ष डॉक्टर ज़ाकिर हुसैन थे। इस प्रकार पत्रिका नई तालीम का बड़ा महत्त्व था और इस का संपादन एक बड़ी श्रेष्ठता, जो मुझ जैसे अनुभवहीन व्यक्ति को ज़ाकिर साहिब द्वारा प्राप्त हुई और इस प्रकार मैंने लेखन के क्षेत्र में क़दम रखा।

ज़ाकिर साहिब के स्वभाव की एक स्पष्ट अच्छाई यह थी कि उन्हें दूसरे के आत्मसंमान का अत्यंत एहसास था। वह आत्मसम्मान की क़ीमत पर किसी से समझौता नहीं कर सकते थे और अपने व्यवहार से दूसरों को भी आत्मसम्मान के संरक्षण की प्रेरणा देते थे। इस का एक उदाहरण यह है-- ज़ाकिर साहिब ने प्रारंभिक पाठशालाओं के काम में सुगमता लाने के लिए विचार प्रकट किया कि निर्देश-पुस्तिकाएँ संपादित की जाएँ और उन्हें प्रकाशित किया जाए। मुझे भी इसके लिए प्रोत्साहित किया। उन्हें आशा थी कि हिंदुस्तानी तालीमी संघ उन पुस्तकों को प्रकाशित करेगा। जब मैंने अपनी पुस्तक की पांडुलिपि तैयार कर ली तो ज़ाकिर साहिब ने संघ की एक बैठक में प्रस्ताव किया कि प्रारंभिक अध्यापकों के मार्गदर्शन के लिए पुस्तकें प्रकाशित करना प्रारंभिक शिक्षण की उन्नति और विकास के लिए एक प्रभावकारी क़दम होगा। और यह कहा कि जामिया में एक अध्यापक ऐसी पुस्तक तैयार कर सकता है। लेकिन ज़ाकिर साहिब ने बैठक में महसूस किया कि संघ के कुछ कार्यकर्ता उनके प्रस्ताव के बारे में संदेह रखते हैं। इस कारण अपने प्रस्ताव को वहीं और उसी समय समाप्त कर दिया। तद्पश्चात् ज़ाकिर साहिब ने मुझे बताया कि संघ की बैठक में उन्हें ऐसा लगा कि कुछ कार्यकर्ताओं को शंका है कि जामिया के अध्यापक को संघ के साधनों से अनुचित लाभ पहुँचाने का प्रयत्न किया जा रहा है। अतः स्वाभिमान का तक़ाज़ा है कि अब अगर संघ इस पुस्तक को प्रकाशित करने का प्रस्ताव भी करे तो मुझे इस की सहमति नहीं देनी चाहिए। यह आत्मसम्मान और सत्यनिष्ठता का प्रश्न है, यह वह नैतिक मूल्य है जिनका संरक्षण हर हाल में आवश्यक है, चाहे हमें अपने अति आवश्यक लाभ का बलिदान ही करना पड़े।

यह विवादित प्रश्न है कि ज़ाकिर साहिब ने कभी दावा किया कि वह शक्ति रखते हैं। उन के कुछ सहयोगियों का विचार है कि उनमें यह शक्ति स्वभावतः थी जिस के द्वारा वह कुछ ऐसी चीज़ें कर गुज़रते थे जिनके लिए स्पष्टतः कोई लक्ष्य या तर्कसंगत आधार नहीं ज्ञात होता था। लेकिन उस का विश्लेषण यूं भी किया जा सकता है कि उन की ऐसी

कार्य-प्रणाली उन की अद्‌भुत प्रतिभा का प्रमाण है जिसके कारण उनमें ऐसी दूरदर्शिता पैदा हो गई थी कि उन्हें उन चीज़ों का भी ज्ञान हो जाता था, जो और लोगों की दृष्टि से छुपी होती थीं। ज़ाकिर साहिब ने ऐसी तीक्ष्ण बुद्धि पाई थी कि उनके सामने जो समस्या आती, उसकी तह तक वह बहुत जल्द पहुँच जाते और फिर आवश्यक कार्यवाही करते थे। जिस का कोई स्पष्ट औचित्य दिखाई नहीं देता था, उसे रद्द कर दिया जाता था। जो व्यक्ति उन से मिलने आता, अपनी बात आरंभ करता तो ज़ाकिर साहिब तुरंत उस के मूल उद्देश्य को भाँप लेते चाहे उसने अपनी बात कैसी ही सावधानी से कही हो।

ज़ाकिर साहिब में एक अच्छाई यह थी कि वह हर विचार और मत के लोगों से मिलते थे। विरोधी दलों से संबंध रखने वाले व्यक्तियों से भी उनके संबंध थे। यही कारण था कि वह कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं को जामिया की सिलवर जुबली, 1946 के उद्‌घाटन समारोह में एक साथ आने पर तैयार कर सके। ज़ाकिर साहिब ने यह अद्‌भुत कार्य कर दिखाया कि पंडित जवाहर लाल नेहरु और मौहम्मद अली जिन्नाह इस सभा में मौजूद थे। और यह उस समय हुआ जब हाल ही में कलकत्ते में भयानक साम्प्रदायिक झगड़े हो चुके थे और वहाँ कई दिन ख़ून की नदियाँ बह चुकी थीं। इस की गूँज देश के दूसरे प्रांतों में इस समय भी सुनाई दे रही थी। ऐसे ख़राब वातावरण में इस प्रकार के समारोह का आयोजन दीवाने का ख़्वाब मालूम होता था। लेकिन ज़ाकिर साहिब की कुशल कूटनीति सत्यार्थ हुई। इस अवसर पर उन्होंने जो भाषण दिया वह उनकी मानसिक पीड़ा और हृदय की तपन का सूचक है, जो वास्तव में घायल मानवजाति की पुकार है। इस अवसर से लाभ उठा कर ज़ाकिर साहिब ने राष्ट्रीय नेताओं से अपील की कि ईश्वर के लिए, सिर जोड़ कर बैठिये और ऐसा उपाय निकालिये कि देश में निर्दयता का प्रभाव न हो सके और शांति का वातावरण स्थापित हो ताकि शैक्षिक संस्थाएं मानवजाति की उन्नति के लिए काम कर सकें क्योंकि वास्तव में यह उनका कर्तव्य है।

ऐसे बहुत से व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपनी विद्वता और पांडित्यपूर्ण कारनामों के कारण बहुत लोकप्रियता प्राप्त की या किसी विशेष कला में दक्षता के कारण अद्‌भुत विशिष्टता प्राप्त की। लेकिन ऐसे ख्याति प्राप्त कम हैं जिनका व्यक्तित्व सर्वसपंन्नगुणों और सफलता का नमूना हो। ज़ाकिर साहिब को उन चंद व्यक्तियों में संमिलित किया जा सकता है जो न केवल एक प्रसिद्ध शिक्षाविद थे बल्कि एक अच्छे इन्सान भी थे। उनकी हर चीज़ में स्पष्ट मत था। उनके रहने और काम करने के स्थान का सामान, उन का वस्त्र और प्रयोग की सभी चीज़ें यद्यपि सादा और कम क़ीमत होती थीं, लेकिन उनकी अभिरुचि को प्रतिबिंबित करती थीं। छोटे से छोटा काम जो वह हाथ में लेते थे, उसको प्राकाष्ठा की सीमा तक पहुँचाने का प्रयत्न करते थे। उनका कथन था जो काम करने के योग्य है, इस योग्य भी है कि उसे अच्छे से अच्छे ढंगसे किया जाए। इसलिए इसकी योजना और छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देना भी बहुत आवश्यक है। अगर काम में कोई रुकावट हो

जाए तो उससे उनका साहस टूटता नहीं था, बल्कि रुकावट पर क़ाबू पाने का वह उपाय करते थे। मुझे याद पड़ता है कि उस समय की सरकार की उपेक्षा और परस्पर द्वेषपूर्ण व्यवहार के कारण एक साल हमारे कॉलिज में केवल सात विद्यार्थियों ने प्रवेश लिया। मैं बहुत परेशान हुआ और ज़ाकिर साहिब से कहा कि इतनी कम संख्या पर परिश्रम और समय लगाने से अच्छा होगा कि कॉलिज बंद कर दिया जाए। ज़ाकिर साहिब ने प्रतिक्रिया के तौर पर पते की बात कही कि वह सौदागर बहुत नासमझ होगा जो बाज़ार में मंदे की ताब न लाकर दुकान बंद कर बैठे।

उन दिनों जामिया की आर्थिक अवस्था बहुत चिंताजनक थी। कार्यकर्ताओं के वेतन बहुत कम थे, स्वंय ज़ाकिर साहिब क़लंदरों-जैसा जीवन बसर करते थे। कभी-कभी उनकी जेब बिल्कुल ख़ाली होती थी। एक बार ऐसा हुआ कि "न्यू एजूकेशन फ़ैलोशिप" कानफ़रेंस लाहौर में आयोजित हुई। यह 1946 के आस-पास की बात है। उनके साथ मैं भी कानफ़ेरेंस में गया था। वापसी में जब हमारे मेज़बान की मोटर हमें रेलवे स्टेशन पहुँचाने गई तो ज़ाकिर साहिब ड्राइवर को नियमानुसार टिप देना चाहते थे लेकिन उनके पास इतनी राशि नहीं थी कि वह रक़म अदा कर सकें। एक तरफ़ जा कर मुझ से कुछ रुपए लिए और ड्राइवर को इस प्रकार दिए कि कोई यह न देख सके कि क्या कर रहे हैं।

ऐसी नाज़ुक स्थिति में आवश्यक था कि जामिया के कार्यकर्ता किसी और काम के द्वारा अपनी आर्थिक आवश्यकताओं में बढ़ोतरी करें। ज़ाकिर साहिब को इस का अत्यंत एहसास था। इसलिए वह ज़रुरतमंदों को उनकी योग्यता के अनुसार अधिक काम दिलाने का प्रयत्न करते थे। वह ऐसे संवेदनशील मनुष्य थे कि भाँप लेते थे कि उन के किस साथी को क्या परेशानी है और उसे दूर करने का यथाशक्ति कोई रास्ता निकाल लेते थे। इस संदर्भ में एक घटना यह है-- उन्हें ज्ञान हुआ कि जामिया के एक पुराने अध्यापक की पत्नी छुट्टियों में अपने घर नहीं जा रही हैं क्योंकि उनके पास वहाँ के लिए कोई ढंग का वस्त्र नहीं है। जामिया में तो वह फटे पुराने कपड़ों में गुज़ारा कर लेती हैं परंतु वहाँ उन कपड़ों में जाते हुए लज्जा कर रही हैं। ज़ाकिर साहिब ने समस्या की नज़ाकत को भाँप लिया और इसके लिए अग्रिम राशि के भुगतान का प्रयोजन कर दिया। वह जामिया के कार्यकर्ताओं की आर्थिक कठिनाइयों का कोई उचित उपाय निकालने पर गंभीरता से सोच-विचार कर रहे थे। एक अवसर पर मुझे बताया कि अगर प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का बीमा कराया जा सके, रहने के लिए मकान का प्रबंध हो जाए और उनकी संतान की योग्यतानुसार उचित शिक्षा की गारैन्टी दी जा सके तो तमाम कार्यकर्ता कम वेतन के बावजूद अधिक संतोष और संलग्नता के साथ अपने कर्तव्य संपन्न कर सकेंगे। इसके लिए जो पूँजी आवश्यक होगी उस की प्राप्ति कैसे की जाए, इस के बारे में हमें सोचना चाहिए और कोई उपाय निकालना चाहिए। ज़ाकिर साहिब जामिया से जाने के पश्चात भी

अपने उन पुराने साथियों के बारे में विशेष रूप से चिंतित रहे जब आर्थिक अवस्था बहुत नाज़ुक थी, यद्यपि नियमानुसार जामिया के दिन प्रतिदिन की समस्याओं से उन का कोई संबंध नहीं था। जब वह भारत के उपराष्ट्रपति के पद पर थे, जामिया को यू.जी.सी. एक्ट (1965) की धारा 3 के अनुसार विश्वविद्यालय मान लिया गया। उसके फलस्वरूप जामिया को शैक्षिक और प्रबंधात्मक कार्यों को पूरा करने के लिए दूसरे विश्वविद्यालयों के समान नियम बनाने पड़े, इस लिए कार्यकर्ताओं के रिटायर करने की आयु भी निश्चित की गई। मैं इस समय जब ज़ाकिर साहिब से मिलने गया तो इस संदर्भ में उन्होंने अपनी परेशानी व्यक्त की, विशेषत: उन साथियों के बारे में जिन के पास रिटायर होने के पश्चात जीवन बिताने के कोई साधन नहीं होंगे। इस संदर्भ में जामिया प्राइमरी स्कूल के एक अध्यापक अहमद अली आज़ाद साहिब का उल्लेख किया कि उनके परिवार की क्या अवस्था होगी।

ज़ाकिर साहिब होनहार और उच्चाकांक्षी व्यक्तियों की खोज में रहते थे जो जामिया के कठिन जीवन को सहन कर सकें। जहाँ कहीं ऐसा व्यक्ति दिखाई देता, उसे जामिया में खींच लाते और हर प्रकार उसकी योग्यताओं को पनपने में सहयोग देते और अंतत: वह जामिया बिरादरी का एक अटूट भाग बन जाता। यूँ तो उस समय जामिया एक छोटी सी संस्था थी लेकिन अपनी उमंग से काम करने की स्वतंत्रता और साथियों का सहयोग ऐसी चीज़ें थीं कि हर व्यक्ति महसूस करता था कि वह एक दिलचस्प, मनोरंजक और बड़ा काम कर रहा है और इस प्रकार आत्मसंतुष्टि की मंज़िल की ओर क़दम बढ़ा रहा है।

अंतिम बार मैं ज़ाकिर साहिब से राष्ट्रपति भवन में उन की मृत्यु से चार पाँच दिन पहले मिला। मिलने की एक विशेष आवश्यकता थी। मैं अप्रैल 1969 में राजस्थान विश्वविद्यालय के निमंत्रण पर उस के संयुक्त ट्रेनिंग कॉलिजों की प्रायोगिक परीक्षा लेने गया था। यह कार्यालय राज्य के विभिन्न महत्वपूर्ण नगरों में स्थित थे। इस संदर्भ में मुझे हाई स्कूलों में जाने का अवसर मिला जहाँ ट्रेनिंग कॉलिजों के विद्यार्थियों की परीक्षा हो रही थी। मैंने देखा कि उन सभी स्कूलों में तमाम पूर्ववर्ती और मौजूदा प्राइम मिनिस्टरों, राष्ट्रपतियों और श्रेष्ठ राष्ट्रीय नेताओं के फ़ोटो लगे थे सिवाय मौजूदा राष्ट्रपति डॉक्टर ज़ाकिर हुसैन या दूसरे मुस्लिम राष्ट्रीय नेताओं के; यह चीज़ मुझे बहुत खटकी कि यह स्थिति राष्ट्रीय यकजहती और सेकुलरइज़्म की स्प्रिट के विरुद्ध थी। अपनी इस भावना को ज़ाकिर साहिब से कहना चाहता था। इसलिए मैंने कहा कि हमारे शैक्षिक कार्यालय जिन का विशेष उद्देश्य राष्ट्रीय यकजहती को बढ़ावा देना और नई पीढ़ी में संपूर्ण देशवासियों के लिए धर्म के भेद-भाव के बिना, बराबरी और सम्मान की भावना उत्पन्न करना है, अपने कर्तव्य से बेख़बर हैं। प्रतिक्रिया के रुप में ज़ाकिर साहिब ने कहा कि यह अवस्था अवश्य चिंताजनक है। इससे निबटने के लिए हमें शिक्षण-प्रशिक्षण के प्रोग्राम पर विशेष ध्यान देना होगा कि यह उचित गुणों के प्रचार का प्रभावकारी साधन बन सकें और

इस दृष्टि से न केवल औपचारिक शिक्षा के केंद्रों का नये सिरे से निर्माण करना होगा बल्कि संचार के सभी माध्यम-रेडियो, टेलीविज़न, समाचार पत्र और पत्रिकाएँ आदि को संकल्प के रूप में काम में लाना होगा।

इस लेख में ज़ाकिर साहिब के व्यक्तित्व और गुणों का एक ख़ाका पेश करने का प्रयत्न किया गया है। इससे यह बात स्पष्ट होनी है कि बड़े व्यक्ति की निशानी है चिंतन, कथन और करनी में सामंजस्य। ऐसे व्यक्तित्व से प्राप्त सम्मान भरपूर जीवन की ज़मानत है।

डा. ज़ाकिर हुसैन अलीगढ़ में

ख़लीक़ अहमद निज़ामी

डा. ज़ाकिर हुसैन के व्यक्तित्व और विचारों के निर्माण में अलीगढ़ का विशेष योगदान रहा है। स्वयं उन्होंने भी देश विभाजन के समय उसे टूटने, बिखरने, हताशा और निराशा के अंधकार से बचाकर अलीगढ़ के इस सुखद ऋण को अदा किया। परिणामत: स्वतंत्र हिन्दुस्तान में अलीगढ़ का अपना अस्तित्व क़ायम रहा। अलीगढ़ में कालिज स्तर की शिक्षा प्राप्त करने के दौरान ही उन्होंने अंग्रेज़ विरोधी गतिविधियाँ प्रारम्भ कीं और असहयोग आंदोलन में सक्रिय हुए। वह अलीगढ़ छात्र संघ के विप्लवी वक्ता के रूप में प्रसिद्ध थे। उन्होंने अंग्रेज़ों के विरुद्ध मोर्चा खोल दिया और अपने उत्तेजक और तर्कसंगत भाषणों से छात्रों को अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध उकसाया और असहयोग आंदोलन में अधिक से अधिक सहयोग देने का आवाहन किया। अलीगढ़ के व्यवस्थापकों के निराशाजनक नीति से क्षुब्ध होकर उन्होंने जामिया मिल्लिया की स्थापना की ताकि अधिकतर लोगों को इस आंदोलन से जोड़ा जा सके। तत्पश्चात् वह दिल्ली प्रस्थान कर गये और लगभग पच्चीस वर्ष जामिया की सेवा में तल्लीन रहे। सन् 1948 ई. में पुन: अलीगढ़ वापस आए ताकि अपनी मातृ शिक्षालय को संकट से उभार सकें। इस प्रकार उनका पचास वर्षीय जीवन काल इस संस्था में एक विद्रोही और उसके एक अधिवक्ता के रूप में व्यतीत हुआ।

28, जनवरी सन् 1957 ई. के दीक्षांत समारोह में अभिभाषण देते हुए उन्होंने कहा था: उनके जीवन में अलीगढ़ ने अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उन्होंने अपने संबोधन में उल्लेख किया कि "मेरी दृष्टि सदैव अपने समुदाय की त्रुटियों पर रही, मैं कुढ़ता और जलता रहता था। फिर भी मैं एक सुनहरे भविष्य की कामना कर रहा था क्योंकि यही वह स्थान था जहाँ से मिलजुल कर संघर्षरत होने की शिक्षा प्राप्त हुई थी। हम इस संस्थान के प्रति सदैव निष्ठावान रहे किन्तु खेद है कि व्यवस्थापकों को जब हमने अपने से असंतुष्ट पाया तो हम विद्रोही हो गए और यहाँ से निकाले जाने के बाद हमने एक शताब्दी के पच्चीस वर्ष एक नई बस्ती बसाने में लगा दिए। फिर भी हमारे मन में इस संस्थान के प्रति कभी कोई कटुता उत्पन्न नहीं हुई, यहाँ तक कि नगर निष्कासित होकर भी हमारा मन इसी

में लगा रहा"। उनकी इच्छा थी कि अलीगढ़ ही उनका अंतिम विश्रामस्थल बने किन्तु भाग्य में तो और ही कुछ लिखा था।

अलीगढ़ का एक छात्र: ज़ाकिर साहब ने क़ायम गंज और इटावा में प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अलीगढ़ के एम.ए.ओ. कालिज में प्रवेश लिया तो उन्हें विद्यालय जीवन का कोई अनुभव नहीं था। परन्तु अपने जिज्ञासु स्वभाव के कारण शीघ्र ही विद्यालय की परम्पराओं को उन्होंने अपना लिया। साथ ही साथ मित्रों का एक समूह (रशीद अहमद सिद्दीक़ी, इकबाल सुहेल आदि) भी बना लिया। रोचक वार्तालाप और आकर्षक व्यक्तित्व ने उन्हें काफ़ी लोकप्रिय कर दिया। मित्रों द्वारा उन्हें 'गुरू' कह कर संबोधित किया जाता था।

उन्होंने छात्रसंघ में दिए गए अपने जादुई भाषणों से श्रोताओं के हृदय में स्थान बना लिया। वह सन् 1917 ई. में छात्रसंघ के उपाध्यक्ष भी रहे। वह सदैव मुख्य विषयों पर भाषण देते थे। "हिन्दुस्तान में भाषायी समस्या (14 अप्रैल सन् 1917 ई.), स्वतंत्रता का महत्व और लोकतंत्र" (15 नवम्बर 1917 ई-17 नवम्बर 1917 ई.), हिन्दुस्तान में शिक्षा की त्रुटियाँ (11 अगस्त सन् 1917 ई.), "देशभक्ति" (8 जनवरी सन् 1919 ई.), "व्यक्तिगत सम्पत्तियां प्रगति में बाधक" (24 नवम्बर 1919 ई.), "अलीगढ़ आंदोलन" (24 अप्रैल, सन् 1920 ई.) आदि ऐसे विषय थे जिन पर उनके तर्कसंगत भाषण मन और मस्तिष्क को झिंझोड़ कर रख देते थे। छात्रसंघ द्वारा उनको वादविवाद के अनेक सुअवसर प्राप्त हुए और उन्होंने अपनी वर्णनात्मक वाग्मिता से श्रोताओं को मुग्ध कर दिया। यह विशेषता उनमें जीवन पर्यन्त बनी रही।

29, अक्तूबर सन् 1920 ई. को जामिया मिल्लिया की स्थापना की गई। यह अलीगढ़ के उन व्यवस्थापकों के विरुद्ध एक प्रक्रिया थी जिनका झुकाव अंग्रेज़ी शासकों की ओर था। इस प्रकार विश्वविद्यालय से निकाले जाने के बाद उनका अधिकतर ध्यान जामिया के विकास पर केन्द्रित रहा जो बाद में दिल्ली स्थानांतरित हो गई।

अलीगढ़ से सम्बंध: देहली में डाक्टर ज़ाकिर हुसैन एक शिक्षाविद् के रूप में पहचाने गये और उन्होंने जामिया को राष्ट्रीय संघर्ष का प्रतीक बना लिया।

धीरे धीरे उनकी ख्याति एक शिक्षाविद् और योजना बनाने वाले के रूप में दूर दूर तक फैल गई। वह अलीगढ़ के विभिन्न समितियों के सदस्य नामित किए गए। सन् 1926 में अलीगढ़ आने वाले प्रमुख [illegible] जाती है। कुलपति सर [illegible]
मसूद अपने पत्र में ताहिर अली [illegible] और ज़ा[illegible]
हुसैन मेरे बड़े सहायक हैं। [illegible] विद्यालय [illegible]
आर्थिक कमेटी के सचिव [illegible]

अलीगढ़ के कुलपति: देश विभाजन के तत्पश्चात् विश्वविद्यालय के कुलपति पद के लिये सबकी दृष्टि सुयोग्यतम व्यक्ति डाक्टर ज़ाकिर हुसैन पर थी। देश विभाजन के परिणाम न केवल हर प्रकार से ख़राब थे बल्कि हृदय विदारक भी थे। सम्पूर्ण व्यवस्था छिन्न भिन्न हो गई थी। बहुत से अध्यापक, जिनका संबंध, पंजाब, सीमा प्रांत और सिंघ से था, देश का परित्याग कर पाकिस्तान चले गए और जो यहाँ रह गये वह अपने भविष्य के प्रति चिंतित थे। ज़ाकिर हुसैन के कथनानुसार वह लोग स्वयं को खोई हुई भेड़ अनुभव करते थे।

आपात् स्थिति ने चारों ओर उदासी और अंधकार का वातावरण उत्पन्न कर दिया था। व्यवहारिक और मनोवैज्ञानिक गुत्थियाँ सामने खड़ी थीं। मौलाना आज़ाद का ज़ाकिर साहब के कुलपति पद पर नियुक्ति का निर्णय अलीगढ़ विश्वविद्यालय के लिए वरदान सिद्ध हुआ। यदि मौलाना आज़ाद और पंडित जवाहर लाल नेहरू ज़ाकिर साहब की समय समय पर सहायता न करते और उन्हें प्रेरणा न देते तो अलीगढ़ अपना शैक्षिक मान सम्मान खो चुका होता।

डाक्टर ज़ाकिर हुसैन ने अलीगढ़ को नैराश्य के अंधकार से बाहर निकाला और अपनी व्यवहारिक बौद्धिक सूझ-बूझ का परिचय देते हुए उसमें न केवल नव जीवन का संचार किया अपितु उसकी खोई हुई प्रतिष्ठा वापस दिलाने में सफल रहे। ज़ाकिर हुसैन के प्रति श्रद्धा अर्पित करते हुए सर मिर्ज़ा इस्माईल ने कहा: "कुलपति के महत्वपूर्ण और सम्मानजनक पद पर ज़ाकिर हुसैन की नियुक्ति एक उत्कृष्ट निर्णय है *क्योंकि संसार में उन* जैसे कम लोग हैं जिन्हें शिक्षा और शिक्षामाध्यम पर इतनी दक्षता प्राप्त हो।"

सन् 1947 ई. के बाद अलीगढ़ गुलाबों की सेज नहीं था। परिवर्तित परिस्थतियों में आवश्यकता थी एक स्वस्थ दृष्टिकोण रखने वाले, परिश्रमी और सुयोग्य व्यक्ति की जो उस छिन्न-भिन्न व्यवस्था को सुव्यवस्थित कर सके। 27, फ़रवरी सन् 1950 ई. को दीक्षांत समारोह में रिपोर्ट पढ़ते हुए उन्होंने कहा था: "अलीगढ़ का कुलपति पद ग्रहण करते समय मुझे इस बात का पूर्वाभास था कि मेरे समक्ष मनोवैज्ञानिक और आर्थिक *समस्याएं आएंगी। मैं सहर्ष यहाँ उपस्थित सज्जनों को बताना चाहता हूँ कि विगत एक* वर्ष के अन्दर हमारे छात्रों में एक स्वस्थ और सुखद परिवर्तन आया है। अब वह स्वयं को खोई हुई भेड़ अनुभव नहीं करते बल्कि अपने सम्पूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वहन देश के एक विश्वस्त नागरिक की भाँति कर रहे हैं। वह अपने महान देश की नैतिक और आर्थिक हर प्रकार की सहायता करने को तत्पर हैं। वह महान देश के सच्चे नागरिक बनकर एक नई सभ्यता की आधारशिला रख रहे हैं, और बराबर हर सम्भव सहायता प्रदान कर रहे हैं। वह अपने अन्दर न्यायप्रियता और सहनशीलता पैदा कर रहे हैं, नये मूल्यों को उजागर कर रहे हैं ताकि अलीगढ़ को उसकी खोई हुई प्रतिष्ठा वापस दिला सकें, यही

मेरी इच्छा और मेरा सपना है ।"

यह कहना कदापि अतिश्योक्तिपूर्ण न होगा कि ज़ाकिर साहब ने अलीगढ़ को तबाह और बर्बाद होने से बचा लिया । मैथ्यू आर्नल्ड के कथनानुसार "उसने उस जगह पर उंगली रख दी और कहा कि तुम्हारी बीमारी यह है और इसी जगह है ।" उनके समक्ष सबसे महत्वपूर्ण समस्या यह थी कि संस्थान में व्याप्त उदासीनता की मानसिकता समाप्त हो ताकि एक स्वस्थ वातावरण पैदा हो । लोगों में राष्ट्रीय पहचान और आपसी मेल मिलाप की भावना का संचार हो, निराशा की घुटन का अंत हो । इसके अतिरिक्त सबसे गम्भीर समस्या उनके समक्ष यह थी कि देश परित्याग कर पाकिस्तान चले जाने वाले अध्यापकों के रिक्त स्थानों की पूर्ति किस प्रकार की जाए । ज़ाकिर साहब ने न केवल उन रिक्त स्थानों को भरा बल्कि अध्यापकों की एक नई पीढ़ी का मार्ग प्रशस्त किया जिसने उत्साह और लगन के साथ एक नये अलीगढ़ के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । 24, जनवरी सन् 1953 ई. को दीक्षांत समारोह के अवसर पर डाक्टर राधा कृष्णनन ने कहा था: "आपके कुलपति आपका और आपके संस्थान का विकास ठीक भारतीय संविधान के आदर्शों के अनुरूप कर रहे हैं ।"

ज़ाकिर साहब को पूर्वानुमान था कि अलीगढ़ का कुलपति पद ग्रहण करते ही उन्हें विभिन्न प्रकार की समस्याएं एक चुनौती के रूप में घेर लेंगी परन्तु अपने साहस और आत्मविश्वास के कारण उन्होंने सहर्ष इस संकटपूर्ण पद को स्वीकार भी कर लिया । ज़ाकिर साहब को इस का अनुमान तो अवश्य था कि जामिया छोड़ने के पश्चात उससे पूर्णत: संबंध समाप्त तो न होंगे परन्तु निश्चित रूप से जामिया की ओर अधिक ध्यान नहीं दे सकेंगे । लेकिन उन्होंने अलीगढ़ आने के बाद भी जामिया के अधूरे कामों को पूरा करवाया । दूसरे शब्दों में यह कहना सर्वथा उपयुक्त होगा कि उनके विचार में अलीगढ़ के कुलपति बनने के बाद उनको ऐसे अनेक अवसर अवश्य प्राप्त होंगे जिनमें जामिया के लिए देखे गये स्वपनों को साकार करना अधिक संभव और सरल हो सकेगा । इसी जामिया के लिए तो तीस वर्ष पूर्व अलीगढ़ को छोड़ना पड़ा था ।

एक ओर ज़ाकिर साहब अलीगढ़ की प्रगति, विकास, और अस्मिता स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे तो वहीं दूसरी ओर कुछ तत्वों द्वारा अलीगढ़ के विरुद्ध कुप्रचार किए जाने से कुंठित और दुखी भी थे । उन असमाजिक तत्वों की उन्होंने कड़े शब्दों में निंदा की और उन्हें चेतावनी भी दी । डाक्टर ज़ाकिर हुसैन ने आचार्य विनोबा भावे को विश्वविद्यालय आने का निमंत्रण दिया और इस अवसर पर उनको अध्यक्षता में इतना उत्तेजक और उत्साहपूर्ण भाषण दिया जो उपस्थित जनसमुदाय के मन-मस्तिष्क पर सदैव के लिए अक्षरश: अंकित हो गया । अलीगढ़ में राष्ट्रीय जीवन के निर्माण का जो बेहतर से बेहतर दृष्टिकोण हो सकता था वह उन्होंने अपनाया । उसका उल्लेख उन्होंने सन् 1951 ई. की वार्षिक रिपोर्ट में इस प्रकार किया है:

"अलीगढ़ जिस प्रकार काम करता है, जो उसका चिंतन है और जिस प्रकार अलीगढ़ ने राष्ट्रीयता का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है वह हिन्दुस्तानी मुसलमानों के राष्ट्र प्रेम और देशभक्ति का परिसूचक है । अलीगढ़ के उल्लेखनीय कार्य और उसका देश प्रेम, हमारी मातृभूमि के लिए आगे चलकर उसकी प्रगति और सच्ची राष्ट्रीयता का आधार सिद्ध होंगे।" बदले हुए परिवेश में देश का धर्मनिरपेक्ष होना निशचितत: इस बात की ओर संकेत करता था कि मुस्लिम विश्वविद्यालय के अधिनियम में संशोधन आवश्यक है । सन् 1951 के अधिनियम से यह पाबंदी हट गई थी कि ग़ैरमुस्लिम अलीगढ़ यूनीवर्सिटी कोर्ट के सदस्य न हों ।

उस समय यह धारणा बनी कि अलीगढ़ अपनी मुख्यधारा से विचलित हो गया है, उसके अतीत ने उसके राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय महत्व को कम कर दिया है । डाक्टर ज़ाकिर हुसैन ने अपनी दूरदर्शिता से इन दोनों को दूर कर दिया और अलीगढ़ को उसका स्थान वापस मिल गया । राष्ट्रीय नेता, जवाहर लाल नेहरू, आज़ाद, राजेन्द्र प्रसाद, जनरल कैरीअप्पा, के.एम.पानिकर और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के प्रमुख व्यक्ति, सऊदी अरब, अफ़ग़ानिस्तान, ईरान के बादशाह और आग़ा ख़ान के अलीगढ़ आगमन पर उनका भव्य स्वागत किया गया । विदेशी संस्थाओं और संगठनों से संबंध बढ़ाए गये । अरब के बादशाह सऊद ने अलीगढ़ के एक प्रतिनिधिमण्डल को अपने देश में आमंत्रित किया जिसका प्रतिनिधित्व डाक्टर ज़ाकिर हुसैन कर रहे थे । इस प्रतिनिधिमण्डल को अलीगढ़ में मेडिकल कालेज खोलने के लिए पर्याप्त अनुदान दिया गया । ईरान के शाह के भारत आने पर एक कोष निर्धारित किया गया जिस से फ़ारसी भाषा में प्रकाशन आरम्भ किया गया । यूरोप और इंग्लैंड से भी बहुत से प्रमुख व्यक्तियों ने अलीगढ़ आकर व्याख्यान दिए । डाक्टर ज़ाकिर हुसैन के अनुसार एक स्वस्थ मस्तिष्क की प्रगति में आस पास के वातावरण का बहुत बड़ा योगदान होता है । इसलिए इसका सुखद, सुन्दर, मनोहारी होना अति आवश्यक है । उनके अलीगढ़ आगमन से पूर्व लोगों में घोर निराशा और उदासी छायी हुई थी । उन्होंने विश्वविद्यालय परिसर में क़दम रखते ही सर्वप्रथम प्राकृतिक सौंदर्य को बढ़ावा देने के लिए सुन्दर वाटिकाएँ लगवाईं । कुछ लोगों ने इस पर आश्चर्य व्यक्त किया और आपत्ति प्रकट की कि ऐसी स्थिति में जबकि अलीगढ़ पर आक्रमण की यदा कदा चर्चाएँ हो रही थीं ज़ाकिर साहब को मनोविनोद का साधन जुटाने की क्या आवश्यकता थी । इस आलोचना का उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया: *"अगर भाग्य की विडंबना यही है कि अलीगढ़ पर आक्रमण हो और उसका अस्तित्व मिट जाए तो कम से कम आक्रमणकारियों को इसका दुख तो अवश्य होगा कि वह एक खूबसूरत जगह को ध्वस्त कर रहे हैं ।"*

जब पंडित जवाहर लाल नेहरू मौलाना आज़ाद पुस्तकालय और सैफ़ी छात्रावास की आधारशिला रखने अलीगढ़ आये तो ज़ाकिर हुसैन ने विशेष रूप से इन्हें विश्वविद्यालय

परिसर दिखाया जिसमें लगे हुए हरे भरे पौधों, गुलाबों और सुन्दर वाटिकाओं को देखकर जवाहर लाल नेहरू बहुत प्रसन्न हुए।

किसी भी संस्थान की प्रगति उसके साहित्यिक और शैक्षिक कार्यों से मापी जाती है। डाक्टर ज़ाकिर हुसैन ने अपनी विशेष रुचि से पुराने विज्ञान और कला विभागों का पुनः उद्धार कराया। इंजीनियरिंग और मेडिकल कालिज की स्थापना की। नई पीढ़ी का ध्यान अनुसंधान की ओर आकृष्ट कराया। यूनीवर्सिटी गज़ट में साहित्यिक एवं ज्ञान सूचक समाचार प्रकाशित होने लगे। उन्होंने उर्दू और इतिहास के विभागों में नये अनुसंधान प्रोजेक्टस आरंभ कराए और उनके लिए आर्थिक सहायता का प्रबन्ध किया। उर्दू विभाग को विशेष आर्थिक अनुदान दिया गया ताकि ऊर्दू साहित्य और भाषा का व्यापक और वृहद इतिहास संकलित किया जा सके। भारतीय मध्यकालीन इतिहास पर अनुसंधान के लिए और अधिक धन की व्यवस्था की गई। एक अंग्रेजी पत्रिका "मेडीवेल इंडियन" भी निकाली गई। यह उनकी सुरुचि और परिश्रम का ही परिणाम था कि इतिहास के इस विभाग को "सेन्टर फ़ार एडवांस स्टडीज़ इन इंडियन मेडीवेल हिस्ट्री" होने का गौरव प्राप्त हुआ। यह उनकी व्यक्तिगत निरंतर अभिरुचि से ही सम्भव हो सका कि आगामी बीस वर्षों में अलीगढ़ विश्वविद्यालय की युवा पीढ़ी ने शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में बहुमूल्य कार्य किए। उन्होंने गुलमर्ग प्रयोगशाला स्थापित की ताकि विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में संयुक्त रूप से कार्य हो सके। उन्होंने नेत्र चिकित्सालय भी स्थापित किया जिसे वह लन्दन के "मोरफ़ील्ड अस्पताल" के स्तर पर पहुँचाना चाहते थे। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के पास प्राच्य साहित्य की हस्तलिखित पोथियों का पर्याप्त भंडार है जिसके लिए एक विस्तृत सूची ग्रंथ की अत्याधिक आवश्यकता थी, ज़ाकिर साहब ने इसके लिए विद्वानों का चयन करके उन्हें यह उत्तरदायित्व सौंपा। उनकी इच्छा थी कि विश्वविद्यालय के लिए कहीं न कहीं से नई पांडुलिपि मिल जाए। इसके लिए वह निरंतर प्रयत्न करते रहते थे। एक बार उन्होंने एक पुस्तक विक्रेता से कुछ पांडुलिपियाँ कुछ मुँह माँगी क़ीमत पर खरीदीं। जब मैंने उनसे कहा कि आपने दाम अधिक दे दिए हैं जबकि मैं कम दामों पर खरीदता हूँ तो उनका उत्तर था कि: "मुझमें हिम्मत नहीं थी कि इस मूल्यवान पांडुलिपि का मूल्य कम कर सकूँ।"

उनको अलीगढ़ में प्राच्य साहित्य संबंधी पुस्तकें संग्रहित करने में विशेष रुचि थी। मौलाना आज़ाद पुस्तकालय की स्थापना उन्हीं की कल्पनानुकूल हुई है और जो हिन्दुस्तान में प्राच्य साहित्य का बहुत बड़ा केन्द्र है। अलीगढ़ की तरह तरह की जिम्मेदारियाँ और बाहर की व्यस्तता का उनके स्वास्थ्य पर कुप्रभाव पड़ा और उनको प्रथम हृदयगति रोधक दौरा पड़ा। परन्तु उन्होंने आराम नहीं किया और बराबर काम करते रहे। जब कभी उनका दिल घबराता तो आध्यात्मपरक पुस्तकों का अध्यन करते। सूफ़ी संतों के बारे में पढ़ कर उनके मन और मस्तिष्क को संतोष प्राप्त होता था। एक बार बीमारी की अवस्था में

उन्होंने मुझसे पच्चीस किताबें सूफ़ीमत पर ले कर पढ़ीं ।

उनके अस्वस्थ्य होने का लाभ उठाते हुए उनके विरोधियों ने अपनी गतिविधियाँ तेज़ कर दीं । ज़ाकिर साहब उनका प्रत्योत्तर देने में स्वयं सक्षम थे किंतु उन्होंने अपना त्यागपत्र देना ही उचित समझा । प्रोफ़ेसर मुहम्मद मुजीब ने उनके त्यागपत्र देने का एक और कारण बताते हुए लिखा है कि जब वह अलीगढ़ से प्रस्थान करने वाले थे तो डाक्टर ख़लीक़ अहमद निज़ामी ने उनको अपने यहाँ खाने पर आमंत्रित किया । परंतु खाने पर न आने के लिए ज़ाकिर साहब ने उनसे क्षमा याचना की और कहा कि मैं आप से एकांत में वार्ता करना चाहता हूँ । एक या दो दिन पश्चात् प्रात: कालीन नमाज़ पढ़ कर वह डाक्टर निज़ामी के घर गए और मौलाना आज़ाद के साथ हुई एक भेंट की चर्चा करते हुए बताया कि मौलना आज़ाद उन्हें विश्वविद्यासय अनुदान आयोग का अध्यक्ष नियुक्त करना चाहते हैं । ज़ाकिर साहब ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि इस या ऐसे किसी पद के लिये यदि वह भेंट स्वरूप प्राप्त हो तो इच्छा जाग्रत होना स्वाभाविक है । बाद में मौलाना आज़ाद ने अपना निर्णय बिना किसी कारण के बदल दिया और उस पद पर डाक्टर देशमुख की नियुक्ति का समाचार एक दिन उन्होंने रेडियो प्रसारण में सुना । उनको अत्याधिक दुख हुआ । जब शिक्षा मंत्रालय से फ़ोन आया तो उन्होंने फ़ोन पर वार्ता करना अस्वीकार कर दिया क्योंकि सम्भव था यह फ़ोन उनकी नियुक्त न होने पर कोई उचित कारण बताने के लिए किया गया है । कुछ दिनों पश्चात् जब वह देहली में थे तो प्रोफ़ेसर हुँमायू कबीर उनसे मिलने आए और कहा कि मौलाना आज़ाद भी आप से मिलने के इच्छुक हैं तो उन्होंने उत्तर दिया कि कृपया मौलाना आज़ाद से कहिए कि "उनके घर से मेरे घर की दूरी उतनी ही है जितनी दूरी मेरे घर से उनके घर की ।"

डाक्टर ज़ाकिर हुसैन की यह सज्जनता और यह उनका बड़प्पन था कि उन्होंने इस दुखद घटना की चर्चा कभी नहीं की ।

जब वह भारत के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए तो मैं उन्हें बधाई देने गया और कहा कि "ज़ाकिर साहब, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से राष्ट्रपति भवन की दूरी बहुत अधिक है ।"

कुछ क्षण तो वह समझ ही नहीं सके कि मैं क्या कह रहा हूँ किन्तु तुरंत ही उनकी आँखों से आँसू बहने लगे और उन्होंने कहा: "यदि किसी को अपने भविष्य के संबंध में पता हो तो वह या तो दुख के बोझ से या उल्लास के आधिक्य से मर न जाए ।"

अलीगढ़ की जो सेवाएं उन्होने कीं और उसके लिए जो सराहनीय कार्य उन्होंने निष्पन्न किए उनके संबंध में कोई सोच भी नहीं सकता । यह उनका ही व्यक्तित्व था जिसने अलीगढ़ को निराशाजनक अतीत से निकाल कर नवीन उत्साह, नया सम्मान, नवीन रूप दिया और उसे लोकतांत्रिक चिंतन पद्धति प्रदान की ।

ज़ाकिर साहब- एक श्रद्धांजली

हीरेन मुखर्जी

बड़ी प्रसन्नता की बात है कि ज़ाकिर हुसैन का जन्म शताब्दी समारोह (1897-1997ई.) मनाया जा रहा है । मैं उनकी स्मृति को नमन करता हूँ । वह भारत के राष्ट्रपति रहे (1967-1969ई.) । संभव है मेरी यह बात अतिश्योक्तिपूर्ण समझी जाए कि हर एक की इच्छा है कि यदि कभी भी किसी देश का कोई राष्ट्रपति बने तो वह भारत के राष्ट्रपति ज़ाकिर हुसैन जैसा हो । यदि कभी भी किसी इंसान के व्यक्तित्व में सुन्दरता, बुद्धिमत्ता, शालीनता जैसे गुण और देशभक्ति की भावना हो और उसे किसी देश का "प्रथम पुरुष" बनाना हो तो उसमें यह विशेषताएँ ज़ाकिर साहब जैसी हों । अपने भूतवर्ती राष्ट्रपति राजनीति विशारद और दार्शनिक सर्वपल्ली राधाकृष्णनन की भाँति उन्होंने सर्वप्रथम अपना क़दम राज्य सभा के परिसर में रखा । उपराष्ट्रपति पद पर उनकी नियुक्ति देश के राष्ट्रपति के लिए वरदान थी और उसमें पुन: प्राणप्रतिष्ठान की आवश्यकता थी ।

ज़ाकिर साहब दूसरे राजनीतिज्ञों से भिन्न थे । असाधारण सज्जनता और अत्यंत मानवीय गुणों से सुसज्जित इस व्यक्ति के लिए कोई भी चीज़ साधारण न थी । उनके व्यक्तित्व में स्वाभाविक गम्भीरता, विवेकपूर्णता और एक प्रकार का धैर्य था, परन्तु फिर भी वे अपने देश की राजनीति में निपुण थे । गाँधी जी ने कहा था कि उन्होंने उनका चयन उनकी विशिष्ट योग्यता "शिक्षा" के आधार पर किया था । गाँधी जी के शिक्षा सिद्धान्त को "बुनियादी शिक्षा" का नाम दिया गया है अर्थात मेहनत और विद्यार्जन एक दूसरे के पूरक हैं । यह अलग बात है कि यह शिक्षा प्रणाली हिन्दुस्तान जैसे देश में, जिसे हाल में ही स्वतंत्रता मिली थी, केवल एक प्रयास मात्र थी । ज़ाकिर साहब परिस्थितयों के विभिन्न उतार चढ़ाव से गुज़रे, साम्प्रदायिक संकट भी बराबर आते जाते रहे, परन्तु इन सबके बावजूद उन्हों ने जामिया मिलिया इस्लामिया की आधारशिला रखी और अपने कार्य से संतुष्ट भी थे । वह उस दीपशिखा के समान थे जो जलती-बुझती रहती है मगर फिर भी बुझती नहीं । वह एक गतिवान हिन्दुस्तानी थे । उनकी सबसे बड़ी चिंता थी कि हिन्दुस्तानी जनता की स्थिति ठीक न थी । अपने समकालीन मुहम्मद मुजीब और आबिद हुसैन की सहायता से उन्होंने हिन्दुस्तानी मुसलमानों की समस्याओं को समझा और सत्ता की भूखी विषैली साम्प्रदायिकता से टक्कर ली और इस विष के प्रभावों को अपने प्रयासों

से समाप्त करने का यत्न किया, भले ही उस द्वेष ने किसी भी धर्म का चोला क्यों न ओढ़ रखा हो । उनके लिए यह आस्था और साहस का कार्य था, प्रतिकूल परिस्थितयों में भी समसामयिक राष्ट्रीय धारे में साथ-साथ बहने का, चलते रहने का । और फिर राष्ट्रपति पद एक सम्मान था, एक श्रद्धाभिव्यक्ति थी उनकी सुचारुता, सुन्दर व्यक्तित्व और सुचरित्रता के प्रति। यह हिन्दुस्तानी लोकतंत्र का जीता जागता उदाहरण था ।

राष्ट्रपति भवन में फूल उनको इतने प्रिय थे कि सन् 1969 में जब उनका देहान्त हुआ तो निश्चय ही उन्होंने भी हिमकण के मोती आँखों से रोले होंगे । वह प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उनके राष्ट्रपति पद पर आसीन रहने के काल में काफ़ी राजनीतिक तनाव उभरते और दबाव पड़ते रहे । परन्तु स्वयं उनसे किसी का कोई मतभेद न था । अपने जीवन में उन्होंने कभी किसी दिखावे या आडंबर का प्रदर्शन नहीं किया बल्कि अत्यंत विनम्रता और संवेदनशीलता से कार्य किया जिस से उनमें किसी प्रकार की ज्ञान संबंधी मानसिक उच्चता का भाव उत्पन्न नहीं हुआ । संसद में उनके हर एक से मधुर संबंध थे । मुझे अच्छी तरह से याद है कि 1969ई. में फ़रवरी के महीने में मैं विपक्ष में था और जब मेरी पार्टी ने विरोध प्रकट करने के लिए वाक आउट किया था और जिसके लिए बाद में लोक सभा में मुझे ताड़ित किया गया था उस समय राष्ट्रपति के अभिभाषण में घोषित सरकार की नीतियों पर चुभती हुई टीका-टिप्पणी की गई थी । संसद के दोनों सदनों की इस संयुक्त बैठक में जब मैं राष्ट्रपति के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए झुका तो उनकी ओर से भी अत्यंत स्नेहयुक्त और आदर सूचक उत्तर मिला:

''ठंडी थी जिसकी छाँव वह दीवार गिर गई ।'' मैं वह दृश्य कभी नहीं भूल सकता । उनका एक ओर झुका हुआ सर और हम लोग विरोध प्रकट करने के लिए संसद में शोर मचाते हुए । लेकिन मैं जानता हूँ कि ज़ाकिर साहब हमारे स्वभाव से भली भाँति परिचित थे । उनका वह झुका हुआ सर ''सर्वेत्वेभद्र:'' का मार्ग दिखाता था, अगर वस्तुत: इसमें कुछ गुणवत्ता थी । वह हर प्रकार से हिन्दुस्तानी संस्कृति का जीता जागता नमूना थे । संभव है कि पाठकों को शब्दों का यह चयन कुछ अधिक ही सुगंधियुक्त लगे परन्तु यह शब्द मेरी लेखनी से अपने आप निकल रहे हैं क्योंकि मेरे विचार से ज़ाकिर साहब भी उस श्रंखला की कड़ी हैं जो अमीर ख़ुसरौ से लेकर अबुलकलाम आज़ाद तक फैली है । यह सब वह दीप्तिमान मुसलमान तारे थे जिन्होंने हमारे देश को बनाने-संवारने में रचनात्मक भूमिका निभाई है । इन नामों को शब्दाडंबर की आवश्यकता नहीं है, यह तो मेरे कानों में संगीत की मधुर धुनों के समान गूंजते रहते हैं ।

ज़ाकिर हुसैन देश विभाजन की भीषण व्यथा से दो चार हुए क्योंकि अंग्रेज़ शासकों की कृपादृष्टि से हमें यह क़ीमत चुकानी पड़ी । यह हमारी ही कमज़ोरी थी कि सत्ता हस्तांतरण के स्थान पर उसका विभाजन हुआ । यद्यपि स्वतंत्रता (15 अगस्त 1947) हमें प्राप्त हुई परन्तु परिणामत: हिन्दुस्तान और पाकिस्तान बन गए । इससे हमें भी दुख पहुँचा।

बहुत से लोगों के मन में मीर तक़ी मीर (1719-1810) की यह पंक्ति गुंजरित थी:

"दिल ढा के काबा बनाया तो क्या किया"

(यह पंक्ति आज भी मुझे किसी प्रेतात्मा की तरह सताती है)।

मैं अपने मित्र, जिनका पिछले वर्ष देहान्त हुआ, रशीदउद्दीन ख़ाँ से मिला। उन्होंने जामिया उस्मानिया और जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में पढ़ाया था। वह विभिन्न कालों में लिखी गई कृतियाँ हमारे लिए छोड़ गए हैं। उनकी अन्तिम रचना "आश्चर्यजनक हिन्दुस्तानी अस्मिता, विविधता और विभेद" (दिल्ली, 1995) है। यह अत्यंत उत्कृष्ट, उपयोगी और रचनात्मक कृति है बल्कि यह कहना उचित होगा कि यह देशप्रेम की भावना जागृत करती है, हिन्दुस्तान के अतीत की गुत्थियों को खोलती है और वर्तमान परिस्थितयों से निपटने का मार्ग दिखाती है। सबसे अधिक दुखदायक, दहलाने वाली घटना पाँच सौ वर्ष पुरातन बाबरी मस्जिद की शहादत है जो अपनी जगह पर अत्यंत लज्जाजनक बात है और हिन्दुस्तानी लोकतंत्र पर कुशाघात है। दुनिया की समस्त मानव सभ्यता पर लगे कलंक का इससे अधिक घिनौना उदाहरण और क्या प्रस्तुत किया जा सकता है। ज़ाकिर हुसैन इस दुखद परिस्थित से तो नहीं गुज़रे परन्तु वस्तुत: यदि वह जीवित होते तो नि:सन्देह यह घटना उनके लिए अत्यंत पीड़ादायक होती।

यह सब लिखते हुए याद आता है कि एक बार लग-भग सन् 1822ई. के आस-पास सुप्रसिद्ध कवि कीट्स ने लिखा है "संसार में सज्जन मनुष्यों का अकाल है" क्योंकि वर्तमान युग में संसार के लोगों का रूप यही है। हर जगह साम्यवाद पतन की ओर अग्रसर है। सामाजिक चेतना में गिरावट, प्राचीन मूल्यों का अपमान, अपराध, धाँधली, आत्मा को घुन लगा देने वाली बुराईयाँ, सिद्धांत विहीनता और भ्रामक विचारों की उत्पत्ति। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि कुंठित, साम्प्रदायिक और युद्धप्रिय तत्व मिल कर एक भयानक चुनौती के रूप में उभर रहे हैं। हमें तुरंत इन घावों को भरना, आत्मा में नवीन जीवन शक्ति का संचार करना और जहाँ तक सम्भव हो मन की एकता (गाँधी जी की कल्पना) स्थापित करना होगा ताकि देश को दुखों से मुक्ति मिल जाए। यह शंखनाद इतना ऊँचा हो कि असमाजिक तत्वों के उद्देश्यों की दीवारों को ध्वस्त कर दे। इन सबके लिए हमें ऐसी महान विभूतियों का स्मरण करना होगा जैसे ज़ाकिर हुसैन ताकि हिन्दुस्तान की समविंत रचनात्मकता, आध्यात्म और भाषायी मेल-मिलाप की शान बाक़ी रहे। अपनी सभ्यता को हिन्दू-मुस्लिम एकता को विशेषत: बनाये रखना होगा जिस पर विगत काल ने गहरे घाव लगाए हैं।

इस विषय पर मोटी मोटी पुस्तकें लिखने की आवश्यकता नहीं है। ज़ाकिर साहब के जन्म शताब्दी उत्सव के अवसर पर थोड़ा ध्यान दिलाना चाहूँगा। सन् 1954ई. में उर्दू बोलने वाले और उर्दू प्रेमियों ने तत्कालिक राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद को उर्दू बोलने और उर्दू से प्रेम करने वाले ज़ाकिर हुसैन ने "आल इण्डिया अंजुमने तरक़्क़ी उर्दू के अध्यक्ष के

रूप में इस संस्था की ओर से 20 लाख लोगों के हस्ताक्षरों पर आधारित एक एतिहासिक विज्ञप्ति दी थी। इस विज्ञप्ति में हिन्दुस्तान के उर्दू भाषी लोगों की ओर से यह माँग की गई थी कि उर्दू भाषा को हिन्दुस्तान में उचित स्थान दिलाया जाए। मगर आज तक यह सपना अधूरा ही है। चूँकि जवाहर लाल नेहरू की इच्छा थी इस कारण भारतीय संविधान में बहुत सी तथाकथित भाषाओं के साथ उर्दू को भी एक भाषा मान लिया गया, केवल वैधानिक मान्यता की पूर्ति मात्र की नीति के आधार पर। फिर भी उर्दू हिन्दुस्तान की वह भाषा है जो सजीव तो है मगर कोई राज्य उसे मान्यता नहीं देता। ऐसा प्रतीत होता है कि जब तक तीस प्रतिशत आबादी उर्दू भाषी न हो उसे दूसरी राष्ट्रीय या स्थानीय भाषा भी नहीं माना जा सकता। यह स्मरण रखना चाहिए कि उर्दू केवल हिन्दुस्तानी मुसलमानों की ही भाषा नहीं है बल्कि इसका महत्व कहीं अधिक है क्योंकि उर्दू में सदियों से हिन्दुओं ने भी रचनाएँ की हैं और उनका योगदान महत्वपूर्ण है, यद्यपि हिन्दुस्तान के विभिन्न क्षेत्रों में मुसलमानों की एक बड़ी संख्या है जिनकी मातृभाषा उर्दू है। यह हिन्दुस्तान की तमाम भाषाओं से अधिक मृदुल भाषा है। इसने हमारी सभ्यता को चार चाँद लगाए हैं। इसने दार्शनिक विचारों और प्रभावशाली साहित्य को बढ़ावा दिया है, स्वाधीनता के संघर्ष में हिन्दू-मुस्लिम दोनों को प्रभावित किया है। स्वतंत्रता पूर्व हैदराबाद में इसने अपने आपको एक मातृभाषा के रूप में और उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में सफल सिद्ध कर दिया है।

जैसा कि जवाहर लाल ने कहा था कि हमारे देश को उर्दू भाषा का कृतज्ञ होना चाहिए क्योंकि क्रांति की ललकार "इन्क्लाब ज़िंदाबाद" इसी भाषा की देन है। सुभाष चन्द्र बोस ने, जिन्होंने अपना अलग इतिहास बनाया है, "जय हिन्द, देहली चलो, इत्तेहाद, इत्तफ़ाक, क़ुरबानी आदि जैसे नारों का चयन किया था जो उर्दू की ही निधि हैं।

बड़ी लज्जाजनक बात होगी यदि वर्तमान सरकार ने इस भाषा की अनदेखी की, किंतु यह कार्य बहुत सरल भी न होगा।

"आओ नया शिवाला बनाएं"। इकबाल का राष्ट्रप्रेम से प्रेरित गीत "सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा" निश्चय ही रवीन्द्र नाथ टैगोर के 'सोनार बांगलो' की श्रेणी का है जिसकी छत्रछाया में मुझे आश्रय मिला और जो सम्पूर्ण विश्व को एकता का संदेश देता है।

आइये हम उस महापुरुष ज़ाकिर हुसैन का ध्यान करते हुए शत-शत प्रणाम करें जिसने जीवन भर संघर्षों से विचलित न होकर आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा दी। इनके नाम का दीप सदा-सदा के लिए प्रज्जवलित रहेगा और साथ ही साथ उन सभी महान व्यक्तियों को धन्यवाद देना चाहिए जिनके नाम का प्रकाश कभी मद्धिम न होगा, यहाँ तक कि सम्पूर्ण आकाश पर लालिमा फैल जाएगी।

ज़ाकिर साहिब-जामिया और अलीगढ़ में एक विद्यार्थी के संस्मरण

प्रो. सद्दीक़ुर्रहमान

संसार तो हमेशा से परिवर्तनशील रहा है किन्तु पिछले पचीस तीस वर्षों में जिस तेज़ी के साथ हमारी दृष्टि के समक्ष परिवर्तित हुआ है उसका विचार करके अब तो अपने आप पर कुछ संदेह होने लगता है कि वो सब बातें जो हमने देखीं, वास्तव में सच थीं या केवल हमारे विचारों की उड़ान थी। वह लोग 'उन की बातें' 'उनके लहजे' अगर इस जगत के थे तो फिर यह सब हुए क्या ? ऐसा प्रतीत होता है कि एक बीता हुआ युग है, जिसे हम अतीत के धुँधलकों से टटोल-टटोल कर जितना निकालने का प्रयत्न करते हैं उतना ही स्वंय पर विश्वास कम होता जाता है। इतिहास की कड़ियाँ जैसे हमारे देखते-देखते टूट गई हों और उनका सिरों से सिरा जुड़ा हुआ नज़र नहीं आता है। ज़ाकिर साहिब और उन जैसों की चर्चा करते समय हर वह बात जो प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट है धुँधलाने लगती है, फिर एकाएक उनके व्यक्तित्व का फैलता हुआ साया सारे वातावरण पर छा जाता है। यह रहस्य फिर से खुलने लगता है कि प्रत्येक काल अपनी ऊँच-नीच के साथ आता है और गुज़र जाता है, और उस में जीने वाले व्यक्ति इसी ऊँच-नीच से गुज़रते हुए, एक नये संसार की रचना करते चले जाते हैं, जो उन के सपनों के संसार की रचना करते चले जाते हैं, जो उन के सपनों के संसार से चाहे कितना ही अलग हों, किन्तु अतीत के हर क्षण में देखे जाने वाले यही सपने जब वर्तमान की सच्चाईयों की आँखों में आँखे डाल कर प्रश्न करते हैं तो टूटी हुई कड़ियां जुड़ने लगती हैं। यह वह दृष्टि है जो आज हमें ज़ाकिर साहब और उन के साथ ऐसे बहुत से व्यक्तियों की तरफ़ ध्यान देने पर विवश करती है जिन के अधर मौन हैं तथापि जिनकी बातें सदैव जीवित रहती हैं।

ज़ाकिर साहिब को मैंने पहली बार कब देखा, मुझे याद नहीं। जब देखा होगा तो इतना छोटा रहा हूँगा कि शायद थोड़े बहुत अन्तर के साथ लोग एक ही से नज़र आते हों। प्रत्येक व्यक्ति इस जगत् में आने के पश्चात् अपने घर, मोहल्ले और बस्ती के लोगों को स्वंय भली भाँति पहचानने लगता है। मैंने भी इस तरह ज़ाकिर साहिब को देखा और पहचाना, इतना अवश्य याद है कि जिस वातावरण में मैंने आँख खोली वहां एक विशेष

प्रकार का रख-रखाव, व्यवहार और बातचीत करने का ख़ास तरीक़ा सभी लोगों के यहाँ पाया जाता था तथापि यह अनुभव अवश्य होता था कि किसी एक व्यक्तित्व का प्रभाव अधिक गहरा है। बुज़ुर्गों की बातों में उनका ज़िक्र बार-बार और बड़े आदर के साथ आता था। मेरे पिता जी की उनमें बहुत आस्था थी। परिवार के सब ही लोगों में उनका जितना ज़िक्र रहता था, उसके कारण मुझे विश्वास है कि मेरे कान उनके नाम से और भी पहले परिचित हो गए होंगे।

सन् 41-42 में मैं जामिया मिल्लिया इस्लामिया के प्राथमिक विद्यालय की दूसरी-तीसरी कक्षा में पढ़ता था। इसी काल में किसी बड़ी कक्षा के विद्यार्थी के पास एक छोटी सी नोट बुक देखी जिस पर वह कभी-कभी किसी व्यक्ति के हस्ताक्षर लिया करता था। मेरी और मेरे हम उम्रों की समझ में यह बात नहीं आई किन्तु जब दृश्य कई बार देखने में आया और दूसरों से मालूम करने पर स्पष्ट हुआ कि एक चीज़ आटोग्राफ़ बुक होती है जिस में बड़े व्यक्तियों के हस्ताक्षर कराये जाते हैं तो पहली बार हम पर यह रहस्य खुला कि ज़ाकिर साहिब न सिर्फ़ बड़े व्यक्ति हैं बल्कि ऐसे व्यक्तियों में भी हैं जिन के हस्ताक्षर ले लिए जाते हैं। मैंने भी एक "आटोग्राफ़ बुक" ली और एक दिन जब ज़ाकिर साहिब कुछ शिक्षकों के साथ छात्रावास के सामने से गुज़र रहे थे, हम आटोग्राफ़ बुक लेकर उनके पास पहुँच गए, किन्तु सोच में पड़े रहे कि उन से क्या कहें ? जो व्यक्ति उनके साथ थे उनके प्रोत्साहित करने पर हमने आटोग्राफ़ बुक ज़ाकिर साहिब के समक्ष कर दी। उन्होंने कहा: यह क्या चीज़ है ? मैंने कहा आटोग्राफ़ बुक है, उन्होंने पूछा आटोग्राफ़ किसे कहते हैं ? मैंने कहा इस पर हस्ताक्षर कर दीजिए। यह तो वह जानते ही थे कि हम बिना सोचे-बिचारे इस चक्कर में पड़ गए हैं। मेरी दशा देखी तो प्रश्नों की झड़ी लगा दी। आप, मेरे हस्ताक्षर का करेंगे क्या ? "मेरे हस्ताक्षर क्यों ले रहे हैं, मुझे अपने हस्ताक्षर दीजिए।" मैं चुप खिसियानी हँसी हँसता रहा, और वह हमारी विवशता से आनंदित होते रहे, फिर हस्ताक्षर भी कर दिए किन्तु यह कहते हुए कि "कभी सोचना कि तुम ने यह क्यों किया।" मेरी स्मृति में यह पहली भेंट थी जो उन से हुई थी। यह बात देखने में बहुत छोटी सी थी लेकिन जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, यह बात भी स्वत: स्पष्ट होती गई कि ज़ाकिर साहिब के विचारों और जामिया के वातावरण में प्रश्नोत्तर पद्वति का बहुत महत्व था। स्वयं विचार करने तथा बड़ों के समक्ष बिना संकोच अपनी बात कहने को उत्साहित करना, स्वतंत्र रूप से वादविवाद करने को प्रोत्साहन देना ही मानो जामिया के जीवन के नियम थे। जामिया केवल एक शिक्षा संस्था तो थी ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक वातावरण था, जिस की आहटें सुनने वालों ने उस समय सुनी होंगी जब एम.ए.ओ. कॉलेज के नवयुवकों ने शासन के लाभों पर निर्धारित शिक्षा व्यवस्था के अनुशासन को तोड़कर एक नये ढंग के अनुशासन को आरम्भ किया जिस के अनुसार विश्व में प्रगति करने का विचार सामयिक सरकार के उच्च पदों पर पहुँचना नहीं, बल्कि

पुराने नियमों को तोड़ कर स्वंय को पूर्णतः नये ढंग से संगठित करना था। जामिया के विद्यार्थियों और उन के अभिभावकों को यह तो प्रवेश से पहले ही ज्ञात हो जाता था कि यहाँ पर शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् सरकारी नौकरियों के द्वार उन पर बन्द हो जायेंगे, इसीलिए उन्हें जीने का कोई और ही ढंग सीखना होगा। जीने का ढंग सिखाने वाले ज़ाकिर साहिब, मुजीब साहब, आबिद साहब, शफ़ीक़ साहब और असलम जयराजपुरी जैसे व्यक्ति भी होंगे। उन्हें मौलाना मुहम्मद अली, डा. अंसारी, हकीम अजमल ख़ाँ, अबुलकलाम आज़ाद, गाँधी, नेहरू और बादशाह ख़ाँ जैसे राजनीतिज्ञ और पथप्रदर्शकों तथा इक़बाल और प्रेमचन्द जैसे अमर साहित्यिकारों से भी कभी-कभी मिलने और उन से बहुत कुछ प्राप्त करने का सौभाग्य भी प्राप्त होगा। जलियाँ वाला बाग़ की स्मृति में एक निश्चित दिन का निर्धारित होना, पूर्ण रूप से स्वतंत्रता प्राप्ति की मांग के पश्चात् हर वर्ष 26 जनवरी को स्वतंत्रता दिवस के रूप में बड़ी शानो-शौकत से मनाना। गाँधी जी के सत्याग्रह और नेताओं की गिरफ़्तारी के विरोध में आन्दोलन करना, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर महत्वपूर्ण व्यक्तियों के भाषण करवाना, राजनीति, साहित्य और संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में विद्रोहात्मक प्रवृत्ति रखने वाले आलोचकों को आंमत्रित करना, शिक्षार्थी और शिक्षकों का करीब आना, यह सब कुछ रूढ़िवादी शिक्षा संस्थाओं के स्वरूप से भिन्न था। स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले की जामिया, स्वतंत्रता संग्राम का ही एक महत्वपूर्ण केंद्र था और स्वतंत्रता के पश्चात् भी उस ने इतिहास निर्माण के कार्य को पूरा किया।

हिन्द-विभाजन सब के लिए एक परीक्षा की घड़ी थी। ज़ाकिर साहिब स्वंय हत्यारों की पकड़ से निकल कर आये थे। उनके दूसरे साथियों के घर-बार लुट चुके थे। कुछ की जानें भी गई थीं। क़रोल बाग़ में जामिया की इमारतें कुछ जलीं, कुछ लुट गईं किन्तु ज़ाकिर साहिब के मार्गदर्शन में जामिया और जामिया के लोग इस मंज़िल से भी जिस शान-शौकत के साथ गुज़रे वह हमारी संस्कृति के इतिहास में यादगार रहेगा। जिस संस्था और उसके सदस्यों की पच्चीस वर्षों में पाई-पाई करके जमा की हुई धरोहर ख़ाकोख़ून की भेंट हो चुकी हो और वह स्वंय अपने अस्तित्व को बचाने के लिए संघर्ष कर रही हो, वह सब कुछ भूल कर आग में कूद पड़े और हज़ारों ज़िन्दिगयों को न केवल बचा लाये, बल्कि उनके भविष्य के निर्माण की व्यवस्था भी करे। उसका भौतिक दृष्टि से चाहे जो भी अंत हुआ हो, सदाचार व आध्यात्मिक धन-दौलत से वह कितनी मालामाल रही होगी। प्रतिशोध की भावना से रहित, भय और आंतक से मुक्त, पूर्णतः दया और त्याग की मूर्ति, यह मानवता की वह पराकाष्ठा थी जहाँ जामिया और जामिया के सदस्यों ने स्वंय को पाया। दिल्ली के दंगा पीड़ित इलाक़ों के संतप्त परिवारों का पुनर्वास तथा उनके मोहल्लों में प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना करना, पाकिस्तान से उजड़ कर आए परिवारों की शिक्षा व प्रशिक्षण का पूर्ण रूप से उत्तरदायित्व लेना, उनके मनों से भय व घृणा के स्थान पर प्रेम और विश्वास को जागृत करना, यह सब ऐसे काम थे, जिन के कारण आज भी

हज़ारों व्यक्तियों के जीवन के श्रेष्ठ दिनों की यादें जामिया से जुड़ी हुई हैं । ज़ाकिर साहिब स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् अलीगढ़ विश्वविद्यालय के कुलपति हो गए । हमारा दाख़िला भी अलीगढ़ में हो गया । हम ने सुना था कि यह वह स्वर्ग है जहाँ से निष्कासित किए जाने पर कुछ व्यक्तियों ने जामिया की नींव रखी थी । मेरे वालिद (पिता) को भी उन सब के साथ विश्वविद्यालय से निष्कासित किया गया था । जामिया का इतिहास अलीगढ़ से ही आरम्भ होता है, इसीलिए हमारा अलीगढ़ जाना एक भावात्वमक अनुभव था । वहाँ का वातावरण जामिया से बिल्कुल भिन्न था, वह बहुत बड़ा विश्वविद्यालय था - हज़ारों शिक्षार्थी, सैकड़ों शिक्षक, दूर तक फैला परिसर, शानदार इमारतें और इस पूरी बस्ती में सब से उच्च पद पर कुलपति, अत: स्पष्ट है यहाँ ज़ाकिर साहिब को देखने और उन से मिलने की संभावनाएँ अब वह नहीं थीं जैसे कि जामिया में हुआ करती थीं । इसीलिए लम्बे समय तक हमने उन्हें दूर-दूर से सभाओं में ही देखा । उन के उपालंभपूर्ण भाषण, जिन में से कुछ तो अब यादगार बन चुके हैं, उदाहरणात: लियाक़त अली खाँ के निधन के पश्चात् आचार्य विनोबा भावे के आगमन पर रोषपूर्ण भाषण । खैर ज़ाकिर साहिब को बड़ा आदमी तो हमने होश सँभालने से पहले ही मान लिया था, अब जो उन के चारों ओर एक हाला सा नज़र आया तो हमें उनके समीप पहुँचने में लम्बे समय तक संकोच होता रहा । मगर ज़ाकिर साहिब अति व्यस्त रहने के बाद भी कभी-कभी छात्रावास में लड़कों के कमरों में अचानक स्वंय ही पहुँच जाते थे । एक बार एस.एस. हाल में एक सीनियर छात्र के कमरे में पहुँचे तो देखा कि दीवार पर मधुबाला का बहुत बड़ा और ख़ासा शोख़ चित्र सजा हुआ था । ज़ाकिर साहिब वहीं बैठ गए और चित्र के बारे में, फिर फ़िल्मों व अदाकारों के सम्बंध में ऐसे अजीब-अजीब प्रश्न करने शुरु कर दिए कि बड़े-बड़े तीस-मार खाँ क़िस्म के सीनियरों के छक्के छूट गए, किन्तु इतनी देर में उन छात्रों का कुलपति से सम्बन्ध बदल चुका था । ज़ाकिर साहिब में हास-परिहास करने की अद्भुत शक्ति थी । लोग उन के सामने झिझकते हुए जाते थे, किन्तु वह फ़ौरन अपनी बातों और नि:संकोच व्यवहार से उस बोझिल वातावरण को स्वंय ही सब के लिए अनुकूल बना देते थे । अक्सर वह आने वाले की सूरत देखकर ही पहचान जाते थे कि वह क्यों आया है और अवसर हो तो उसकी दशा से मंनोरंजन भी करते थे । एक बार मुझे विश्वविद्यालय यूनियन का निबंध लेखन में स्वर्ण पदक मिला, जो कि दीक्षांत समारोह के अवसर पर दिया जाना था । मेरा नाम पुकारा गया और मैं मंच की ओर चला तो ज़ाकिर साहिब के मुख पर उनकी विशेष मुस्कान नज़र आई और समीप पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि वह कुलाधिपति और प्रतिष्ठित मेहमानों से मेरा परिचय करा रहे हैं । मैं बहुत प्रसन्न हुआ । पुरस्कार ले कर चला तो आया किन्तु मन में यह विचार भी आया कि ज़ाकिर साहिब प्रसन्न हुए हैं तो उनके पास फिर से जाना चाहिए ताकि कुछ और दाद मिले । मैं एक दिन उनके घर पहुँचा तो वह भी फ़ुर्सत से थे, देर तक पूछते रहे, पढ़ाई कैसी चल

रही है, कोर्स के अतिरिक्त और क्या पढ़ते हो । विश्वविद्यालय की किन गतिविधियों में भाग लेते हो आदि, और बहुत से खुशरंग और मज़ेदार बेर खिलाये । मैं प्रतीक्षा में रहा कि मेरे पुरस्कार पाने का ज़िक्र भी तो आए । जब काफ़ी देर हो गई और मैं निराश उठने लगा तो पूछा क्या इस प्रतियोगिता में अकेले तुम ही पहुँचे थे, तुम्हें पुरस्कार कैसे मिल गया ।

अलीगढ़ के जीवन में छात्र-यूनियन का बड़ा महत्व था । उस की सभाओं के अतिरिक्त भी विभिन्न समितियों की साहित्यिक गोष्ठियाँ आए दिन होती रहती थीं । इस काल में स्टूडेंट फ़ैडरेशन और प्रगतिशील साहित्यकारों का उत्साह भी अपने उत्थान पर था । उनके सदस्यों की संख्या तो बहुत अधिक नहीं थी किन्तु विश्वविद्यालय के जीवन पर उनका गहरा प्रभाव था । उनके कार्यों के कारण भी, और उनके विरोधियों के विरोध के कारण से भी, मैं उन में आरम्भ से ही रुचि रखता था । एक बार विश्वविद्यालय की एक सभा के बाद चाय पी जा रही थी । ज़ाकिर साहिब भी उपस्थित थे । मैंने जाकर सलाम किया, उन्होंने पूछा आजकल क्या कर रहे हो ? उत्तर बना बनाया पहले ही से मेरे पास मौजूद था । परीक्षा की तैयारी कर रहा हूँ । कहने लगे "आप ने कार्ल मार्क्स को पढ़ा है?" इससे पहले कि मैं मुँह खोलूँ, बोले "देखिए" न पढ़ा हो ते मत कहिएगा कि पढ़ा है, बहरहाल पढ़ लीजिएगा । मगर मैं आप को बताता हूँ उसने लिखा है कि क्रांति संसार का भाग्य है, उसे उत्कर्ष शिखर पर पहुँचना है और वह अवश्य पहुँचेगी । यदि आप परीक्षा में पास हो गए तब भी वह रुकेगी नहीं, इसलिए फ़ेल होने की तैयारी मत कीजिएगा ।

ज़ाकिर साहिब देश के सर्वोच्च पद पर पहुँचने के पश्चात् भी एक आदर्श शिक्षक के रूप में प्रतिष्ठित रहे । वह अपने छोटों के साथ अधिक से अधिक समय व्यतीत करने का प्रयत्न करते थे । उनकी उपस्थिति से धीरे-धीरे दूरियाँ कम होती जाती थीं । वह सब को खुल कर अपनी बात कहने पर उकसाते और यही मुलाक़ातें और बातें छोटों के मानसिक प्रशिक्षण का कारण बनतीं । उपराष्ट्रपति काल के दौरान उन्होंने एक बार कुछ व्यक्तियों को अपने निवास-स्थान पर आंमत्रित किया । भोजन के बीच और उस के पश्चात् देर रात तक बातें होती रहीं । उनकी अमूर्त (ऐब्स्ट्रेक्ट) कला में विशेष रूचि थी । अतिथि गृह में बड़े-बड़े चित्रकारों के चित्र सजे हुए थे । सतीश गुजराल द्वारा बनाया गया चित्र, बातचीत का विषय बन गया । ज़ाकिर साहिब ने उस के बारे में सब से अलग-अलग पूछा । अधिकतर व्यक्तियों पर उस का वह प्रभाव न हुआ जो कि ज़ाकिर साहिब पर था । इसलिए आधुनिक (मॉडर्न-आर्ट) कला पर बहस के दौरान गर्मी आ गयी । ज़ाकिर साहिब कहने लगे कि आप लोग केवल शब्दों के मारे हुए हैं । भाव-प्रकाशन के दूसरे साधनों से बिलकुल बेख़बर, रंगों, लकीरों, ध्वनियों के भेद समझने का प्रयत्न भी करा कीजिए । बात उनकी बिल्कुल सही थी । मगर इसी बीच में किसी के मुँह से कोई अशिष्ट बात निकल गयी थी, ज़ाकिर साहिब का चेहरा सुर्ख़ हो गया, स्वयं मैं भी स्तब्ध

रह गया । एक क्षण के पश्चात् ज़ाकिर साहिब ने कहा आप अपनी राय को मनवाने के लिए प्रबल आग्रह जरूर करें लेकिन दूसरे व्यक्तियों की राय का भी सम्मान करना आवश्यक है । जो अंतर है उसको भी समझने का प्रयत्न किया कीजिए, उसके बिना कोई किसी से कुछ नही सीख सकता । हो सकता है आप की ही बात सही हो, किन्तु यह आवश्यक नहीं । उस रात की लम्बी गोष्ठी का एक-एक पल और हर बात आज तक हृदय पर चित्रित है । वास्तव में भारतीय संस्कृति में शिक्षक और गुरु का जो रूप व महत्व रहा है वह ज़ाकिर साहिब के व्यक्तित्व में पूर्णरूप से विद्यमान था, और शायद यही कारण था कि भारतीय गणराज्य की अध्यक्षता करने के लिए चयनकर्ताओं की दृष्टि उन पर पड़ी । वह इस प्रतिष्ठित पद पर किसी राजनीति के सहारे नहीं बल्कि अपने ज्ञान के द्वारा पहुँचे थे, और यही उन की और उन के पद की प्रतिष्ठा थी ।

एक दिन संदेश पहुँचा कि ज़ाकिर साहिब ने बुलवाया है, इसी समय चले आओ । हम ने सोचा न जाने क्या विपत्ति आने वाली है, तुरंत उनकी सेवा में पहुँच गए, तो देखा कि एक जर्मन बुज़ुर्ग उनके पास बैठे हैं जो नेत्र विशेषज्ञ हैं और विश्वविद्यालय के नेत्र रोग विभाग में कुछ समय तक रहेंगे । थोड़ी देर में ज़ाकिर साहिब ने मुझे उनके सुपुर्द कर दिया कि वह मेरी आँखों का इलाज करें । उन्होंने मुझे अपने क्लिनिक में एक-दो बार देखा और फिर ऑपरेशन प्रस्तावित कर दिया । पता चला कि अलीगढ़ के प्रसिद्ध मोहनलाल अस्पताल में कमरा और ऑपरेशन की तारीख़ सब कुछ तय हो चुका है, मुझे इस बात का अनुमान तक नहीं था । ऑपरेशन से कौन नहीं डरता और मुझ पर तो विपदा पहली बार पड़ी थी इसलिए टालना चाहा । ज़ाकिर साहिब के पास फ़रियाद की कि मेरी वालिदा दिल्ली में हैं, किसी को सूचना नहीं दी है । अस्पताल में कई दिन रहना होगा, किसी को साथ में ठहराना पड़ेगा वग़ैरह-वग़ैरह । इस काल में ज़ाकिर साहिब का मूड कुछ ख़राब रहने लगा था । उस दिन विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी परिषद् की बैठक से आए थे और भरे बैठे थे । मेरी बात सुनने के पश्चात बोले "जी हाँ मैं आजकल अधिकतर बातें ग़लत ही कहता हूँ । मगर आप आज अस्पताल में दाख़िल ज़रूर हो जाइए, कल ऑपरेशन हो जाएगा ।" अतः उन के आदेशानुसार ऑपरेशन भी हो गया । मेरी आँखों पर पट्टी बंधी हुई थी । बेहोशी की दवा का प्रभाव धीरे-धीरे कम हो रहा था कि ज्ञात हुआ ज़ाकिर साहिब, डा. मोहन लाल के साथ आए हैं । ऑपरेशन का हाल तो उन्हें मालुम ही हो गया होगा । मुझे देख कर हँसते हुए बोले: "हज़रत इस हाल में तो केवल शायरी की जाती है । मैं आप के स्थान पर होता तो यही करता । आप भी एक-आध दिन में यही कर रहे होंगे ।" राष्ट्रपति बनने के पश्चात् एक बार सभा में सम्मिलित होने के लिए जामिया आये । सभा के पश्चात् मैं मिलने के लिए पहुँचा तो पूछने लगे: "तुम आज आए नहीं," मेरी समझ में बात नहीं आयी तो फिर बोले: "तुम ने आज सुबह मुझसे मिलने के लिए समय लिया था, तुम आए नहीं ।" मैंने निवेदन किया कि मैंने तो

समय नही लिया था। मुझे मालुम था कि आप आज यहाँ आने वाले हैं। कहने लगे ख़ैर यह भी अच्छा हुआ। आज मिलने वालों की डायरी आयी तो मुझे लगा कि तुम्हारा नाम है। उस वक्त एक साहब मिलने भी आए। मै सोचता रहा कि किसी की वेश-भूषा अचानक इतनी कैसे बदल सकती है। फिर हँसते हुए कहने लगे: ख़ैर वह साहब जो भी हों मैंने उन्हें महसूस नहीं होने दिया कि मैं पहचान नहीं रहा हूँ।"

अलीगढ़ में मेरी इंटरमीडिएट की परीक्षा अभी आरम्भ ही हुई थी कि वालिद साहब का देहांत हो गया। ज़ाकिर साहिब को सूचना मिली, उन्होंने मेरे मामा अख्लाकुर्रहमान क़िदवाई साहब को सूचना भेजी। जब उनके साथ मैं ज़ाकिर साहिब के घर पहुँचा तो डा. अब्दुल अलीम साहब और रशीद अहमद् सिद्दीक़ी साहब भी वहां उपस्थित थे। मुझे अभी तक वालिद साहब की हालत ख़राब होने की ख़बर थी। रास्ते में ज़ाकिर साहिब ने मुझे उनके देहांत की ख़बर सुनाई और फिर उन्होंने जो कुछ कहा, कुछ ऐसा था कि आज वह क्षण बार-बार वापिस आते हुए लगते हैं। उन्होंने कहा: "अब तुम्हारी परीक्षा का दूसरा प्रश्न-पत्र होने वाला है। तुम सब से बड़े भाई हो। सब कहेंगे कि इस दशा में क्या परीक्षा दोगे। तुम्हारा भी जी चाहेगा कि इस समय अपनी माँ, बहन, भाईयों को न छोड़ो, मगर क्या तुम अभी से इन दुर्घटनाओं के समक्ष पराजय स्वीकार कर लोगे। प्रत्यक्षतया यह बहुत बड़ी दुर्घटना है। सब रो रहे होंगे और तुम्हें देख कर और भी रोयेंगे, किन्तु तुम्हें रोना है, अभी रो लो, वहाँ पहुँच कर तुम्हें रोना नहीं है। तुम सब को समझाओगे, सांत्वना दोगे और मेरे साथ वापिस आकर कल ही परीक्षा दोगे।" जब मैं अगले दिन परीक्षा देने के लिए समय से हाल में पहुँचा तो मेरे सहपाठियों और शिक्षकों को अपनी आँखों पर विश्वास नहीं आता था और आज तक पुराने मित्र जब इस बात की चर्चा करते हुए आश्चर्य प्रकट करते हैं, तो आँखों में आँसुओं के स्थान पर गर्व उमड़ आता है कि हम ने भी कैसे-कैसे बुर्जुगों की आँखें देखी हैं।

डॉक्टर ज़ाकिर हुसैन का शैक्षिक योगदान

डॉक्टर चित्रा नायक

बीसवीं शताब्दी की दूसरी दहाई दो कारणों के आधार पर महत्वपूर्ण मानी जाती है: एक तो उस ने महायुद्ध के विनाशकारी प्रभाव पश्चिमी समाज पर छोड़े और ऐसे वर्ग उभर कर आए जिन्होंने सुधारात्मक राजनैतिक और आर्थिक दृष्टिकोण सामने रखा, जिसने अस्थायी व्यक्तित्व और सामाजिक उन्नति पर बहुत बल दिया। 1918 का समय आपत्कालिक था जब ज़ाकिर हुसैन एक विद्यार्थी थे और अपने विज्ञान-शास्त्र को परिवर्तित करके अंग्रेज़ी और दर्शन-शास्त्र में प्रमाण-पत्र प्राप्त करने वाले थे। महायुद्ध उसी समय समाप्त हुआ था और आपने एम.ए और एल.एल.बी. विषयों का चयन करके 1918 में पहली डिग्री ली और महायुद्ध उसी समय बंद हो गया था। युवा ज़ाकिर हुसैन ने पूरब और पश्चिम के बीच के मानसिक और बौद्धिक मार्ग का चयन किया। उनमें कितना भेद और अभेद है और उन्होंने उन्नति के लिए कौन-कौन से महत्वपूर्ण कार्य संपन्न किए हैं, उस का पूरा अंदाज़ा लगाया। उनकी तीक्ष्णबुद्धि ने केवल विभिन्न सामाजिक पहलूओं से नहीं सोचा। वह अलीगढ़ विश्वविद्यालय की यूनियन की बहसों या वाद-विवाद में बोले और अपनी भाषणकला को तर्क के साथ निखारा और दूसरी गतिविधियों में भी भाग लिया ताकि बेहतर से बेहतर ढंग से अन्य मानवीय समस्याओं को समझने की योग्यता आ जाए, विशेष रूप से जिन का संबंध मनुष्य से हो। दस साल का वह उपद्रवी काल था जब महात्मा गाँधी ने हिंदुस्तान को अंग्रेज़ों से स्वतंत्र कराने के लिए अहिंसा और असहयोग के आंदोलन चलाए थे। 1920 में ज़ाकिर हुसैन ने कॉलिज की शिक्षा पूर्ण की तो असहयोग का आंदोलन पूर्ण रूप से फैल चुका था। गाँधी जी, लाला लाजपत राय, ऐनी बिसेंट, पट्टाभाई सीतारमैया, मौलाना आज़ाद, अली बिरादरान और दूसरे राष्ट्रीय नेताओं ने अध्यापकों और शिक्षार्थियों को संबोधित करके कहा कि वह सरकार से सहायता प्राप्त स्कूलों को छोड़ कर, जो नए राष्ट्रीय स्कूल और कॉलिज स्थापित हों, उन में जाएँ। मौलाना मौहम्मद अली और मौलाना शौकत अली ने अलीगढ़ का निरीक्षण किया और अलीगढ़ को राष्ट्रीय शिक्षालय बनाने में सहयोग दिया। इस रूप में सफलता नहीं मिली तो एक नई यूनिवर्सिटी जामिया मिल्लिया इसलामिया (राष्ट्रीय मुस्लिम विश्वविद्यालय) अलीगढ़ में स्थापित की गई। जामिया के इस नेतृत्व ने देश की अन्य

रियासतों का भी मार्गप्रदर्शन किया और उनको क्रियाशील बनाया गया। इस प्रकार चार मास के अंदर-अंदर गुजरात विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ के अतिरिक्त और भी बड़ी संख्या में राष्ट्रीय शिक्षालयों की स्थापना हुई। इस महत्वपूर्ण दृष्टिकोण ने देश को विदेशी सरकार से स्वतंत्रता का एक और नया रास्ता दिखाया। ज़ाकिर हुसैन देश की स्वतंत्रता के लिए पहले ही बुलावे (निमंत्रण) पर तैयार हो गए और जामिया के कार्य में संमिलित हो गए जो मुस्लिम इदारा था मगर उसका आधार हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता पर था।

उनके जीवन में यह एक नया मोड़ था जब शिक्षा का भारी समर्थन सामाजिक परिवर्तन और मानवता की पूर्ण बेहतरी के लिए बहुत आवश्यक था। उस समय यह दृष्टिकोण पूर्ण विश्वास बन गया। 13 मई 1967 में ज़ाकिर हुसैन ने राष्ट्रपति का पद ग्रहण करने के पश्चात अपने पहले भाषण में कहा :

"निसंदेह निरंतर राष्ट्रीय नवीनता समाज और राष्ट्र की उन्नति के लिए अत्यावश्यक है। शिक्षा का कर्तव्य है कि वह लगातार नवीनता की सहायता करे। इस स्पष्ट कथन से क्षमा चाहते हुए मैं कहूँगा कि इस प्रतिष्ठित पद के चयन में बहुत नहीं तो कम से कम इस दृष्टिकोण को रख कर मेरे लिए निर्णय लिया गया है कि मेरा संबंध साधारण जन से एक अध्यापक की हैसियत से काफ़ी लंबा (दीर्घकालिक) है। मैं विश्वास से कह सकता हूँ कि शिक्षा की अच्छाई और राष्ट्रीय उद्देश्य एक दूसरे के लिए अनिवार्य हैं।"

ज़ाकिर हुसैन के लिए शिक्षा अलग से कोई काम नहीं है जो अतीत, वर्तमान और भविष्य के राष्ट्रीय जीवन से अलग हो। उन्होंने शिक्षा को एक आंदोलन समझा जो राष्ट्रीय सुधार के लिए लाभदायक और भरपूर शक्ति है। इस दृष्टिकोण के अनुसार उनकी शैक्षिक कल्पना यह थी कि शिक्षा सर्वदा परिवर्तनशील, स्वीकार्य और स्वतंत्र बहाव को बढ़ावा देती रही है और जिसने मानव के भौतिक एवं आध्यात्मिक ढाँचे को बनाया है। शिक्षा ने मानवीय कार्यक्षमता में, कार्य और सभ्यता में, साईंस और दर्शन शास्त्र, साहित्य में बहुत संतुलित ढंग से हर स्थान पर और हर रूप में मानवीय संबंध स्थापित किया है। यही कारण है कि जामिया जिस तेज़ी से आगे बढ़ी अन्य दूसरी संस्थाएँ जो असहयोग आंदोलन के समय स्थापित हुईं, उतना आगे न बढ़ सकीं। स्वच्छ प्रबंध, व्यवसायिक कार्य, वातावरण में रुचि, श्रम, सरलता और बौद्धिकता, जामिया के शैक्षिक कार्यों की विशेष पहचान हैं। यहाँ अमला (कर्मचारी) विभिन्न धर्मों के अनुयाईयों से संबंधित था। इस के सारे कार्यकर्ता अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि रखते थे। इन सब लोगों ने नाममात्र वेतन लेकर काम किया और विद्यार्थियों के सामने बलिदान और राष्ट्रीय स्वतंत्रता से गहरे प्रेम का उदाहरण प्रस्तुत किया। इस संदर्भ में ज़ाकिर हुसैन और उन के साथियों ने पहल की। आज उन लोगों को याद रखने और वर्तमान अध्यापकों के सामने आदर्श बनाकर प्रस्तुत करने की आवश्यकता है जो आजकल अपने देश की सेवा के उत्तम अवसर प्राप्त करने से अधिक ऊँची तनख़ाहों की आशा रखते हैं।

जब जामिया देहली स्थानांतरित हो गई तो उसका अपना अलग दृष्टिकोण था। अपनी स्थापना के लिए उसे ख़ासा बलिदान और कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ा। जामिया के प्रसिद्ध और स्वंय को समर्पित करने की भावना रखने वाले अध्यापकों का दल था जिसने ज़ाकिर हुसैन के नेतृत्व में संघर्ष किया और कठिनाइयों को दूर किया। अंततः सफलता मिली। जामिया की स्थापना के पश्चात् यह ज़ाकिर हुसैन की जर्मनी की शिक्षा का प्रभाव था जिस ने उनकी शैक्षिक कल्पना को एक रूप दिया। युद्ध के पश्चात् जर्मनी में बुद्धिजीवियों को आलोचनात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता थी। भौतिकवाद और राष्ट्रीय प्रेम विनाशकारी लड़ाई का कारण बने। पूर्वीय सभ्यता के शोधन पर चिंतन किया जा रहा था, दार्शनिक नियमों की समीक्षा की जा रही थी, धर्म, अर्थशास्त्र और राजनीति के बीच जो गुत्थियाँ थीं उनको सुलझाने का प्रयत्न किया जा रहा था। शोध को बढ़ावा दिया जा रहा था। ज़ाकिर हुसैन के इस झुकाव की ओर बहुत लोग आकर्षित हो गए। उनकी तीक्ष्ण बुद्धि ने मानवीय विषयों के पारंपरिक और आधुनिक विचारों का विश्लेषण करना सिखा लिया था। "पूर्वी और पश्चिमी शिक्षा के लक्ष्य और शिक्षित लोगों के सामाजिक कर्तव्य," विषय पर उन्होंने वाद-विवाद और तर्क-वितर्क के रूप में अपने मित्रों से बातचीत की और बहुधा जामिया में रहने वाले अपने मित्रों से पत्र-व्यवहार किया। इस आपसी बात-चीत ने न केवल इन के विचारों को स्पष्ट किया बल्कि शिक्षा प्रणाली को एक नया रूप भी दिया। बरट्रेंड रसल की पुस्तक "नव सामाजिक निर्माण के नियम" पढ़ कर वह बहुत प्रभावित हुए। इस हद तक उनके दृष्टिकोण ने उन को प्रभावित किया कि कामों के माध्यम से शिक्षा पर बल दिया जाए। बरट्रेंड ने शैक्षिक समस्याओं को एक औद्योगिक सोसाइटी और समाज को सामने रखते हुए अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था। ज़ाकिर हुसैन ने हिंदुस्तान की सोसाइटी के नए जीवन के आर्थिक और आधुनिक उन्नति और विकास में संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया। वह इस सोच में थे कि शैक्षिक कार्यों की कल्पना को किसी प्रकार अपने देश में प्रचलित और प्रसिद्ध किया जाए।

उनको एक स्वर्ण अवसर मिल गया। जब गाँधी जी ने पाठ देना आरंभ किया कि "काम" ही शिक्षा है और काम के द्वारा सीखने वाले की मानसिक उन्नति की और रचनात्मकता के द्वारा ही गतिशील बनाया जा सकता है। गाँधी जी और ज़ाकिर साहब दोनों को विश्वास था कि काम का अनुभव बच्चों में न केवल खोज और लाभदायक रचनात्मकता का जोश उत्पन्न करता है बल्कि व्यक्तित्व और मानसिक रख-रखाव सिखाता है। गाँधी जी ने कुछ नियमों को प्रस्तुत किया जो 1921 में जा कर वरधा स्कीम का आधार बने। ज़ाकिर हुसैन ने शिक्षा के पाश्चात्य नियमों का पालन किया। गाँधी जी ने 'यंग इंडिया' (1919) के पृष्ठ 450 में लिखा :

"हमारे जैसे ग़रीब देश में कहीं न कहीं कोई मौलिक त्रुटिं अवश्य है। माता-पिता को बच्चों के बड़ा हो जाने के पश्चात् भी उनका भरण-पोषण करना पड़ता है, उनको महँगी

और उच्च शिक्षा दिलाना पड़ती है जबकि बच्चों से पारस्परिक सहयोग का प्रश्न तो है ही नहीं। मुझे बच्चों की कोई ग़लती दिखाई नहीं देती। प्रारंभिक शिक्षा ही से वह काम कर के धीर-धीरे अपने माता-पिता की सहायता कर सकते हैं। यह स्कीम स्वतंत्र शिक्षा-दृष्टि की उपेक्षा नहीं करती बल्कि इसके विपरीत प्रत्येक लड़के और लड़की की पहुँच उस तक सरल हो सकती है और इस प्रकार सांस्कारिक प्रशिक्षण को उस की उच्चता तक पहुँचा सकती है– इस शिक्षा को आधार रूप से मानसिक और सांस्कृतिक ढंग से अपना कर अपनी जीविका का एक लक्ष्य बनाया जा सकता है।"

1937 में जब सात प्रांतों में कांग्रेस सरकारें बनीं तो उन्हें प्रारंभिक शिक्षा की कार्य-प्रणाली बनाना, और उसके लिए नियमपूर्वक प्रोग्राम बनाना था। यह स्पष्ट था कि गाँधी जी के प्रारंभिक शिक्षा के दृष्टिकोण बहुत से बुद्धिजीवियों और शिक्षा विशेषज्ञों के लिए अस्वीकार्य नहीं था। इस के लिए शिक्षा विशेषज्ञों की एक कांफ्रेंस बुलाई गई जो इस प्रकार की शिक्षा कल्पना और उस को किस प्रकार से प्रचलित किया जाए और इसकी अच्छी तरह जाँच-पड़ताल की जा सके। 23 अक्तूबर 1937 को वरधा में तुरंत एक और कांफ्रेंस बुलाई गई। इस कांफ़ेंस में ज़ाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक कमेटी बनाई गई ताकि वह एक विस्तृत पाठ्यक्रम तैयार करें। दो मास के अंदर ज़ाकिर हुसैन कमेटी ने एक रिपोर्ट तैयार की, जिस में शिक्षा विशेषज्ञों के प्रस्तावों का विवरण दिया गया था, शैक्षिक नियमों और मनोवैज्ञानिक आधार पर रोशनी डाली गई थी। विस्तारपूर्वक विवरण और उससे प्राप्त किए गए परिणाम से संबंधित पाठ्यक्रम तैयार किए गए। इस के फलस्वरूप "वरधा कांफ्रेंस में ज़ाकिर हुसैन रिपोर्ट" प्रारंभिक शैक्षिक दृष्टिकोण और कार्यप्रणाली पर एक प्रमाणिक दस्तावेज़ मानी गयी।

1967 में त्रिवेंड्रम में आयोजित "संपूर्ण केरल अध्यापक शिक्षा विशेषज्ञ दल" के प्रांतीय जलसे को संबोधित करते हुए ज़ाकिर हुसैन ने कहा कि प्रारंभिक शिक्षा उन के बहुत से लक्ष्यों में से एक है जो सामाजिक आवश्यकताओं और समस्याओं से संबंधित अध्यापक के विवेक को जगाएगी :

मुझे प्रारंभिक शिक्षा का 'पिता' कहा गया है लेकिन समय से पूर्व बच्चे का जन्म निंदा का कारण होता है। लेकिन फिर भी हर व्यक्ति अपना सा प्रयत्न अवश्य करता है। मेरे विचार में प्रारंभिक शिक्षा पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। एक बार मैंने किसी अधिवेशन में कहा था कि प्रारंभिक शिक्षा असफल हो गई है। विश्वास कीजिए जो लोग इस शिक्षा के विरुद्ध थे अति प्रसन्न हुए कि यह व्यक्ति स्वंय अपनी असफलता स्वीकार कर रहा है। इसलिए प्रारंभिक शिक्षा सफल हो ही नहीं सकती। जबकि मेरा कभी भी यह अभिप्राय नहीं था। मेरा उद्देश्य यह था कि प्रारंभिक शिक्षा की स्थिति ठीक नहीं है। अवश्य आने वाले कल में हमारा देश उस शिक्षा को स्वीकार कर लेगा। हम लोग जिस प्रकार की शिक्षा देते आए हैं और जिसके हम अभ्यस्त हो चुके हैं वह "स्कूल की

पुस्तकीय" शिक्षा पर आधारित है और यह शिक्षा विद्यार्थी को लोगों के जीवन से अलग कर देती है। ज़ाकिर हुसैन का तर्क यह था कि मैं स्वीकार करता हूँ कि जब कई लाख लोगों को शिक्षा देने का प्रश्न हो जो उच्चपद भी प्राप्त करें और अवश्य ही कुछ प्रतिभाशाली लोग भी पैदा हों जिन पर हिंदुस्तान को गर्व हो, तो स्थिति भिन्न होती है। लेकिन जब कई करोड़ लोगों को शिक्षा दी जाती है तो फिर हर एक से यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वह अपने "काम" से ध्यान हटा कर दर्शनशास्त्र और साहित्य पर ध्यान दे। हमारे समाज को आवश्यकता है किसानों की, औद्योगिक लोगों की, तकनीकियों और व्यापारियों की। हमारी शिक्षा प्रणाली ऐसी हो कि जहाँ हर व्यक्ति के सामने शैक्षिक और सामाजिक उद्देश्य हों। ज़ाकिर हुसैन ने अपने विशेष शैक्षिक ढंग से इस बात का स्पष्टीकरण किया कि व्यक्ति सबसे पहले दार्शनिक नहीं बना, पहले उसने काम आरंभ किया। व्यक्ति मूल रूप से अपनी शक्ति से कुछ उत्पन्न करता है। वह एक परजीवी पादप नहीं जो दूसरों की मेहनत पर पनपता या फलता-फूलता है। उन्होंने कहा कि "यदि प्रारंभिक शिक्षा गंभीरता से दी गई होती और उसके पश्चात् असफल हो गई होती तो मुझे बहुत प्रसन्नता होती। लेकिन पछतावा इस बात का है कि इस संदर्भ में कुछ सोचा ही नहीं गया।" वह प्रारंभिक शिक्षा के संदर्भ में सहानुभूति रखने वालों की केवल ज़बानी जमा ख़र्च से प्रसन्न नहीं थे और उन्होंने कहा : "मुझे मालूम है कि कुछ प्रांतों में स्कूल केवल एक आदेश दिए जाने पर प्रारंभिक स्कूलों में परिवर्तित कर दिए गए हैं। मैंने वह प्रारंभिक स्कूल भी देखे हैं जहाँ रुई कातने के चर्ख़े पाँच वर्ष तक गोदाम में पड़े रहे और बाहर नहीं निकाले गए।" जब मैंने पूछा, "क्यों" ? तो उन्होंने कहा कि यहाँ रुई नहीं है, परंतु किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। जब रुई कातने के चरख़ों का प्रबंध किया गया तो यह क्यों नहीं सोचा कि सूत नहीं है।

जब इस दशा का विश्लेषण किया तो उन्होंने सोचा कि हिंदुस्तानी प्रणाली में जो कमी है, वह है "व्यावसायिक विश्वास की"। वह जिस प्रकार से सोचा करते थे कि "इस देश में पाठ्यक्रम वह बनाते हैं जो दफ़्तरों में बैठे होते हैं और कभी-कभी तो ऐसा भी देखा गया है कि चाहे उन्होंने पिछले बीस सालों से कुछ न पढ़ाया हो किंतु वह विशेषज्ञ माने जाते हैं।" वास्तव में उन्होंने लोगों को सलाह दी कि "काम" करो और आगे बढ़ो और उन की इस सलाह का शिक्षा मंत्री और उस मुख्यालय के निदेशकों का सम्मान करना चाहिए। लेकिन उन्होंने बड़े दुख के साथ कहा कि ऐसा कभी हुआ ही नहीं, भले ही शिक्षा विशेषज्ञों के आदेश प्रेषित किए गए हों। वह उन की समझ से बाहर है इसलिए कि इन को बनाने में उन्होंने कोई भाग ही नहीं लिया। स्पष्ट है जब इस प्रकार के आदेश अमल में लाने की बात होती है तो उन को न स्वीकृति प्राप्त होती है और न प्रबंध हो पाता है।

प्रारंभिक शिक्षा के ध्यान के साथ-साथ, ज़ाकिर हुसैन को उच्च शिक्षा के सुधार की भी

चितां थी। मदुराई विश्वविद्यालय के भवन की आधारशिला रखते समय उन्होंने इसी बात पर बहुत बल दिया था कि सभी विश्वविद्यालयों को चाहिए कि वह अतीत को भूल जाएँ जहाँ बाहरी और अंतिम परीक्षा हुआ करती है। इस प्रकार की उच्च शिक्षा केवल एक मध्यम वर्ग के विद्यार्थी का नेतृत्व करती है, जो केवल "सफल" होना चाहता है, उसके संघर्ष को उजागर नहीं करती। वह चाहते थे तमाम विश्वविद्यालय इस ढंग को बदलें और "क़ौम की चेतना" कहलाएँ। 1968 में उत्कल विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए उन्होंने संकेत दिया कि हिंदुस्तान बहुत सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक तनाव के काल से गुज़र रहा है। यह चीज़ इस बात से स्पष्ट होती है कि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में पहली पीढ़ी के शिक्षित लोगों को नज़रअंदाज़ किया गया। इस बात की गारंटी हम नहीं ले सकते कि प्रमाण-पत्र नौकरी दिलवाएगें, गिरते हुए स्तर और विद्यार्थी तथा अध्यापक के बीच की दूरी कम करेंगे।

यह बड़ी दिलचस्प बात है कि आज से तीस वर्ष पूर्व डॉक्टर ज़ाकिर हुसैन ने उच्च शिक्षा के जो नियम बताए थे वही आज कार्यान्वित किए जा रहे हैं। उन का कहना था कि विश्वविद्यालय, उच्च आदर्शों का केंद्र और निडर संस्थाएँ बनें और अपने शैक्षिक प्रोग्राम, शोध कार्यक्रम में विस्तार करें जिस का महत्वपूर्ण लक्ष्य उन्नति पर आधारित हो। आवश्यकता इस बात की है कि विभिन्न तर्क-वितर्क के माध्यम से विश्वविद्यालय एक कार्यक्रम बनाएँ जो उच्च शिक्षा की नित्यता के लिए अत्यावश्यक है। ज़ाकिर हुसैन को पूरा विश्वास था कि शिक्षा स्कूल की चारदीवारी तक सीमित नहीं रह सकती। वर्तमान के तमाम माध्यम से सीखने-परखने की स्वतंत्रता, बुद्धि को बढ़ाने के लिए स्वयं अपने को शिक्षा देना, रचनात्मक और सुधारात्मक कार्य करना, ज़ाकिर हुसैन की शैक्षिक चिंतन की संपूर्ण पूँजी थी। उन्होंने बल दिया कि शिक्षा का महत्वपूर्ण भाग लोगों को सांस्कृतिक संपदा के प्रति जागरूक बनाना है और यह भी बहुत आवश्यक है कि विद्यार्थी में परख मानव के रूप में उत्पन्न कराई जाए। उनको यह देख कर बहुत दुख होता था कि हिंदुस्तान की शिक्षा प्रणाली ने इस पहलू को पूर्णतया नजरअंदाज़ कर दिया है। हमारे पढ़े-लिखे लोग अपनी संस्कृति को उपेक्षा भाव से देखते हैं। उन्होंने कहा :

"वह अंधे थे कि उनको अपनी ही कला की सुंदरता नज़र नहीं आती थी, वह बहरे थे कि उनको स्वयं अपने संगीत की मधुर लय नहीं सुनाई देती थी। उनको अपनी भाषा और अपने ही साहित्य से लज्जा आती थी। अर्थात जो सब उनका है घटिया और निम्नस्तरीय है, वह सब जो विदेशी है, पूरा का पूरा उत्तम है।" और उन्होंने दुख प्रगट किया : "हमारे बच्चे विदेशी बनते जा रहे हैं अपने ही देश में, पराई भाषा अपने होंठों पर लिए, उधार माँगी इच्छाएँ लिए।" तीस वर्ष ज़ाकिर हुसैन ने अपने जिस दुख को प्रकट किया था हिंदुस्तान में पिछले कुछ सालों से सामने आता जा रहा है। उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि हिन्दुस्तान के युवक संचार-साधनों के अधीन होते जा रहे हैं, वह अपना जीवन नहीं

जी रहे हैं बल्कि माँगे हुए व्यक्तित्व के समान ही अपनी संस्कृति से भी अंजान हैं। यह नासमझ यह भी नहीं जानते कि कल उनके जीवन की रूप-रेखा क्या होगी। ज़ाकिर हुसैन की दूरदर्शी दृष्टि ऐसी समस्याओं पर भी थी जिन का संबंध भाषा, शिक्षा और भाषा-संरचना से था जो शैक्षिक और सांस्कृतिक समस्याएँ उत्पन्न करेंगी। धर्म के बारे में उनकी स्पष्ट कल्पना थी। 1937 में अलीगढ़ में आयोजित "कुल हिंद मुस्लिम तालीमी अधिवेशन" में उन्होंने कहा : "धर्म जो शताब्दियों से प्राप्त जीवन का महत्वपूर्ण बिंदु है उस को नज़रदांज़ नहीं किया जा सकता, उसको स्थिर रखने की आवश्यकता है किंतु किसी प्रकार सांसारिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए वह विवाद उत्पन्न न करे या उन्नति के रास्ते में रुकावट न बन जाए। इस संसार के जो लोग प्रगतिशील हैं उनके आचार ख़ामोशी से अपना लिए जाएँ।

इसके अतिरिक्त जीवन में वैज्ञानिक झुकाव होना आवश्यक है। वह समझते थे कि केवल राजनैतिक स्वतंत्रता और अपने धर्म पर कार्यान्वित रहना ही काफ़ी नहीं है। उन्होंने अध्यापकों और विद्यार्थियों को उकसाया कि वह अपनी भी एक स्वतंत्र जीवन कल्पना रखें ताकि हर प्रकार की चुनौती को स्वीकार करना सीखें। उनको पूछना चाहिए कि यह पहाड़, यह सागर, यह समुंदर, यह खानिज्य पूंजी, हमारे जंगलात और अनुकूल वातावरण सब कहाँ से और कैसे अस्तित्व में आए, किन-किन उपायों से मानव के वातावरण को अच्छे से अच्छा बनाया जा सकता है। किस प्रकार से अपने शोधकार्यों की दिशा, साहित्य और विज्ञान, अपनी पैदावार, अपने व्यवसाय, लोगों के भौतिक और आध्यात्मिक ढंग को बेहतर और संपन्न बनाया जा सकता हैं। उन्होंने बल देकर कहा कि विज्ञान अहिंसा का मार्ग दिखाता है और काम हमारे जीवन की आवश्यकता है। मानव की प्रसन्नता और शांति के लिए हमें उन दोनों को अपनाना पड़ेगा।

राष्ट्रपति की हैसियत से ज़ाकिर हुसैन के भाषण में उनके शैक्षिक विचार और नियम जिन्हें उन्होंने जनसाधारण के लिए और अपने व्यक्तिगत जीवन में भी कार्यान्वित किया, का उल्लेख है : "मैं इस बात पर जमा हुआ हूँ कि शिक्षा क़ौमी लक्ष्य का मूल नियम है और अवश्य शैक्षिक योग्यता क़ौम की योग्यता को निखारने में एक बहुत बड़ा उपाय है। इसलिए मैं शपथ लेता हूँ कि अपने अतीत की संर्पूण संस्कृति से, जो जहाँ से और जिससे भी मिली हो, जुड़ा रहूंगा, अपने देश के प्रति निष्ठावान रहूँगा, बग़ैर किसी भाषायी और क्षेत्रीय भेद-भाव के। मैं शपथ लेता हूँ हिंदूस्तान की स्थिरता और प्रगति के लिए काम करूँगा और बग़ैर किसी धार्मिक मतभेद, रंग-भेद के काम करूँगा। संपूर्ण भारत मेरा घर है और इसके रहने वाले सारे लोग मेरा परिवार।"

उसी समय उन्होंने अपने देश के लिए परेशानी भी प्रकट की थी : "हमारे आगे काम इतने हैं कि कोई भी बस बैठा तमाशा नहीं देख सकता, नहीं तो उदासीनता और मायूसी आपदा के रूप में अपने देश में फैल जाएगा। यह परिस्थिति हम से माँग करती है कि

काम और केवल काम-ख़ामोशी से काम, ईमानदारी से काम मगर ठोस ढंग से। हमारे लोगों के पूरे भौतिक और सांस्कृतिक जीवन के नवनिर्माण की आवश्यकता है।"

संक्षिप्ततः ज़ाकिर हुसैन का शैक्षिक योगदान केवल शब्दों द्वारा ही प्रकट नहीं हुआ है बल्कि उसमें फटकार भी है। लेकिन जिस प्रकार के जीवन पर उन्होंने अमल किया उससे स्पष्ट है कि उनको हिंदुस्तान के लोगों की योग्यता पर पूर्ण विश्वास था। निसंदेह हर व्यक्ति के लिए उन का यही विचार था। उन का कहना था कि: "केवल एक व्यक्ति पूरे रूप से आगे नहीं बढ़ सकता, सामूहिक समाज को लेकर चलना होगा जो न केवल उसका उद्धार करे बल्कि नवनिमार्ण करे।"

डा. ज़ाकिर हुसैन

रामकुमार

अपनी एकेडेमिक ज़िम्मेदारियों और बाद के वर्षों में राष्ट्र के हितों में व्यस्त होने के बावजूद कला में उनकी रुचि देखते हुए मैं आश्चर्यचकित हो कर सोचता था कि डा. ज़ाकिर हुसैन जैसे कोई अन्य नेता हमारे देश में मुश्किल से ही मिलेंगे। उनसे संबंधित कितनी ही स्मृत्तियां इतने वर्षों बाद भी आज तक धुंधली नहीं पड़ीं।

सब से बड़ी प्रसन्नता यह सोच कर होती है कि मेरे पहले चार चित्र डा. ज़ाकिर हुसैन ने ख़रीदे। शायद 1948 के आसपास का समय होगा। वे यूनिवर्सिटी ग्रांट कमीशन की मीटिंग में शिमला आये हुए थे और संयोगवश उन्हीं दिनों मेरी पहली प्रदर्शनी शिमला में हो रही थी। एक शाम को रिज पर अनायास ही उन्हें देख कर मैं तेज़ कदमों से उनके पास पहुंच गया और उन्हें बतलाया कि लगभग 4 वर्ष पूर्व दिल्ली स्कूल ऑफ़ एकोनोमिक्स में जब वे गेस्ट प्रोफ़ेसर के नाते सप्ताह में एक बार 'अन्तर्राष्ट्रीय संबंध' पर लेक्चर देने आते थे तो उनके छात्रों में से मैं भी एक था। वे यह जान कर खुश हुए कि अब मैं अर्थशास्त्री बनने के बदले एक चित्रकार बनने की कोशिश कर रहा हूँ। अगले दिन वह प्रदर्शनी में आये और मुझे प्रोत्साहित किया और चित्र ख़रीदे।

उस घटना के बाद ज़रुरत पड़ने पर उन्होंने सदैव मेरी सहायता की। अपने परिचितों को मेरे चित्रों के बारे में उत्साहित किया। जो घटना भूल नहीं पाता वह 1949 के आरम्भ की है। चित्रकला का अध्ययन करने के लिए मैंने पेरिस जाने का निश्चय कर लिया था। पिता ने एक तरफ़ का पानी के जहाज़ का टिकट ख़रीद दिया था। पास में कुछ और रुपये भी होने चाहिये, यह सोच कर मैंने डा. ज़ाकिर हुसैन को एक पत्र लिखा जिसमें अपनी समस्या की चर्चा की। उन दिनों वह बीमारी के बाद रामपुर रियासत में मुख्य मंत्री कर्नल ज़ैदी के घर पर स्वास्थ्य लाभ कर रहे थे। शीघ्र ही उन्होंने अपने जवाब में मुझे रामपुर आने का निमंत्रण दिया और साथ कुछ चित्र भी लाने को कहा जिसमें यदि संभव हुआ तो वे कुछ बिकवाने की कोशिश भी करेंगे।

स्टेशन पर कर्नल ज़ैदी का एक कर्मचारी अपनी गाड़ी लेकर मुझे लेने आया और एक अन्य मंत्री के घर ले गया जहां मेरे रुकने की व्यवस्था की गई थी और रात को कर्नल ज़ैदी के बंगले में खाने का निमंत्रण था जहां डा. ज़ाकिर हुसैन मुझ से मिलने वाले थे।

बीमारी के बावजूद भी वे आत्मीयता से मुझे मिले, मेरे चित्रों को ध्यान से देखते रहे और फिर अन्त में केन्द्रीय सरकार के शिक्षा मंत्रालय के मंत्री श्री हुमायूं कबीर के नाम मुझे पत्र दिया जिसमें सरकार की ओर से मेरी आर्थिक सहायता करने का अनुरोध किया था। 500 रुपयों की वह सहायता भी मुझे उस समय एक वरदान जान पड़ी।

मेरे चित्रों के प्रति उनकी उत्सुकता और उनका स्नेह अन्त तक बना रहा। बिहार के गवर्नर, उपराष्ट्रपति और फिर राष्ट्रपति बनने के बाद भी मैं समय समय पर उनसे भेंट करता रहा। जब पहली बार उनके राष्ट्रपति बनने पर मैं उनसे भेंट करने गया तो वे हंस कर बोले: "छोटे जेलखाने से बड़े जेलखाने में आ गया हूँ।" राष्ट्रपति निवास के भीतर औपचारिकता के होते उन्हें ऐसे लोगों से भी मिलना पड़ता था जिनकी बातचीत में उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं थी: "कभी कभी आप आते रहिये जिससे दूसरी तरह की बातें कहने का मौक़ा मिले, वरना यहां तो एक ही तरह की बातें होती हैं जिनका कोई महत्व नहीं होता।"

एक बार मैं बनारस में चित्र बना रहा था। शायद उन्हें यह बात मालूम थी। बिहार के गवर्नर वह उन दिनों थे और दिल्ली से पटना रेलगाड़ी में जा रहे थे। उन्होंने मुझे सूचना दी कि यदि संभव हो तो उन्हें बनारस के कुछ चित्र दिखाने के लिए मैं मुगलसराय आ जाऊं जहां गाड़ी 10-15 मिनट रुकती थी। मैं स्टेशन चला गया और पानी के रंगों में बने चार चित्र ले गया। इनसे भेंट हुई और उन्होंने चित्र भी देखे और एक चित्र अपने पटना के घर के लिये ख़रीद लिया। वह जानते थे कि उन दिनों चित्रों का बेचना कितना कठिन था और एक चित्र बेच कर 2-3 महीने निश्चिंत हो कर कट जाते थे। अत: जब भी सम्भव होता, वह अपनी पसन्द के 1-2 चित्र अवश्य लेते थे। उन्हें शौक़ भी था, आधुनिक कला से परिचित भी थे। जब भी योरोप जाते, तो म्युज़ियम, आर्ट गैलरियों के चक्कर अवश्य लगाते थे।

किस प्रकार के चित्र इन्हें अधिक अच्छे लगते थे और कुछ कम। ज़्यादा निर्णय उनकी गहरी समझ बूझ, उनकी सच्ची दिलचस्पी, अलग विषयों पर जमा हुए उनके ज्ञान और तीव्र बुद्धि पर निर्भर करता था। प्राय: बातचीत में आधुनिक कला के विषय में उनके विचार जान कर मैं चकित रह जाता था। उनका एक मौलिक दृष्टिकोण था।

एक शाम को वेस्टर्न कोर्ट के एक कमरे में बातचीत करते हुए उन्होंने कर्नल ज़ैदी (जो उस समय अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के वाइस चांसलर थे) को सुझाव दिया कि उन्हें यूनिवर्सिटी में एक आर्ट गैलरी की स्थापना करनी चाहिये जिससे छात्रों को चित्र देखने और उन्हें सराहने की आदत पड़े। कर्नल ज़ैदी ने उनके प्रस्ताव पर तुरंत विचार कर लिया और कहा कि वे यूनिविर्सटी ग्रांट कमीशन से इसके लिये एक ग्रांट मांगेंगे। मेरा एक चित्र बेगम ज़ैदी ने तुरंत ख़रीद भी लिया। दुर्भाग्य से यह योजना वहीं ख़त्म भी हो गई क्योंकि कर्नल ज़ैदी अलीगढ़ यूनिवर्सिटी छोड़ गये। मेरा वह चित्र शायद अब भी यूनिवर्सिटी

लाइबरेरी में कहीं लटक रहा है।

मुझे लगता है कि यदि वे शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में ही रहते तो आगे विकास में उनका योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण होता। दुर्भाग्य से उनकी ज़िम्मेदारियाँ राष्ट्र के बड़े हित के लिये बढ़ती गईं जिससे उनके पास दूसरी चीज़ों के लिये समय ही नहीं रह गया। लेकिन उनकी विद्वता और उनकी ईमानदारी को देखते हुए ही उनकी सेवाओं का उपयोग किया गया। फिर भी अपने सीमित समय और साधनों के सहारे कला और संस्कृति के क्षेत्र में जो वह कर सकते थे, उन्होंने किया।

खुशबू जो बिखर गई

खुर्शीद आलम खान, कर्नाटक के राज्यपाल

हिन्दुस्तान के राष्ट्रपति बनने वाली हस्तियों के कारनामों और व्यक्तित्व के विषय में इतिहास जब अपना निर्णय सुनाएगा तो ज़ाकिर हुसैन की गिनती अत्यंत महान राष्ट्रपतियों में होगी ।

डा. ज़ाकिर हुसैन ने 8, फ़रवरी 1897 को हैदराबाद में जन्म लिया था। उनके पिता श्री फ़िदा हुसैन हैदराबाद में जाकर बस गए थे और वहाँ के कामयाब वकीलों में गिने जाते थे । ज़ाकिर साहिब अपने पिता के सात बेटों में से तीसरे थे ।

युवा ज़ाकिर को सभी प्रकार की वह समस्त अच्छी सुख-सुविधाएं प्राप्त थीं जो उस समय की रीतियों के अनुरूप ऊंचे वर्ग के मुस्लिम परिवारों को उपलब्ध थीं । उनमें अंग्रेज़ी भाषा का सीखना भी सम्मिलित था। दुर्भाग्य से 1907 में उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। उस समय ज़ाकिर साहिब की आयु केवल दस वर्ष थी। 14 वर्ष की आयु में वह अपनी माँ से भी बिछड़ गए । अब उनका परिवार अपने पैत्रिक निवास स्थान क़ायमगंज वापस आ गया। उन्होंने इटावा के इस्लामिया स्कूल में शिक्षा पाई जहाँ स्कूल के हेड मास्टर मोलवी अलताफ़ हुसैन ने इस होनहार और असामान्य बुद्धिमान बच्चे को शिक्षा-दीक्षा दी ।

ज़ाकिर साहिब ने जिन क्षेत्रों में विशेष भूमिका निभाई और जिन कार्यों के लिए वह जीवन पर्यन्त समर्पित रहे वह हैं समाज में नए दृष्टिकोणों और मूल्यों को फैलाना, देश के सभी वर्गों में शिक्षा व सभ्यता को बढ़ावा देना और जीवन के बढ़िया एवं उच्च स्तरीय पक्षों के सर्वोच्च स्तर की खोज करना । यही बातें उनकी आत्मा की खोज और उद्देश्य बनी रहीं । उन्होंने पूरे जीवन में इस मिली जुली सभ्यता में रचनात्मक सामजंस्य उत्पन्न करने के लिए प्रयास किए जो इस महान देश की पहचान है, जिस का प्रदर्शन अनेकता में एकता और रंगा रंगी में समरूपता के रूप में होता है ।

उनके विचार में वास्तव में शिक्षित वह होगा जिसकी आँखों पर अंधेरे के परदे नहीं होंगें और जो रुढ़ियों अथवा रीतियों से बंधा नहीं होगा और बेझिझक नए मूल्यों और विचारों को खुले मन से स्वीकार करेगा। वह ऐसा व्यक्ति होगा जो बंधे टके सिद्धांतों से बचेगा और नैतिक मूल्यों के लिए प्रयत्न करेगा। मूल्यों के उस ढाँचे को वह अपना लेगा

जो उसके आलोचनात्मक मन को स्वीकार हों और वह रौशन ख्याल बनने की चेष्ठा करेगा। इन्हीं विशेषताओं को, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति के कार्य काल के समय और इससे पूर्व जामिया के निर्माता के रूप में, वह जागृत करने में निष्ठापूर्वक सक्रिय रहे।

ज़ाकिर साहिब ने यह अनुभव कर लिया था कि हमारी शिक्षण पद्धति पूर्ण रूप से पश्चिम के प्रभाव के अधीन है। इसलिए उन्होंने इस बात पर ध्यान दिया कि हमारी उच्च शिक्षा पद्धति को लोगों के जीवन और उनकी आवश्यकताओं और उमंगों के पूरी तरह अनुरूप बनाना पहला और सबसे महत्वपूर्ण कार्यक्रम होना चाहिए। और पश्चिमी विश्वविद्यालयों से उधार ली गई रीतियों तथा शैक्षिक ढांचे में अपने मूल्यों की पद्धति एवं कार्यशैली के समंजन से एक राष्ट्रीय शिक्षण पद्धति की रूप रेखा तैय्यार करना चाहिए।

इन्होंने इस बात पर बल दिया कि राष्ट्रीय प्रगति और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में महिलाओं को कार्य के अधिक अवसर उपलब्ध कराने के दृष्टिकोण से महिलाओं की शिक्षा के कार्यक्रम को विस्तृत एवं उत्तम बनाने को महत्ता दी जाए। उनके विचार में इस सम्बंध में जो महत्वपूर्ण क़दम उठाया जाना चाहिए वह जनता के विचारों का सही दिशा में मार्गदर्शन करना है और लोगों को विश्वास दिलाना है कि लड़कियों तथा महिलाओं की शिक्षा पुरुषों और लड़कों की शिक्षा से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

उनकी दृष्टि में यह बात बहुत अधिक महत्ता लिए हुए है कि सामाजिक और क़ौमी ख़िदमत (राष्ट्र सेवा) में काम आने वाले और चुनौती भरे कार्यों में शिक्षक और विद्यार्थी भाग लें। वह मानते थे कि इस प्रकार का मिश्रण ही हमारी उच्च शिक्षा पद्धति को राष्ट्रीय आवश्यकताओं एवं उमंगों से भली प्रकार तथा प्रभावपूर्ण ढंग से जोड़ सकता है और उसे राष्ट्र की प्रगति का शक्तिशाली माध्यम बना सकता है।

वह भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने पर विश्वास रखते थे जबकि वह अंग्रेज़ी भाषा अति सुंदर शैली में लिख और बोल सकते थे। परंतु उन्होंने भारतीय भाषाओं की उपेक्षा से परहेज़ किया। उन्होंने कहा था कि मैं चाहता हूँ कि साहित्य संबंधी रूचि रखने वाले हमारे युवा अंग्रेज़ी और विश्व की दूसरी भाषाओं से अपनी रूचि के अनुसार भली भांति परिचित हों और मेरी इच्छा है कि वह बोस, राय या टैगोर की भांति हों और उसी आदर्श प्रवीणता से हिन्दुस्तान और विश्व को लाभ पहुँचाएं। परंतु मैं यह नहीं चाहूँगा कि कोई भी हिन्दुस्तानी अपनी मातृ भाषा को भूल जाए। उसकी उपेक्षा करे, या उससे लज्जित हो या अनुभव करे कि वह अपनी भाषा में न सोच सकता है और न ही उच्च विचारों की अभिव्यक्ति उसके माध्यम से कर सकता है।

जामिया मिल्लिया की स्थापना के समय उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा का शानदार अनुभव आरंभ किया था। हमारे युग की महान उपलब्धियों में से इस उपलब्धि की प्राप्ति के मार्ग में दीप प्रज्वलित करने का कार्य बहुत कठिन था, इसमें पराजय का सामना करना था,

मानसिक तनाव से दो चार होना था, कष्ट सहन करने थे, निराशा का शिकार होना था, त्याग और बलिदान करने थे, इस प्रकरण में हमें उन नौआबादियाती (उपनिवेशवादी हत्थकंडों) शिंकजों को याद रखना चाहिए जो राष्ट्रीय चेतना के उस बढ़ते हुए धारे को आरंभ में ही समाप्त करने से रुक नहीं सकता था। उससे हमारी शिक्षा पद्धति को जकड़े हुई उपनिवेशवाद सम्बंधी ज़ंजीरों को टुकड़े टुकड़े होने का ख़तरा लगा हुआ था। अपने अज्ञान और अपनी उपेक्षा के कारण मुस्लिम समाज विदेशी राजनीतिक चालों का शिकार हो चुका था। वास्तव में ज़ाकिर साहिब के कठिन मार्ग में रुकावटें खड़ी करने में वह बराबर का भागीदार था।

ज़ाकिर साहिब ने जामिया की स्थापना करने और परवान चढ़ाने में जिस प्रकार प्रयास किए वह एक उदाहरण हैं। आर्थिक रूप से ज़ाकिर साहिब को ग़रीबी का जीवन बिताना पड़ा ताकि जामिया चलता रहे। उन्होंने बहुत ही किफ़ायत और बचा बचा कर जामिया के साधनों का उपयोग किया ताकि सब से पहले जामिया के कार्यकर्ताओं का भुगतान हो सके और बाद में यदि कुछ बच रहे तो फिर उन्हें मिले। इस प्रकरण में बेगम ज़ाकिर हुसैन हमारी श्रद्धांजली की पात्र हैं जिन्होंने ज़ाकिर साहिब के जामिया को अपना तन मन अर्पित कर देने के पश्चात उन थोड़े बहुत संसाधनों से परिवारजनों का पोषण किया जो उन्हें प्राप्त हो सके।

जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में जामिया असहयोग अंदोलन का तंदुरुस्त बच्चा है। यह देश में बरतानवी राज द्वारा चलाई जा रही शिक्षण संस्थाओं का बाईकाट करने की गाँधी जी की पुकार के प्रभाव के अतंर्गत अस्तित्व में आया था। यह संस्था उस समय में स्थापित हुई थी जो असीम सपनों, उत्साहपूर्ण इरादों तथा जोश व उमंगपूर्ण देशभक्ति से ओत-परोत या। इसकी स्थापना का उद्देश्य परम्परागत शिक्षा पद्धति तथा आधुनिक शिक्षा रीति में ताल मेल उत्पन्न करने के लिए था।

असहयोग आंदोलन के समय में जामिया के विद्यार्थी और शिक्षकगण गाँधी जी का संदेश देश के कोने कोने में फैलाते हुए फिरे और उन्होंने गाँधी जी के सृजनात्मक कार्यक्रमों को लोकप्रिय बनाने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। जामिया ने दो सौ से अधिक ऐसे शिक्षक और विद्यार्थी तैय्यार किए जो राष्ट्रीय आदर्श की मशाल को प्रज्वलित रख सकें। बाद में भी जामिया कांग्रेस की समर्थक रही और दो राष्ट्र के विचारधारा का डटकर विरोध करती रही। 1946-48 में जब साम्प्रदायिक दंगे ने दिल्ली में हाहाकार मचा रखी थी, उस समय भी जामिया का कैम्पस उन कुछेक द्वीपों में से एक था जहाँ स्थितियाँ शाँतिपूर्ण रहीं और वह लोग जुनून से पाक रहे।

कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं के एक समूह के समक्ष नवम्बर 46 में बोलते हुए ज़ाकिर साहिब ने इस आपसी घृणा की आग की बात कही थी जो देश में लगी हुई थी और उन से अनुरोध किया था कि वह सिर जोड़कर बैठें और इस आग को सबसे पहले

बुझाएँ । उन्होंने कहा था कि इस बात की जाँच पड़ताल करने और निर्धारण करने का समय नहीं है कि आग किस ने लगाई । आग भड़की हुई है, आइए हम सब मिलकर उसे बुझाएँ ।

नेकी और मानव प्रेम ज़ाकिर साहिब के व्यक्तित्व में कई प्रकार से प्रदर्शित हुए हैं । ज्ञान व शिक्षा के लिए उनका सतत् प्रयास इस का पहला प्रदर्शन था । वह जानते थे कि ज्ञान से दर्शन का मार्ग प्रज्वलित होता है और यह मानव प्रगति की कुंजी है । वह अपनी इस विचारधारा से इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ज्ञानियों, बुद्धिजीवियों को परवान चढ़ाना और सृजनात्मक तथा आलोचनात्मक दिमाग़ रखने वालों के लिए उचित वातावरण का सृजन करना तो किसी क़ौम की वास्तविक संपत्ति है । जामिया मिल्लिया उनके इस प्रशसंनीय खोज का एक जीता जागता नमूना है ।

उनका मत था कि कमाल (पराकाष्ठा) का आंतरिक आकर्षण प्रेम व मुहब्बत है और 'उसका बाह्य रूप सौंदर्य अथवा हुस्न हैं । वह कोलरिज (अंग्रेज़ी भाषा का एक महाकवि) के इस कथन के पक्षधर थे कि वह अच्छा पुजारी अथवा धर्मकर्मी है जो अच्छे व सुंदर ढंग से प्रेम करता है ?

ज़ाकिर साहिब सेवा व बलिदान पर पूर्ण विश्वास रखते थे क्यों कि प्रेम इन्हीं से बढ़ता है । एकता का विकास होता है । आपसी सामंजस्य व मेल सुदृढ़ होता है । आपसी समझौते में बढ़ोतरी होती है । एक व्यक्ति हो या समूचा देश दोनों के लिए आपस का सहयोग और आपसी सहायता ही प्रगति का मूल नुस्ख़ा है । केवल यही आज़ादी और संपन्नता की ओर जाने को आश्वस्त बनाती है । इसमें कोई संदेह नहीं कि ज़ाकिर साहिब का पूरा जीवन त्याग, बलिदान और सेवा की ही एक कहानी है ।

ज़ाकिर साहिब के समूचे जीवन का रचनात्मक कार्य चार क्षेत्रों में फैला हुआ है । जामिया के संस्थापक के रूप में, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में, बिहार के राज्यपाल की स्थिति में, उपराष्ट्रपति और अंत में भारत गणतंत्र के राष्ट्रपति के रूप में । जामिया को बनाना अत्यंत चुनौती भरा प्रोजेक्ट था और उन्हें बहुत प्रिय था । उनकी उपलब्धियों में यद्यपि यह बहुत छोटी सी कामयाबी प्रतीत होती है परंतु उनके लिए यह बहुमूल्य धरोहर है जिसे उन्होंने देश को दिया है । यह भारतीय कला कौशल तथा विद्या की जागृति के समय का अति उत्तम फल है । यहाँ कला मर्मज्ञता के गगन पर ऐसे चमकदार तारे एक स्थान पर एकत्रित हो गए थे जो इसलामी शिक्षाओं को भली भांति जानते थे तथा इसलामी सभ्यता के उन सुंदर पक्षों को समस्त मानव जगत के समक्ष प्रस्तुत कर सकते थे । डा. ज़ाकिर हुसैन अपने इस अनुपम उपहार के लिए सदैव याद किए जाते रहेंगें ।

डा. ज़ाकिर हुसैन की अंतिम विश्रामस्थली जामिया के समीप जिस भूभाग पर है वह पावन हो गई है । डा. ज़ाकिर हुसैन की अंतिम विश्रामस्थली के एक ओर स्कूल, दूसरी

ओर मस्जिद, और तीसरी ओर पुस्तकालय है । यही उनके अस्तित्व के तीनों तत्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं । मन-मस्तिष्क, दिल और शरीर-स्कूल-मन मस्तिष्क के विचारों के विकास का प्रतीक है, मस्जिद-खुदा अथवा परमपरमेश्वर के पालनहार होने की गवाही है और पुस्तकालय ज्ञान का भंडार है ।

प्रजातंत्र के विषय में ज़ाकिर साहिब के विचार अति उत्तम थे । उन्होंने न तो धर्म और न ही अपने मत को अपने पदों के दायित्व के निर्वाह में हस्तक्षेप करने दिया । एक बार दिल्ली में राम लीला के समारोह का उदघाटन करते उन्होंने श्री राम को तिलक लगाया । इस पर कुछ मुसलमानों ने नाराज़गी जताई । उन्हें ज़ाकिर साहिब ने उत्तर दिया कि मैं समस्त भारत का राष्ट्रपति हूँ किसी विशेष सम्प्रदाय का नहीं ।

डा. ज़ाकिर हुसैन का कार्यक्षेत्र दर्शनशास्त्र, राजनीतिक उपायों और साहित्यिक कृतियों तक फैला हुआ है । उन्हें बच्चों के साहित्य तथा व्यस्क जनों के लिए उपयुक्त एवं ठीक पुस्तकों को तैय्यार करने में गहरी रूचि थी । उन्होंने स्वयं छोटे बच्चों के लिए अनेक पुस्तकें लिखीं जिनका विषय अत्यंत शिक्षाप्रद तथा जानकारीपूर्ण था । इसी प्रकार उन्होंने जामिया के लोगों को प्रोत्साहित किया कि वह असाक्षर व्यस्कों के लिए पाठय पुस्तकें तैय्यार करें । जामिया ने उन लोगों के लिए जो पुस्तकें तैय्यार की थीं वह निस्संदेह प्रौढ़ शिक्षा के कार्य में मील का पत्थर सिद्ध हुईं ।

6, जुलाई 1957 को ज़ाकिर साहिब बिहार के राज्यपाल नियुक्त हुए जबकि इस पद पर कार्यरत रहते हुए रचनात्मक कार्यों के लिए कम ही समय था । परंतु एक प्रसिद्ध घटना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शिक्षा से उनका कितना गहरा लगाव था । बिहार सरकार ने शिक्षा संबंधी एक बिल प्रस्तुत किया था । यदि उसका प्रस्तावित मसौदा जूँ का तूँ पास हो जाता तो राज्य के विश्वविद्यालयों के स्वाधिकार पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता । ज़ाकिर साहिब ने मुख्य मंत्री का ध्यान इस ओर आकर्षित किया और इस बात को सुनिश्चित किया कि राज्य के हस्तक्षेप से विश्वविद्यालयों को सुरक्षित रखने के लिए इस बिल में उपयुक्त परिवर्तन हों ।

डा. ज़ाकिर हुसैन 3, मई सन् 1962 को भारत गणतंत्र के उपराष्ट्रपति चुने गए । उनका राष्ट्रपति काल उनकी सहृदयता, एवं मानव प्रेम के मूल्यों से जाना जाता है । वह 13, मई 67 को इस उच्च पद पर आसीन हुए थे । उनका कार्यकाल बहुमुखी एवं अनुसरणीय था । परंतु खेद है कि दो वर्ष बाद उनका निधन उस समय हो गया जब उनका नाम ख्याति की चरम शीर्ष पर था । राष्ट्रपति के रूप में उन्होंने कितना हमें माला माल किया है इस पर श्रीमती गाँधी के इस कथन से रोशनी पड़ती है । तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा जी ने कहा था : डा. ज़ाकिर हुसैन उस नस्ल के अंतिम लोगों में से थे जिन्हें केवल स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने ही से गौरव नहीं मिला अपितु उनकी आत्मा अपने मिशन के उच्चतम विवेक से ओतप्रोत थी । दो वर्ष पूर्व डा. ज़ाकिर हुसैन को भारत गणतंत्र का राष्ट्रपति चुन करके

भारतीय जनता ने स्वयं को गौरवान्वित किया था। अपनी अल्प कार्यावधि में उन्होंने इस पद की गरिमा को बढ़ाया। संभवत: किसी एक व्यक्ति की तुलना में वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देश की एकता के उद्घघोषक थे। मिली जुली भारतीय संस्कृति की गहराई और उसकी मर्मज्ञता को अपने व्यक्तित्व में समोए हुए उन्होंने अपने कथन और कर्म से राजनीतिक जीवन के स्तर को ऊँचा उठाया। जिन मूल्यों को उन्होंने प्रिय रखा वह थे रचनात्मक कार्य जो एक शिक्षाविद और समाजी कार्यकर्ता के रूप में उन्होंने निष्पादित किए, वह विशेष गुण जिन्हें उन्होंने हर उस पद में बनाए रखा जिन पर राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वह आसीन हुए। यह मूल्य आने वाली पीढ़ियों का मार्गदर्शन करते रहेंगे।

ज़ाकिर साहिब उच्चस्तरीय खोज व तलाश के संदेशवाहक थे। वह अपने कार्य से इतना लगाव रखते थे और इतने सभ्य तथा सुशील थे कि भीतर पाए जाने वाले मूल्यों की परख और उनकी उपयोगी विशेषता की जानकारी उनके लिए स्वाभाविक बात थी। उनके जीवन की कहानी सदैव ही दूसरों की खुशियों और भलाई का स्रोत बनी रही। परंतु यह कहानी 3, मई 1969 को समाप्त हो गई। उनके निधन पर भक्ति भाव से बहुत कुछ कहा गया। परंतु प. आनंद नारायण की पद्यात्मक श्रद्धांजली सदैव उनकी याद दिलाती रहेगी। उसका भावार्थ निम्न प्रकार है:-

ऐ साक़ी ! पहली पंक्ति से तो एक ही पीने वाला उठा है
पर तू देख ले कि मेरी महफ़िल कितनी सुन्सान व उजाड़
है, एक दिया बुझा है पर समूचे राष्ट्र में अधंकार फैला है आदि।
प. आनन्द नारायण के शब्दों में:-
सफ़े अव्वल से फ़क़त एक ही मैख़ार उठा
सुन्सान है लेकिन कितनी मेरी महफ़िल साक़ी
एक ही शमा बुझी मौत के हाथों लेकिन
तारीक हुई कितनी क़ौम की मंज़िल साक़ी।

इक कली आई थी ख़ुशबू लिए कुछ दम के लिए
गई वह, फिर वही कांटों की है महफ़िल साक़ी
दफ़न हो जाए न ख़ुशबू भी कहीं फूल के साथ
ख़ुशबू तो है यही इस बज़्म का हासिल साक़ी।

हमारी शिक्षा में ज़ाकिर साहब का योगदान

अब्दुल्ला वली बख़्श क़ादिरी

इस शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दुस्तानी चेतना में राष्ट्रीय शिक्षा की धारणा का एहसास पैदा हुआ। पहले विश्वयुद्ध की समाप्ति पर गाँधी जी के नेतृत्व में विदेशी साम्राज्य के विरुद्ध असहयोग आंदोलन ने ज़ोर पकड़ा और इसके समर्थन में ख़िलाफ़त आंदोलन के मुस्लिम नेता भी समाजी बहिष्कार के लिए उठ खड़े हुए। देश भर में अंग्रेज़ी माल का बहिष्कार किया जाने लगा और उस समय की सरकार के संरक्षण में शिक्षा देने वाले संस्थानों को छोड़ने की भी घोषणा कराई गई।

राष्ट्रीय नेताओं के इस आवाहन ने स्कूल और कालेज के नौजवानों को भी उभारा। इस मामले में पहल अलीगढ़ के मोहम्मडन एंग्लो ओरिएन्टल कालेज के छात्रों ने की। सन् 1920 की शुरुआत थी, गाँधी जी और मौलाना मुहम्मद अली के मुरादाबाद आने की सूचना पाकर दो तीन जोशीले नौजवान उनसे वहाँ जाकर मिले और निवेदन किया कि आप अलीगढ़ आकर छात्रों को सम्बोधित करें। मौलाना मुहम्मद अली ने छात्रों की आज़ादी की भावना को सराहा क्योंकि वह स्वयं भी यही भावना रखते थे कि अलीगढ़ के इस शिक्षा संस्थान को अंग्रेज़ी समर्थकों व अंग्रेज़ियत से यथासम्भव बचाया जाए। उन्होंने चाहा कि सरकार के संरक्षण में चलने वाली संस्थाओं से असहयोग आंदोलन की शुरुआत गाँधी जी अलीगढ़ से करें और ऐसा ही हुआ। अली भाइयों के साथ गाँधी जी अलीगढ़ पहुँचे। कालेज के छात्रों की सभा आयोजित हुई। कालेज के प्रबंधकगण ने यह प्रबंध कर रखा था कि इस सभा को हर प्रकार से विफल बनाया जाए। अतः उनकी चाल चल गई। प्रश्नों की बौछार में यह सभा बिना किसी निष्कर्ष पर पहुँचे ही समाप्त हो गई।

लेकिन कुछ समझदार व संवेदनशील छात्रों के प्रयास से छात्रसंघ की सभा अगले दिन फिर हुई। इस अवसर पर एक लोकप्रिय व योग्य छात्र की तर्कसंगत बातों पर कान धरने के बजाय उसकी नीयत पर संदेह किया गया क्योंकि वह सहायक प्रवक्ता नियुक्त किया जा चुका था और अर्थशास्त्र में एम.ए. का पाठ्यक्रम पूरा कर रहा था। लेकिन यह नौजवान पुनः भाषण देने के लिए खड़ा हो गया। उसके भाषण का पहला वाक्य यह था कि "मैं अपने पद से त्यागपत्र देता हूँ।" बस फिर क्या था पाँसा ही पलट गया। यह हमारे ज़ाकिर साहब ही थे जिनके भाग में जामिया का महान निर्माता बनना लिखा जा

चुका था। इस बारे में सय्यद नूरुल्लाह और जे.पी. नायक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "भारतीय शिक्षा प्रणाली का इतिहास" में यूँ लिखते हैं:

"जोश और उत्साह के इस वातावरण में उन्होंने (छात्रों) एक प्रस्ताव पास किया जिसमें माँग की गई कि राष्ट्रीय मुद्दों पर पाठ्यक्रम का आधुनीकरण किया जाए और सरकार से संबंध विच्छेद करके, विश्वविद्यालय को राष्ट्रीय बना देना चाहिए। मगर खेद है कि छात्रों की यह एकता बहुत दिन नहीं चल सकी। उनमें से बहुत सों को उनके माता पिता ने वापस बुला लिया और बहुतों को उनकी विचारधारा बदलने पर बाध्य किया गया। दृढ़ विश्वास रखने वाले क्रान्तिकारियों का एक छोटा सा दल, जिसका नेतृत्व महान नेता मौलाना मुहम्मद अली जौहर कर रहे थे, विश्वविद्यालय में ठहरा रहा और यह कहता रहा कि उनकी माँग के अनुसार इस संस्थान को पूर्णरूपेण राष्ट्रीय बनाया जाए। यह संघर्ष कुछ सप्ताह चलता रहा मगर अन्त में विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने पुलिस बुला ली और उसकी सहायता से उन तमाम लोगों को विश्वविद्यालय से बाहर निकलवा दिया गया जो विश्वविद्यालय को राष्ट्रीय संस्था बनवाने के लिए संघर्ष कर रहे थे। उत्तेजित करने और भड़काने के सारे हत्कंडों के बावजूद उन लोगों ने अत्यंत शाँतिपूर्वक विश्वविद्यालय को छोड़ दिया क्योंकि सहनशीलता और अंहिसा आंदोलन के अंश थे और लगभग तत्पश्चात अलीगढ़ में एक नया विश्वविद्यालय जामिया मिल्लिया इस्लामिया (नेशनल मुस्लिम यूनीवर्सिटी) के नाम से स्थापित कर लिया" (तारीख़ तालीमे हिन्द-अनुवादक मसूदुलहक़, पृष्ठ 386)

ज़ाकिर साहब उन चन्द छात्रों और अध्यापकों में शामिल थे जिन्होंने इस नये राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान का शिलान्यास रखने का (स्थापना दिवस 29 अक्तूबर 1920) सौभाग्य प्राप्त किया। इस नये शिक्षा संस्थान में लगभग दो वर्ष तक कार्य करने के बाद वह उच्च शिक्षा के उद्देश्य से जर्मनी चले गए। उनकी अनुपस्थित में जामिया का चलना कठिन हो गया और सन् 1925 में उसे दिल्ली लाया गया। जामिया के दिल्ली आने के एक वर्ष पश्चात डाक्टर साहब जर्मनी से वापस आ गये तब प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण उसे बंद करने का उन्हें पता चला तो ज़ाकिर साहब ने जामिया को चलाए रखने पर ज़ोर दिया। उनकी योग्यता, बुद्धिमत्ता, और साहस को देखते हुए उन्हें कुलपति बना दिया गया। उस समय उनकी आयु केवल 29 वर्ष थी और वह जर्मनी से अर्थशास्त्र में पी.एच.डी. की डिग्री लेकर आए थे। डाक्टर साहब ने सन् 1926 में जामिया की बागडोर सँभाली और देश की स्वतंत्रता तक लगातार 22 वर्ष तक उसका पथप्रदर्शन किया और उसकी सेवा में इस प्रकार जीवन बिताया कि त्याग-बलिदान का एक अमिट उदाहरण प्रस्तुत कर दिया। उनका पहला क़दम यह उठा कि उन्होंने "अन्जुमन-तालीमे मिल्ली" की स्थापना की। इस संदर्भ में प्रोफ़ेसर मुहम्मद मुजीब ने अपनी किताब 'डाक्टर ज़ाकिर हुसैन एक सवानह' (अनुवादक मुहम्मद तय्यब-नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया 1976) में लिखा है कि

''इस सोसाइटी में दो तरह के सदस्य थे, एक तो सहयोगी सदस्य और दूसरे वह जो 20 वर्ष तक अधिक से अधिक 150 रुपया मासिक वेतन पर जामिया की सेवा करने को सुदृढ़ थे। यह सब सदस्य जामिया के कर्मचारी थे । डाक्टर साहब की पुत्री सईदा ख़ुर्शीद आलम ने 'ज़ाकिर साहब की कहानी' (नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया 1975 पृष्ठ 26) में लिखा है कि ''यूँ तो 150 रुपये से अधिक न लेने का वचन दिया गया था लेकिन सत्य यह है कि इस 150 रुपये की सीमा तक कोई न पहुँचा । स्वयं मिँया का वेतन 75 रुपये मासिक था। यह वह 75 रुपये थे जिन पर उन्होंने जीवन के अच्छे दिन व्यतीत किए और वह भी कभी पाबंदी से न मिल सके, कहीं से रुपया आ गया तो कुछ न कुछ वेतन बँट गया वरना अल्लाह का नाम । मुझे याद है कि मेरी माँ जिन्हें इस थोड़ी रक़म में गृहस्थी चलानी थी बड़ी समझ बूझ से काम लेतीं लेकिन फिर भी कभी-कभी उनके मुँह से यह निकल जाता कि मुझे अधिक रुपयों की आवश्यकता नहीं है लेकिन बस मैं यह चाहती हूँ कि एक निर्धारित धनराशि मुझे हर माह मिल जाया करे ताकि उस हिसाब से अपना ख़र्च चलाऊँ। किन्तु इस वचन को उन ख़ुदा के बन्दों ने इस प्रकार निभाया कि उसका सादृश्य कठिन है और इस प्रकार जामिया को स्वायत शैक्षिक संस्थान का रूप प्राप्त हो गया जिसके सेवक स्वयं उसके अपने सदस्य थे और शिक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व और नेतृत्व का भार स्वयं उनके अपने अध्यापकों के कंधे पर था । इस प्रकार ज़ाकिर साहब ने न केवल जामिया वालों को 'वफ़ादारी बशर्ते उस्तवारी' (सुदृढ़ता सहित वफ़ादारी) का पाठ पढ़ाया बल्कि उनके बीच से छोटे-बड़े का अन्तर मिटा दिया और फिर अपने साथियों के चयन के लिए अपना एक अनोखा दृष्टिकोण अपनाया । उनका कहना है कि ''मेरी राय है कि मार्ग के उतार-चढ़ाव से परिचित होना उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि साथ मिलकर चलने वालों का एक हो जाना है ।''

ईश्वर की कृपा हो तो मार्ग भी प्रशस्त हो जाता है । एक दूसरे को सहारा देकर इसे पार कर लेते है । किसी ने ख़ूब कहा है कि ''मन अज़ तरीक़ न गोयम रफ़ीक़ मीजोयम-कि गुफ़्ता अन्द नुख़स्तीन रफ़ीक़ बाज़ तरीक़'' (मैं कार्यप्रणाली की बात नहीं करता, लोगों का कहना है कि प्रथमत: सहकर्मी और उसके पश्चात् कार्यप्रणाली) (ज़ाकिर साहब का ख़त अब्दुल ग़फ़्फ़ार मधोली के नाम, 24 अक्तूबर 1946) ''इस बात की पुष्टि ज़ाकिर साहब के निकटवर्ती मित्र प्रोफ़ेसर रशीद अहमद सिद्दीक़ी के इस कथन से भी होती है: ''ज़ाकिर साहब की कार्यविधि का आकर्षक पहलू यह है कि उन्होंने काम करने या काम लेने में पद, शक्ति या राजनीति के अनुसार प्रयोग नहीं किया है'' (ज़ाकिर साहब की कहानी-सईदा ख़ुर्शीद आलम, नेशनल बुक ट्रस्ट पृष्ठ 32) ज़ाकिर साहब ने अपनी शिक्षा के प्रथम दस-बारह वर्ष के अन्दर ही उस्ताद के पद व उद्देश्य को प्राप्त कर लिया था । उनका 15 मार्च सन् 1936 का प्रसारित (तालीमी ख़ुतबात, ज़ाकिर हुसैन, मकतबा जामिया लिमिटेड, नई दिल्ली 1943) ''अच्छा उस्ताद'' नामक भाषण बड़े स्पष्ट और प्रभावशाली

ढंग से उस्ताद का चित्रण करता है। इस भाषण का केन्द्रीय विषय तो उनके इन वाक्यों में ही आ गया है कि "उस्ताद के जीवन की पुस्तक के पहले पन्ने पर विद्या नहीं लिखा होता "प्रेम का शीर्षक" होता है। उसे मनुष्यों से प्रेम होता है। समाज जिन गुणों का केन्द्र है उनसे प्रेम होता है, उन नन्हीं नन्हीं जानों से प्रेम होता है जो आगे चलकर उन गुणों का केन्द्र बनने वाली हैं"। परन्तु वह केवल इस बात पर ही निर्भर नहीं रहते। उन्हों ने स्वयं कहा है कि "मगर केवल यही पर्याप्त नहीं। हर अच्छे उस्ताद में उसका होना तो आवश्यक है। हर वह व्यक्ति जिसमें यह हो अच्छा अध्यापक नहीं होता, प्रेम के इस बहाव को एक विशेष उपाय से काम में लाने की योग्यता भी होनी चाहिए। अत: उनका कहना है कि "उसे अपने शिष्यों के बनने वाले व्यक्तित्व की दिशा समझना, उसकी प्रगति की संभावनाओं का अनुमान लगाना पड़ता है और उसे उच्च सीमा तक पहुंचाने में सहायता करनी होती है"। वे साफ़-साफ़ कहते हैं कि "अध्यापक का वास्तविक कार्य चरित्र निर्माण है, सम्पूर्ण शिक्षा का मौलिक उद्देश्य यही होता है कि बच्चे के इरादे और कार्यशक्ति को किसी सीधे मार्ग पर डाल दे और सत्य नियमों के प्रकाश में अच्छी आदतों की सहायता से उसके चरित्र में एकाग्रता और दृढ़ता पैदा करे।"

वह अध्यापक के लिए अच्छे निर्माता की भी क़ैद लगाते है जो उनके जीवन का कोई स्थायी ढंग रखने वाले को ही मिल सकता है। उन्होंने शासक और अध्यापक के प्रभाव का अन्तर बड़ी कुशलता से स्पष्ट किया है कि "शासक अत्याचार करते हैं, यह धैर्य से काम लेते हैं, वह विवश कर के एक मार्ग पर चलाते हैं, यह स्वतंत्र छोड़ कर साथ रखता है, एक के साधन हिंसा और ज़बरदस्ती, दूसरे के प्रेम व सेवा, एक का कहना डर से माना जाता है दूसरे का आदर व शौक से, एक आदेश देता है, दूसरा सुझाव। वह दास बनाता है और यह साथी।" ज़ाकिर साहब ने अपने भाषण में यह स्पष्ट किया है कि "अध्यापक जीवन की कल्पना भी आंखों के सामने रखता है मगर नादान और विवश बच्चे की सेवा को अपने जीवन का गौरव मानता है और बच्चे की ओर से जब सारी दुनिया निराश हो जाती है तो बस दो व्यक्ति हैं जिनके हृदय में आशा मौजूद रहती है - एक उसकी माँ, दूसरा अच्छा अध्यापक।" निसन्देह यह भाषण एक साहित्यिक कारनामा है और अपने प्रभावशाली व शालीन स्वभाव में अध्यापक के व्यक्तित्व के उपकारों को भली भाँति उजागर करता है।

ज़ाकिर साहब ने अध्यापक का रूप, योग्यता, महत्व का निर्धारण करने के साथ साथ बच्चों के साहित्य तैयार करने का अभियान भी आरम्भ किया। बच्चों के लिए स्वयं लेख व कहानियाँ लिखीं और अपने सहयोगियों को इस ओर आकर्षित किया। उन्होंने बच्चों के लिए पाठय पुस्तकें भी तैयार करने पर ध्यान दिया। ज़ाकिर साहब ने ऐसी शिक्षा के मौलिक कार्यों की ओर उस समय ध्यान दिया जबकि उर्दू का मैदान उनसे लगभग ख़ाली था। ज़ाकिर साहब की प्रत्येक कहानी अपना शैक्षिक व मनोवैज्ञानिक प्रभाव रखती है।

वह किसी विशेषता या भले काम को प्रोत्साहन देती प्रतीत होती है। स्वतंत्रता की भावना, देशप्रेम, एकता व अखंडता और सेवा, बलिदान की दौलत से यह कहानियाँ मालामाल नज़र आती हैं। इनकी कहानियों का पहला संग्रह "अब्बू खाँ की बकरी" और चौदह अन्य कहानियाँ (प्रकाशित-मकतबा जामिया लिमिटेड, नई दिल्ली, 1963) एक अध्यापक की चेतना व सूझ बूझ का मूलाधार हैं जो भाग्यवश अपने अन्दर एक साहित्यकार समेटे हुए हैं। उनकी प्रेरणा का कारण भी देखिए "यह कहानियाँ बहुत दिन हुए रुक़य्या रेहाना के नामसे प्रकाशित हो चुकी हैं। मुझे उन्होंने सुनाई थीं और यह कह कर सुनाई थीं कि कहीं पढ़ी हैं या किसी से सुनी हैं। याद नहीं। मैंने उनसे पाई थीं इसलिए उन्हीं के नाम से प्रकाशित कीं, फिर रुक़य्या रेहाना हमेशा के लिये सिधार गईं और मैं यह भी न पूछ पाया कि मैंने जिस तरह यह कहानियाँ लिखी हैं वह उन्हें पसन्द भी हैं या नहीं। लेकिन चूँकि मेरे हाथ से लिखी गई थीं और लोग इसे जानते हैं इसलिए उन्हें अब अपने ही नाम से प्रकाशित करता हूँ। किस किस को बताऊँ कि रुक़य्या रेहाना कौन थीं और कहाँ चली गईं। उचित भी यही है कि कहानियों का सारा उत्तरदायित्व अपने सर ले लूँ। कहानी अपने कहने वाले की अच्छाई-बुराई स्पष्ट रूप से अपने अन्दर ले लेती हैं। यह कहानियाँ आपको पसन्द आएं तो सत्य यह है कि उनकी सारी विशेषताएं रुक़य्या रेहाना की भेंट हैं। यदि मन को न भाएं तो समझें कि मेरे बयान ने उनको बिगाड़ दिया है। मगर एक बार पढ़ अवश्य लें, थोड़ी सी हैं अधिक समय बर्बाद न होगा।"

इस वाक्य से ज़ाकिर साहब के आचरण व चरित्र का भी पता चलता है और इस संदर्भ में इतना बताना उचित होगा कि यह कहानियाँ यदा-कदा "पयामे तालीम" में प्रकाशित होती रही हैं और सईदा ख़ुर्शीद आलम साहिबा का यह कथन कि "जब मेरी छोटी बहन रेहाना की, जिसकी आयु चार वर्ष थी, अचानक मृत्यु हो गई तो मियाँ जामिया के प्राईमरी स्कूल का नतीजा सुना रहे थे। उस समय मैं लगभग 6 वर्ष की थी। मैंने देखा कि एक साहब ने चुपके से आकर मियाँ के कान में कुछ कहा जिससे मियाँ के चेहरे का रंग बदल गया लेकिन नतीजे की कार्यवाई जारी रही। यह खबर रेहाना के हार्टफेल होने की थी। थोड़ी देर में नतीजे की कार्यवाई समाप्त हुई और मियाँ घर चले गये और मुझे एक अध्यापक अपने साथ अपने घर ले गये। बाद में मुझे पता चला कि रेहाना इस दुनिया से जा चुकी है।" (ज़ाकिर साहब की कहानी- सईदा ख़ुर्शीद आलम, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, पृष्ठ 96)

अब ज़रा पहली कहानी "अब्बू ख़ाँ की बकरी" पर दृष्टि डालिए- अब्बू ख़ाँ की बकरी का नाम चाँदनी था। एक दिन वह घर से निकल भागी। इसके आगे ज़ाकिर साहब के शब्दों को देखिए "पहाड़ पर पहुँची तो भेड़िये का सामना हो गया। चाँदनी ने भेड़िये के आगे सर नहीं झुकाया। वह अच्छी तरह जानती थी कि बकरियाँ भेड़िये को नहीं मार सकतीं। वह तो केवल यह चाहती थी कि अपने साहस के अनुसार मुक़ाबला करे, जीत

हार पर अपना बस नहीं, वह अल्लाह के हाथ है, मुक़ाबला ज़रुरी है । चाँदनी रात भर भेड़िये का मुक़ाबला करती रही लेकिन सुबह होते-होते चाँदनी बेजान होकर ज़मीन पर गिर पड़ी, उसका सफ़ेद बालों का लिबास ख़ून से सुर्ख़ था, भेड़िये ने उसे दबोच लिया और खा गया ।"

परन्तु कहानी अभी समाप्त नहीं हुई है, उसका वास्तविक उद्देश्य अभी शेष है । ज़रा देखिए किस सादगी से स्वतंत्रता का दर्शन समझाया गया है । स्मरण रहे कि यह स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व की कहानी है । कहानी का अन्त इस प्रकार होता है "ऊपर पेड़ पर चिड़ियां बैठी देख रही थीं । उनमें यह बहस हो रही है कि जीत किसकी हुई । सब कहती हैं कि भेड़िया जीता । एक बूढ़ी सी चिड़िया है जो इस पर अड़ी है कि चाँदनी जीती ।" इस प्रकार उनकी एक और कहानी 'आख़िरी क़दम' है जो कथानक से हटकर निःस्वार्थ समाजसेवा की शिक्षा देती है । कहानी का आरम्भ इस प्रकार होता है "आओ आज तुम्हें एक बहुत अच्छे आदमी का हाल सुनायें जिसे उस के जीते जी बहुत से लोग बुरा भला कहते थे और मरने के बाद भी उसकी नेको का हाल बस वही जानते थे जिनके साथ उसने भलाई की थी और कुछ तो उनमें से भी भूल गए होंगे, इस नेक आदमी के पास बड़ी दौलत थी मगर यह उन लोगों में था जो अपने धन दौलत को अपना नहीं समझते बल्कि खुदा की अमानत समझते हैं । इस नेक आदमी का हाल यह था कि अपनी दौलत से स्वयं बहुत कम लाभ उठाता था । इस तरह यह बड़ा कंजूस प्रसिद्ध हो गया मगर यह धुन का पक्का था, बराबर छुप छुप कर चुप-चाप अपनी दौलत से किसी न किसी निर्धन की सहायता करता ही रहता था । उसके पास एक सुन्दर सी किताब थी । उस किताब में वह अपना पैसे पैसे का हिसाब लिखा करता था । उसका इरादा था कि मृत्यु के समय यह किताब उन लोगों के लिए छोड़ जाऊँगा जो सारी उम्र मुझे पहचाने बिना मेरा दिल दुखाते रहे हैं । उसकी समझ में आ गया कि अब वह वक़्त आ गया है जो सबके लिए आता है। किताब की ओर हाथ बढ़ा कर उसे उठाना चाहा । फिर कुछ सोच में पड़ गया । उनको लज्जित करके तुझे क्या मिलेगा । किताब को उस पास वाली अंगीठी में फेंक दिया" और कहानी का अन्त इस प्रकार होता है "किताब जलने लगी । इसकी नज़र उस पर जमी थी। किताब के जलने में देर लगी । फिर अन्दर के कागज़ों में आग लगी तो एक शोला उठा। उसकी रौशनी में उसके चेहरे पर एक हल्की सी मुस्कान दिखाई दी और चेहरे पर अनोखा संतोष उभर आया । अज़ान की आवाज़ सुनाई दी "अश हदुवनना मुहम्मदुर रसूल अल्लाह" और नेकियों के सालार की रिसालत के एलान के साथ उसकी उम्मत के एक नेक आदमी ने हमेशा के लिए अपनी आँखें बन्द कर लीं ।"

यह तो छोटे-छोटे शब्दों के छोटे छोटे टुकड़ों से कहानी का एक परिचय कराने का प्रयत्न था । सम्पूर्ण कहानी का अध्ययन करने से भावनाएं प्रभावित हुए बिना नहीं रहतीं । इन दो कहानियों को उदाहरण के लिए प्रस्तुत किया गया है । वास्तव में ज़ाकिर साहब की

प्रत्येक कहानी का शीर्षक बच्चों के लिए विशेष महत्व रखता है । यह अच्छे आचरण और चरित्र की शिक्षा देती हैं, उनसे सदैव मूल्यों का अनुसरण करने का मार्ग प्रशस्त होता है जैसा कि आज राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 अक्रामकता के साथ शिक्षा के मूल्यों का रुझान बदल रही है । उपर्युक्त कहानियों के संग्रह के पश्चात ज़ाकिर साहब की एक लंबी कहानी 'कछुआ और ख़रगोश' (नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, 1978) प्रकाशित हुई जिससे कछुआ और ख़रगोश की क्लासिकी कहानी का संबध तो नाममात्र का है । वास्तव में यह कहानी चार प्रोफ़ेसरों की है जो अपने-अपने व्यक्तित्व का ऐसा शिकार हैं कि अपने संसार में खोकर रह जाते हैं । इस कहानी में व्यक्तित्व के महत्वपूर्ण विषय पर ज़ाकिर साहब के दृष्टिकोण से प्रेरणा प्राप्त होती है । अनुमान है कि उन्होंने 1957 के आसपास बिहार का राज्यपाल बनने के पश्चात इसे लिखा है और सन् 1962 में उपराष्ट्रपति के पद पर सुशोभित होने के पश्चात इस पर पुनदृर्ष्टि की क्योंकि एक विशेष सभा में उन्होंने इस कहानी के संबंध में उल्लेख किया था । यह बात भी इस बात की पुष्टि करती है । वह बिहार जाने से पूर्व 8 वर्ष तक अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति रहे थें । इस दौर की एक गम्भीर समस्या सामान्य शिक्षा से ही सम्बंध रखती है। ज़ाकिर साहब के राज्यपाल और उपराष्ट्रपति रहने के दौरान देश के अन्दर तीव्रता से उठने वाली भाषा और अलगाववाद से सम्बंधित समस्याओं की गूंज भी इस कहानी में सुनाई देती है। इस कहानी का कार्यक्षेत्र जामियानगर, ओखला, नई दिल्ली है और इसके चारों पात्र ज़ाकिर साहब के जामिया के दौर के अध्यापकों की ओर संकेत करते हैं बल्कि उन्हें ज़ाकिर साहब के साथी मानने में कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि उनका खुले तौर पर आपसी समर्थन और मेल मिलाप इस बात की ओर संकेत करते हैं ।

ज़ाकिर साहब ने कहानी को लुभावनी शैली में सीमित करके उनके व्यक्तित्व को नंगा कर दिया है । वह शिक्षा की एक पूर्ण धारणा रखते थे और स्वतंत्र शिक्षा के समर्थक थे अर्थात ऐसी सामान्य शिक्षा जो संस्कृति एवं सभ्यता के लिए दी जाए । उनके निकट विद्या की एक सीमा पर पहुँच जाने के बाद उच्च आदर्शों की प्राप्ति होती है । इस कहानी का समापन अर्थात नौजवान ख़रगोश की मृत्यु इस ओर ध्यान आकर्षित करता है कि शक्तिशाली और सूझ बूझ वाले व्यक्तियों को नौजवानों और नासमझ व्यक्तियों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए । यह कहानी अपने शीर्षक और उद्देश्य के आधार पर बड़ों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कराने से वंचित रही है और बच्चे उसकी शुद्ध हिन्दी और फारसीयुक्त उर्दू से आनन्द उठा सके हैं और न इसका वास्तविक शीर्षक उनकी रुचि और ध्यान को आकर्षित कराने का साधन बन सका है (कछुआ और ख़रगोश)- एक तालीमी तजज़िया-नकशे ज़ाकिर, मकतबा जामिया लिमिटेड, नई दिल्ली 1987)

ज़ाकिर साहब अपने युग की नई शिक्षा की लहर से प्रभावित हुए थे जिसके प्रधान

पश्चिम में जान डूई, टी.पी. नन और डी.एच. क्लिपेट्रिक जैसे शिक्षा विचारक थे। उनके द्वारा शिक्षा में चरित्र पर ज़ोर दिया गया और स्वतंत्र वातावरण के महत्व को अनुभूत किया गया। आर्दश नागरिक बनाने में शिक्षा के उद्देश्य को महत्व दिया गया और वास्तुकला की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया गया। ज़ाकिर साहब ने इन विभिन्न प्रभावों को इस प्रकार अपनी सोच में ढाला कि एक नया कार्यक्षेत्र सामने आ गया। ज़ाकिर साहब शिक्षा की उच्च धारणा रखते थे। इस धारणा में उद्देश्य भी सम्मिलित था और नैतिक मूल्यों का भी स्थान था। वह बच्चों की नैतिक योग्यताओं को पूर्ण रूप से उभारने के सर्मथक थे और उसे एक प्रेमपूर्ण वातावरण में आगे बढ़ता हुआ देखना चाहते थे। उनका उद्देश्य था कि वह अपनी व्यक्तिगत स्थित को सामूहिक हितों के साथ जोड़ दें। वह भौतिक तथा आध्यातमिक मूल्यों में एक संतुलन देखना चाहते थे। उन्होंने व्यवसायों को सही लक्ष्य और सोच पैदा करने के लिए बरतने पर बल दिया। वह शिक्षा में आगे बढ़ने और उच्च स्थान तक पहुँचने की लगन को आवश्यक बताते थे। इक़बाल को नाराज़गी थी :

किया रफ़अत की लज़्ज़त से न दिल को आशना तूने।
गुज़ारी उम्र पस्ती में मिसाले नक्शे पा तूने॥

(अपने मन को तूने शिखर की ऊँचाई के आनंद से परिचित ही नहीं किया और पदचिन्ह के समान नीचे पड़े पड़े ही आयु समाप्त कर दी)

ज़ाकिर साहब के निकट नई पीढ़ी का श्रेष्ठता की सीढ़ी से परिचय एक महत्वपूर्ण शैक्षिक उद्देश्य माना गया। उन्होंने अपने जर्मन प्रवास के दौरान वहाँ के अनुभवी शिक्षा संस्थानों से परिचय प्राप्त किया था और वहां की शिक्षा नीति और दर्शन शास्त्र में गहरी रुचि दिखइि थी। वह मुख्य रूप से र्जाज क्रिशेन स्टाइंनर से बहुत प्रभावित थे। उनकी शैक्षिक धारणा में इस जर्मन विचारक के प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। उन्होंने उसके इस कथन को हृदय में उतार लिया था कि एक शिक्षित व्यक्ति स्वंय को कभी भी पूर्ण नहीं कर सकता। प्राकृतिक तौर पर शिक्षा के लिए संघर्ष करना सही शिक्षा की एक सच्ची निशानी है और उसकी यह बात भी गिरह में बाँध ली थी कि "हमारी शिक्षा की धारणा के अनुसार शिक्षा एक व्यक्तिगत स्थिति है।" शैक्षिक क्रिया उसी समय उद्देश्यपूर्ण हो सकती है जब संस्कृति एंव सभ्यता की सहायता से वह व्यक्तिगत चिन्हों को बढ़ावा देकर इस प्रकार सहायता करे कि वह मूल्यवान व्यवस्था का रूप धारण कर ले जो एक ओर व्यक्ति से संबंध रखती हो दूसरी ओर नैतिक मूल्यों की हैसियत रखती हो क्योंकि इस व्यवस्था की संरचना नैतिक मूल्य रखने वाले आधारों पर होती है और उन्हीं के कारण उनमें एक संतुलन पैदा होता है।

ज़ाकिर साहब अपने छात्र जीवन काल से ही गाँधी जी के प्रति आस्था रखते थे। जामिया की सेवाओं के दौरान वह बराबर गाँधी जी की संरक्षता और साहस बढ़ाने की कार्यवाई से लाभाविंत होते रहे और गाँधी जी पर भी उनकी योग्यता स्पष्ट होती रही।

यही कारण था कि सन् 1937 में गाँधी जी ने अपनी मौलिक शिक्षा की धारणा को व्यवहारिक रूप देने के लिए जो कमेटी गठित की थी उसका अध्यक्ष उन्होंने ज़ाकिर साहब को ही बनाया और उनके द्वारा स्थापित "हिन्दुस्तानी शिक्षा संघ" के अध्यक्ष भी आजीवन ज़ाकिर साहब ही रहे। जब मौलिक शिक्षा के अध्यापकों की आवश्यकता पड़ी तो जगह जगह प्रबंध हुआ। एक प्रशिक्षण संस्थान स्वंय गाँधी जी ने सेवा ग्राम में स्थापित किया और दूसरी ज़ाकिर साहब के संरक्षण में जामिया के अन्दर सन 1938 में "उस्तादों का मदरसा" नाम की संस्था स्थापित की गई। इस प्रशिक्षण केन्द्र में शिल्पकला की शिक्षा, कला की शिक्षा और शिल्पकला द्वारा शिक्षा को मुख्य रूप से बढ़ावा दिया गया और शिक्षा के सम्पर्क के लिए एक दूसरे से आदान-प्रदान की व्यवस्था की गई।

ज़ाकिर साहब ने 11 अप्रैल सन् 1980 (तालीमी ख़ुतबात, बुनियादी तालीम-मकतबा जामिया लिमिटेड नई दिल्ली, 1943) को जामिया में आयोजित होने वाली मौलिक शिक्षा की दूसरी सभा के अवसर पर अपने भाषण में काम और शिक्षा का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा और मौलिक शिक्षा में शिल्पकला के महत्व को आवश्यक बताया। उन्होंने मौलिक शिक्षा की प्रशंसा करते हुए पहली बात यह कही थी: "राष्ट्र कभी सात वर्ष से कम अवधि की नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा पर सहमत न होगा" (उस समय यही अवधि निर्धारित की गई थी। तत्पश्चात आठ वर्ष कर दी गई) इसके बाद उन्होंने कहा था: "दूसरी बात जो इस प्रकार समझनी चाहिए वह यह है कि यह सात वर्ष की शिक्षा मातृ भाषा में होगी।" "तीसरी बात मेरी राय में जो इन्हीं दो की तरह कभी हाथ से न जाने दी जायेगी वह यह है कि इन सात वर्षों में काम को बीच का स्थान दिया जाए और जहाँ तक सम्भव हो सकेगा उसके द्वारा दूसरी सिखाने और बताने की चीजें सिखाई और बताई जाएंगी।"

तात्पर्य यह है कि सम्पर्क का केन्द्र शिल्पकला होगी। ज़ाकिर साहब ने शिक्षा को कार्य के अर्थों में इस प्रकार बताया है कि "जब हम शिक्षा के संबंध में कार्य का उल्लेख करें तो हमें वही कार्य ध्यान में रखना चाहिए जिससे शिक्षा प्राप्त हो, मानसिक प्रशिक्षण हो और मुनष्य आदर्श वान बने।" इस संदर्भ में उन्होंने यह भी कहा है कि "मैं समझता हूँ कि आदमी का मन अपने कर्मों को परख कर, उसकी अच्छाई बुराई पर दृष्टि रखकर ही प्रगति करता है।" उन्होंने शैक्षिक कार्य के साथ यह शर्त भी लगाई कि "वह ऐसे मूल्यों की सेवा करे जो स्वार्थ से परे हों और जिसे हम मानते हों। जो अपने स्वार्थ के लिए कार्य करता है वह शिल्पकार अवश्य हो जाता है परन्तु शिक्षित नहीं होता, जो मूल्यों की सेवा करता है वह शिक्षा ग्रहण करता है।"

इस प्रकार हम देखते है कि ज़ाकिर साहब किस प्रकार शिक्षा का मूल्यों से संबध जोड़ते हैं। उनका कथन है कि "सच्ची कार्यसंस्था वही है जो बच्चों में कार्य से पहले सोचने और बाद में जाँचने और परखने की आदत डाले ताकि कार्य से इस बात की आदत हो जाए कि जब कभी कोई कार्य करे, हाथ का, मस्तिष्क का, उसको पूर्ण करनेका प्रयत्न

करे।" ज़ाकिर साहब ने स्पष्ट रूप से शैक्षिक कार्य की चार स्थितियाँ निर्धारित की हैं। प्रथम कार्य का प्रारूप, द्वितीय कार्य की संरचना मस्तिष्क में बनाना, तीसरे कार्य को उन चुने हुए साधनों से कर डालना और चौथे किये हुए कार्य को परखना कि जो कार्य करना चाहा था वही किया और जिस प्रकार करने का संकल्प किया था उसी प्रकार किया या नहीं। उनका कथन है :

"कार्य को शिक्षा का साधन बनाने वालों को हर समय स्मरण रखना चाहिए कि कार्य निरूद्देश्य नहीं होता, कार्य हर निष्कर्ष को स्वीकार नहीं करता, कार्य केवल आमोद प्रमोद नहीं, कार्य क्रीड़ा नहीं, कार्य है। कार्य शत्रु की भाँति स्वंय अपना विश्लेषण करता है तदोपरान्त उसमें पूरा उतरता है। तब ऐसी प्रसन्नता प्राप्त होती है जो अन्यत्र नहीं मिलती। कार्य अभ्वयास है, कार्य पूजा है।" गाँधी जी के यहाँ वस्तुकला की धारणा बिल्कुल भौतिक थी, उसकी स्थिति बिना तराशे हुए हीरे के समान थी। ज़ाकिर साहब ने अपनी शैक्षिक सूझ बूझ द्वारा उसे कोहेनूर बना दिया। उन्होंने व्यवहारिक कार्य को मानसिक कार्य से जोड़ा। मौलिक शिक्षा के अन्दर वास्तुकला को केन्द्रीय स्थान देने और उसे एक माध्यम के रूप में बरतने से निःसन्देह ज़ाकिर साहब के कार्य को बड़ी शक्ति प्राप्त हुई। इन धारणाओं का प्रशिक्षण प्राप्त अध्यापकों के लिए (उस्तादों का मदरसा) एक अनुभवी मैदान रहा और आज भी उसका बदला हुआ स्वरूप जामिया का शिक्षण विभाग है। उस दौर में ज़ाकिर साहब जामिया के प्राथमिक संरक्षक के रूप में कार्यरत थे। वहाँ शिक्षा की योजनाओं (प्रोजेक्ट मेथड) को मुख्य रूप से बरता गया। बच्चों के लिए खेल कूद, पी.टी., तैराकी आदि की व्यवस्था के अतिरिक्त कुक्कुट पालन, दुकानें, बैंक जैसे व्यवसायों पर ध्यान दिया गया। खुले वातावरण में स्कूल की व्यवस्था की गई जिसमें दूर यथासम्भव प्रकृति की गोद में स्कूल चलाया जाता था। 'एक दिन का मदरसा' भी मनाया जाता था जब मदरसे के अध्यापक और कार्यकर्ता घूमने के लिए निकल जाते और मदरसे की बागडोर बच्चों के हाथ में आ जाती। अतः मदरसे के संरक्षक, अध्यापक कर्मचारी, कार्यालय से लेकर झाड़ू देने व पानी पिलाने वाले कर्मचारियों का सम्पूर्ण कार्य बच्चे स्वयं करते। इस अवसर पर वह स्वंय ही मदरसे को संचालित करते, सजाते एंव पठन-पाठन करते। और आयोजित होने वाली सभाओं की अध्यक्षता व संचालन बच्चे ही करते। महान अतिथियों का स्वागत भी वही करते। बच्चों का शासन स्थापित होता। ऐसा शासन जो काम करता है। इस प्रकार उत्तरदायित्व, आपसी सहयोग अनुशासन, समय का अनुपालन, नैतिक आचरण का प्रदर्शन, साहस और दृढ़ता के साथ सत्य पर चलना, सत्य वचन कहना आदि सम्पूर्ण गुण बच्चे में स्वंय ही पैदा हो जाते।

यह तो सर्वविदित है कि 22 अक्टूबर सन् 1937 को वरधा में गाँधी जी की नई शिक्षा से सम्बंधित योजना देश के समक्ष प्रस्तुत की गई और उस पर विचारविर्मश किया गया और उन तमाम बातों पर पूर्ण रूप से सहमति प्रकट की गई जिनका उल्लेख उपर्युक्त

ज़ाकिर साहब के भाषण में किया जा चुका है । हाँ एक समस्या ऐसी थी जिसका ज़ाकिर साहब ने पूरे शैक्षिक मान-सम्मान के साथ विरोध किया था । वह यह कि गाँधी जी के प्रस्ताव में शिक्षा को स्वायित्ता का दर्जा देने हेतु बात कही गयी थी । उनका कथन था कि इस योजना के अनुसार जो विद्यालय खोले जाएँ वह अपना व्यय स्वंय वहन करें अर्थात वास्तुकला की शिक्षा से जो सामग्री प्राप्त हो उसकी आय से व्यय पूर्ण किये जाएं । उनके निकट हिन्दुस्तान जैसे निर्धन देश में शिक्षा को फैलाने और नि:शुल्क बनाने का कोई और समाधान नहीं था । आस्था और सम्मान के बोझ ने सभी लोगों को शान्त कर दिया । उनके होठों पर चुप की मुहर लग गई, अतिरिक्त ज़ाकिर साहब के । उन्होंने इस बात पर बल दिया कि "प्रथम बच्चा है न कि कार्य, बच्चे के व्यक्तित्व के गुण सामने आने चाहिएँ , उसे कार्य में आनन्द की अनुभूति होनी चाहिए, वास्तविक वेतन यही है । वह छात्र है, ईश्वर न करे कोई बन्धुवा मज़दूर नहीं । यदि बच्चे में सुधार आ गया तो समझ लीजिए शिक्षा का उद्देश्य प्राप्त हो गया और हमारा प्रयास सफल हो गया ।"

ज़ाकिर साहब ने अपनी बात इतनी नम्रता के साथ कही थी कि प्रभावित किये बिना न रह सकी । गाँधी जी ने मौलिक शिक्षा के सम्बंध में एक कमेटी गठित की जिसका अध्यक्ष ज़ाकिर साहब को बनाया और आज तक ज़ाकिर हुसैन कमेटी रिपोंट ही मौलिक शिक्षा का सबसे प्रमाणिक पाण्डुलिपि मानी जाती है क्योंकि गाँधी जी ने उसे महत्व दिया और वह सर्वसम्मति से स्वीकार की गई । इस रिपोंट में कहा गया है कि "हाथ का लाभदायक काम होना चाहिए जिससे यह शिक्षा व्यवस्था धीरे-धीरे इस योग्य हो जाएगी कि अध्यापकों का वेतन व स्कूल का व्यय स्वंय वहन कर ले ।"

इस प्रकार ज़ाकिर साहब द्वारा मदरसे में शैक्षिक कार्य का स्थान महत्वपूर्ण माना गया और उसे केवल कार्य और मेहनत मज़दूरी बनने से बचा लिया गया । उनका यह कारनामा बच्चे के प्रेम सम्मान और महत्व पर तर्कसंगत है और शैक्षिक संसार में उन की दूरदर्शिता का एक उदाहरण बन गया है। (वरधा सम्मेलन की विस्तृत जानकारी "एजूकेशन रिकन्सट्रक्शन" नामक पुस्तिका में देखी जा सकती है) इस संदर्भ में यह बात सत्य प्रतीत कराने में प्रोफ़ेसर मुहम्मद मुजीब, डाक्टर सैय्यद आबिद हुसैन और ख़्वाजा ग़ुलामुस्सैय्यदैन जैसे बुद्धिजीवी साहित्यकार और विद्वानों का पूर्ण योगदान रहा जोकि ज़ाकिर साहब के अत्यंत निकटवर्ती साथियों में थे । ज़ाकिर साहब चरित्र निर्माण और नैतिक मूल्यों को ही शिक्षा का उद्देश्य समझते थे । उनका कहना था कि "हम में से हरेक के दिल में शैतानियत व मानवता मौजूद है । शिक्षा का उद्देश्य यह है कि शैतानियत को दबाए । शिक्षा का सारा रहस्य ही यह है कि शैतानियत को दबाया जाए और मानवता के गुणों का लालन पालन किया जाए ।" (जलसा अंजुमने तलबा, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, आयोजित 11 अगस्त 1951)

उनको फूलों का शौक़ था । नित्य नये पत्थर भी संग्रह करने का शौक़ था, चित्रकारी,

संगीत, नक़्क़ाशी, किताबत और शायरी तथा एतिहासिक वस्तुओं के मतवाले थे । हर काम को शालीनता से करने को पसन्द करते थे । उन्होंने जामिया के छात्रों में अपनी विचारधारा, अपनी छाप और अपने व्यवहार की छाप छोड़ने व जोत जगाने का अनथक प्रयास किया। एक सच्चे अध्यापक की भाँति सर्वप्रथम उन्होंने अपने जीवन को संवारा । जैसै कि यह घटना । मुजीब साहब ने एक जगह लिखा है कि "मुझे याद है कि सन् 1949 में जब जामिआ मिल्लिया की अपनी इमारतों को दंगों के कारण छोड़ने का ख़तरा पैदा हुआ तो ज़ाकिर साहब ने मुझसे कहा कि हमें हर वस्तु को उस अवस्था में छोड़ना चाहिए कि वे लोग जो हमारे बाद इन पर अधिकार करें यह सोचें कि हम इनसे मुहब्बत करते थे । "

उनकी शैक्षिक धारणा का केन्द्रबिन्दु व्यक्ति की सभ्यता ही कही जा सकती है । वह बच्चे को प्रशिक्षित करके उसके मस्तिष्क को स्वच्छ बनाने पर बल देते थे । कुछ माह पूर्व हास्य-व्यंग के लोकप्रिय कवि इसरार जामयी का काव्य संग्रह 'शायरे आज़म' प्रकाशित हुआ । उन्होंने इसे ज़ाकिर साहब के नाम समर्पित किया और नीचे यह वाक्य लिखा :

"जिन्होंने मुझे छात्रावस्था में अंसारी मंज़िल की दीवार पर पेन्सिल से अपना नाम लिखते हुए देखकर यह प्रेरणा दी कि आपका नाम ऐसा होना चाहिए जिसको दूसरे समाचार पत्रों, पुस्तकों में सुनहरे अक्षरों में लिखें न कि आप स्वंय उसे फ़र्शों और दीवारों पर लिखें ।" बच्चों के साहित्य संबंधी प्रसिद्ध लेखक सैय्यद ग़ुलाम हैदर का एक लेख है 'हडडी की प्लेट' । इस लेख में लेखक ने अब से लगभग 48 वर्ष पूर्व की घटना का उल्लेख किया है जब वह प्राथमिक विद्यालय के छात्र थे :

"कुछ बच्चों को बैंगन का भुर्ता पसन्द नहीं आया और उन्होंने उसे अपनी प्लेट से हडडी की प्लेट में डाल दिया जिसमें हडडी, जली रोटी का टुकड़ा डाला जाता था, और किसी ने कुछ पानी भी मिला दिया । ज़ाकिर साहब कुलपति थे और अक्सर आ जाते थे। उन्होंने जब यह हाल देखा तो वह भी संमिलित हो गये । मानीटर ने खाने की प्लेट प्रस्तुत की तो मना कर दिया और हडडी की प्लेट में ही खाना आरम्भ कर दिया । यूँ तो बच्चे बहुत प्रसन्न होते थे कि कुलपति उनको अत्यंत प्रिय रखते हैं और अक्सर उनके खाने में भी शामिल हो जाते हैं किंतु अब बच्चे भयभीत होने लगे । स्थिति ने दिल का चोर पकड़वा दिया। साहस करके दो एक ने हडडी की प्लेट से झूठा खाने का कारण पूछा तो उन्होंने कहा: "तुम लोगों को मालूम नहीं कि तुम्हारे आस पास की इसी बस्ती में कितने ही लोग ऐसे हैं जिनको यदि यह ही खाने को मिल जाये जो तुमने फेंका है तो आज रात वे भूखे न सोएंगे । तुमने इस खाने को हडडी की प्लेट में डालकर उसमें पानी और रोटी के टुकड़े मिला कर इस योग्य भी नहीं छोड़ा कि यह किसी को दिया जा सके या उसके काम आ सके । यदि मैं इसे खा लूँ तो कम से कम मेरा अपना खाना किसी और भूखे को दिया जा सकता है ।" अंत में लेखक का आशय देखिए :

"इस घटना का प्रभाव किस पर कितना हुआ यह तो मैं नहीं कह सकता । परन्तु इतनी

बात अवश्य जानता हूँ कि उस दिन से रोटी या सालन चाहे कैसा भी हो मै फेंक नहीं सका।

यदि कोई मुझसे बड़ा, जिसे मैं कुछ नहीं कह सकता, रोटी का कोई जला हुआ या कच्चा किनारा तोड़ कर अलग डाल देता है तो प्रयत्न यही करता हूँ कि उसे छिपा दूँ क्योंकि मेरी आखों में वह दृश्य घूमने लगता है।" (बच्चों के ज़ाकिर साहब-मकतबा जामिया लिमिटेड, नई दिल्ली, 1987)

ज़ाकिर साहब ने स्वच्छता की ओर सदैव ध्यान दिया। जिस समय वह कुलपति थे तो उनका दैनिककार्य था कि जामिया के अन्दर आते जाते जहाँ किसी स्थान पर कागज़ का टुकड़ा नज़र आया उसे उठा कर जेब में डाल लेते थे और कार्यालय पहुँच कर उसे रद्दी की टोकरी में फेंक देते थे। वह अपने किसी सहयोगी का दिल रखने के लिए उसे अपनी दशा से अनभिज्ञ रखकर ज्वर की स्थिति में जबकि हल्की-हल्की बूँदें भी पड़ रही हों, देर तक उसके संग टहलते रहते थे, केवल इसलिए कि समय से पूर्व घर से कार्यालय के लिए चल देते थे क्योंकि उन्हें भली भाँति ज्ञात था कि कौन कौन मार्ग में किस किस मोड़ पर उनके सामने आएगा और वह शालीनता के कारण उससे क्षमा-याचना नहीं कर सकेंगे।

ज़ाकिर साहब राष्ट्रीय शिक्षा की अत्यंत स्पष्ट धारणा रखते थे। उनका काशी विद्यापीठ के उपाधि वितरण समारोह, 14 अगस्त 1938 में पढ़ा गया अध्यक्षीय भाषण आज ही का वर्णन लगता है। उसका एक एक शब्द ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे देश की वर्तमान शैक्षिक और सामाजिक समस्याओं की पृष्ठभूमि में अपने विचार और अपनी शंकाऐं प्रस्तुत कर रहा हो। उन्होंने उस समय हिन्दुस्तानी मुसलमानों के दृष्टिकोण को जिस प्रकार प्रस्तुत किया था और वह भी काशी विद्यापीठ में उपाधि प्राप्त करने वाले छात्रों को सम्बोधित करते हुए, विलक्षण है। उन्हों ने कहा था:

"उनकी निष्ठा, सूझ बूझ और साहसिक कार्यों की तरह सत्य पर डटे रहना उज्जवल भविष्य का उदाहरण होगा।" उन्होंने कहा कि "हिन्दुस्तानी मुसलमानों को अपना देश किसी और से कम प्रिय नहीं हैं, वह राष्ट्र का अंश होने पर गर्व करते हैं। मगर वह ऐसा अंश बनना कभी पसन्द न करेंगे जिसमें उनकी स्वंय की पहचान बिल्कुल मिट चुकी हो। उनका उत्साह है कि वह अच्छे मुस्लिम हों, अच्छे हिन्दू, और न कोई मुसलमान उनके हिन्दू होने पर लज्जित करे और न कोई हिन्दू उनके मुसलमान होने पर उँगली उठाए। हिन्दुस्तान में उनका धर्म देश से सम्बंधविच्छेद का कारण न हो अपितु सेवा का उत्तर दायित्व उन पर डाले, यह उनके लिए बोझ न हो बल्कि गौरव हो।"

यूँ तो ज़ाकिर साहब का विचारक्षेत्र विस्तृत है, वह शिक्षा के दृष्टिकोण से लेकर शिक्षा के व्यवहारिक कार्यक्षेत्र तक सभी विषयों को समेटे हुए मिलते है। लेकिन मुख्य रूप से उन्होंने बालक की महानता का अनुमोदन किया और चरित्र निर्माण पर बल दिया है। नैतिक मूल्यों के वह सदैव रक्षक रहे हैं। उन्होंने अध्यापक के पद व कर्तव्य को न केवल उभारा है बल्कि अपने कार्यक्षेत्र से और उदाहरण से यह भी दर्शाया है कि अध्यापक को

सेवक बन कर ही सही अर्थों में छात्रों को सुधारने व उन्हें शिक्षित करने का कार्य किया जा सकता है। उन्होंने मौलिक शिक्षा में वस्तुकला के महत्व की चर्चा की और शिल्पकला को सम्पर्क का महत्वपूर्ण केन्द्र माना। इस संबंध में उनका महान कार्य यह है कि उन्होंने बच्चे को बंधुवा मज़दूर होने से बचा लिया। ज़ाकिर साहब शिक्षा के कार्यक्षेत्र में ऐसे महान दिखाई पड़ते हैं जिनके जीवन में कथनी और करनी अभिन्न और एकरूप है।

मेरी यादों के कुछ पृष्ठ

मुहम्मद यूनुस

मेरे मन-मस्तिष्क पर डा. ज़ाकिर हुसैन की यादों का पहला चित्र बहुत पहले उभरा था, चित्र से अधिक इसे विस्फोट कहूँ तो अच्छा होगा ! यह 1937 का समय था। प्रांत के राज्यों में कांग्रेस की सरकारें थीं और डा. ख़ान साहिब सीमा प्रांत के मुख्यमंत्री थे। अलीगढ़ का कुलपति कौन हो यह बात विचाराधीन थी ? ज़ाकिर साहिब पर दबाव डाला जा रहा था कि वह इस पद को संभाल लें। अत्यंत शांतिपूर्ण भाव से ज़ाकिर साहिब ने इस सुझाव का जो उत्तर दिया था वह आज भी मशहूर है।

"अलीगढ़ एक संपन्न अथवा हैसियत वाली संस्था है। उसको योग्य व्यक्तियों की कमी न होगी। उसमें इतनी क्षमता है कि वह अपने कुलपति को चार हज़ार रुपये मासिक वेतन दे सकती है। किन्तु जामिया केवल पछत्तर रुपये मासिक की क्षमता रखती है। अच्छा यही है कि मैं यहीं रहूँ।"

ज़ाकिर साहिब और जामिया से मेरा लगाव व संबंध उस बेल के समान है जो एक विशाल वृक्ष के चारों ओर लिपट जाती है। मेरी स्मृति में न जाने कितनी यादों ने अपना बसेरा बना रखा है जिनमें सबसे पहली याद ज़ाकिर साहिब और जवाहर लाल नेहरू जी के विषय में हैं।

सन् 1947 के अशांत और प्रक्षुब्ध दिन थे। मैं जवाहर लाल जी के साथ ठहरा हुआ था। रात को फ़ोन की घंटी बजी। यह उस समय की बात है जब ज़ाकिर साहिब जामिया कालेज के प्रधानाचार्य भी थे। उन्होंने अपने घर से फ़ोन किया था जो जामिया के परिसर ही में था, ओखले के पास। उन्होंने बहुत ही उदास और चिंतित स्वर में फ़ोन पर कहा कि जामिया के चारों ओर पागल लोगों की भीड़ बढ़ती आ रही है और जामिया के लोगों की जानों को ख़तरा है। उन्होंने अन्तिम दो शब्द कहे: "ख़ुदा हाफ़िज़।"

मैं ऊपर की ओर दौड़ा। रात के ग्यारह बजे का समय था। मैंने पंडित जी को उठाकर इस फ़ोन की सूचना दी। वह तुरंत उठ गए। कार बुलवाई और मुझे भी बिठा लिया। मुझे अच्छी तरह याद है कि वह सन् 1936 की ख़ाकी रंग की ब्यूक थी। हम लोग जामिया पहुंचे, देखा कि जामिया के समस्त कर्मचारी और थोड़े से छात्रों ने जामिया के मुख्य भवन में शरण ले रखी थी। असमाजिक तत्वों व फ़सादी भीड़ ने नेहरू को तुरंत पहचान लिया

और उनको चारों ओर से घेर लिया। जवाहर लाल जी को क्रोध आ गया और वह अपनी विशेष मुद्रा में उन लोगों पर बरस पड़े। एक उच्चस्तरीय शिक्षा संस्थान के शिक्षकों व विद्यार्थियों को आंतकित करने के सिलसिले में भीड़ को खूब झिड़का। भीड़ ने शर्मिंदगी से सिर झुका लिए और अपने ग़लत व्यवहार के लिए क्षमा भी माँगी। शर्म से डूबे हुए चेहरे लिए वह लोग वापस चले गए और हम लोगों ने भवन में प्रवेश किया। ज़ाकिर साहिब कुछ और लोगों के साथ ज़मीन पर बैठे हुए थे। जवाहर लाल जी की ज़ाकिर साहिब से यह मुहब्बत देख कर प्रत्येक व्यक्ति भावुक हो गया। मुझे ज़ाकिर साहिब के शब्द आज भी याद हैं:

"पंडित जी आपने इज़्ज़त से ज़िंदा रहने की शिक्षा भी दी है और अब इज़्ज़त से मरने का रास्ता भी दिखा दिया। अब हमें अपनी क़िस्मत (भाग्य) आज़माने दीजिए।"

जब हम लोग जामिया से वापस लौट रहे थे तो भोगल में हमारी कार को शरणार्थियों ने घेर लिया, वह नेहरू को बहुत क़रीब से देखना चाहते थे। उन्होंने गाड़ी तुरंत रुकवाई और स्वयं उछल कर व्यूक के बोनट पर चढ़ गए और उत्तेजित भीड़ को डाटा: मैं अभी जामिया से आ रहा हूँ। मैंने वहाँ क्या देखा जानते हो ? ज़ाकिर हुसैन और उनके साथी, जो वास्तव में सच्चे देशभक्त हैं, आज कल के पागलपन की परिस्थितियों में अपने आपको असुरक्षित तथा आंतकित अनुभव कर रहे हैं। क्या आपका यह व्यवहार क्षमादान के योग्य है। भीड़ से नहीं-नहीं की आवाज़ें उठने लगीं। फिर उन्होंने यह प्रण किया कि वह मुसलमानों की रक्षा करेंगे।

इसी बीच यह बात सरदार पटेल तक पहुँच गई जिनका निवास स्थान पंडित जी के सामने सड़क पार कुछ दूरी पर ही था। उनको पता चला था कि नेहरू बिना किसी सुरक्षा टुकड़ी को साथ लिए ज़ाकिर साहिब और जामिया को बचाने निकल पड़े हैं। ख़तरे की गंभीरता को समझते हुए उन्होंने नये गवर्नर जनरल लार्ड माऊन्ट बेटन से संपर्क स्थापित किया। उस समय कोई सुरक्षा टुकड़ी उपलब्ध नहीं थी। अत: उन्होंने कुछ जीपों की व्यवस्था की और उन पर मशीनगनें लदवा कर तुरंत घटना स्थल पर भिजवाया जहाँ नेहरू भीड़ को डांट रहे थे। उस दिन मैंने देखा कि लोग चिल्ला रहे थे: "पंडित नेहरु ज़िन्दा बाद"।

अगले दिन सवेरे सरदार पटेल ने मुझे अपने घर बुलवाया और बिगड़ पड़े: 'यूनुस तुम क्या चाहते हो' ? तुम्हें पता है कि तुम ने क्या किया। यदि जवाहर लाल को कुछ हो गया होता तो ? फिर संभवत: उनको अपने शब्दों की कर्कशता का ध्यान आया और उन्होंने मेरे कांधे पर हाथ रखा और उदास से बोले। क्या तुमको इस बात का ध्यान है कि क्या हो गया होता। मुझ को वचन दो और सच्चे मन से संकल्प लो कि भविष्य में ऐसा नहीं करोगे।

मौलिक शिक्षा की योजना को बढ़ावा देने के सम्बंध में ज़ाकिर साहिब का सम्पर्क गाँधी जी से स्थापित हुआ। जिन्नाह साहिब की भेंट ज़ाकिर साहिब से देहली में एक पार्टी

में हुई । एक दम उन्होंने मुसलमानों के विरुद्ध योजना तैय्यार करने के बारे में प्रश्न किया । ज़ाकिर साहिब ने अति विनम्रता से उत्तर दिया कि उनको योजना के किस भाग पर आपत्ति है । जिन्नाह ने उत्तर दिया कि तुम समझते हो कि मेरे पास पढ़ने के लिए तुम्हारी योजना से उत्तम व बढ़िया कोई और वस्तु नहीं ।

एक बार बेगम ज़ाकिर हुसैन के पास कोई आया और बोला– आपके पति एक दिन भारत के महाराजा बनेंगे । बेगम साहिबा ने पलट कर उत्तर दिया, 'मुवा-खाने को तो है नहीं, बादशाह बनेंगे ।'

फूलों से ज़ाकिर साहिब का इश्क़ बहुत प्रसिद्ध है । कभी-कभी तो मैंने यह देखा कि कैक्टस् या कोई छोटे से पौधे की प्रशंसा करते हुए उन्होंने उसको अपने रुमाल में लपेटकर अपनी जेब में रख लिया । निस्संदेह जिसे घर पहुंचकर जामिया के बग़ीचे या राष्ट्रपति के निवास स्थान पर किसी कोने में उसको लगा दिया होगा ।

महान हस्तियों की एक आकाशगंगा थी– जैसे ज़ाकिर साहिब, आबिद साहब, मुजीब साहब, बेगम ज़ैदी, सैय्यदैन साहब, शफ़ीक़ साहब । एक बार ज़ाकिर साहिब ने शफ़ीक़ साहब और मुजीब साहब को पेशावर भेजा । वह लोग मेरे यहाँ ठहरे । और हम सब ने कारों पर इकट्ठा यात्रा करके जामिया के लिए फ़ंड एकत्रित किया । उन लोगों ने ज़ाकिर साहिब के व्यक्तित्व के सादेपन को नई ज्योति प्रदान की । यह सभी लोग एक दूसरे के बहुत ही घनिष्ठ और सच्चे मित्र थे । इन लोगों का बड़े भाई के समान मैं आदर करता था । मुझे याद आता है कि सन् 1946 में मेरे अपने बड़े भाई यहिया खान सूबा सरहद में शिक्षा मंत्री थे । उन्होंने कहा कि क्या अच्छा हो कि सैय्यदैन साहब इस क्षेत्र में शिक्षा महानिदेशक होकर आ जाएं । मैं गया और ज़ाकिर साहिब से पूछा । "यह अति उत्तम विचार है", उन्हों ने उत्तर दिया, सैय्यदैन साहब से पूछिए ।

इसके अतिरिक्त ज़ाकिर साहिब शिक्षा क्षितिज के देदीप्यमान चिराग़ थे । ज़ाकिर साहिब हमारे देश के उदारवादी प्रजातांत्रिक मूल्यों के बड़े पक्के समर्थक थे । वह गाँधी और नेहरू के अति सच्चे और निष्ठावान अनुचर थे । उनकी इच्छा थी कि विद्यार्थी उक्त दोनों नेताओं के सर्वोच्च उद्देश्यों पर कार्यरत हों ।

इन की याद आज भी ताज़ा है और आने वाली पीढ़ियों के लिए रास्ते का दिया है । अंतिम सांस तक वह अपने उन उच्च उद्देश्यों के लिए काम करते रहे जिन के लिए उन्हों ने जीवन पर्यन्त अपनी जान खपाई ।

ज़ाकिर साहिब का दूसरों तक अपने उद्देश्यों का पहुँचाते का अपना अनोखा अंदाज़ था । सीधा और सरल । इस मामले में वह बिलकुल गाँधी जी के समान थे । एक बार उन्हों ने मुझसे कहा – हिन्दुस्तान की कल्पना सेब है न अमरूद । हिन्दुस्तान के दो ही लाल हैं – एक गाँधी – दूसरा नेहरू । हम गाँधी जी और पंडित जी के बिना तो हिन्दुस्तान की कल्पना ही नहीं कर सकते ।

यह हैं वह जान से प्यारी यादें जो मेरे आदरणीय गुरु ज़ाकिर साहिब से सम्बधिंत हैं ।

डाक्टर ज़ाकिर हुसैन

एल.पी. सिंह

मैंने डा. ज़ाकिर हुसैन को जितना देखा और समझा, उतना ही मुझे आभास हुआ कि वह अपने विविध कारनामों और अपनी सफलताओं से कहीं अधिक महान थे। वह ऐसे दुर्लभ व्यक्तियों में से थे जिन के अस्तित्व का कोई नैतिक और सामाजिक उद्देश्य होता है और वह मानवात्मा की शुचिता और उसकी क्षमता का दृष्टांत प्रस्तुत करके लोगों को उन के सीमित अस्तित्व से ऊपर उठाते हैं।

ज़ाकिर साहब के बिहार के राजपाल बनने से पहले ही मैं वहाँ से आ चुका था। परंतु एक बार जब वह देहली आए तो मुझ से बहुत अच्छी तरह से मिले और हमारी वार्तालाप बिहार की परिस्थितियों की ओर मुड़ गई जहाँ मैं ने मुख्य सचिव के रूप में कुछ वर्षों तक कार्य किया था। मैं सभी उन राज्यपालों से परिचित हूँ जो स्वंतत्रोपरांत इस राज्य में इस पद पर शोभायमान हुए। वह सब आदरणीय थे किंतु किसी न किसी कारणवश राज्य मंत्रीमंडल से उनके संबंध में तनाव रहा। एक राजपाल के कार्यकाल में तो प्रशासन पर इस प्रकार प्रभाव डालने का प्रयास किया गया कि राजनैतिक वास्तविकता और प्रतिनिधि सरकार की संवेदना को तिलांजलि दे दी गई। एक अन्य राजपाल के कार्यकाल में इतनी उदासीनता दिखाई गई कि सरकार की कार्यविधि की ओर से लगभग आँख बंद कर ली गई। तीसरे राज्यपाल की कहानी यह है कि उन्होंने मुख्यमंत्री से अपने कार्यकाल की अवधि बढ़ाए जाने की संस्तुति करानी चाही और इस प्रकार उन्होंने अपने उस नैतिक प्रभाव के मूल्य को घटा लिया जो उनके परामर्शों को गरिमा प्रदान करने के लिए आवश्यक था।

डा. ज़ाकिर हुसैन सगरिमा राज्य की कार्यविधि में उचित रूचि लेते थे और दूरदर्शिता और सूक्ष्मता से मंत्रीमंडल को परामर्श देते थे। मंत्रीमंडल का नेतृत्व विख्यात और अनुभवी राजनैतिक नेताओं के हाथ में था किंतु इनमें क्षीण करने वाले अंतर्विरोध भी विद्यमान थे। इसके अतिरिक्त कुछ वर्ष पूर्व राज्य के एक बहुत बड़े भाग में भीषण दंगे हो चुके थे। एक समस्या राज्य की शैक्षणिक पिछड़ेपन की भी थी क्योंकि बिहार को जो अधिकांशत: ग्रामीण क्षेत्र वाला प्रांत था, 1912 ई. में ही एक पृथक प्रांत बनाया गया था। यह विचार सर्वमान्य था कि भारत सरकार ऐसे व्यक्ति को राज्यपाल पद पर नियुक्त करके

बिहार के महत्वपूर्ण हित की रक्षा कर सकती है जो अपने नैतिक मनोबल द्वारा राज्य के कामकाज को प्रभावित कर सके और मंत्रीमंडल में मिलजुल कर काम करने की भावना जागृत करने में सक्षम हो। वह व्यक्ति ऐसा हो जो सुविख्यात बुद्धिजीवी हो और शैक्षणिक अनुभव के कारण शिक्षा संस्थाओं की कार्यविधि का मार्गदर्शन भी कर सके और उन पर प्रभाव डाल सके। डाक्टर ज़ाकिर हुसैन में यह तीनों गुण थे और निस्संदेह वह बिहार को भारत के राष्ट्रपति का अनुपम उपहार थे।

1950 ई. में राज्य के शिक्षामंत्री बुनियादी शिक्षा के विकास में अत्यधिक रूचि रखते थे और डाक्टर ज़ाकिर हुसैन गाँधी जी की प्रेरणा से इस शिक्षा पद्धति से गहराई से जुड़े हुए थे। यदि यह शिक्षा प्रणाली राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत न हो सकी या बिहार में उसका विकास नहीं हो सका तो इसका कारण यह था कि ज़ाकिर हुसैन के इस शिक्षा सिद्धांत के प्रति उदासीनता दिखाई गई क्योंकि स्कूलस्तरीय शिक्षा आर्थिक दृष्टि से स्वालंबी नहीं हो सकती थी जबकि उत्कृष्ट शिक्षा को अनुपलब्ध आर्थिक स्वालंबन की समस्या से परे रखना चाहिए था। शिक्षा क्षेत्र में डा. ज़ाकिर हुसैन की आविष्कारात्मक प्रवृति इस प्रकार ग़लतफ़हमी का शिकार होकर वितंडावाद की बंजर भूमि में लुप्त हो गई।

राज्यपाल साधारणतया राज्य के विश्वविद्यालयों का कुलाधिपति होता है और विश्वविद्यालयों में परिचालित अधिनियमों के अंतर्गत कुलाधिपति को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं। कुलाधिपति के रूप में राजपाल को मंत्रीमंडल की सलाह पर वैधानिक दृष्टि से कार्य करना आवश्यक नहीं है जब तक वह ऐसा अधिनियम पारित कराने की स्वीकृति प्रदान न करे जिसमें मंत्रीमंडल के परामर्श को मानने का निर्देश हो। उस समय जब बिहार मंत्रीमंडल विश्वविद्यालय अधिनियम में एक ऐसा संशोधन करने वाला था जिसके अंतर्गत बिहार के विश्वविद्यालय एक साधारण सरकारी विभाग मात्र बनकर रह जाते डा. ज़ाकिर हुसैन ने दृढ़तापूर्वक उसे ऐसा करने से रोका।

बिहार के शैक्षणिक समुदाय ने अत्यंत विश्वास और आदर से डाक्टर ज़ाकिर हुसैन की ओर देखा और राजभवन उनके कार्यकाल में ज्ञान-विज्ञान विषयक संगोष्ठियों का केंद्र बन गया। राज्य की शैक्षणिक बिरादरी इसके कालिजों और स्कूलों में फैली हुई है और राजपाल से संबंध के कारण यह समूह जनविश्वास को उस शिखर पर पहुँचाने में सहायक हुआ जिसका राजपाल पात्र है।

अपने व्यक्तिगत व्यवहार में डाक्टर ज़ाकिर हुसैन शालीन, सुसभ्य और विनम्र थे किंतु सार्वजनिक विषयों पर बात करते समय उनका विवेक प्रखर हो उठता था। इसका आभास उनके उस भाषण से होता है जो उन्होंने हमारी योजनाओं के संबंध में राज्यसभा में दिया था। उन्होंने उस तिथि को अनुचित ठहराया जब हमारी प्रथम पंचवर्षीय योजना तैयार की गईं थी। उन्होंने कहा कि हमने प्रथम पंचवर्षीय योजना में गलतियाँ की थीं और ऐसी परिस्थिति में दूसरी पंचवर्षीय योजना की ओर क़दम बढ़ाना ही ग़लत था। प्राथमिकता के

निर्धारण में वैज्ञानिक दृष्टिकोण और कार्यपद्धति के स्पष्टीकरण के अभाव का उन्होंने उल्लेख किया। व्यंग्यात्म लहजे में उन्होंने कहा कि एक विशेष आयु के सारे बालकों को शिक्षा उपलब्ध कराने के संवैधानिक मार्गदर्शक सिद्धांत की चतुराई से योजना में उपेक्षा की गई है। योजना पर इससे बड़ी आपत्ति कोई दूसरी नहीं हो सकती थी। ज़ाकिर साहब के इस कथन में केवल इतना जोड़ा जा सकता है कि सारे बच्चों को निशुल्क शिक्षा उपलब्ध कराने की अत्याधिक महत्ता और आवश्यकता की क्रियात्मक नीति की स्वीकृति में चालीस साल और बीत गए हैं।

1956 ई. में बसंत ऋतु से लेकर डाक्टर ज़ाकिर हुसैन के देहावसान के पश्चात् तक गृह मंत्रालय में कार्य करने के दौरान मुझे डाक्टर साहब की कार्याविंति से परिचित होने और जब वह राष्ट्रपति थे तो उनसे व्यक्तिगत भेंटों के कुछ अवसर मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वह उन लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों में से थे जिन्होंने 1961 के बसंत ऋतु में आयोजित राष्ट्रीय एकता सम्मेलन में भाग लिया और उसमें उल्लेखनीय भूमिका निभाई। उदाहरणत: उन्होंने कहा था: "चिंता की अधिक आवश्यकता नहीं है क्योंकि हिंदुस्तानियत के हज़ारों तत्व हैं जो हम में से प्रत्येक के आध्यात्मिक अस्तित्व की संरचना का अविभाज्य अंग बन गए हैं। हमारा एक दीर्घ इतिहास है और विचारों का वह दीर्घ इतिहास हमें प्रिय है। स्वतंत्रता का सफल संघर्ष, साथ-साथ कष्ट झेलने, साथ-साथ जीवन व्यतीत करने, साथ-साथ विपत्तियों का सामना करने और साथ-साथ रहने की पुरानी और नवीन स्मृतियाँ शेष हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दुस्तानियत की व्याख्या नहीं की जा सकती ... सत्य यह है कि हिन्दुस्तानियत सांस्कृतिक हिन्दुस्तानियत है। यह राजनैतिक हिन्दुस्तानियत नहीं है। राज्य हमारी सांस्कृतिक एकता पर स्थापित हुआ है ... परंतु अब हम सब को सत्ता में भागीदार बनना है और सत्ता की भागीदारी के दुष्कर अभियान में सब समानरूपेण संमिलित नहीं है।" भारतीय राष्ट्र के सुदृढ़ आधार और उसे जिन वर्तमान व्यवहारिक चुनौतियों का सामना है उनके विश्लेषण के पश्चात् उन्होंने हमारी प्रचलित और संकीर्ण निर्वाचनप्रेरित राजनीति पर प्रकाश डाला। उन्होंने व्यंग्यात्मक वाणी में कहा, क्योंकि यह वह अस्त्र था जिसके द्वारा वह प्रभावशाली ढंग से बात कहते थे। उन्होंने कहा, कि तथ्यों का मुझे पूर्ण ज्ञान नहीं है। मौलाना आज़ाद हमारे राष्ट्रीय जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। वह जब चुनाव में खड़े हुए तो उनका निर्वाचन क्षेत्र रामपुर में खोजा गया क्योंकि वहाँ मुसलमान मतदाताओं की पर्याप्त संख्या थी। परंतु मौलाना ने वहाँ से चुनाव लड़ना स्वीकार नहीं किया। इसके उपरांत उन्हें गुड़गाँव से खड़ा किया गया क्योंकि वहाँ मेवों की बहुत बड़ी संख्या रहती थी। होना यह चाहिए था कि हम मौलाना को उस निर्वाचन क्षेत्र से खड़ा करके हार जाने देते जिसमें शत प्रति शत हिन्दू मतदाता होते। मौलाना हार जाते किंतु यह पराजय एकता की नैतिक विजय होती। हो सकता है कि पार्टी को इससे क्षति पहुँचती किंतु इसके पश्चात् एकता के अधिक शक्तिशाली

कार्यक्रम के साथ वह विजयी होती । ... हिन्दू-मुस्लिम संबंधों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि हम लोग बरसों से मिलजुलकर रह रहे हैं और हमने जीवन का एक ढाँचा बनाया है जो अत्यंत आकर्षक और सुंदर है । किंतु अब इस ढाँचे को तहस-नहस करके कुरूप बनाने का प्रयास हो रहा है । उन्होंने सदैव इस बात पर बल दिया कि हिन्दू-मुस्लिम मिलजुल कर रहते आए हैं और एक दूसरे के दुख सुख में संमिलित रहे हैं । वह दासता की अँधेरी रात में साथ-साथ रहे थे और अब जब देश स्वतंत्र है उन्हें अपने दिलों में परायापन नहीं लाना चाहिए । ज़ाकिर साहब ने एक सार्वजनिक सभा में दिए गए अपने भाषण में कहा था कि संस्कृतियाँ नहीं टकरातीं, इसके विपरीत बर्बरता का वह परिष्करण करती हैं । बिहार में जैन धर्म के विषय में बोलते हुए उन्होंने हिन्दुस्तान के संदर्भ में जैनियों के स्याद्वाद सिद्धांत की अत्याधिक महत्ता का उल्लेख किया था । यह वह चिंतनधारा है जो निरंतर उनके विचारों और भाषणों में उपलब्ध है ।

राष्ट्रपति पदभार सँभालते समय उन्होंने घोषणा की थी कि संपूर्ण भारत उनका घर है और उसमें बसने वाले लोग उनके परिवारजन हैं । "आप लोगों ने कुछ अवधि के लिए मुझे इस परिवार का मुखिया चुना है । यह मेरी सनिष्ठ चेष्टा होगी कि मैं इस घर को सुदृढ़ और सुंदर बनाऊँ ।" उन्होंने भारत के संबंध में कहा था: "यह उन प्राचीनजनों का नवोदित राज्य है जिन्हों ने सहस्त्रों वर्ष में और विभिन्न जातीय तत्वों के योग से अपनी विशिष्ट प्रणाली में सजीव शाश्वत मूल्यों को प्राप्त करने का प्रयास किया है । मैं स्वयं को इन मूल्यों की सेवा के लिए समर्पित करता हूँ ।" मैं एक कार्यकर्ता के रूप में इस अवसर पर उपस्थित था और मुझे वह प्रभाव स्पष्टत: स्मरण है जो श्रोतागणों पर इस भाषण का पड़ा था ।

राष्ट्रपति ज़ाकिर हुसैन के संबंध प्रधानमंत्री और साधारणत: मंत्रीमंडल के सदस्यों से ऐसे थे जिन पर उंगली नहीं उठाई जा सकती थी । वह एक निष्पक्ष और रचनात्मक व्यक्ति थे । नैतिकता और संविधान संबंधी उनके अपने विचार और मूल्य थे और उन्हें कठपुतली नहीं बनाया जा सकता था । इस बात से सभी परिचित थे कि यथासमय वह अपने विचारों को स्पष्टतापूर्वक व्यक्त करेंगे किंतु ऐसा वह सूक्ष्मता और गरिमा के साथ करेंगे क्योंकि उनके प्रत्येक व्यवहार की यही प्रत्यक्ष विशेषता थी । उन्होंने प्रधानमंत्री से और साधारणतया दूसरों से अपनी बातचीत को सदैव गोपनीय रखा । व्यक्तिगत वार्तालाप तक में भी उन्होंने मंत्रियों पर टीका-टिप्पणी नहीं की । पक्षपात की राजनीति से स्वयं को चारित्रिक उच्चता के साथ पृथक रखा किंतु राजनीति में दिलचस्पी ली । जनता के प्रति अपने कर्तव्य का उन्हें इतना एहसास था कि अस्वस्थ होने पर भी उन्होंने उत्तरी-पूर्वी भारत की कष्टदायक यात्रा की जो उनके लिए प्राणघातक सिद्ध हुई क्योंकि इसका प्रभाव उनके हृदय पर पड़ा ।

डाक्टर ज़ाकिर हुसैन ने हिन्दुस्तान की समविंत संस्कृति की, उसके विशाल मानव प्रेम

की, उसकी रवादारी और सौंदर्यबोध की छवि को उत्कृष्ट रूप प्रदान किया। इस्लाम के मौलिक सिद्धांतों और उस सूफ़ी दृष्टिकोण पर उनकी दृढ़ आस्था थी जिसकी अभिव्यक्ति सूफ़ी काव्य में हुई है। वह हर प्रकार की संकीर्णता और भेद-भाव के विरुद्ध थे। भारतीय परंपरा के समान इस्लामी संस्कृति के संरक्षण की कामना करते हुए उन्होंने उसे धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रप्रेम से संयुक्त करने की चेष्टा की। उनके देशभक्ति के दृष्टिकोण में न केवल देश का समस्त भूभाग और उसकी सारी नदियाँ संमिलित थीं बल्कि उसकी समस्त संस्कृतियां और उसके समस्त दर्शन उसका अंग हैं। उनके पास मानसिक अन्वेक्षण की अगाध निधि थी और वह आधुनिक विज्ञान और प्राविधि के ज्ञान को प्रसारित करने में विश्वास रखते थे। वह आस्था और ज्ञान में समरसता लाना चाहते थे और स्वयं उनका जीवन इसका एक उदाहरण था।

डाक्टर ज़ाकिर हुसैन 1920 ई. में गाँधी जी से प्रेरित हुए और अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक गाँधीवादी रहे, सत्य, अहिंसा और समाज सेवा के लिए उनका जीवन समर्पित रहा। हमारे दीर्घकालीन इतिहास में उनकी जैसी विविधतापूर्ण विभूति कदाचित ही मिले जिसमें आध्यात्म, पांडित्य और संस्कृति का इतना सुंदर संयोग हो।

डा. ज़ाकिर हुसैन से वार्तालाप

चंचल सरकार

ज़ाकिर साहिब से सम्बंधित मेरी यादें अधिकतर विभिन्न अवसरों और अनेक विषयों पर की गई चर्चाओं पर आधारित हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मैं उनका कोई निकट राज़दार या कुछ और था। बस केवल हम एक दूसरे को पसन्द करते थे जिसने हमको अति शीघ्र ही निकटता व घनिष्टता के धागों में गूँध लिया था। वह प्राय: मुझे बिना किसी काम के बस यूँ ही गप-शप के लिए बुलवा लिया करते थे। उन्हीं के समान दो सज्जन और भी थे जिनको मैं जानता था। एक थे डा. एच.सी. मुखर्जी - एक शिक्षाविद, धर्म से ईसाई, अति मृदुल और शालीन व्यक्ति जो विधान सभा के कार्यवाहक और तत्पश्चात पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल नियुक्त हुए। दूसरे थे टी.टी. कृष्ण मचारी, जब वह मंत्री थे मेरी उनसे भेंट कम ही हो पाई।

इन तीनों व्यक्तियों से जब जब चर्चा हुई एक बात साँझी रही कि बातचीत के बीच कोई टेलीफ़ोन नहीं, कोई नमस्ते नमस्कार नहीं, कोई संदेशवाहक और मुलाक़ाती नहीं होता था जो हमारी चर्चा में व्यवधान उत्पन्न करता। मेरे लिए यह बड़े ही हर्ष और गर्व की बात थी कि उनसे मिलकर उन लोगों की योग्यता, ज्ञान, जानकारी और अनुभवों पर आधारित चर्चाएं सुनकर मुग्ध हो जाया करता था। जिस ढंग से वह लोग अपने मित्रों और साथियों का सौहार्दपूर्ण ढंग से उल्लेख करते थे तो उसमें किसी प्रकार के ''मैं'' का अंश नहीं होता था। यह थी पहचान सभ्य और शिक्षित योग्य व्यक्तियों की।

मैं घटना के रूप में बताना चाहता हूँ कि ज़ाकिर साहिब से मेरी पहली भेंट बहुत पहले 1945 में हुई थी। शिक्षा के विषय पर उनके अनेक लेख पढ़ कर मैं उन से बहुत प्रभावित हुआ और मैंने कलकत्ते से उनको पत्र लिखा। उन्होंने उत्तर दिया कि जब मैं देहली आऊँ तो उनसे भेंट करूं। मैं दिल्ली आया और मैंने उनको फ़ोन किया। जामिया नगर में वह मुझे एक तँबू अथवा ख़ेमे के भीतर मिले जो उनका कार्यालय था। मैं वहाँ थोड़ी देर रहा। मुझे याद नहीं कि मेरी उनसे कोई विशेष चर्चा हुई। मैं उनके उपराष्ट्रपति होने के समय में अधिक मिला। मेरा विचार है कि मुझे याद भी नहीं कि मैंने कभी उनसे जामिया में हुई अपनी पहली भेंट का उल्लेख किया हो।

हमारी मुलाक़ातें हमेशा मौलाना आज़ाद रोड पर स्थित उपराष्ट्रपति के आवास पर हुआ करती थीं। यह उससे पहले की बात है कि जब वी.वी. गिरी ने उस भवन में कार्यालय से मिला हुआ एक छोटा-सा भवन बनवाया था, परंतु यह तो एक पूरा मकान था। ज़ाकिर साहिब को पत्थर एकत्र करने की बहुत रुचि थी। उन में से कुछ तो अति सुंदर और रंग बिरंगे थे जो भेंटवार्ता कक्ष में एक मेज़ पर सजे रहा करते थे। एक और बात जो मुझे याद आती है वह यह है कि कमरे की सजावट पूर्व व मध्यपूर्व देशों से अधिक निकट थी और पश्चिम के रंग का समावेश कम था। वह बहुत ही अच्छे वस्त्र धारण किया करते थे। मैं जब भी मिला उनको एक अच्छी और सुडोल सिली हुई शेरवानी तथा चूड़ीदार पाजामे में, खादी की या शेरवानी के रंग की टोपी के साथ। आँखों पर मोटा काला चश्मा होता था।

एक बार जब वह बिहार के राज्यपाल थे तो उसी से सम्बंधित बातें कर रहे थे। उन्होंने कहा मैं अधिक से अधिक लोगों से मिलने और उनकी बातें सुनने की चेष्ठा करता हूँ ताकि मुझे वास्तविक रूप से ठीक ठीक पता चल सके कि राज्य में क्या हो रहा है। लोग उनसे मिलने को बहुत व्याकुल रहा करते थे। उन्होंने कहा कि लोगों का विचार था कि वह पं. जवाहर लाल के बहुत क़रीब हैं। "जब उनको पता चला कि मेरे प. जवाहर लाल नेहरू से नाममात्र सम्बंध हैं तो उन्होंने आना कम कर दिया"। पर शब्द "नाममात्र" तो यथार्थ नहीं है, परंतु फिर भी यह उनका कहना था।

1965 की लड़ाई के समय हम लोग कई बार मिले। स्पष्ट है चर्चा का विषय हिन्दुस्तानी मुसलमान थे। ज़ाकिर साहिब बहुत कड़ुवाहट अनुभव कर रहे थे। मुसलमानों पर लगाए गए आरोप, कि वह देश के वफ़ादार नहीं हैं, के संबंध में "आप जानते ही हैं कि मेरे विषय में हर प्रकार की अफ़वाहें फैली हुई हैं" उन्होंने कहा, "उदाहरणार्थ यही कि मैं अपने ही घर में एक प्रकार से "नज़र बंद" हूँ। दूसरे यह कि मेरा बेटा जो पाईलट है जिस के जहाज़ में हिन्दुस्तान के वरिष्ठ सैनिक अधिकारी हैं और उसने विमान पाकिस्तान ले जाने का प्रयास किया, मगर इस से पहले ही इस बात का पता चल गया था।" वह रुके और कहा "चंचल तुम जानते हो कि मेरे कोई बेटा नहीं।" दूसरी घटना में कड़वाहट से अधिक मन की व्यथा की झलक थी। उनके दामाद (जमाई), उन्होंने कहा, रक्षा विभाग में जाने का इच्छुक था और परीक्षा में बैठा भी था। जब वह अपना परीक्षा फल लेने गया तो डियुटी पर नियुक्त अधिकारी ने कहा तुम अपने रिज़ल्ट की जानकारी पाकिस्तान से पता करो। मुझे विश्वास है और मैं ठीक कह रहा हूँ कि यह बात मेरे जमाई से कही गई थी। पर मैं कांप गया।" हिन्दुस्तानी मुसलमानों के विषय में एक कहानी उन्होंने मुझे और सुनाई जो मुझे भली भाँति याद है। वह सरकारी दौरे पर मध्यपूर्व के किसी देश (सभंवत: मिस्त्र) गए। एक विशेष समारोह के अवसर पर एक अति विशिष्ट धार्मिक व्यक्ति ने मुझ से पूछा "हिन्दुस्तान में कितने मुसलमान हैं"। मैंने उत्तर दिया "एक करोड़ से अधिक", ज़ाकिर साहिब ने कहा। और जिन लोगों ने यह प्रश्न

पूछा था उनके मुंह लटक गए। "इतने ज्यादा", उसने विश्वास न करने वाले ढंग से कहा।

मैं पहली बार अलीगढ़ गया। प्रतिनिधि मंडल के एक सदस्य के रूप में। उस प्रतिनिधि मंडल का कार्य दस विभिन्न विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों के बीच फैली उत्कंठा व बेचैनी के विषय में एक रिपोर्ट देना था। मैंने अनेक शिक्षकों से बात की। कुलपति ज़ाकिर साहिब के बहुत से रोचक और महत्वपूर्ण कार्यों के रहस्य उदघटित हुए जबकि ज़ाकिर साहिब उस समय अलीगढ़ से जा चुके थे और कर्नल बशीर हुसैन ज़ैदी कुलपति थे।

शिक्षकों ने इसके अतिरिक्त यह भी बताया कि हम लोग शोध का जो कार्य कर रहे थे ज़ाकिर साहिब उसमें बहुत रुचि लेते थे और वह हमसे समय समय पर विचार-विमर्श भी किया करते थे।

यदि किसी ने अपने विभाग में पुस्तक लिखी है तो ज़ाकिर साहिब इस प्रयास की भूरि भूरि प्रशंसा करते थे। और फिर लेखक से उस पुस्तक के विषय तथा पुस्तक के कुछ खंडों पर विस्तारपूर्वक चर्चा भी करते थे। यह अपने स्थान पर शिक्षकगण का बड़ा ही जोरदार प्रोत्साहन होता था और वह सोचते थे कि कुलपति स्वयं हमारे कार्यों में रुचि लेते हैं।

अतीत की इस पृष्ठभूमि में मेरा विचार है कि यह बहुत बड़ी भूल की गई कि उनको विश्वविद्यालय से घसीट कर भारत का उपराष्ट्रपति बना दिया गया। और उसके पश्चात वह राष्ट्रपति भी बना दिए गए। मैं उपराष्ट्रपति के रूप में उनको कैसा समझता हूँ इसका वर्णन आगे चल कर करूंगा बल्कि मुझे इसमें भी संदेह है कि वह राष्ट्रपति के रूप में भी संतुष्ट थे। उनके ज़िम्मे तो पूर्ण रूप से भारत के शिक्षण संस्थानों की देख रेख का कार्य होना चाहिए था। कभी यहाँ तो कभी वहाँ। कभी शिक्षकों, विद्यार्थियों, कभी शोधकर्ताओं से तर्क वितर्क कर रहे हैं, कभी यूनियन वालों को सुझाव दे रहे हैं, कभी योग्य कलाकारों को प्रोत्साहित कर रहे हैं। वह हमारे विश्वविद्यालयों के वातावरण को अच्छे से अच्छा और सुखद बनाने के लिए बहुत कुछ कर सकते थे।

मैं आपको उनकी एक घटना सुनाने जा रहा हूँ जो पुस्तकों आदि में प्रकाशित भी हुई है तथा मेरे दूसरे क़िस्से का आधार है। एक बार वह मौलाना आज़ाद से किसी बात पर नाराज़ हो गए थे। संभव है मौलाना ने कोई बात कह दी हो जो ज़ाकिर साहिब को अच्छी न लगी हो। जब ज़ाकिर साहिब दिल्ली आए तो एक साँझे मित्र ने उनको बताया कि मौलाना आपसे मिलना चाहते हैं, "मौलाना से कहना कि मेरे घर से उनके घर की दूरी इतनी ही है जितनी उनके घर की मेरे घर से"। यह ज़ाकिर साहिब का उत्तर था।

दूसरी घटना का सम्बंध इस पर प्रकाश डालता है कि राष्ट्रपति भवन में ज़ाकिर साहिब के रहने-सहने का क्या ढंग था। वह प्रत्येक मिलने वालों से बाहर कार तक मिलने आते

थे । चाहे वह कोई भी हो । एक प्रशासनिक अधिकारी ने, यद्यपि उसे सरकार के राष्ट्रपति के विवेक व समझदारी पर कोई संदेह नहीं था, फिर भी उसूलों का पालन अनिवार्य था, ज़ाकिर साहिब से कहा कि वह सरकारी वचन बद्धता के नियमों का उल्लघंन कर रहे हैं, ''आप अपने सरकारी नियमों को अपने पास रखिये, ज़ाकिर साहिब ने प्रत्युत्तर दिया ।'' और मेरे उसूल मेरे साथ हैं ।''

हम लोग एक बार इंडिया इन्टरनैशनल देहली में एक गोष्ठी का आयोजन कर रहे थे । (उसका शीर्षक भूल गया हूँ) मेरे साथियों ने सोचा कि ज़ाकिर हुसैन से भाग लेने तथा भाषण देने का अनुरोध किया जाए । उन्होंने मुझे आगे कर दिया । अत: मैं उनके पास आवेदन लेकर गया । उन्होंने कुछ देर सोचा और लाखों का एक सवाल कर दिया । ''क्या ये नहीं हो सकता कि मैं आऊँ पर भाषण न दूँ ।'' मैंने सोचा भारत के राजनैतिक क्षितिज पर कोई ऐसा भी है जो केवल सुनना चाहता हो । वैसे तो हर राजनैतिक नेता का बँधा-टका नियम है कि किसी बहाने लोगों को सम्बोधित करे (चाहे वह किसी और का ही लिखा हुआ हो) और तालियों की गूँज में चल दे ।

मैंने उनसे कहा कि वह नि:संदेह अवश्य आएँ और केवल सुनें । वास्तव में ऐसा ही हुआ । वह पधारे कुछ देर बैठे और बहुत ही रुचि के साथ सुना ।

एक बार भारत विभाजन के तुरंत बाद वह पंजाब (भारतीय) रेलवे स्टेशन पर उतरे । एक विशाल जनसमूह ने उन पर नि:संदेह आक्रमण कर दिया होता यदि समय पर ही एक रेलवे अधिकारी ने उनको पहचान कर एक कमरे में बंद न कर दिया होता ।

इसके बाद वह सदा कहा करते थे ''मैं उधार दिया गया जीवन जी रहा हूँ ।'' संभव है यही कारण रहा हो कि उन्होंने सोचा कि मैं कुछ ऐसा करूं जो केवल औपचारिक न हो अपितु महत्वपूर्ण भी हो । वह हिन्दुस्तान ही में रहे । स्पष्ट है उन्होंने बहुधा इस बात के विषय में, पाकिस्तान के विषय में, और उन मुसलमानों के विषय में जो हिन्दुस्तान ही में रहे काफ़ी सोचा और विचार किया होगा । हिन्दू मुसलमान सम्बंधों, उनके रहन-सहन, उनके विचार तथा रंग ढंग, उनके दया के योग्य व्यवहारों के विषय में बहुत सोच समझकर अपने जीवन के ढंग और कार्य पद्धति को बदला होगा ।

वह बहुत मृदुलभाषी थे, नर्म और धीमे स्वर में बात करते थे । पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं था कि कोई उनके नियमों, सिद्धांतों में आसानी से लचक पैदा कर सकता था । आज के हिन्दुस्तान में उन जैसे योग्य व्यक्ति मुश्किल ही से रह सकते हैं । वरना यहाँ की घुटन बढ़ाने वाली सुरक्षा में आदमी प्रत्येक वस्तु से कट कर रह जाता है ।

मुझे याद है ज़ाकिर साहिब एक रात ड्रामा देखने जा रहे थे, मुझे याद नहीं कहाँ । परंतु यह खुले आसमान के नीचे था । वह किसी के साथ ख़ामोशी से जा रहे थे और कुर्सियों की ओर बढ़ रहे थे । आज के युग में यह बात मानने योग्य नहीं प्रतीत होगी कि जब वह न तो उपराष्ट्रपति थे और न राज्यपाल, अपितु अलीगढ़ से निकले ही थे । हुआ यह कि

उनको ग़लत कुर्सी पर बिठा दिया गया। वह कुर्सी एक महिला की थी। वह ग़ुस्से में लाल पीली आईं और उनसे उठने को कहा। और उन महिला ने यह भी कहा कि यदि आयोजनकर्ता ख़ाली नहीं कराएगें तो मैं स्वयं ख़ाली करा लूंगी। बड़ी मुश्किल से मैंने उन महिला को समझाया कि उनको बैठा रहने दीजिए मैं आपको और आपकी साथी को इससे अच्छी सीट दिला दूँगा। मुझे विश्वास है कि यदि वह उनसे सीट ख़ाली करने की मांग करतीं तो वह बिना किसी झंझट के सीट दे देते।

मेरा उनका अंतिम साथ अत्यंत दु:ख का कारण था। उनके निधन के मिंटों बाद ही दूरदर्शन वालों ने मुझ से कहा कि मैं राष्ट्रपति भवन से आँखों देखा हाल प्रसारित करूं। अत: मैं वहाँ गया। उस दिन या उससे अगले दिन मैं जामिया नगर गया, उनके मित्रों, साथियों और पड़ोसियों से मिला जिनका इस छोटी सी बस्ती में उनसे पुराना साथ रहा था। मुझे ठीक से याद नहीं है कि उन लोगों में से किसी ने एक राज्यपाल या भारत गणतंत्र के राष्ट्रपति की बात की हो। वह तो एक ऐसे इंसान की बात कर रहे थे जो कुछेक बग़ीचों के परे मिट्टी के नीचे सो रहा था और ऐसा लगता था कि अचानक एक चोर दरवाज़े से निकल कर टहलता हुआ आएगा और कहेगा "हैलो"।

सबसे अच्छी कहानी मैंने आख़िर के लिए बचा रख छोड़ी है। वह सर्दियों की एक शाम थी, मैं उनसे मिलने गया था। वह अपने उपराष्ट्रपति के आवास के लान पर विदेशी विद्यार्थियों को दिए गए भोज में उपस्थित थे। मुझे देख कर कहा चलिए हम अंदर चलते हैं।" हम लोग घर की सीढ़ियों की ओर दो चार क़दम चले तो रास्ते में मैंने पूछा "जनाब आज आपका दिन बहुत बोझल व भारी बीता होगा"? उन्होंने उत्तर दिया "कोई वस्तु जो रिक्त व ख़ाली हो वह बोझल व भारी कैसे हो सकती है। हाँ आप यह कह सकते हैं कि आज का दिन बहुत लम्बा गुज़रा"।

डाक्टर ज़ाकिर हुसैन – उन का राष्ट्रीय योगदान

ए.जी. नूरानी

"भारत जब स्वाधीन हुआ और देशवासियों के लिए प्रगति के मार्ग प्रशस्त हुए तो तुरंत ही शिक्षा प्रणाली में मूलभूत परिवर्तन हुए क्योंकि जो पुरातन शिक्षा पद्धति थी उसका संबंध न तो स्वाधीनता से था और विकास से तो उसका दूर का भी नाता नहीं था। परंतु इस काल में कम से कम एक मुस्लिम संस्था ऐसी थी जो स्वतन्त्र भी थी और विकासशील भी। उसकी अपनी अलग पहचान और असाधारण हैसियत थी। इसने कठिन संघर्षोपरांत नवीन शिक्षा प्रणाली की आधारशिला रखी थी जबकि वातावरण पतनोन्मुख था। विचार यह था कि नवीन शिक्षा प्रणाली नए समाज में अधिक पल्लवित नहीं हो सके गी। किंतु न केवल इस नवीन शिक्षा प्रणाली का विकास हुआ बल्कि यह दिन प्रतिदिन उन्नति करती गई। यह संस्था दिल्ली में जामिया मिल्लिया के नाम से प्रसिद्ध हुई जिसे साधारणत: जामिया ही कहा जाता है।"

सुविख्यात विद्वान वेल्फ्रेड केंटवेल स्मिथ ने अपने विचारगोष्ठियों में पढ़े गए अभिलेखों को "हिन्दुस्तान में आधुनिक इस्लाम" के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित किया है। यह पुस्तक सर्वप्रथम 1943 ई. में छपी थी और पुनरनिरीक्षण के पश्चात् इस का दूसरा संस्करण 1946 ई. में प्रकाशित हुआ। उन्हों ने अपनी पुस्तक में इस बात को कहा है कि यह संस्था न केवल देश में बल्कि विदेश में भी कितनी ख्याति प्राप्त थी और वह मनुष्य भी कितना सुप्रसिद्ध था जिसके कारण जामिया को यह यश प्राप्त हुआ था। स्मिथ ने आगे लिखा है: "सुयोग अध्यापकों में विशिष्ट स्थान था जामिया के प्रिंसपल डाक्टर ज़ाकिर हुसैन का। वह योग्य विद्वान, अच्छे कार्यकर्ता, उत्कृष्ट शिक्षक और प्रथम श्रेणी के शिक्षाविद् थे। वस्तुत: वह एकमात्र व्यक्ति थे जिन के व्यक्तित्व के आधार पर यह संपूर्ण संस्था टिकी रही, भले ही उन्हें नाना प्रकार की कठिनाइयों का सामना क्यों न करना पड़ा हो। जब वह वर्धा बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा समिति के अध्यक्ष थे तो उन्हें और जामिया को अत्याधिक प्रसिद्धि मिली।"

वह नोट बिना किसी अत्योश्योक्ति के विस्तृत और सोद्देश्य था जिसमें जामिया के समस्त विभागों का उल्लेख भी था। रचनात्मक भावना ने सभी लोगों को एक रंग में रंग दिया था। यह संस्था "बराबर आगे बढ़ रही थी और नित्य नवीन पद्धतियाँ और शैक्षणिक नवीनता उत्पन्न कर रही थी जो भारत के लिए विलक्षण उदाहरण थी।" स्मिथ ने यह भी लिखा है कि "इस की शिक्षापद्धति का उद्देश्य आगे बढ़ते रहना था और यह अब भी प्रगति के पथ पर चल रही थी। प्रत्येक हिन्दुस्तानी की और विशेष रूप से मुसलमानों की उन्नति इस का लक्ष्य रहा है और इस में कार्यरत सभी लोगों के संपूर्ण जीवन का ध्येय राष्ट्र सेवा रहा है।"

जामिया किस प्रकार स्थापित हुई, यह कहानी सब लोग जानते हैं। इस संबंध में अब्दुलग़फ़्फ़ार मधौली की पुस्तक "जामिया की कहानी" अद्वितीय है। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार अलीगढ़ विश्वविद्यालय के विरूद्ध विद्रोह किया गया और 1920 ई. में प्रयत्न करके "राष्ट्रीय स्कूल और कालिज स्थापित किए गए। कांग्रेस के इतिहास लेखक श्रीमान बी. पट्टाभई सीतारमैया ने राष्ट्रीय मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ नाम से इस की चर्चा करते हुए लिखा है कि "इसने गुजरात विद्यापीठ और काशीविद्यापीठ के साथ मिल कर कार्य करना आरंभ किया।"

अभी जामिया की बुनियादें नई ही पड़ी थी कि डाक्टर ज़ाकिर हुसैन योरप चले गए और जब वह वापस आए तो जामिया भीषण आर्थिक संकट में थी। 1925 ई. में यह अलीगढ़ से क़रोलबाग, दिल्ली स्थानत्रिंत हो गई। इसी साल ज़ाकिर साहब की नियुक्ति शैख़लजामिया (कुलपति) के रूप में हुई। उन्होंने अपने घनिष्ट मित्रों मुहम्मद मुजीब और आबिद हुसैन को अपने साथ लगा लिया और उन्हें सावधान भी कर दिया कि सब को आर्थिक संकट और कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

1937 ई. में तुर्की की सुप्रसिद्ध पत्रकार ख़ालिदा अदीब ख़ानम ने अपनी पुस्तक "इनसाइड इंडिया" में लिखा है कि "इस संस्था के दो उद्देश्य हैं। प्रथमतः यह कि हिन्दुस्तानी मुस्लिम नवयुवकों को प्रशिक्षित किया जाए कि वह जानें कि भारतीय होने के नाते उनके क्या अधिकार और कर्तव्य हैं। दूसरे यह कि इस्लामी चिंतन और हिंदुओं की विचारधारा में समानता खोजी जाए। साधारणतया अपनी अपनी पहचान खोए बिना एक सामंजस्य राष्ट्र का निर्माण करना। ऐसे तो यह इस्लामी संस्था थी, भले ही इस के उद्देश्य और कार्यपद्धति भिन्न रही हो किंतु यह गाँधी आंदोलन से अधिक मेल खाती थी, जैसा कि मैने स्वंय देखा है।"

1923 ई. में ख़ालिदा अदीब ख़ानम ज़ाकिर साहब से म्युनिख़ में मिली थीं – वैभवशाली मनुष्य, प्रकटतः युवा किंतु अत्याधिक परिपक्कता से युक्त।"

लगभग दस वर्ष उपरांत ख़ालिदा अदीब ख़ानम ने जामिया में ज़ाकिर साहब से अपनी भेंट और अपनी संवेदनाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है: "यहाँ एक भी भारतीय

बुद्धिजीवी नहीं जिनसे मैं मिली, और उन्होंने यह न पूछा हो कि आप का ज़ाकिर हुसैन के संबंध में क्या विचार है ? इस का अर्थ है कि डाक्टर ज़ाकिर हुसैन अपने देशवासियों की समझ से परे थे। उनके जैसा खरा और स्पष्टवादी मनुष्य मिलना कठिन है। सर्वमान्य बात यह है कि उन पर कोई राजनैतिक ठप्पा नहीं लगा। उनके कामों में कोई भी पार्टी किसी भी प्रकार का रंग नहीं भर सकी। वह अपना अधिकांश समय और शक्ति शैक्षणिक अर्थात रचनात्मक और प्रयोगात्मक कार्यक्रमों में लगाते हैं।"

"यह बात कितनी सराहनीय है कि उन को पाश्चात्य सभ्यता का अत्याधिक ज्ञान है किंतु उनमें किसी भी प्रकार की हीनता या उच्चता की भावना उत्पन्न नहीं हुई और वातावरण सदैव अनुकूल रहा जो उस वातावरण से भिन्न था जिसे, एमेल्वडो ज़हेवज़ले जब भारत आया था तो देख कर झुंझलाया था।"

उन्होंने बारंबार लिखा है। डाक्टर ज़ाकिर हुसैन से जो राजनैतिक भूलें हुई वह केवल इसलिए हुईं कि जो लोग उनके साथ थे वह कामों के सामाजिक और आर्थिक आधारों से अनभिज्ञ थे। राजनीति में प्रविष्ट होने से पहले लोगों को समाज संबंधी मौलिक समस्याओं के बारे में सुचारू रूप से प्रशिक्षण लेना चाहिए।

ज़ाकिर हुसैन हमेशा गाँधी के आभारी रहे, उनकी सहायता के लिए और उनके मूल्यवान परामर्शों के लिए जो उन्होंने ऐसे समय में दिए जब बहुत से लोग जामिया को मिटा देना चाहते थे। गाँधी जी ने उन्हें उस वर्धा बुनियादी शिक्षा योजना का अध्यक्ष नामित किया जिस का आधार गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों पर था।

अत्यंत दुख की बात है कि ठीक इसी समय कांग्रेस और मुस्लिम लीग पृथक हो गईं। लीग ने वर्धा योजना को आशंकित दृष्टि से देखना आरंभ किया। 18 जून, 1946 ई. में जिन्नाह ने वाइसराए वैवेल को पत्र लिख कर अंतरिम सरकार में ज़ाकिर हुसैन के नाम पर आपत्ति की, यद्यपि वह द्वेषभाव एकतरफ़ा था। 17 नवम्बर 1946 ई. को जामिया की रजत जयंती के समारोहों के संबंध में नवाब भोपाल की अध्यक्षता में एक जलसा हुआ। ज़ाकिर साहब ने किसी तरह जिन्नाह को तैयार किया कि वह जामिया आएँ और जवाहर लाल नेहरू तथा मौलाना आज़ाद के संग मंच पर बिराजें। इसी अवसर पर उन्होंने अपने हृदयविदारक भाषण में निवेदन किया:

"आप महानुभाव। राजनैतिक आकाश के जगमगाते सितारे हैं। लाखों के दिलों पर राज करते हैं। यहाँ आज आप लोगों की उपस्थिति से लाभ उठाते हुए मैं समस्त शैक्षिणिक कार्यकर्ताओं की ओर से, मेरी इच्छा है, मैं अपनी तीव्र व्यथा को प्रकट करूँ। घृणा की आग इस तेज़ी से आगे बढ़ रही है कि लगता है शिक्षा और पठन-पाठन की वाटिका को जला कर धूलि धूसरित कर देगी। यह आग एक उदार और महान देश में फैल रही है। ऐसी स्थिति में सौजन्य और प्रेम के फूल कैसे खिल पाएँगे ? हम मानवीय मूल्यों को कैसे उच्च शिखर पर ले जा सकेंगे जो आज दानवीय स्तर पर हैं।

ख़ुदा के वास्ते एक साथ बैठिए और ठंडे मन से विचार कीजिए कि घृणा की यह आग कैसे बुझाई जाए। आग तेज़ी पकड़ रही है, ख़ुदा ही इसे बुझाए ..."

भाषण समाप्त होने पर लोगों ने देखा कि नेहरू अपने आँसू पोंछ रहे हैं। ज़ाकिर हुसैन उन अनुपम व्यक्तियों में से थे जो कभी भी अपनी कमियों को नहीं छिपाते और न ही कभी किसी का अनुचित समर्थन करते हैं। उन्होंने अलीगढ़ छोड़ दिया किंतु उससे अपना प्रेमभाव उसी प्रकार बनाए रखा। कहते थे कि मैं कहीं भी रहूँ मेरा मन हमेशा अलीगढ़ से अनुरक्त रहेगा। यह अत्यंत उचित हुआ कि वह देश विभाजन के उपरांत अलीगढ़ के कुलपति हुए और उस की डूबती नाव को उन्होंने पार लगाया। उन के मित्र रशीद अहमद के कथानानुसार "वह मनुष्य थे जिसने नई जामिया को बढ़ावा दिया और पुराने अलीगढ़ की रक्षा की। वह सचमुच अलीगढ़ और स्वतंत्र भारत के राजनैतिक कार्यविधि के बीच समझौते का बहुत बड़ा माध्यम बने और भय तथा त्रास को पनपने की राह न दी।"

अलीगढ़ भयंकर नैराश्य के दलदल में फँसा हुआ था, ज़ाकिर हुसैन ने उसे सहारा दे कर ऊपर उठाया। शुक्र है कि एक महान और अनुपम संस्था बच गई।

एक और राष्ट्रीय समस्या थी जिस के लिए वह अत्याधिक दुखी थे और वह थी नवीन परिस्थितियों में उर्दू भाषा की सुरक्षा की। 1951 ई. में ज़ाकिर हुसैन ने लखनऊ में स्थित छात्रों के माता पिता की ओर से दस हज़ार हस्ताक्षर सहित उत्तर प्रदेश के शिक्षा मंत्री को एक विज्ञप्ति दी कि उन्हें उर्दू माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दिया जाए। 1954 ई. में अखिल भारतीय अंजुमने तरक़्क़ी उर्दू के अध्यक्ष की हैसियत से वह 'प्रतिनिधि मंडल', जिसमें प्रत्येक धर्म और आस्था के व्यक्ति संम्मिलित थे, लेकर राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद के पास गए और उनकी सेवा में 20 लाख हस्ताक्षर सहित एक विज्ञप्ति प्रस्तुत की जिसमें उत्तर प्रदेश के प्रौढ़ों की ओर से निवेदन किया गया था कि उर्दू को उसका उचित स्थान दिलाया जाए। अवयस्क बालकों की संख्या तो 22 लाख से भी अधिक थी। निवेदनपत्र में कहा गया था कि उत्तर प्रदेश में विशेष रूप से उर्दू को क्षेत्रीय भाषा घोषित किया जाए। इस निवेदन के कारण यह थे-(1) जिन बच्चों की मातृभाषा उर्दू है उन्हें उसी भाषा में शिक्षा दी जाए (2) उर्दू में लिखित प्रार्थनापत्र न्यायालयों और सरकारी कार्यालयों में स्वीकृत हों (3) महत्वपूर्ण अधिनियम, अध्यादेश और सूचनाएँ उर्दू में प्रकाशित हों।

यह अत्यंत खेद की बात है कि 1967 ई. में ज़ाकिर हुसैन का चुनाव एक अनुचित पक्षपात के वातावरण में हुआ। वह नियम पालक व्यक्ति थे। उन्होंने उन सारे, दोषारोपणों और व्यंग्यों की उपेक्षा की जो उन पर किए गए थे। यद्यपि उनका संबंध प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी से था जिन्होंने उन्हें राष्ट्रपति पद के लिए नामज़द किया था, किंतु ज़ाकिर साहब ने उनके प्रति भी कभी कोई पक्षपात नहीं किया। अनेक भेंटवार्ताओं में से एक में उन्होंने अपनी जीवनी से संबंधित बातें मुझे भी बताई थीं। उन्होंने अपने प्रति विरोद्ध की पूर्णत: अनदेखी करते हुए कहा था कि विरोधी दल वस्तुत: ऐसा राष्ट्रपति चाहते थे जो प्रधानमंत्री

से टक्कर ले । यह बेइमानी होगी । राष्ट्रपति मंत्रीमंडल के परामर्श को मानने पर बाध्य है। किंतु आगे यह भी कहा कि हाँ, उस के कुछ अपने "आपात्कलिक अधिकार" भी हैं । उन्होंने यह बात भी स्पष्ट की कि आपात्कालिक अधिकार संविधान में बहुत महत्व नहीं रखते । परंतु एक लोकतत्रिंक प्रणाली में संवैधानिक दृष्टि से अंतिम अधिकार राष्ट्रपति के होते हैं । स्पष्ट है ज़ाकिर हुसैन के प्रति भारत के भूतपूर्व प्रधान न्यायाधीश सुब्बाराव और उनके समर्थक ऐसा राष्ट्रपति चाहते थे जो पक्षपाती हो ।

1969 ई. में यदि उनका आकस्मिक देहावसान न हो जाता तो निश्चय ही इस उच्चतम पद के कार्यव्यापार को अत्यंत सुचारूता से परिष्कृत कर जाते और यह बहुत बड़ी राष्ट्रीय सेवा होती ।

इस वर्ष जब उनकी जन्मशताब्दी का समारोह आयोजित किया जा रहा है तो आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी मानसिकता में उनकी समाविंत संस्कृति की अवधारणा को स्पष्टत: स्थान दें और उसे कार्यांवित करें । यह केवल दो तत्वों के टकराव का परिणाम नहीं है बल्कि जीवन पद्धति का अनिवार्य अंग है । इस का स्पष्टीकरण 14, अगस्त 1933 ई. को काशी विद्यापीठ के दीक्षांत समारोह में अपने अभिभाषण में ज़ाकिर हुसैन ने किया था । उन्होंने अपनी मधुर वाणी में कहा था:

"कुछ लोग सोद्देश्य है किंतु वह उग्रवादी राष्ट्रीयता के पोषक हैं । अर्थात भारती राष्ट्रयिता की ऐसी अवधारणा रखते हैं जो मुसलमानों के अधिकारों, देश की एकता और विकास के लिए घातक हो सकता है । परंतु हमारे शिक्षामंत्री ईमानदारी से भारतीय समस्या के संबंध में सोचें तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि वह सहर्ष इस बात को स्वीकार करेंगे कि मुसलमान अपनी शिक्षा को अपनी सभ्यता पर आघृत रखें तो यह एक उत्तम शिक्षा और विवेकपूर्ण राजनैतिक दृष्टिकोण कह लाए गी । आप से क्षमा याचना करते हुए मैं समस्त उपस्थित सज्जनों के संमुख यह विचार स्पष्टत: प्रस्तुत करना चाहूँगा कि भारतीय राष्ट्रीयता से मुसलमानों को पृथक कर देना या समझना केवल आत्मवंचना, स्वार्थपरकता, संकीर्णता और एक स्वस्थ दृष्टिकोण का अभाव कह लाए गा जो देश के भविष्य को प्रभावित कर सकता है । मुसलमानों के प्रति यह संदेह कि राष्ट्रीय सरकार के लिए उनकी संस्कृति के कारण संकट उत्पन्न हो सकता है, नितांत भ्रामक दृष्टिकोण है, मुसलमान किसी भी स्थिति में एकता और समन्वय को बलिदान नहीं कर सकते । मैं एक मुसलमान हूँ किंतु एक सच्चे भारतीय होने के नाते मुझे इस बात की प्रसन्नता और इस पर गर्व है कि निश्चयत: मुसलमान इसे छोड़ नहीं सकते क्योंकि ऐसा करने से न केवल मुसलमानों पर इसका दुष्प्रभाव पड़ेगा बल्कि हिंदुस्तानी समविंत संस्कृति पर भी आँच आएगी और वह क्षीर्ण हो जाएगी ।"

डा. ज़ाकिर हुसैन शिक्षक के रूप में

मु. इकराम खां

अगस्त 1938-39 ई. की बात है जब हम उस्तादों के मदरसे (शिक्षकों की शिक्षण संस्था) में प्राथमिक राष्ट्रीय शिक्षा के डिप्लोमा कोर्स में प्रवेश पा कर जामिया मिल्लिया इस्लामिया के विद्यार्थी बने थे। उस समय कक्षायें प्रारम्भ होने के पश्चात सबसे पहले जो शिक्षक हमें पढ़ाने आये वह थे डा. ज़ाकिर हुसैन। हम ही नहीं कक्षा के सभी छात्र उन की शारीरिक और सदव्यवहारी ख़ूबियों को देखकर प्रभावित हुए। उन्होंने प्राथमिक राष्ट्रीय शिक्षा और शिक्षा के दृष्टिकोणों पर जो लेक्चर दिये उन की मूल बातें अभी तक ज़हन में महफ़ूज़ हैं। उनके प्रेम और मार्गदर्शन ने शिक्षा के विषय में अध्ययन करने की रूचि पैदा की। उनके कारण ही हमें लन्दन इन्सटीटयूट आफ़ एजूकेशन, लन्दन और शिक्षक कालेज कोलम्बिया विश्वविद्यालय, न्यूयार्क में प्रोफ़ेसर लारेंस और प्रोफ़ेसर क्लपटर्क जैसे प्रसिद्ध विद्वानों से शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला किन्तु डा. ज़ाकिर साहब ने विद्या और अनुसंधान कार्य करने की जो प्यास पैदा की थी वह न बुझ सकी।

डा. ज़ाकिर हुसैन की कई हैसियतों से प्रसिद्धि हुई किन्तु वह वास्तविक रूप में एक शिक्षक थे और इसी रूप में उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याती प्राप्त हुई। स्वभाविक रूप में उनकी तबियत का झुकाव शिशुओं और युवकों के व्यक्तित्व बनाने की ओर था और उन्हीं में रह कर डा. ज़ाकिर हुसैन को शांति मिलती थी। उनके जीवन के पहले पृष्ठ पर विद्या और प्रेम का शीर्षक लिखा था। उन्होंने अपने जीवन के अच्छे महीने और वर्ष जामिया मिल्लिया इस्लामिया की सेवा में लगाये थे। जब जामिया की सेवा में उन का अच्छा समय व्यतीत हो रहा था तो देश के लीडरों और सरकार के ज़िम्मेदारों ने राष्ट्रीय गौरव के रूप में पहले उन्हें मुस्लिम विश्वविद्यालय का कुलपति बनाया, इसके बाद बिहार राज्य का राज्यपाल नियुक्त किया। और अन्त में वह उपराष्ट्रपति और राष्ट्रपति बने। उन्होंने इस सब के बाद भी अपना शिक्षक का रूप शेष रखा। उपराष्ट्रपति बनने के बाद संसद में स्वागत समारोह के अवसर पर उन्होंने अपने शिक्षक होने का स्मरण करते हुए कहा --- मुझे मुबारकबाद के जो पत्र मिले हैं उनसे मालूम हुआ कि मुझे इस पद के लिए क्यों चुना गया है। इन पत्रों, तारों के भेजने वालों की एक बड़ी मात्रा अध्यापकों की है। इनमें देश

भर के प्राइमरी स्कूलों, हाई स्कूलों और विश्वविद्यालयों के शिक्षक शामिल हैं। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह सब मुझ से कह रहे हैं कि मुझे यह सम्मान इसलिए दिया गया कि मेरा गहरा सम्बन्ध शिक्षा से है। --- राष्ट्रीय जीवन में शिक्षा को अहमियत देने के कारण मालूम होता है कि क्यों एक ऐसे व्यक्ति को देश का उपराष्ट्रपति और राज्य सभा का अध्यक्ष चुना गया है जिस ने एक स्कूल के शिक्षक होने के अतिरिक्त कोई और महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया है।

इसी प्रकार 13 मई 1967 को राष्ट्रपति बनने के पश्चात उन्होंने कहा "यह एक बड़ा सम्मान है जिसे राष्ट्र ने एक ऐसे व्यक्ति को दिया है जो केवल एक शिक्षक है। जिसने आज से सैंतालीस वर्ष पूर्व यह निर्णय किया था कि वह अपने जीवन के महत्वपूर्ण महीने और वर्ष राष्ट्रीय शिक्षा के काम में व्यतीत कर देगा। मुझे महसूस होता है कि ऐसा करके मेरे राष्ट्र ने इस वास्तविकता को स्वीकार किया है कि शिक्षा का राष्ट्र के जीवन से एक अटूट सम्बन्ध है यानि शिक्षा ही राष्ट्रीय उद्देशों में सफलता का स्रोत है।" (शहीद-ए-जुस्तुजु प्रो. ज़्याउलहसन फ़ारूक़ी, पृ. 539)

डा. ज़ाकिर हुसैन एक कामयाब और अद्वितीय शिक्षक थे। वह इंसानदोस्त और लोकतन्त्रवादी प्रवृत्ति के थे। उनके व्यक्तित्व में वह सब ख़ूबियां थीं जो दूसरों को पसन्द आती हैं और जिनके कारण पराये अपने और दुश्मन दोस्त बन जाते हैं। यही वह ख़ूबियां थीं जिनके कारण उनसे जो मिलता वह उन्हें अपना समझने लगता था। उनके रहन-सहन में एक दिलकशी थी, उनका अच्छे ढंग से बोलना दिल को मोह लेता था। वह बच्चों और नौजवानों से बहुत प्रेम करते थे। हमने डा. साहब को घर में और घर के बाहर दोनों जगह देखा है। वह जैसे बाहर थे वैसे ही अन्दर थे। उनकी करनी कथनी में कोई अन्तर नहीं था। वह जो कहते वह करते और उतना ही कहते जितना कर सकते थे। उदाहरण के लिए 1948 में डा. ज़ाकिर हुसैन ने उस्तादों के मदरसे (शिक्षक शिक्षण संस्थान) में कोर्स के समाप्त होने के अवसर पर उन छात्रों से, जो बटवारे के कारण पंजाब से आकर देहली में बस गये थे और प्राइमरी स्कूलों में अध्यापन का कार्य कर रहे थे, उन्होंने अपने भाषण में जो कुछ कहा उसे बेगम ज़ाकिर हुसैन ने भी सुना जो उस समारोह में विशेष रूप से बुलाई गयी थीं।

उन्होंने डा. ज़ाकिर हुसैन का भाषण, जिसमें डा. साहब ने अच्छे शिक्षक की विशेषताएं बताई थीं, ध्यान के साथ सुना था। घर जाकर जब खाने पर सब इकट्ठा हुए तो बातों बातों में बेगम ज़ाकिर हुसैन ने कहा: "तुम जलसों में घुमा फिराकर बातें क्यों करते हो। तुम साफ़-साफ़ यह क्यों नहीं कह दिया करते कि जैसा मैं हूँ वैसे ही तुम हो जाओ।"

डा. ज़ाकिर हुसैन के उच्च्व स्वभाव और करनी कथनी में अन्तर न होने को प्रो. ग़ुला मुस्स्ययदैन ने अपने रेडियो के भाषण में स्वीकार किया है : --- "मैंने अपने जीवन में बहुत कम लोग ऐसे देखे हैं जिनको हर हालत, हर रंग और हर स्थान पर सोना पाया हो

और कहीं खोट का मेल नज़र न आया हो। लेकिन जब क़ुदरत किसी को मालामाल करती है तो उस की सीमा नहीं रहती। क्या क्या नहीं दिया उसने डा. ज़ाकिर हुसैन को? ऐसा सुन्दर चेहरा जो लाखों में एक व्यक्ति को मिलता है। ऐसा व्यक्तित्व जो करोड़ों में एक के हिस्से में आता है। ऐसा रोशन दिमाग़ जो हर समस्या की तह तक पहुँच जाता। ऐसा कोमल हृदय जिसमें सारे संसार की इंसानियत ही समाई थी, जो हर किसी की भलाई चाहता था, किसी की बुराई के बारे में सोच भी न सकता था। जो उन लोगों के साथ भी प्रेम करता और उनकी बुराईयों को छुपाता था जिन्होंने उसके साथ ख़राब सलूक किया हो। बातचीत में वह आकर्षण कि कहीं और दिखाई न दे। भाषण में सरस्वती जैसा बहाव, ऐसी विनम्रता कि प्रत्येक शब्द हृदय से निकला हुआ लगता और दूसरे के हृदय में बिजली की तरह उतर जाता था। लिखने में ऐसी सरलता, निःस्वार्थता, वह जोश जो हर पढ़ने वाले को अपील करता था। ---उनका कहना था जीवन में एकता है और इसे इसी रूप में देखना चाहिए।"

डा. ज़ाकिर हुसैन उन शिक्षकों में थे जो अपने शिष्यों को केवल शिक्षा नहीं देते बल्कि वास्तव में उनके जीवन का निर्माण करते हैं। वह ऐसे शिक्षक थे जो मनुष्यों को जोड़ने और उनका निर्माण करने को बुनियादी काम समझते थे। और यह कार्य कक्षा में ही नहीं बल्कि हर स्थान पर करते थे। उन्होंने पूरा जीवन मूल्यों की सेवा में व्यतीत किया। वह कहते थे कि जीवन का उद्देश्य लोगों की सेवा करना है। जिसने यह जीवन दिया है उसके मार्ग में यह जीवन काम आना चाहिए। उन्होंने प्रचलित पाठयक्रम को जीवन को सभ्य बनाने और निर्माण के लिए नाकाम बताया और दस्तकारी और समाजी कार्यों से परिपूर्ण शिक्षा को रिवाज दिया। वह कहते थे कि शिक्षा का अर्थ केवल अंग्रेजी पढ़ लेना या कुछ बोल लेना नहीं है बल्कि शिक्षा उसे कहते हैं कि व्यक्ति जो मानसिक शक्तियां लेकर पैदा हुआ है उनमें जितनी उन्नति हो सके करे। शिक्षा व्यक्ति के ज़हेन की पूरी पूरी नशोनुमा (विकास) का नाम है। कहते हैं कि शिक्षा का बुनियादी उद्देश्य यही होता है कि वह बच्चे के इरादे और कार्य करने की शक्ति को सीधे मार्ग पर डाल दे और सच्चे उसूलों के प्रकाश में अच्छी आदतों की सहायता से उसके व्यक्तित्व में एकाग्रता और पुख़्तगी पैदा कर दे।

डा. ज़ाकिर हुसैन को प्रकृति ने वह सब योग्यतायें दी थीं जो एक शिक्षक और मार्गदर्शक में होनी चाहिएं। वह बच्चों और नवयुवकों की ही नहीं बल्कि जनता की प्रवृतियों को भी जानते थे। उन्होंने राष्ट्र की सेवा को धार्मिक कार्य समझा और शिक्षा को राष्ट्रीय और समाजी जीवन को संभालने का स्रोत मान कर जामिया मिल्लिया इस्लामिया में शिक्षा का कार्य प्रारम्भ किया। जामिया में इसलिए कि इसका बुनियादी उद्देश्य ही शिक्षा को धर्म के रंग में रंग कर विद्यार्थियों में, विशेषरूप से मुस्लिम छात्रों, में राष्ट्रीय प्रेम और राष्ट्रीय एकता का जज़्बा पैदा करना, देश की स्वतंत्रता और उन्नति के लिए कार्य

करना और ऐसे शहरी पैदा करना था जो दूसरों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए कार्य कर सकें। डा. साहब ने मनोविज्ञान और शिक्षा को सामने रखकर बचपन और नौउमरी की शिक्षा की आवश्यकता और अहमियत को मानते हुए माध्यमिक और उच्च माध्यमिक शिक्षा को राष्ट्रीय जीवन के रंग में रंगने का निर्णय किया। उन्होंने अपनी कोशिश को जामिया के माध्यमिक और उच्च माध्यमिक स्कूलों पर केन्द्रित किया। इन दोनों पाठशालाओं में डा. साहब ने छात्रों के चरित्र का निर्माण करने के लिए उनके जूतों को पालिश करने, जूतों को साफ़ रखने की शिक्षा दी। छात्रावासों में बैठ बैठ कर बच्चों को प्रेम का पाठ पढ़ाया और कक्षा में पढ़ाते समय जिस प्रेम, सयमं और धैर्य से काम लिया उसका आभास उनके एक शिष्य सरवत सौलत के एक लेख से होता है। वह अपने मदरसा सानवी (उच्च माध्यमिक स्कूल) में पढ़ते थे। उन्होंने लिखा है: "हमें डा. साहब को अंग्रेज़ी पढ़ानी थी और वह हमें जिस शौक़, लगन और दिलचस्पी से पढ़ाते थे उसका उदाहरण कम मिलता है। हर विद्यार्थी पर वह विशेष ध्यान देते थे और जब तक हर विद्यार्थी अच्छी तरह मतलब नहीं समझ जाता था आगे नहीं बढ़ते थे।" इसके पश्चात उन्होंने लिखा है "मेरे एक सहपाठी कुछ मन्दबुद्धि के थे। डा. साहब ने कई दिन तक उन्हें समझाने की कोशिश की और एक ही पाठ बार बार पढ़ाते रहे किन्तु जब देखा कि वह किसी प्रकार समझ नहीं पा रहे हैं तो डा. साहब के आंसू निकल पड़े --- यह कोई एक घटना न थी। ऐसी घटनाऐं अक्सर होती थीं। वह कभी डाट डपट नहीं करते थे। वह विद्यार्थियों पर ग़ुस्सा नहीं करते थे। अपने ग़ुस्से पर इतना सयमं रखते थे कि उनके आंसू निकल आते थे। इस सहानुभूति और मेहनत से पढ़ाने वाले शिक्षक संसार में कहां मिलते हैं "। (मासिक जामिया, जूलाई 1988, पृ. 25)

डा. ज़ाकिर हुसैन (1926-48) ने जामिया मिल्लिया इस्लामिया में कुलपति और शिक्षक का काम किया। इस समय उन्होंने बच्चों की शिक्षा और प्रशिक्षण में बहुत दिलचस्पी ली, पुस्तकीय शिक्षा को काम से परिपूर्ण शिक्षा में बदला, पाठयक्रम में दस्तकारियों और अन्य कामों को विशेष स्थान दिया। सीखने के इस नियम को अपनाया कि बारह-तेरह वर्ष की आयु के बच्चों की रूचि अधिकतर कार्य करने की होती है। वह अपने हाथों के द्वारा सोचते हैं और काम के द्वारा सीखते हैं। उन्होंने गत्ते के काम, लकड़ी के काम, मिट्टी के काम और कताई-बुनाई के काम के अतिरिक्त बच्चों का बैंक, बच्चों की दुकान, मुर्गी-ख़ाना, चिड़ियाघर और बाग़बानी आदि जैसे दिलचस्प कामों के द्वारा शिक्षा को जीवन से जोड़ा और शिक्षा को जीवन के लिए आधार बनाने का प्रयत्न किया। बच्चों की सरकार विधि के द्वारा बच्चों को मदरसे के इन्तेज़ाम में शामिल किया। बच्चों को अनेक प्रकार के कामों की ज़िम्मेदारी दे कर उनमें मिलकर काम करने और ज़िम्मेदारी को पूरा करने का अहसास पैदा किया। बराबरी, सबकी सहायता और काम को पूजा समझने का माहौल बनाया। ज़रूरत के अनुसार मदरसे (विद्यालय) और छात्रावास की

सफ़ाई का काम कराया गया। इस कार्य में शिक्षक भी विद्यार्थियों के साथ होते थे। इस प्रकार बच्चों को हाथ से काम करने की आदत होती थी। अपनी इन्द्रियों को वश में करने का अवसर मिलता था। हाथ से काम करने वालों के लिए हृदय में सम्मान होता था। बराबरी का सबक़ मिलता था। मिलकर साथ रहने और काम करने का प्रशिक्षण होता था। इस प्रकार डा. ज़ाकिर हुसैन मदरसे (विद्यालय) के दूसरे शिक्षकों के साथ मिलकर बच्चों के व्यक्तित्व और चरित्र का निर्माण करने में बराबर भागीदार होते रहते।

डा. ज़ाकिर साहब के यहाँ 'व्यक्ति' का उच्च स्थान है। वह इससे प्रेम करते हैं। इस पर भरोसा करते हैं। इसमें आत्मविश्वास पैदा करते हैं। इसे आत्मनिर्भर करने की चेष्टा करते हैं। और उसे समाज का सेवक बनाना चाहते हैं। वह जानते हैं कि 'व्यक्ति' के व्यक्तित्व की सही नशोनुमा समाज में रहकर और समाजी कार्य करके होती है। उनका सोचना है कि 'व्यक्ति' की बुद्धि के पूर्ण विकास के लिए समाज की बहुत आवश्यकता होती है। बुद्धि के विकास के लिए जिस मानसिक ख़ुराक की आवश्यकता होती है वह सभ्यता के माध्यम से मिलती है। वह मिलती है सभ्यता की भौतिक और अभौतिक चीज़ों से। यह बात अलग है कि हर बुद्धि का विकास सभ्यता की हर चीज़ से नहीं होता। इसलिए अच्छे और समझदार शिक्षक का काम यह है कि वह विद्यार्थियों के लिए यथाशक्ति इतने काम, व्यापार और साधन जुटाये कि विद्यार्थी उनके द्वारा अपनी रूचि के अनुसार अपने बौद्धिक विकास के लिए मानसिक ख़ुराक एकत्र कर सकें। इस सिलसिले में छात्रों को सही मार्गदर्शन मिलना चाहिए। उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा के पाठयक्रम में राष्ट्रीय रिवायतों और राष्ट्रीय सभ्यता को विशेष स्थान दिया और अपनी व्यक्तिगत कोशिश और मेहनत से जामिया के शैक्षिक संस्थानों के माहौल को प्रेम और सहायता के द्वारा ऐसा दिलकश और अच्छा बनाया कि शिक्षक और विद्यार्थी जामिया को अपना घर और अपने परिवार जैसा समझने लगे थे। डा. ज़ाकिर हुसैन को इस परिवार का मुखिया मानते थे। माध्यमिक और उच्च माध्यमिक शिक्षा के मदरसों (पाठशालाओं) में छात्रावास था। प्रात: से सायं तक एक दूसरे के साथ रहने और मिल जुलकर काम करने से विद्यार्थियों के हृदयों में प्रेम, स्नेह, आदर और भरोसा पैदा होता था। मदरसे के कामों में प्रात: का व्यायाम, सांय के सामूहिक खेलों और व्यक्तिगत खेलों और व्यक्तिगत अध्ययन को विशेष रूप से सम्मिलित किया गया था।

अवकाश के दिनों में आसपास के क्षेत्रों में जाकर समाज सेवा के काम किये जाते थे। और सांस्कृतिक कार्यक्रमों में छात्रों के अभिभावक और बस्ती के आम लोगों को सम्मिलित किया जाता था। इस प्रकार विद्यार्थियों को समाज की भौतिक दशा की जानकारी होती और शिक्षा को अमली लिबास पहनाने का अवसर मिलता था।

डा. ज़ाकिर हुसैन ने जामिया बिरादरी की शैक्षिक और सामाजिक जीवन को, बुद्धि के विकास और व्यक्तित्व के निर्माण के लिए लाभप्रद बनाया। वह व्यक्ति और व्यक्तित्व की

सही उन्नति के लिए विभिन्न प्रकार के काम कराते थे । स्वार्थ और व्यक्तिगत लाभ के मुक़ाबले सामूहिक भलाई और उन्नति को प्रोत्साहन दिया जाता था । विभिन्न प्रकार के प्रोजेक्टों और कार्यक्रमों के माध्यम से शिक्षा को बरतने और व्यक्तित्व पर उसके प्रभावित होने के अवसर प्रदान किये जाते थे । अत: छात्रावास के जीवन को विद्यार्थियों के लिए कठिनाई नहीं सकून देने वाला बनाया जाता था और यह जीवन छात्रों को अच्छा इंसान, अच्छा मुसलमान और सच्चा भारतीय बनाने में सहायक होता था ।

डा. ज़ाकिर हुसैन ने शिक्षक के रूप में शिक्षा और काम में प्रेम और स्वतन्त्रता की ओर विशेष ध्यान दिया और अपने साथियों को भी इस ओर ध्यान दिलाया । उनके यहाँ वह स्वतन्त्रता नहीं है जो रूसो के यहां थी । और वह प्रेम न था जो किसी नासमझ और असभ्य मां से मिलता है । उनका झुकाव उस स्वतन्त्रता की ओर था जो शिक्षक और विद्यार्थियों के बनाये हुये नियमों की पाबन्द होती है या जो उनके श्रद्धापात्रों और बुजुर्गों के बनाये नियमों के अनुसार काम करना सिखाती है । शिक्षा में शिक्षक की आवश्यकता और महत्व को मानते हुए उन्होंने सदैव यही कहा और करके दिखाया कि अच्छा समाजी इन्सान होना चाहिए और उस की जीवनी के प्रथम पृष्ठ पर शिक्षा का शब्द नहीं प्रेम का शीर्षक लिखा होना चाहिये । उसे बच्चे से प्रेम होता है । वह बच्चे की सेवा को अपने जीवन के लिए गर्व मानता है । और बच्चे की ओर से जब सारा संसार मायूस हो जाता है तो केवल दो व्यक्ति हैं जिनके अन्दर आशा की किरण रहती है-एक उसकी माँ और दूसरा अच्छा शिक्षक ।

ज़ाकिर साहिब की याद में

डॉ. एस. ज़हूर क़ासिम

मार्च 1949 में रविवार के दिन संभवत: मेरी पहली भेंट डा. ज़ाकिर हुसैन से हुई थी। उस समय वह मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़ में कुलपित थे और मैं बी.एस.सी. (अंतिम वर्ष) का विद्यार्थी था । मैं विक़ारुलमुल्क हाल में रह रहा था । हमें अचानक सूचना मिली कि कुलपति महोदय हमारे होस्टल में आए हुए हैं और हमारे कमरे से कुछेक कमरों की दूरी पर हैं । मेरे कमरे में दो विद्यार्थियों के रहने की जगह थी । मेरे साथ जो सज्जन रह रहे थे उन्हें कमरे में अपनी तस्वीरें लटकाने का बहुत शौक़ था जिनमें उन्होंने स्वयं ही रंगीन पेंसिलों के माध्यम से रंग भरा था । यह चित्र दीवारों पर यहाँ वहाँ लटके हुए थे । हमने जल्दी-जल्दी जहाँ तक हो सका कमरे की स्थिति ठीक ठाक कर ली । इस अव्यस्तता की स्थिति ही में दरवाज़े पर एक दस्तक सुनाई पड़ी और ज़ाकिर साहिब हमारे कमरे में आ गए । हल्के भूरे रंग की शेरवानी, खद्दर का पाजामा, शेरवानी के रंग की टोपी, पहने हुए थे । वह सौम्य और गंभीरता की मूर्ति नज़र आ रहे थे । उन्होंने स्वयं का परिचय हम से कराया ओर तुरंत कमरे पर एक उचटती दृष्टि दौड़ाई । फिर उन्होंने कमरे के हमारे साथी की ओर देखा और कहा: "लगता है कि आप को स्वयं से बहुत मुहब्बत है ।" उन साहिब ने इस वाक्य में छुपे हास्य को समझे बिना धीमे स्वर और लड़खड़ाई आवाज़ में कहा: "नहीं जनाब"। ज़ाकिर साहिब ने कहा: "स्वयं से प्यार करना अनुचित नहीं है, वास्तव में यह काफ़ी आनन्ददायक है । परंतु कमरे में अपने चित्रों को निरंतर लटकाए रखने से यह अधिक अच्छा होगा कि आप स्वंय आईने में जितनी बार चाहें अपने को देख लिया कीजिए ।" इसके तुरंत बाद ज़ाकिर साहिब हमारे कमरे से बाहर चले गए । कमरे के मेरे साथी ने अपने सभी चित्र हटा लिए और वह दोबारा मुझे कभी दिखाई नहीं पड़े ।

ज़ाकिर साहिब विद्यार्थियों से उनके कमरों में जाकर मिला करते थे और प्रत्येक कमरे में वह नाना प्रकार की बातें कहा करते थे । वह कमरों में अकेले ही जाते थे । संभवत: उनके सचिवों में से कोई एक साथ होता था जो बाहर ही खड़ा रहता था । एक बार उन्होंने अपने एक भाषण में इस घटना का उल्लेख किया । वह विक़ारुलमुल्क हाल के मेयर्स हास्टल में जाना चाहते थे । उस हाल के चार हास्टल लगभग एक जैसे ही हैं। उनका ड्राईवर ठीक से मेयर्स हास्टल का निर्धारण न कर सका और उसने कार रोक दी ।

ज़ाकिर साहिब ने एक दूसरे हास्टल के विद्यार्थी से पूछा: "मेयर्स हास्टल कौन सा है" विद्यार्थी ने कुलपति को न पहचानते हुए उत्तर दिया: "क्षमा कीजिए गा मैं तो बी.एड. का विद्यार्थी हूँ और मुझे इस बात का समय ही नहीं मिला कि मैं उस हास्टल के विषय में जान सकूँ।" विद्यार्थियों की खोज और ढूंढने की योग्यता पर प्रकाश डालते हुए ज़ाकिर साहिब ने कहा कि यहाँ एक ऐसा विद्यार्थी भी मौजूद है जिसे बराबर के हास्टल का नाम जानने तक की चिंता नहीं हुई।

अप्रैल सन् 1950 में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के जनरल स्पोर्टस के कपतान के रूप में मैं दिल्ली में हो रहे एक टूरनामेन्ट में भाग लेने के लिए एक टीम ले जा रहा था। टीम के कुछ दूसरे साथियों के साथ मैं कुलपति के आर्शीवाद और शुभकामनाएं लेने के लिए उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। उन्होंने अत्यधिक गर्मजोशी से हमसे हाथ मिलाया और विजय की शुभकामनाओं से हमें गौरवान्वित किया। इसके पश्चात उन्होंने कहा चूंकि आप देहली जा रहे हैं इसलिए क्या यह संभव है कि आप मेरा एक पत्र प्रोफ़ेसर मुहम्मद मुजीब को ले जाकर दे दें। इस प्रकार डाक के मुकाबले में यह पत्र शीघ्र पहुंच जाएगा। प्रोफ़ेसर मुहम्मद मुजीब उस समय जामिया मिल्लिया इस्लामिया के कुलपति थे।

दिल्ली टीम ले जाने के लिए हमें विश्वविद्यालय की एक पुरानी खटारा जीप मिली थी। रास्ते में यह जीप कई बार ख़राब हुई। सौभाग्यवश उसका ड्राईवर एक अच्छा मेकैनिक था जो उसे चलने के योग्य बना लेता था। परंतु हम सब को कभी कभी उसे पीछे से धक्का देना पड़ता था। इस प्रकार देहली पहुंचने में हमें छ: घंटे से अधिक का समय लग गया। टीम अभी थकान दूर कर ही रही थी और मैं अवसर का लाभ उठाकर उस जीप पर जामिया चल दिया ताकि वह पत्र प्रो. मुजीब को पहुंचा दूँ। मुझे भली भाँति याद है कि निज़ामुद्दीन कालोनी से, जो उस समय बहुत छोटी सी बस्ती थी, गुज़रने के बाद ओखला गाँव तक संभवत: ही कोई ऐसा क्षेत्र मिला हो जहाँ भवन खड़े हों। कच्ची सड़क के दोनों ओर सामान्य रूप से बबूल के वृक्ष खड़े थे। रास्ते में मुझे कई मोड़ दिखाई दिए। अंततोगत्वा मैं अपनी मंजिल तक पहुंच गया और प्रो. मुजीब की सेवा में वह पत्र प्रस्तुत कर दिया। प्रो. मुजीब की शक्ल अथवा रूप में मुझे एक अनुपम व्यक्तित्व देखने को मिला। अत्यंत विनीत और बेतकल्लुफ़। चाय पीने के पश्चात पहले हाल में स्थित अपने कार्यालय से वह मेरे साथ नीचे आए। और मुझे भवनों के नाम से अवगत कराने लगे। वह इन भवनों के विषय में इतने उत्साह से बता रहें थे जैसे यह उनका अत्यंत मनभावन ख़ज़ाना हों। किसी कुलपति का एक विद्यार्थी से ऐसे पेश आना मेरे लिए अत्याधिक आश्चर्यजनक तजरुबा था। मुझे विदा करते हुए उन्होंने कहा कि मैं ज़ाकिर साहिब को जाकर बता दूँ कि वह उनके पत्र का उत्तर डाक द्वारा भेज देंगे।

जामिया मिल्लिया इस्लामिया से यह मेरा पहला परिचय था। उस समय मेरे स्वप्न में भी यह बात नहीं आ सकती थी कि 39 वर्ष बाद इसी मास अप्रैल में कुलपति के रूप में

जामिया मिल्लिया इस्लामिया में क़दम रखूँगा ।

अलीगढ़ वापस होने पर कुलपति के निवास पर मैं ज़ाकिर साहिब से मिलने गया ताकि मैं अपने अनुभव और प्रो. मुजीब साहब से अपनी भेंट के विषय में उन्हें बता सकूँ । मैंने उन्हें बताया कि जामिया के कुलपति की विनम्रता और सादगी ने मुझे कितना प्रभावित किया है । इन दो शब्दों का ज़ाकिर साहिब पर आश्चर्यजनक असर हुआ । उन्होंने मुझे देखा और मुस्कराते हुए कहा:-

"याद रखो विनम्रता और सौम्य बड़प्पन के लक्षण हैं । यह गाँधी जी का कथन है । उन्होंने न केवल यह बात कही है अपितु विश्व के समक्ष करके दिखाया है और इस की सच्चाई को प्रमाणित कर दिया है । वरधा में एक छोटी सी झोंपड़ी में बैठे हुए और जीवन की मूल आवश्यकताओं को कम करके उन्होंने समूचे बरतानवी साम्राज्य की शक्ति को हिला कर रख दिया । महानता यह है । हमें महात्मा गाँधी की जीवन पद्धति से शिक्षा लेनी चाहिये । मैं और मुजीब उसी मार्ग पर चलने का प्रयास कर रहे हैं । यदि किसी दिन कुलपति बन जाओ तो मानसिक संतुलन न खो बैठना ।"

यह शब्द आज भी मेरे कानों में गूंज रहे हैं क्योंकि जो बात अनौपचारिक रूप में कही गई थी वह सही साबित हुई ।

मैं जामिया मिल्लिया का अप्रैल 89 से अगस्त 91 तक कुलपति रहा । मेरे ऊपर नैतिक और व्यवसायिक दोनों प्रकार का दायित्व लागू होता था कि मैं डा. ज़ाकिर हुसैन के उस रोल के विषय में कुछ न कुछ कहूँ जो उन्होंने जामिया की स्थापना और उसके निर्माण में निभाया था । इस संस्था की स्थापना 29 अक्तूबर 1920 को अलीगढ़ में हुई थी । जामिया को सरकार या उसकी सहायता से कुछ लेना देना नहीं था । इस संस्था का उद्देश्य था राष्ट्रीय उमंगों की पूर्ति करना । हकीम अजमल ख़ाँ (राष्ट्रीय स्वतंत्रता के प्रसिद्ध सेनानी) इस के कुलपति नियुक्त हुए जो इस पद पर 1927 में अपने निधन तक आसीन रहे । मौलाना मुहम्मद अली (एक अन्य स्वतंत्रता सेनानी) इसके पहले कुलपति बने । और जब मौलाना को अपनी राष्ट्रीय गतिविधियों के परिणाम स्वरूप जेल जाना पड़ा तो उनके स्थान पर ख़्वाजा अब्दुल मजीद नियुक्त हुए । सन् 1921, में डा. ज़ाकिर हुसैन जामिया के शिक्षा विभाग के सदस्य बने । और साथ ही उसकी प्रबंध समिति एवं शिक्षा समिति के सदस्य हुए । वह जामिया के मुद्रण अनुभाग के भी प्रमुख थे । सन् 1922 में वह उच्च शिक्षा के उद्देश्य से जर्मनी चले गए जहाँ प्रो. मुहम्मद मुजीब और डा. आबिद हुसैन से उनकी मित्रता हुई जो जीवन भर चलती रही । इस बीच में जामिया काफ़ी हद तक क्षीणावस्था को पहुँच गई थी । डा. ज़ाकिर हुसैन को इस बात का पता जर्मनी में चला और उन्होंने उसके कुलपति हकीम अजमल ख़ाँ को तार द्वारा सूचित किया कि "मैं और मेरे साथी जामिया के लिए अपना जीवन समर्पित करने के लिये तैय्यार हैं और जब तक हम लोग न लौटें जामिया को बन्द न होने दिया जाए ।"

इस संदेश ने जामिया बिरादरी को नया जीवन प्रदान किया । उन्होंने जामिया बंद न करने का प्रण किया और उसे अलीगढ़ से दिल्ली स्थानतंरित करने का निर्णय लिया जहाँ उसकी देखभाल यहाँ से अच्छी की जा सकती थी । सन् 1925 में हकीम अजमल ख़ाँ और डा. मुख़तार अहमद अंसारी यूरोप गए । जहाँ डा. ज़ाकिर हुसैन उन लोगों से मिले और जामिया की सेवा से सम्बंधित अपने साथियों के निर्णय का उन्हें विश्वास दिलाया । उस समय जामिया लगभग समाप्त होने के समीप थी ।

डा. ज़ाकिर हुसैन ने अर्थशास्त्र में जो शोधनिबंध प्रस्तुत किया था उसे एक बड़े वर्ग ने सराहा और बर्लिन विश्वविद्यालय ने इस पर उन्हें पी.एच.डी. की उपाधि प्रदान की । सन् 1926 में वह अपने सहयोगियों, मुहम्मद मुजीब और आबिद हुसैन के साथ हिन्दुस्तान वापस आए और अपने वचन को पूरा करते हुए जामिया की सेवा में लग गए। यह जामिया के लिये बड़ा संकट का समय था । असली समस्या संसाधनों का अभाव था । यह एक छोटी सी संस्था थी जो कुछेक पुराने भवनों में काम कर रही थी । ज़ाकिर साहिब ने कुलपति के रूप में, डा. आबिद हुसैन ने रजिस्ट्रार के रूप में और प्रो. मुहम्मद मुजीब ने प्रोफ़ेसर के रूप में इस चुनौतीपूर्ण कार्य के निष्पादन का बीड़ा उठाया । जामिया को इस प्रकार अपनी स्थापना के छटे वर्ष एक नया जीवन मिल गया और एक नए युग का आरंभ हुआ । कुछ वर्षों में ही जामिया को राष्ट्रीय नेताओं में लोकप्रियता प्राप्त होने लगी । फिर भी उसका आर्थिक संकट बना रहा । ज़ाकिर साहिब ने प्रण किया कि वह 150/- रु. प्रति मास से अधिक वेतन नहीं लेंगे । परंतु वास्तव में उन्हें 80/-रु. मासिक से अधिक कभी प्राप्त नहीं हुए । वेतन के भुगतान की दिलचस्प बात यह थी कि कम वेतन पाने वालों को भुगतान पहले किया जाता था और सब के बाद ज़ाकिर साहब को वेतन मिलता था । जामिया का संकट जब अधिक बढ़ा तो जामिया के कर्मचारियों को केवल आधा वेतन नक़द मिलने लगा और शेष आधा उनके खातों में जमा होने लगा । ज़ाकिर साहिब को केवल 40/रु. मासिक मिलने लगे । यह वह रक़म थी जो ज़ाकिर साहिब 1944 तक लेते रहे । सन् 1945 से 1948 तक उन्हें 80/रु. मासिक प्राप्त हुए । इसके बाद उन्होंने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति का दायित्व संभाल लिया ।

सन् 1935, तक जामिया क़रोल बाग में कार्यरत थी । यह वह बस्ती थी जहाँ हकीम अजमल ख़ाँ रहते थे और उनकी गतिविधियों का केन्द्र थी । उसी वर्ष ज़ाकिर साहिब ने ओखला गाँव में एक बहुत बड़ा भूखंड प्राप्त किया जहाँ आज जामिया स्थापित है । ओखला में नये भवनों के लिए फ़ंड एकत्र करने का सेहरा अधिकतर ज़ाकिर साहिब के सिर है । उन्होंने एक जामिया बिरादरी बनाई जो जामिया कार्यकर्ताओं और ओखला गाँव के निवासियों के बीच भाईचारा उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध हुई ।

ज़ाकिर साहिब ऐसे शिक्षाविद थे जिन्हें विद्या के विभिन्न पक्षों पर निपुणता प्राप्त थी । महात्मा गाँधी ने उनकी योग्यता को पहचाना और मूल शिक्षा की योजना को तैय्यार करने

के लिए 1937 में वरधा के स्थान पर जो कांफ्रेस उन्होंने आयोजित की उसमें भाग लेने के लिये इन्हें आमंत्रित किया । ज़ाकिर साहिब ने महात्मा की पुकार पर हाँ कहते हुए अपनी महान योग्यता को काम में लाते हुए चार प्रस्तावों का मसौदा तैय्यार किया जो आज तक भारत में प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा का विशिष्ट निशान माने जाते हैं ।

ज़ाकिर साहिब राजनीतिज्ञ नहीं थे । पर राजनीतिज्ञ उनका सम्मान करते थे क्योंकि उन्होंने अपना जीवन राष्ट्र के निर्माण के लिए समर्पित कर दिया था । 1947 में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थिति बहुत बिगड़ चुकी थी । ज़ाकिर साहिब की कार्यावधि के बीच यह संस्था प्रगति करने लगी और समस्त क्षेत्रों में उच्चस्तरीय केन्द्र के रूप में परवान चढ़ी । कुलपति की निर्धारित पाँच वर्षीय कार्यावधि पूर्ण करने के पश्चात उन्हें पुन: पांच वर्ष की अवधि के लिए कुलपति का पद भार सौंपा गया परंतु इस कार्यावधि के पूरा होने से बहुत पहले ही उन्होंने 1956 में अपने पद से त्याग दे दिया । 1952 में ज़ाकिर साहिब राज्य सभा के सदस्य के रूप में मनोनीत किए गए थे । जामिया मिल्लिया इस्लामिया और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालयों में उनके उत्कृष्ट कार्यों और अन्य विभिन्न संस्थानों में उनकी सेवाएं पं. जवाहर लाल नेहरु समेत राष्ट्रीय नेताओं को अपनी ओर आकर्षित कर चुकी थीं और बहुत से राष्ट्रीय महत्ता के पद उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे । 1957 में वह बिहार के राज्यपाल नियुक्त हुए । बिहार की जनता की भली भाँति सेवा करने के बाद वह 1962 में भारत के उपराष्ट्रपति के रूप में पदासीन हुए । उन्होंने राज्य सभा के चेयरमैन के रूप में उसकी कारवाईयों को पूर्ण सम्मान एवं मर्यादा के साथ चलाया। ज़ाकिर साहिब 1967 में राष्ट्रपति चुने गए । उनके चयन को पूरे देश में गर्मजोशी से सराहा गया । तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी ने ज़ाकिर साहिब के विषय में कहा था :

''जीवन भर की निष्काम सेवा का फल निर्वाचित राष्ट्रपति को पूरी क़ौम की मुहब्बत सम्मान और सदभाव के रूप में मिला है ।'' उनके कथनानुसार ''यह हिन्दुस्तानी धर्मनिरपेक्षता की विजय है ।''

13, मई 1967 को भारत के तीसरे राष्ट्रपति के रूप में उन्होंने शपथ ली थी ।

ज़ाकिर साहिब के लिये रूचिकर कार्य बाग़बानी था । वह जहाँ भी रहे उस स्थान को गुलज़ार बना दिया । उनका घर और उनके कार्यालय का भवन, अलीगढ़ में कुलपति का लान, पटना में राज्यभवन, नई दिल्ली में उपराष्ट्रपति का निवास स्थान और राष्ट्रपति भवन सभी लोगों को गुलाबों से उनके इश्क़ की कहानी सुनाते हैं । गुलाब उगाने वालों ने गुलाब के कई नए प्रकारों अथवा किस्मों का उनके नाम पर नाम रखा है ।

अपनी यादों के वितान को समेटते हुए मैं ज़ाकिर साहिब के विषय में इतना ही कह सकता हूँ कि यद्यपि वह हमारे देश के उच्च पदों पर आसीन रहे परंतु गाँधी जी के कथन पर सच्चाई से चलते हुए उन्होंने विनम्रता और सादगी का दामन कभी नहीं छोड़ा । उनकी

महानता का राज़ यही है ।

ज़ाकिर साहिब के व्यक्तित्व के कुछ गुणों को श्रीमती इंदिरा गाँधी ने उन्हें श्रद्धांजली अर्पित करते हुए बहुत अच्छे ढंग से रेखांकित किया था:

''उन्होंने अपने व्यक्तित्व में साँझी भारतीय संस्कृति की गहराई व मनोरम्य के समावेश द्वारा अपने कथन और कर्म से हमारे सार्वजनिक जीवन के स्तर को ऊँचा कर दिया था। जिस भी कार्य का उन्होंने बीड़ा उठाया, शिक्षाविद और सामाजिक कार्यकर्ता की स्थिति से उन्होंने जो भी रचनात्मक कार्य किए तथा राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय जिस पद को भी उन्होंने गौरव व प्रतिष्ठा प्रदान की वह सब आने वाली पीढ़ियों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध होंगे।''

ज़ाकिर हुसैन : एक सर्वगुण संपन्न महापुरुष

के. नटवर सिंह

यह बात है सन 1950 के अंतिम वर्षों की । एम.एफ. हुसैन ने देहली में अपनी आरंभिक प्रदर्शनियों में से एक प्रदर्शनी लगाई थी । उस ज़माने में पेनटिंग्ज़ लाखों में नहीं हज़ारों में बिका करती थीं । डा. ज़ाकिर हुसैन भी उस समय बिहार के राज्यपाल के रुप में देहली पधारे । बिना बताए चुपचाप वह इस प्रदर्शनी को देखने पधारे । इस से पूर्व कि एम.एफ़. हुसैन अपना परिचय कराएं ज़ाकिर साहिब ने हाथ मिलाने के लिए अपने कर कमलों को बढ़ाकर कहा: इस तुच्छ को भी हुसैन कहते हैं । यह घटना बिलकुल सच्ची है । और इसी प्रकार की अनेक घटनाएं इस महान पुरुष से सबंधित हैं जिन पर मोटी मोटी पुस्तकें लिखी जा सकती हैं ।

ज़ाकिर हुसैन के परिवार से मेरा सम्बंध सन 1956 से रहा है । ज़ाकिर साहिब उस समय अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति थे । इंडोनेशिया के उपराष्ट्रपति डा. एच. हात्ता जब भारत पधारे तो उन्हों ने अलीगढ़ जाकर कुलपति से मिलने की इच्छा व्यक्त की । मैं उन के साथ था । उस समय मेरी आयु मुश्किल से 26 वर्ष होगी । मैं ने ज़ाकिर साहिब से अपना परिचय कराया । उन्होंने इस अपनाइयत और प्यार का व्यवहार मेरे साथ किया कि मैं उसी दिन से उनका भक्त हो गया ।

सन 1962 में पंडित नेहरु ने उनका उपराष्ट्रपति के रुप में चयन किया । सन 1964 में मैं श्रीमती इन्दिरा गांधी के साथ न्युयार्क में था । उन्होंने मुझ से कहा कि गुलाबों से सम्बंधित कुछ पुस्तकें ज़ाकिर साहिब के लिए ले लीजए । मैंने पुस्तकें ख़रीद लीं । लगभग सन 1966 में मैं इन्दिरा गांधी के सचिवालय में सम्मिलित हो गया । फिर मेरी ज़ाकिर साहब से बहुधा भेंट हुआ करती थी । उस समय सुरक्षा व्यवस्था इतनी कड़ी नहीं हुआ करती थी । अत: प्रधान मंत्री के साथ मैं भी बैठा करता था । सन 1966 के अंत में उन्होंने यह निर्णय कर लिया था कि डा. राधा कृष्णनन को दूसरी टर्म नही देंगी । जब कि उन पर दबाव डाला गया कि वह अपना इरादा बदल दें । पर उन्होंने उन लोगों का समर्थन नहीं किया । ज़ाकिर साहिब वोटों की भारी संख्या से जीत गए । श्री के. सुब्भा राव, जिन्होंने मुख्य न्यायाधीश के पद से त्याग पत्र दे दिया था, ज़ाकिर साहिब के विरोधी थे । चुनाव के समय डा. ज़ाकिर हुसैन अमरीका में थे और चुनाव से तीन दिन पूर्व दिल्ली

पहुंचे थे । 9, मई सन 1967 को वह भारत गणतंत्र के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए । मैं श्रीमती इन्दिरा गांधी के साथ उनको बधाई देने उनके निवास स्थान 9, मौलाना आज़ाद रोड पर गया । मुझे याद है उन्होंने कहा था : चुनाव के समय डा. ज़ाकिर हुसैन अमरीका में थे और "यह तो बिलकुल ऐसा ही है जैसे क्रिकेट मैच में स्कोर बताए जाते हैं । इसी प्रकार प्रत्येक कुछ मिनट पर मुझे सूचना मिल रही थी कि कितने वोट/रन से मैं आगे बढ़ रहा हूँ ।"

13, मई को राष्ट्रपति पद की शपथ लेते हुए उन्होंने कहा था : "पूरा भारत मेरा घर है और इस में रहने वाले मेरे परिजन ।" मैं अपना भरपूर प्रयास करुँगा कि मेरा घर सुदृढ़, ख़ुशहाल और सुन्दर हो । एक ऐसा विचित्र और अनोखा घर जिस में समस्त महान हस्तियों को अपना कर हम अनथक प्रयास करेंगे कि यह घर ख़ुशहाल व शान्तिपूर्ण हो । हम अपने क़ौमी जीवन को शक्तिशाली बनाएंगे, बल से शिष्टाचार से, कार्य कौशल से और चिंतन-मनन अथवा विचारों की अनुपम छटा को एकत्रित करके-पूर्व से पश्चिम तक, सेगमडं फ्राइड से बुद्ध तक सभी का इसमें योगदान होगा ।

संयोग से गांधी और नेहरु के बीच एक साँझा मूल्य यह था कि दोनों ही ज़ाकिर साहिब को मान सम्मान देते थे । वह एक ऐसे हिन्दुस्तानी मुसलमान थे जिनको भारत की गंगा-जमुनी संस्कृति पर गर्व था ।

जब पटियाला की महारानी महेन्द्र कौर-- मेरी होने वाली सास-- अगस्त सन 1966 में ज़ाकिर साहिब के घर उनको अपनी बेटी के विवाह पर आमंत्रित करने गईं तो उन्होंने बहुत ही परिष्कृत और धुली हुई उर्दू में कहा था : "आपने दामाद (जमाई) तो अच्छा चुना है ।"

जिस समय राज्य सभा के चयेरमैन थे तो उनको श्री राज नारायण के उदंड और उधमी व्यवहार के साथ अच्छा ख़ासा संघर्ष करना पड़ता था । एक दिन उन्होंने श्रीमती इन्दिरा गांधी से कहा : "मेरी समझ में नहीं आता कि इनको कैसे वश में किया जाए । जब वह हाउस से बाहर होते हैं तो बहुत ही अच्छे ढंग से बात करते हैं जब हाउस में होते हैं तो हर दिन एक न एक तमाशा किया करते हैं ।"

राष्ट्रपति के रुप में उन्होंने भारत के सर्वोच्च पद को चार चांद लगा दिए । राष्ट्रपति भवन की वाटिका इतनी मशहूर नहीं थी पर ज़ाकिर साहिब के समय में, जो कि बहुत ही अल्पकालिक था, उस में मन भावन परिवर्तन आ चुका था ।

उनका निधन असामयिक नहीं था । उनके निजी चिकित्सक, जो मेरे घनिष्ट मित्र भी थे, स्वर्गीय डा. हरवंश लाल थे । यह वही थे जिन्होंने 3, मई सन 1969 में अंतिम बार उनको जीवित देखा था । उन्होंने तुरंत ही मुझे फ़ोन किया । श्रीमती इन्दिरा गांधी उस दिन जोधपुर में थीं । वह तुरंत दिल्ली आ गईं । श्री पी.ए. हकसर और मैं उनको लेने पालम हवाई अड्डे गए । वह अत्यंत दु:खी और उदास थीं । उनके निधन ने कांग्रेस का इतिहास ही बदल

डाला। मुझ से कहा गया कि एक ज़ाकिर हुसैन मेमोरियल कमेटी का गठन किया जाए और उनकी याद उपयुक्त ढंग से मनाई जाए। एक सप्ताह के भीतर भीतर यह समिति गठित हो गई जिस के सदस्य श्रीमती इन्दिरा गांधी, फ़ख़रुद्दीन अली अहमद और वी.पी. गिरी भी थे। अत: दिल्ली कालेज का नाम ज़ाकिर हुसैन कालेज और वेलेज़ली रोड को उन का नाम दे दिया गया। और यह निर्णय लिया गया कि जामिया में उनकी याद तथा स्मृति में मेमोरियल भवन और सग्रंहालय (म्युज़ियम) बनाए जाएं।

ज़ाकिर हुसैन नाम है ईश्वर की सुंदर और उत्कृष्ट कृति का। वह यदि इंसाने कमिल नहीं तो लगभग एक सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति अवश्य थे।

डा. ज़ाकिर हुसैन और बाल साहित्य

ग़ुलाम हैदर

डा. ज़ाकिर हुसैन के जीवन के अंतिम लगभग बाईस बरस—बिहार की गवर्नरी, भारत के राष्ट्रपति के पद पर देहांत तक-- के काल ने लोगों के मनों पर कुछ ऐसी गहरी छाप छोड़ी कि उन जैसे गहन और बहुमुखी व्यक्तित्व के बहुत से और अधिक उपयोगी पक्ष पृष्ठभूमि मात्र रह गए। उनमें जिस पक्ष पर सबसे कम ध्यान दिया गया वह बच्चों के उर्दू साहित्य में उनकी भूमिका है जो उन्होंने लगभग उसी समय से निबाहनी शुरू कर दी थी जब जामिया मिल्लिया इस्लामिया में वह एक महत्वपूर्ण सदस्य के रूप में सम्मिलित हुए थे।

वह एक शिक्षक थे और राष्ट्रपति निर्वाचित होने के पश्चात उन्होंने अपने पहले भाषण में कहा था कि "मैंने कोई सैंतालीस साल पहले यह फ़ैसला किया था कि अपना जीवन राष्ट्रीय शिक्षा के लिए समर्पित कर दूंगा।"[1]

अपनी नाना प्रकार की व्यस्तताओं, कालचक्रों में बच्चों के लिए वह स्वयं तो कम ही लिख पाए परंतु किसी भांति इस विचार से असावधान कभी नहीं रहे। उनकी पहली पुस्तक 'बाछो' 1927 में प्रकाशित हुई और अंतिम 1962 में। ज़ाकिर साहिब के वह लेख जो बच्चों के लिए लिखित माने जाते हैं, कुछ शैक्षणिक लेखों के अतिरिक्त ये हैं: 'अब्बू ख़ाँ की बकरी', 'उक़ाब', 'सईदा की अम्मां', 'जुलाहा और बनिया', 'छद्दू', 'अंधा घोड़ा', 'आख़िरी क़दम', 'सच्ची मुहब्बत', 'माँ', 'बेकारी', 'पूरी जो कढ़ाई से निकल भागी', 'मुर्ग़ी का निराला बच्चा', 'उसी से ठंडा उसी से गर्म', 'आओ घर-घर खेलें', (ये सब कहानियाँ उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'अब्बू ख़ाँ की बकरी और चौदह कहानियाँ' में संग्रहीत हैं), 'बाछो', 'पनचक्की वाला', 'आदमी की कहानी एक सितारे की ज़बानी', 'महंगे अंडे', 'दयानत' (नाटक) और 'खोटा सोना' (नाटक) यह सब रचनाएं किसी न किसी समय में 'प्यामे-तालीम' पत्रिका में या मक्तबा जामिया से पुस्तकीय रूप में प्रकाशित हुई थीं। ज़ाकिर साहिब ने अपनी पुस्तक 'अब्बू ख़ाँ की बकरी' के परिचय में पहले पन्ने पर ही यह स्वीकार किया है कि ये कहानियाँ उन्होंने अपनी बेटी रुक़ैया रेहाना के नाम से प्रकाशित करवाई थी और रुक़ैया रेहाना ने भी कहीं सुनी थीं या पढ़ी थीं। इस वक्तव्य से यह बात स्पष्ट है कि ये कहानियाँ 'रूपांतरित' हैं।

ज़ाकिर साहिब की एक पुस्तक अंग्रेज़ी में Fables and Stories के नाम से इंडियन पब्लिकेशंस, नई देहली ने प्रकाशित की थी । यह वास्तव में उनकी छह कहानियों का अनुवाद है जो 'अब्बू खाँ की बकरी' में संग्रहीत हैं । इसके अनुवादक राधे मोहन हैं । उनकी एक पुस्तक 'कछुआ और ख़रगोश' भी है जिसके विषय में अब्दुल्लाह वली बख़्श क़ादरी ने अपने एक लेख 'कछुआ और ख़रगोश-- एक शैक्षणिक विश्लेषण' के पहले ही वाक्य में इस भ्रान्ति का निराकरण बहुत रूचिकर ढंग से कर दिया है कि यह पुस्तक बच्चों के लिए लिखी गई थी । उनके शब्द हैं:

> "लिफ़ाफ़ा देखकर ख़त का मज़्मून भांपने वालों को इस कहानी ने अपने नाम और 'ज़ाहिर' से ख़ूब धोखा दिया है । उमूमन (साधारणतया) वह बच्चों की किताब समझी गई है ।"

मेरा विचार है कि यह पुस्तक केवल 'बड़ों' के लिए नहीं 'बहुत बड़ों' अर्थात बहुत पढ़े-लिखे लोगों के लिए लिखी गई है । ज़ाकिर साहिब के जीवनी लेखक ज़ियाउलहसन फ़ारुक़ी ने लिखा है:

> "ज़ाकिर साहिब की एक कहानी 'कछुआ और ख़रगोश' है... हमें उनके हाथ का लिखा इस कहानी का मसौदा और उसकी एक टाइप कॉपी मिली है... और उसमें इस कहानी का जो शीर्षक लिखा है वह इस तरह है: 'कछुआ' और ख़रगोश-- बच्चों की कहानी बड़ों के लिए...' उपशीर्षक का संकलन लेखक के क़लम से है ।"

ज़ाकिर साहिब की बच्चों के लिए लिखी हुई रचनाओं में कहानियों, नाटकों और लेखों के अतिरिक्त वह भाषण, वक्तव्य और संदेश भी शामिल किए जाने चाहिए जो उन्होंने जामिया की विभिन्न सभाओं, समारोहों या पत्रिकाओं के लिए तैयार किए थे । उन्हें ठीक ढंग से समझने वरन् अनुभव करने के लिए उस समय की राजनीतिक स्थिति और स्वतंत्रता संग्राम के विभिन्न परिवर्तनों को पृष्ठभूमि के रूप में दृष्टि में रखना आवश्यक है ।

1927-47 के दो दशकों में, जिस समय में ज़ाकिर साहिब ने बच्चों के लिए ज़्यादा लिखा, अंग्रेज़ी शासन का दबाव, स्वतंत्रता के संघर्ष की गरमागरमी,हकीम अजमल खाँ, मौलाना मुहम्मद अली जौहर और डा. मुख़्तार अहमद अंसारी के देहांत से जामिया के आर्थिक संकटों में उत्साहभेदी वृद्धि, नित्य जीवन और रहन-सहन की साधारण सुविधाओं की कमी, दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व की स्थिति और उसमें राजनीतिक घुटन तथा उसी में आज़ादी और शांति से नए-नए प्रयोगों के साथ शिक्षा को धीरे-धीरे आगे बढ़ाते रहने की लगन और उसमें आशाओं और शंकाओं का असीम सिलसिला, इन सारी परिस्थितियों के साथ एक अनथक रचनात्मक प्रतिभा में बुने जाने वाले सपने, यही सब ज़ाकिर साहिब की

रचनाओं की पृष्ठभूमि हैं और आज़ादी, शांति, खुले आकाश की जिज्ञासा और अभिलाषा, बंधनों को तोड़कर खुले आकाश में उड़ने की तड़प, इन सपनों को अभिव्यक्त करती हैं। इस पृष्ठभूमि को मन में और साफ़ करने के लिए सबसे पहले उनके कुछ भाषणों और संदेशों को संक्षेप में देखा जाए।

जलियांवाला बाग़ की त्रासदी की याद मनाने के लिए आयोजित एक सभा में 1930 में उन्होंने विद्यार्थियों से कहा:

> ''हम इस ऐतिहासिक घटना की याद को... इस तरह भी मना सकते हैं कि हम अपने दिलों में अंग्रेज़ी क़ौम की ओर से घृणा और बदले की भावनाओं का पोषण करें... मैं समझता हूँ कि यह उपाय हम सबके लिए बहुत हानिकारक है। घृणा की धरती में भलाई का पौधा कुम्हला जाता है और क्रोध और बदले की हवा सेवा के फूलों को मुरझा देती है। घृणा विनाश है, प्रेम रचना। इसलिए जामिया जो रचनात्मक कार्य को अपनी विशिष्ट विशेषता बनाना चाहती है, घृणा का पोषण नहीं कर सकती।
>
> मेरी अभिलाषा है कि इस राष्ट्रीय हफ़्ते की याद तुम इस प्रकार मनाओ कि अपने अंदर अपने राष्ट्र और अपने देश की सच्ची सेवा की भावना को... एक स्थिर स्वभाव के रूप में अपने जीवन-चरित्र में सुदृढ़ कर लो कि तुम्हारा अभ्यास स्वभाव बन जाए। जिस देश में हज़ारों... लाखों, नहीं करोड़ों मनुष्य महामारियों में मच्छर और मक्खी की तरह मर जाते हों... और जिस देश में करोड़ों मनुष्य बिना एक बार पेट भर खाना खाए चले जाते हैं... वहाँ सच्ची सेवा के अवसरों की क्या कमी है।''[1]

इसी तरह प्यामे-तालीम पत्रिका के 1934-35 के वार्षिक अंक के लिए बच्चों के नाम जो संदेश ज़ाकिर साहिब ने दिया था वह स्वयं उनके और इस संस्था के विचार का अति श्रेष्ठ चित्र है:

> ''प्यारे बच्चो ! जामिया तुम्हें यही सिखाना चाहती है, और विश्वास है कि तुम यह सब सीख जाओगे तो यहां के कष्ट याद करके भी मज़े लोगे और उनकी शिकायत तुम्हारी जुबान पर नहीं आएगी। तुम सच्चे होगे, अच्छे, स्वस्थ, साफ़-सुथरे, सत्यनिष्ठ, धुन के पक्के, बुरों के लिए लोहा, अच्छों के लिए मोम, निर्धनों का सहारा, दीन-दुखियों का आसरा, तुम जहाँ भी होगे अपने साथियों, पड़ोसियों और बस्ती के लिए कृपालु होगे... अगर तुम अच्छे होगे तो हमारी सब मेहनत ठिकाने लग जाएगी... शिक्षा तुम्हारे हाथ में होगी... आज हम अशक्त हैं, उस समय तुम शक्तिशाली होगे... हाँ उस समय यह बात न भूल जाना कि तुम्हारी सारी सफलता इसलिए है कि तुमने और तुम्हारे अगलों ने नि:स्वार्थ सेवा को अपना आचरण बनाया था, जो ठीक समझा वह मन लगा कर किया और परिणाम को

ख़ुदा पर छोड़ दिया।'"

1944 में जामिया के तालीमी मेले पर जामिया का झंडा लहराने के बाद जो भाषण उन्होंने दिया, उसके कुछ वाक्य थे:

> "यह झंडा, जिसके लहराने का सम्मान आज मुझे मिला है, इसी जामिया का झंडा है। कपड़े का एक कम क़ीमत टुकड़ा, परंतु... यह कपड़े का टुकड़ा उन कल्पनाओं, उन विचारों, उन उद्देश्यों, उन उत्साहों के कारण अमूल्य है जिनकी यह व्याख्या करता है... इस वास्तविकता का कि जीवन हल्के-फुलके मीठे-मीठे शब्दों से नहीं बनता है। जीवन लाभ-हानि का बहीखाता नहीं वरन् कुछ संकल्पों के लिए जान खपाने का अवसर है। वह धुरा जिस पर जीवन घूमता है, दुख-सुख का धुरा नहीं वरन् प्रगति और अधोगति, उत्थान और पतन का धुरा है। यह झंडा बातों के मुक़ाबले में काम का, गंदगी के मुक़ाबले में सफ़ाई का, कुरुपता की जगह सौंदर्य का... शरीर के स्वास्थ्य का भी और आत्मा की पवित्रता का भी... और अगर हम-तुम अपने संकल्पों से, अपने कर्म से, अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा से इन सब का ध्वज बना सकें तो कपड़े का यह तुच्छ-सा टुकड़ा संसार की सब दौलतों से अधिक मूल्यवान् हो जाएगा और इस देश में हमारे लिए प्रतिष्ठित जीवन का ध्वज बन जाएगा।"

बिखरे-बिखरे से इन वाक्यों और इन जैसे अनेक वक्तव्यों की रोशनी में अगर हम स्वयं ज़ाकिर साहिब और उनकी प्रेरणा से जामिया और मक्तबा जामिया से तैयार होने वाले साहित्य को देखें तो हमें इसके समझने में काफ़ी आसानी होगी।

डा. उस्लूब अहमद अंसारी ने ज़ाकिर साहिब की पुस्तक 'अब्बू खाँ की बकरी और चौदह कहानियाँ' पर समीक्षा करते हुए इन रचनाओं में नैतिक और मानवीय गुणों को बच्चे के सामने उजागर करने के अतिरिक्त तीन और तत्वों का पता दिया है। "'रोमांच और विस्मय' जिसका परिवेश बच्चों की तात्त्विक भावनाओं को अपील करता है, दूसरे 'पशुओं और पक्षियों से प्रेम' और तीसरे 'प्रकृति के दृश्य' की ओर वह आकर्षण जो हम सब अनुभव करते हैं।" मैं उनके इस विचार से भी सहमत हूँ कि "इन कहानियों में कहानीपन तो ऐसा ज़्यादा नहीं है लेकिन *सरसता* हर जगह मिलती है।" मेरे विचार में तीन-चार कहानियों ('जुलाहा और बनिया', 'माँ', 'मुरग़ी अजमेर चली', और 'उसी से ठंडा उसी से गर्म') में निश्चय ही कहानी का तत्व भी कुछ अधिक अच्छा है। इस 'कहानीपन' में कमी का एक कारण यह भी हो सकता है कि ज़ाकिर साहिब की अधिकतर रचनाएं अधिक बड़े बच्चों के मानसिक स्तर को सामने रखकर लिखी गई हैं। भाषा, कुछ जगहों को छोड़कर, सरल और सीधी-सादी है और वैसे भी यह उनकी शैली थी।

बंधनों से छुटकारा, आज़ादी प्राप्त कर लेने की यह अभिलाषा और तड़प जो उनकी

बच्चों की रचनाओं का, मेरी राय में, सबसे महत्वपूर्ण तत्व है, इसे कुछ उदाहरणों द्वारा ही बताया जा सकता है। अब्बू ख़ाँ की बकरियां जिन्हें 'पालतू बकरी' के रूप में सारी सुविधाएं वरन् सुख-चैन प्राप्त थे, परंतु 'पहाड़ी बकरी' होने के कारण "न अब्बू ख़ाँ का प्यार, न शाम के दाने का लालच उन बकरियों को भागने से रोकता था, न भेड़िये का डर।" और यह "मुसीबत और ख़तरे होने पर भी आज़ाद रहने को सुख-चैन को क़ैद से अच्छा जानती थीं।" इस प्रकार उनकी चाँदनी ने भी एक दिन आज़ादी का सपना देखा: "वह पहाड़ की चोटियाँ कैसी सुन्दर हैं। वहाँ की हवा का क्या मुक़ाबला, फिर वहाँ उछलना-कूदना और ठोकरें खाना और यहाँ हर वक़्त बंधे रहना।" अंत में चाँदनी अब्बू ख़ाँ से विद्रोह करके भाग गई और अपनी निर्बलता और यह विश्वास होने पर भी कि "बकरियाँ भेड़िये को नहीं मार सकतीं" वह सारी रात भेड़िये से लड़ती रही और एक पल के लिए भी उसे अपने खूंटे पर वापस जाने का ध्यान न आया। अंत में सुबह को भेड़िये ने चाँदनी को मार डाला, इस कहानी के अंतिम दो वाक्यों में 'जीवन' की इस महान कल्पना की ओर संकेत स्पष्ट रूप से उभर आता है कि:

> "है कभी जां और कभी तस्लीमेजां है ज़िंदगी"

वे वाक्य हैं:

> "ऊपर पेड़ पर चिड़ियां बैठी देख रही थीं। इनमें इस पर विवाद हो रहा है कि जीत किसकी हुई। सब कहती हैं कि भेड़िया जीता। एक बूढ़ी-सी चिड़िया है वह अड़ी हुई है कि चाँदनी जीती।"[1]

कहानी 'उक़ाब' (गरुड़) में तो यह संदेश और भी स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार व्यक्त होता है:

> "तूफ़ान, जिससे दुनिया वाले डरते-कांपते हैं, हमारे दरवाज़े पर कैसे-कैसे गीत गाता है... घाटी वाले आज़ादी का मज़ा क्या जानें... वहाँ तो ग़ुलाम बसते हैं ग़ुलाम।"[2]

और फिर जब गरुड़ बंद हो गया और मन्नो, बिल्ली के बच्चे ने, जिसे गरुड़ ने अपने घोंसले में ही पाला था, गरुड़ को मनुष्यों की बस्ती में रुककर छोटे-मोटे शिकार पर जीवन बिता देने का लालच दिया तो गरुड़ ने भूखों मर जाना स्वीकार किया पर अपना खुला आकाश और आज़ाद जीवन छोड़ देने का विचार एक पल के लिए भी उस के मन में न आया। अंततः उसने:

> "पंख फैलाकर देखे; एक बार, दो बार, तीन बार... एक बार चीख़ मारी, इतनी ज़ोर से कि मन्नो रसोई में सहम-सी गई। एक झटका दिया ऐसा कि ज़ंजीर अलग टूटकर गिरी। पैर से ख़ून की कुछ बूंदें ज़मीन पर गिरीं और यह बड़े शाहाना

अंदाज़ से उड़ा, यह जा वह जा।"

और कहानी के अंतिम वाक्य हैं:

"ख़ुदा का शुक्र है, फिर आ पहुंचा अपने वतन में... तू अकेला ही रहने को बना है, बस अकेला ही रह। तेरे साथी अगर हैं तो यह चट्टानें, यही चाँद, यही सूरज, जो अपना-अपना काम करते हैं और किसी और के काम में हस्तक्षेप नहीं करते।"[1]

और इनमें भी अंतिम वाक्य 'जो अपना-अपना... हस्तक्षेप नहीं करते' अनुभवों के कितने गहरे दुख का रूपक है।

'पूरी जो कढ़ाई से निकल भागी' छोटे बच्चों के लिए बहुत रोचक क़हानी है। किसान की पत्नी की लापरवाही से एक पूरी जो तेल में पड़ी-पड़ी जलने लगी थी, इस दुर्व्यवहार और अनादर पर "और चिढ़ गई और झट कढ़ाई में से कूदकर भाग गई।" और अंत में एक कुतिया को, जो उसे हड़पना चाहती थी, बताया:

"मैं कढ़ाई से निकलकर, बुद्धू की मां से बचकर, छह-छह मुस्टंडों (किसानों) को थकाकर, मियां छुटदुमे ख़रगोश और मुटदुमी लोमड़ी को उल्लू बनाकर आई हूँ।"[1]

इस कहानी में भी जब एक पूरी का अहं घायल होता है तो वह विद्रोह करती है और स्वयं को बचाने की भी अंत तक कोशिश करती है।

एक और कल्पना जो उनकी कहानियों में जगह-जगह मिलती है वह है धरती से दूर उड़ना, चाँद, सितारों और आकाश की सैर करना, समुद्र की गहराइयों में उतर जाना इत्यादि, जो स्वतंत्रता और स्वाधीनता का दूसरा पहलू है। मेरा विचार है कि ज़ाकिर साहिब के पास अगर समय होता और वह बच्चों के साहित्य की तैयारी को ही पूरा समय दे पाते तो उनकी इन कल्पनाओं से कुछ अच्छी कल्पनापूर्ण कहानियाँ बच्चों के साहित्य को मिल जातीं, जिसकी एक झलक 'छद्दो' में मिलती है।

असाधारण विचारधारा एक पराक्रमी और उसके साथ कुछ दीवाने उस समय की सरकार से टक्कर लेते हुए, स्वयं अपनी जाति की निंदा सुनते हुए, बहुत कष्ट और दुख झेलते हुए शिक्षा के 'आध्यात्मिक कार्य' में व्यस्त हैं और उसमें उसी जाति के विभिन्न सम्प्रदाय उनके इस शुभ मिशन में हर-हर पल रुकावटें डाल रहे हों तो क्या दुखे दिल की अभिलाषा इन शब्दों में व्यक्त न होगी ?

"बहुत दिनों की बात है जब हमारे देश में अच्छे लोग बसते थे और छल-कपट बहुत कम था, हिन्दू-मुसलमान सब एक-दूसरे का ख़्याल करते थे और कोई किसी पर अत्याचार न कर सकता था... उन दिनों में एक नगर था आदिलाबाद।

> फिर जब फ़िरंगियों ने यहाँ क़दम जमाए और सर्वाधिकारी बन बैठे तो हम पर दायित्व न रहा। रंग-रंग के दोष पैदा हो गए।"[1]

परंतु डा. ज़ाकिर हुसैन जैसी रचनात्मक बुद्धि अपने पाठक, विशेषत: भोले बच्चे को इतने अंधेरे में छोड़ देना कैसे पसंद कर सकता था, इस कारण उसने फिर अपने सपनों के सहारे बच्चे को आने वाली दुनिया का आशापूर्ण चित्र इन शब्दों में दिखाया:

> "अब फ़िरंगी का राज गया, सरकार की बाग अपने हाथ में आई, तो अब सैकड़ों आदिलाबाद बसेंगे, फूलें-फलेंगे। इस समय तो उस पुराने नगर का हाल तुम्हें कुछ सुनाएं।"[1]

एक कहानी के मीडियम से एक बच्चा या अधिकाधिक किशोर और संवेदनशील बुद्धि वाले पाठक को ग़ुलामी से छुटकारे और आज़ादी की लगन पैदा करने का शायद यह कल्पना प्रधान शैली ही सबसे प्रभावी ढंग हो सकता है। ज़ाकिर साहिब की रचनाएं अतहर परवेज़ के मतानुसार: "...अपने युग के श्रेष्ठ विचारों को श्रेष्ठ शब्दों में श्रेष्ठ *क्रम* के साथ सुरक्षित कर लेती हैं।[2] और उनके विचार में यही साहित्य का गुण है।

वैसे तो ज़ाकिर साहिब की सारी कहानियाँ अपने युग के समाज का चित्रण करती थीं परंतु कुछ कहानियाँ अपने प्रभाव के विषय में बहुत तीखी या सशक्त कही जा सकती हैं। इस समूह में सबसे गहरा प्रभाव छोड़ने वाली और मेरे विचार में भावपूर्ण कहानी 'माँ' है जो अपने समय की निराशाओं का भी अच्छा चित्र है।

एक विधवा माँ का लड़का हमीद, अपने क़स्बे से मिडिल पास करके अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ने के शौक़ में, माँ से पन्द्रह रुपये लेकर शहर आ जाता है। माँ बच्चे का दिल रखने के लिए अपनी बुरी आर्थिक स्थिति की चर्चा भी नहीं करती। शहर में उसे प्रयास और परिश्रम से कुछ शिक्षा भी मिली और माँ ने रीति के अनुसार अपने आख़िरी सहारों को बेच कर हमीद की शादी भी कर दी। फिर उसके बाद "दिल्ली का ख़र्च, बाल-बच्चों का साथ, ग़रीब हमीद के पास बचता-बचाता कुछ न था। इसलिए माँ के पत्र पर पत्र आते थे, स्वयं भी उसका जी बहुत चाहता था मगर घर जाने की नौबत न आती।" एक दिन एक बहुत वृद्धा धोबिन की मृत्यु से अपनी माँ की ऐसी याद आई कि वह माँ के पास पहुंच ही गया। यहाँ मकान बिक चुका था, लगभग अंधी माँ किसी और ग़रीब पड़ोसन की कोठरी में दिन पूरे कर रही थी। अब उससे उठा-बैठा भी न जाता था, मगर हमीद के आने की ख़बर सुनकर न जाने कहाँ की शक्ति आ गई कि झट चारपाई से कूदकर दरवाज़े को दौड़ी... कई मिनट तक यह हाल रहा, न माँ ने कुछ कहा न बेटे ने।" अंधी माँ और पड़ोसन ने बहुत अच्छे खाने का प्रबंध किया, माँ ने बरसों बाद घर आए अजनबी-से बेटे के लिए जब अपने बस भर शानदार बिस्तर लगाया तो हमीद से न रहा गया:

> "मगर अम्मां, यह चादर, यह ग़िलाफ़, यह जूतियाँ... इसके लिए रुपया कहाँ से

आया ?''

माँ की अंधी आँखों से पानी की दो-चार बूंदें टपकीं और उसने ऐसी आवाज़ में, जिसमें न जाने निंदा का अधिक भाव था या ममता का, कहा: ''बेटा तू और यह पूछता है ! एक-एक दिन तेरी ही प्रतीक्षा में कटा है । सात बरस में यह तैयारी कर पाई हूँ बेटा, सात बरस में ।'"

इसी तरह एक छोटी-सी कहानी, जिसे एक काल्पनिक पात्र का शब्दचित्र भी कहा जा सकता है, 'आख़िरी क़दम' है । यह ज़ाकिर साहिब के अपने अति संवेदनशील स्वभाव और कोमल अनुभूतियों का भाषांतरण है । 'आख़िरी क़दम' में तो जगह-जगह स्वयं उनके अपने चरित्र की झलकियां भी दिखाई देती हैं ।

लेकिन जैसा पहले कहा गया, ज़ाकिर साहिब की, बच्चों के लिए अपनी रचनाओं से अधिक महत्वपूर्ण और इस सिलसिले में उनकी योजना की ज़्यादा मज़बूत कड़ी वह प्रयास हैं जो उन्होंने बच्चों के साहित्य के विकास, नवीकरण और व्यवस्थापन के सिलसिले में एक अगुआ के रूप में किए । सालिहा आबिद हुसैन के अनुसार:

''उनकी अभिलाषा थी कि जैसी पुस्तकें बच्चों के लिए पश्चिमी देशों में छपती हैं वैसी ही हमारे यहाँ भी छपें... कभी-कभी बड़े दुख से यह बात कहा करते:-

> 'वह दिन कब आएगा जब ऐसी पुस्तकें हमारे बच्चों के लिए भी छपा करेंगी ।' जब बच्चों की कोई अच्छी पुस्तक देखते तो बहुत ख़ुश होते । बहुत दिन हुए, किताबी दुनिया (लिमिटेड) ने बच्चों की कई बढ़िया पुस्तकें छपवाई थीं तो ज़ाकिर साहिब कितने ख़ुश हुए थे ।'"

जामिया के बच्चों के लिए जब नाटक की कमी महसूस हुई तो सबसे पहले ज़ाकिर साहिब ने ही 'दयानत' नाटक लिखा जिसके विषय में एक अनुसंधान कर्ता का विचार है कि यह बच्चों के उर्दू साहित्य में पहला नाटक लिखा गया था । ज़ाकिर साहिब का एक और नाटक 'खोटा सोना' है । ज़ाकिर साहिब के बाद डा. आबिद हुसैन, प्रो. मुहम्मद मुजीब, अब्दुलग़फ़्फ़ार मुधोली और दूसरे अध्यापकों ने बहुत से नाटक लिखे और स्टेज करवाए ।

जामिया मिल्लिया इस्लामिया की स्थापना के साथ ही, अर्थात् अलीगढ़ के आरंभिक कुछ बरसों में जामिया ने लेखन, संकलन और प्रकाशन का काम शुरू कर दिया था । ज़ाकिर साहिब 1926 में जर्मनी से वापस आए और अपने साथ अपने दो साथियों, डा. आबिद हुसैन और प्रो. मुहम्मद मुजीब को भी लाए । लगभग उसी समय से 'पयामे-तालीम' पत्रिका निकलनी शुरू हुई जिसका संपादन आबिद साहिब को सौंपा गया परंतु प्रेरक ज़ाकिर साहिब ही थे । अब्दुल्लाह वली बख़्श क़ादरी के अनुसार, ''जानकारों का कहना है कि वह (ज़ाकिर साहिब) बड़ों के लिए लिखने में संकोच करते थे परंतु

'पयामे-तालीम' के लिए लिखने पर बड़ी जल्दी तैयार हो जाते थे"।[1] इस प्रकार इस पत्रिका की विशेषता यह थी कि इसके लिए न केवल ज़ाकिर साहिब, आबिद साहिब, मुजीब साहिब और जामिया के दूसरे अध्यापक हर हाल में कुछ न कुछ ज़रुर लिखते रहे वरन् इस पत्रिका के लिखने पर स्वयं ज़ाकिर साहिब और उनके साथियों ने बहुत से और पढ़े-लिखे लोगों को प्रेरित किया। भारत विभाजन से पहले जो बड़े नाम इस पत्रिका में लिखने वालों के दिखाई देते हैं उन्हें देखकर कुछ विस्मय होता है। 1926 से 1947 के लिखनेवालों में हमें ज़ाकिर साहिब, आबिद साहिब, मुजीब साहिब के अतिरिक्त अब्दुल्लाह यूसुफ़ अली, डा. मुख़्तार अहमद अंसारी, शफ़ीकुर्रहमान क़िदवाई, डा. सुधेन्द्र बोस, ख़्वाजा गुलामुस्सैयदैन, मौलाना शौकत अली, मौलाना मुहम्मद अली जौहर, महमूद हुसैन ख़ाँ, गाँधी जी (अनुवाद), जवाहर लाल नेहरू (अनुवाद), कर्नल बशीर हुसैन ज़ैदी, रशीद अहमद सिद्दीक़ी इत्यादि के नाम बार-बार दिखाई देते हैं।

इस पत्रिका के एडिटर साहिबान बच्चों की लिखी हुई कहानियों, लेखों, कविताओं की काट-छांट के साथ बच्चों को परामर्श भी देते थे और संशोधन भी करते थे और इतना प्रोत्साहन देते थे कि इसके बहुत से पढ़ने वाले धीरे-धीरे अनुभवी साहित्यकार बन गए। कम से कम मैं स्वयं व्यक्तिगत रूप से स्वीकार करता हूँ कि बच्चों के लिए लिखने का मेरा संपूर्ण प्रशिक्षण 'प्यामे-तालीम' के एडिटर हसीन हस्सान साहिब का आभारी है।

मक्तबा जामिया से बच्चों के लिए जो बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित हुईं उनके लिखने वालों ने नाम मात्र या केवल फ़ैशन के तौर पर 'बच्चों के लिए' नहीं लिखा वरन् वास्तव में पूरी ज़िम्मेदारी और गंभीरता से सप्रयास और योजनाबद्ध रूप से एक साहित्यिक कर्तव्य समझकर लिखा। और यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि लिखने वालों की इस मानसिक प्रशिक्षण के सिलसिले में ज़ाकिर साहिब का मार्गदर्शन सबसे महत्वपूर्ण प्रेरक होता था। जामिया के स्कूल बच्चों के लिए लिखी गई सामग्री के लिए एक प्रयोगशाला थे जहाँ अध्यापक बच्चों का अवलोकन करते थे, उनके लिए नई-नई पुस्तकें लिखते थे, अध्यापकों और उनसे अधिक अपने शिष्यों से अपनी रचना पर बातचीत करके अपने संशोधन के लिए सुझाव प्राप्त करते थे, जो भारत में बच्चों के साहित्य के लिए एक अनहोना विचार है। इस प्रकार मक्तबा जामिया की छापी हुई पुस्तकें विषय, अंतर्वस्तु सामग्री, मूल विवरण, मतलब यह कि हर प्रकार से, अपने समय की बहुत अच्छी पुस्तकें कही जा सकती हैं। इन पुस्तकों के कुछ नामों-- 'ताक दिनादिन ताके से', 'पान खाकर तबला बजाकर', 'एक कचौरी तेल में', 'पकड़ दुमकटे को', 'मुरग़ी अजमेर चली', 'मद्दो राना परदेस चले' इत्यादि-से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि बच्चों की रूचि का कितना ध्यान रखा जाता था। फिर कहानी की मूल कल्पना, आयु के अनुसार कहानी की लम्बाई, शब्दों का प्रयोग, संगीतमयता, मतलब यह कि पुस्तक की नोक-पलक संवारने का पूरा-पूरा ध्यान रखकर बाल साहित्य को एक अद्वितीय और महत्वपूर्ण विद्या

का रूप देने का काम ज़ाकिर साहिब की प्रेरणा से और उनके निरीक्षण में हुआ। मुद्रण में आयु के अनुसार लिखावट की मोटाई, आर्टवर्क और अपने बस भर सुन्दर आवरण से पुस्तक की सज्जा का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता था।

ज़ाकिर साहिब और उनके कुछ निस्स्वार्थ और सेवानिष्ठ साथियों के प्रभाव से इस पुनर्जागरण के बावजूद, यद्यपि इस विषय पर अभी अनुसंधान होना है, खेद है कि ज़ाकिर साहिब का वह सपना कि हिन्दुस्तानी विशेषत: उर्दू पढ़ने वाले बच्चों के हाथों में भी पश्चिमी देशों जैसी सुन्दर पुस्तकें आने लगें, उनके अपने जीवन में पूरा न हो सका और अब भी स्थिति वही है।

एक प्रयास उनके इस ग्रुप ने, जिसमें डा. आबिद हुसैन, कर्नल बशीर हुसैन ज़ैदी, क़ैसर हुसैन ज़ैदी इत्यादि थे, 1945-46 में देहली में किताबी दुनिया (लिमिटेड) स्थापित करके किया था। मगर बच्चों के लिए कुछ बहुत सुन्दर पुस्तकें छापकर दुर्भाग्य से यह संस्था भारत विभाजन के उपद्रव की भेंट चढ़ गई। फिर 1984 में एक और प्रयास कर्नल बशीर हुसैन ज़ैदी के निर्देशन में मैंने 'बच्चों का अदबी ट्रस्ट' स्थापित करके किया था परंतु यह संस्था भी ज़ाकिर साहिब की कामना के अनुसार केवल कुछ सुन्दर पुस्तकों का ही प्रकाशन कर सकी और बंद हो गई।

निश्चय ही अगर पूरी गंभीरता से बच्चों के उर्दू साहित्य के इतिहास का विश्लेषण और अनुशीलन किया जाए तो उसमें ज़ाकिर साहिब की सबसे महत्वपूर्ण देन यह है कि उन्होंने बच्चों के उर्दू साहित्य को दूसरे दर्जे से उठाकर एक मौलिक और अति प्रतिष्ठित रूप देने का प्रयास किया और उसके बाद से बाल साहित्य को भी एक अलग और प्रमुख विद्या समझा जाने लगा।

[1] ज़ियाउलहसन फ़ारूक़ी ''शहीदे-जुस्तजू'' पृ. 526, मक्तबा जामिया, देहली। 1998

[1] अब्दुलग़फ़्फ़ार मधोली: 'जामिया की कहानी' पृ. 127-29, मक्तबा जामिया, देहली। 1965

[1] अब्दुलग़फ़्फ़ार मधोली: 'जामिया की कहानी' पृ. 187-189, मक्तबा जामिया, देहली। 1965

[1] यथो. पृ. 360-61

[1] अस्लूब अहमद अंसारी: 'अब्बू खाँ की बकरी और चौदह कहानियाँ', उर्दू अदब-ज़ाकिर नंबर (अंजुमन तरक़्क़ी-ए-उर्दू (हिंद) अलीगढ़ पृ. 68

[1] डा. ज़ाकिर हुसैन 'अब्बू खाँ की बकरी और चौदह कहानियाँ', पृ. 20, मक्तबा जामिया, देहली। 1989

[2] यथो. पृ. 29

[1] यथो. पृ. 33

[1] यथो. पृ. 104

[1] डा. ज़ाकिर हुसैन: 'अंधा घोड़ा', 'अब्बू खाँ की बकरी और चौदह कहानियाँ' पृ. 56-57, मक्तबा जामिया, देहली। 1989

[1] यथो. पृ. 56-57

[2] अतहर परवेज़: 'अदब किसे कहते हैं', तरक़्क़ी उर्दू ब्योरो, पृ. 14

[1] डा. ज़ाकिर हुसैन: 'माँ', 'अब्बू खाँ की बकरी और चौदह कहानियाँ', पृ. 88-89, मक्तबा जामिया, देहली। 1989

[1] सालेहा आबिद हुसैन: 'चार बुज़ुर्ग दोस्त', पृ. 31, मक्तबा जामिया, देहली, 1987

[2] डा. ख़ुशहाल ज़ैदी: 'उर्दू में बच्चों का अदब', पृ. 412, 1989

[1] अब्दुल्ला वली बख़्श क़ादिरी: 'बच्चों के ज़ाकिर साहिब', पृ. 30, मक्तबा जामिया, देहली, 1988

डा. ज़ाकिर हुसैन

डा. सुशीला नायर

डा. ज़ाकिर हुसैन भारत के महान सपूतों में से थे । यह अफ़रीदी अफ़ग़ान परिवार में जन्मे थे । अफ़रीदी एक अच्छे सिपाही माने जाते थे । परन्तु ज़ाकिर साहब के पिता इस पेशे को छोड़कर वकालत करने लगे । उन्होंने अपने पैत्रिक निवास को छोड़कर, जो एटा के समीप एक गाँव में था, हैदराबाद में एक वकील की हैसियत से वहीं रहने लगे थे । वहाँ तुरंत ही उनकी वकालत चमक गई । ज़ाकिर साहब ने 8, फ़रवरी 1897 को हैदराबाद में जन्म लिया ।

ज़ाकिर साहब की शिक्षा का शुभारंभ वहीं हैदराबाद में हुआ और एक अंग्रेज़ शिक्षक ने पढ़ाना आरंभ किया । पर अभी वह केवल 9 वर्ष ही के थे कि उनके पिता का स्वर्गवास हो गया और ज़ाकिर साहब का पूरा परिवार अपने पैत्रिक गाँव वापस आ गया । सन् 1908 में उन्हें शिक्षा प्राप्ति के उद्देश्य से इटावा भेज दिया गया जहाँ वह स्कूल के बोर्डिंग हाऊस में रहे । अभी इनकी आयु 14 वर्ष ही की थी कि इनकी माता जी का भी स्वर्गवास हो गया । इन्हें अपनी माँ से अधिक प्यार था । उनके निधन से ज़ाकिर साहब को बहुत आघात पहुंचा । उनकी माता जी के व्यक्तित्व के चिन्ह ज़ाकिर साहब के मन-मस्तिष्क पर बचपन से ही बहुत गहरे थे । वह एक अत्यंत धार्मिक, ईमानदार, धर्मभीरू और भगवान से डरने वाले युवक के रूप में परवान चढ़े । माता जी के निधन के पश्चात वह एक सूफ़ी हसन शाह के प्रभावक्षेत्र में आ गए थे । उन्होंने एक बच्चे के मन-मस्तिष्क पर धार्मिक सौहार्द की नींव डाली थी । उनके कारणों से ज़ाकिर साहब में समस्त धर्मों के प्रति आदर भाव उत्पन्न हुआ । धीरे धीरे वह अपने इटावा वास के दौरान राजनीति में रूचि लेने लगे थे । और पानियर नामक समाचार पत्र लेने प्रत्येक सवेरे रेलवे स्टेशन जाया करते थे और फिर वहाँ से तुरन्त स्कूल जाते ताकि वहाँ अपने मित्रों से दिन भर के इन समाचारों पर अपने विचारों का आदान प्रदान कर सकें । उन्होंने सन् 1913 में दसवीं की परीक्षा पास की और फिर एंगलो मोहम्मडन ओरियंटल कालेज, अलीगढ़ में प्रवेश लिया । वह बहुत ही प्रतिभावान और हंसमुख थे । इसी कारण वह दूसरे विद्यार्थियों के बीच लोकप्रिय हो गए और मानीटर बना दिए गए । वह न केवल एक अच्छे विद्यार्थी थे अपितु एक बहुत अच्छे वक्ता भी थे । इन्होंने भाषण प्रतियोग्यताओं में अनेक पुरस्कार प्राप्त किए । कुछ दिनों

पश्चात विद्यार्थी यूनियन के उपाध्यक्ष चुने गए। कालेज में इनकी मित्रता रशीद अहमद सिद्दीक़ी और मौलाना इक़बाल अहमद सुहैल से हुई। यह मित्रता जीवन पर्यन्त रही। इन तीनों ने कई प्रोजेक्ट (योजनाएं) एक साथ मिलकर पूर्ण किए। इन योजनाओं के निष्पादन में अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। आर्थिक संकट का हंसते हुए उन्हों ने सामना किया।

बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात ज़ाकिर साहब ने एम.ए. (अर्थशास्त्र) में प्रवेश लिया और साथ ही वकालत की कक्षाओं में भी सम्मिलित होने लगे। विश्वविद्यालय की शिक्षा के दौरान ज़ाकिर साहब मौलाना आज़ाद और मौलाना मुहम्मद अली के लेखों से अधिक प्रभावित हुए। मौलाना अबुलकलाम आज़ाद के धार्मिक लेखों का ज़ाकिर साहब के विचारों पर बहुत प्रभाव पड़ा।

मौलिक रूप से ज़ाकिर साहब एक शिक्षाविद थे। वह जन्म से गुरू थे तथा व्यवहारिक उदाहरणों के माध्यम से पढ़ाते थे। उन्होंने आत्मसंयम का एक उदाहरण प्रस्तुत किया था। वह स्वयं कर्मठ थे और दूसरों से भी कमर्ठता की आशा रखते थे। उनके जीवन की एक रोचक घटना जिसे उदाहरणार्थ प्रस्तुत करने का उद्देश्य केवल यह है कि इससे उनके स्वभाव, उनकी बातों और उनके विचारों को समझने में आसानी होगी। वह लोग जो उनकी बात समझने को तैय्यार नहीं होते थे उनको बस में करने का गुर वह भली भाँति जानते थे। उनके घर में एक नौकर था जो प्रतिदिन सवेरे देर से उठता था। घर वाले चाहते थे कि इस नौकर को निकाल दिया जाए। ज़ाकिर साहब ने कहा कि वह इस नौकर को सुधारेंगे। सभी को विश्वास था कि यह संभव नहीं क्योंकि वह लड़का समझाने बुझाने की सीमाओं को पार कर चुका था। परन्तु ज़ाकिर साहब ने आस नहीं छोड़ी और उन्होंने यह चमत्कार कर दिखाया।

ज़ाकिर साहब सवेरे ही नौकर के बिस्तर के पास गर्म पानी लेकर खड़े हो गए और कहा ''श्रीमान आपके लिए गर्म पानी लाया हूँ। मुँह हाथ धो लीजिए, अभी नाश्ता लाता हूँ।'' नौकर घबरा गया, और बहुत लज्जित हुआ। इसके पश्चात उसे दोबारा उठाने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

12, अक्तूबर 1920, को गांधी जी ने मुहम्मडन एंगलो ओरियंटल कालेज के विद्यार्थियों को सम्बोधित किया और उन्हें इस बात पर तैय्यार किया कि वह बरतानिया की सहायता से चलने वाली सभी शैक्षणिक संस्थाओं को छोड़ दें। उन्होंने एक राष्ट्रीय शैक्षणिक संस्थान के शुभारंभ की भी घोषणा की। गाँधी जी के इस नारे पर 'हाँ' कहने वालों में ज़ाकिर साहब प्रमुख थे। उस समय उनकी आयु केवल 23 वर्ष की थी। प्रिंसिपल डा. ज़्याउद्दीन ने अथक प्रयास किए कि ज़ाकिर हुसैन कालेज को न छोड़ें। इसके लिए उन्हें प्रलोभन भी दिया कि एक वर्ष के भीतर ही उन्हें डिप्टी कलक्टर के पद पर आसीन करा देंगे। परन्तु ज़ाकिर साहब को कोई प्रलोभन व लालच न रोक सका।

उनके मन में बरतानिया के प्रति विरोध और बग़ावत की भावना भरी हुई थी। उन्होंने असहयोग का मार्ग अपनाया और अपने कुछेक मित्रों के साथ 29, अक्तूबर 1920, को एक शैक्षणिक संस्था की आधारशिला रखी जो बाद में जामिया मिल्लिया इसलामिया के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस घटना ने उनके जीवन की धारा ही बदल दी। उन्हों ने संकल्प किया कि वह अपना समस्त जीवन शिक्षा के प्रचार प्रसार व विकास में लगा देंगें। दो वर्ष तक जामिया मिल्लिया में पढ़ाने के पश्चात उन्हों ने निश्चय किया कि वह उच्च शिक्षा के लिए विदेश जाएंगे।

उनके पास बरतानिया का पासपोर्ट था, परन्तु किसी ऐसे युवा को जिसने 1920 में असहयोग आंदोलन में भाग लिया हो, जैसा कि ज़ाकिर साहब ने भाग लिया था, बरतानिया के किसी कालेज में प्रवेश नहीं मिल सकता था। ज़ाकिर साहब ने इंग्लैंड के लिए प्रस्थान किया, पर जब उनका जहाज़ इटली की बंदरगाह पर पहुंचा तो वहाँ उतर गए और फिर इटली से आस्ट्रिया और जर्मनी चले गए। उन्हों ने जर्मन भाषा सीखी और अर्थशास्त्र में पी.एच.डी. के लिए बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। सन् 1926 में इन्होंने पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की।

जर्मनी में ज़ाकिर साहब की भेंट मुजीब साहब और डा. आबिद हुसैन से हुई। इन दोनों महानुभावों ने बाद में जामिया मिल्लिया में ज़ाकिर साहब के संग कार्य किया। इन तीन महान व्यक्तियों ने यह संकल्प लिया कि यह लोग जामिया की उन्नति के लिए अपने जीवन को समर्पित कर देंगें।

जर्मनी में ज़ाकिर साहब ने गाँधी जी के जीवन और उनकी शिक्षाओं पर अनेक लेख लिखे तथा जर्मन भाषा में एक पुस्तक जिसका शीर्षक था - ''गाँधीजी का पैग़ाम-'' के प्रकाशन और मुद्रण में सहयोग प्रदान किया, जो बहुत पसंद की गई और अधिक विस्तृत क्षेत्रों में इस पुस्तक का अभिनन्दन किया गया।

उसी ज़माने में ज़ाकिर साहब ने सुना कि वह राजनीतिक नेता जिन्हों ने जामिया मिल्लिया का श्रीगणेश किया था आर्थिक संकट के कारण उसे बंद करना चाहते हैं। ज़ाकिर साहब ने एक तार भेजा कि वह और उनके कई एक मित्रों ने दृढ़ निश्चय किया है कि यह सभी जामिया के उत्थान के लिए अपने जीवन को समर्पित कर देंगे। इसको बंद करने के विषय में तब तक न सोचा जाए जब तक कि हम लोग वापस न आ जाएं।

सन् 1929 में ज़ाकिर साहब भारत वापस आए और जामिया मिल्लिया में शैख़ुल जामिया के रूप में कार्य करने लगे। उस समय उनकी आयु 29 वर्ष थी। यह उनके लिए एक बड़ा सम्मान था। उस समय जामिया के कर्मचारियों को कठिन परिश्रम करना पड़ता था तथा आर्थिक संकट से जूझना पड़ रहा था क्यों कि जामिया मिल्लिया के पास आय के साधन बस नाम मात्र ही थे। ज़ाकिर साहब, मुजीब साहब, और आबिद हुसैन साहब ने स्वेच्छा से तीन सौ रुपये मासिक वेतन को घटाकर 100/रु. प्रति मास कर लिया ताकि

आर्थिक संकट से उभरा जा सके। यह लोग यदि बाहर कोई कार्य करते तो इस से अधिक कमा सकते थे। पर उन लोगों ने यह निश्चय कर लिया था कि जामिया के लिए अपने जीवन को निछावर कर देंगे। सन् 1948, में जब ज़ाकिर साहब ने जामिया को छोड़ा तो उस समय 95/रु. प्रति मास उनका वेतन था और अपना सारा समय वह जामिया के लिए चन्दा एकत्र करने में लगा रहे थे। उन्होंने जामिया मिल्लिया की 22 वर्ष तक सेवा की और उसकी देखभाल अपनी सन्तान के समान करते रहे। यह संस्था केवल इस लिए बच सकी कि ज़ाकिर साहब ने इसके लिए चन्दे एकत्र किए और यहाँ के काम करने वालों ने स्वेच्छा से कम मासिक वेतनों पर कार्य किया। ज़ाकिर साहब ने इस कार्य में पहल की। जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि उन्हों ने अपना वेतन कम कर दिया था और 100/रु. मा. से भी कम वेतन लेते थे जबकि वह शैख़ुलजामिया थे।

ज़ाकिर साहब सफ़ाई-सुथराई और स्वच्छता के क़ायल थे। एक दिन एक बच्चा गंदी टोपी पहन कर स्कूल आया। वह उसे घर ले गए। उसकी टोपी धोई, सुखाई फिर उस पर स्त्री (प्रेस) की और उसको पहना दी। इसके पश्चात उसने फिर कभी गंदी टोपी नहीं पहनी। वह सभी विद्यार्थियों से कहा करते थे कि अपने जूतों पर पालिश किया करें। कुछ बच्चे उनकी बात पर ध्यान नहीं देते थे। एक दिन वह गेट के पास बैठ गए और हर उस बच्चे के जूते पर पालिश की जो बिना पालिश किए जूता पहन कर आया था। यह शिक्षा बच्चों के दिल में घर कर गई तथा उनके हृदय पटल पर यह चिन्ह सदा के लिए अंकित हो गया। उन्होंने विद्यार्थियों से अपने बच्चों के समान प्यार किया।

ज़ाकिर साहब की यह विशेषता थी कि किसी भी कार्य को स्वयं के लिए छोटा नहीं समझते थे। एक बार माध्यमिक स्कूल के एक शिक्षक ने प्राथमिक विद्यालय की कक्षाओं के लेने से इन्कार कर दिया। लेकिन ज़ाकिर साहब ने जो शैख़ुलजामिया थे स्वयं जाकर कक्षा में पढ़ाया। वास्तव में वह प्राथमिक कक्षाओं में बच्चों को पढ़ाने में विशेष रुचि रखते थे क्योंकि वह जानते थे कि प्राथमिक स्कूलों के बच्चों की आयु ऐसी होती है कि जब उन्हें सही दिशा में मोड़ा जा सकता है।

समूचे देश की शिक्षा मर्मज्ञता की दृष्टि जामिआ मिल्लिया में ज़ाकिर साहब के कार्यों की ओर केन्द्रित हो गई। सन् 1937 में कांग्रेस की सरकारें विभिन्न क्षेत्रों में स्थापित हुईं। तथा शिक्षा को श्रेष्ठ बनाने के प्रयास आरंभ हुए। गांधी जी ने आर्यनायकम जी, आशा देवी और श्रीमन नारायण के सहयोग से सेवा ग्राम में एक सम्मेलन बुलाया। यह तीनों गांधी जी के साथ कार्यरत थे। इस सम्मेलन में गांधी जी ने अपनी मूलभूत मौलिक शिक्षा का उद्देश्य सबके समक्ष रखा। उन्हों ने कहा कि शिक्षा वास्तव में माँ की कोख से आरंभ होती है और मृत्यु के साथ समाप्त होती है। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन पर्यन्त एक विद्यार्थी रहना चाहिए और यह भी कहा कि मन मस्तिष्क का विकास हाथों के विकास के साथ-साथ होना चाहिए एवं शिक्षा को चर्खे पर आधारित होना चाहिए। कर्म द्वारा शिक्षा प्राप्त

करना यह एक जीवन तक का क्रम है तथा व्यक्तित्व के संपूर्ण विकास का आधार भी। सम्मेलन ने एक बुनियादी शैक्षणिक बोर्ड का गठन किया जिसके चेयरमैन डा. ज़ाकिर हुसैन नियुक्त किए गए। श्रीमती आशा देवी, श्री आर्यनायकम जी को महासचिव बनाया गया। गांधी जी उनके मार्गदर्शक थे। यह लोग अपनी समस्त समस्याएं उनके समक्ष रखते थे। गांधी जी उनके साथ मिल बैठकर समस्या समाधान की राह खोजते। गांधी जी उन लोगों से कहते थे कि एक निर्धन और ग़रीब मुल्क में बच्चों द्वारा किया हुआ कार्य न केवल शिक्षा प्राप्ति का माध्यम होना चाहिए अपितु इससे शिक्षकों के वेतन का ख़र्चा भी निकलना चाहिए। समूचे देश में इस विचारधारा का घोर विरोध हुआ। शिक्षाविदों का कहना था कि यह बच्चों से मज़दूरी कराना होगी और उनके परिश्रम का शोषण होगा। गांधी जी इस बात को नहीं मानते थे। उन्होंने कहा कि उत्पादकता उद्देश्य नहीं है अपितु मौलिक शिक्षा का यह तर्कसंगत परिणाम है। ज़ाकिर साहब ने अपने विशाल ज्ञान और शिक्षा के मौलिक अनुभवों के आधार पर मौलिक शिक्षा के कट्टर विरोधियों को चुप्पी धारण करा दी।

सन् 1947 में भारत की स्वतंत्रता और बटवारे के बाद अलीगढ़ विश्वविद्यालय के बहुत से शिक्षक पाकिस्तान चले गए जिसके कारण यह संकट उत्पन्न हो गया कि विश्वविद्यालय को बंद करना पड़ेगा। प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू और शिक्षा मंत्री मौलाना अबुलकलाम आज़ाद ने ज़ाकिर साहब पर दबाव डाला कि वह अलीगढ़ चले जाएँ और विश्वविद्यालय को बचा लें। वह जामिआ मिल्लिया को छोड़ना नहीं चाहते थे। पर अलीगढ़ की इतनी गंभीर परिस्थितियों का सामना करने के बाद तथा प्रधानमंत्री एवं शिक्षा मंत्री की चिन्ताओं को दूर करने के लिए वह तैय्यार हो गए। ज़ाकिर साहब 1948 में फिर अलीगढ़ पहुंचे किन्तु इस बार वह कुलपति बनकर पहुंचे।

सदा की भांति ज़ाकिर साहब तन मन से अपने कार्य में जुट गए और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के स्तर को ऊँचा किया। उन्हों ने अलीगढ़ में विभिन्न विषयों के विद्वानों को खोजा और उन्हें शिक्षक नियुक्त किया। उच्च स्तर की प्रयोगशालाएं तथा उच्च कोटि के पुस्तकालय की भी स्थापना की। ज़ाकिर साहब के अन्थक प्रयासों के फलस्वरूप ही विश्वविद्यालय ही नहीं अपितु भारत की उच्चकोटि के विश्वविद्यालयों में अलीगढ़ विश्वविद्यालय की गिनती होने लगी।

एक श्रेष्ठ विद्वान और उन बुद्धिजीवियों के प्रतिनिधि की हैसियत में जिन्हों ने साहित्य, साईंस, फ़ाईन आर्ट, या सोशल साईंस के क्षेत्रों में बढ़ चढ़ कर भाग लिया था, ज़ाकिर साहब प्रमुख थे। सन् 1952 में 55 वर्ष की आयु में उन्हें राज्य सभा का सदस्य मनोनीत किया गया।

ज़ाकिर साहब ने कुलपति के रूप में आठ वर्षों तक अलीगढ़ विश्वविद्यालय की सेवा की और शान्तिपूर्ण जीवन बिताने के उद्देश्य से अपने पद से त्याग पत्र दे दिया। जवाहर

लाल नेहरू ने 1957 में उनकी विशिष्टता तथा उनके गुणों को ध्यान में रखते हुए उन्हें बिहार का राज्यपाल नियुक्त किया। ज़ाकिर साहब ने राजनीति में कभी भी अपनी इच्छा से प्रवेश न किया जब तक कि उन पर दबाव न पड़ा।

ज़ाकिर साहब को राजनीति में विशेष रुचि नहीं थी फिर भी यह राज्यपाल बनाए गए। और नेहरू के आग्रह पर इसे उन्हों ने स्वीकार किया। राज्यपाल के रूप में उन्हों ने बहुत अच्छे कार्य किए जिसके कारण यह बिहार में लोकप्रिय हो गए। वह एक शिक्षित व्यक्ति थे। विभिन्न संस्थाओं के अध्यक्ष रहे और विभिन्न प्रकार के दायित्व को स्वीकार किया परन्तु गन्दी राजनीति में कभी नहीं पड़े। गांधी जी के ज़माने में राजनीति साफ़ सुथरी थी। दुर्भाग्य से गांधी जी के निधन के बाद इसमें गिरावट आने लगी। नेहरू ने अपनी शक्ति भर इसको रोका पर इनके भी निधन के बाद परिस्थितयाँ और तेज़ी से पतन की ओर जाने लगीं।

1962 में राधा कृष्णन भारत के राष्ट्रपति नियुक्त हुए। और उपराष्ट्रपति का पद रिक्त हुआ। इस स्थान के लिए सबकी निगाहें ज़ाकिर हुसैन पर पड़ीं। उपराष्ट्रपति राज्य सभा की अध्यक्षता करता है। डा. राधा कृष्णन को राज्य सभा के सदस्यों का प्यार व सम्मान प्राप्त था और उनके ज़माने में राज्य सभा के इजलासों में होहल्ला नहीं होता था। उस ज़माने में सभा के नियम पूर्ण रूप से बरते जाते थे। तर्क-वितर्क का स्तर ऊँचा हुआ करता था। ज़ाकिर हुसैन ने भी इस परम्परा को बनाए रखा।

सन् 1963 में देश का सबसे बड़ा सम्मान भारत रत्न डा. ज़ाकिर हुसैन को दिया गया। सन् 1967 में राधा कृष्णन राष्ट्रपति पद से निविर्त हुए। सबने एकमत होकर यह निर्णय लिया कि इस पद को डा. ज़ाकिर हुसैन ही सुशोभित कर सकेंगे। कांग्रेस ने डा. ज़ाकिर हुसैन के नाम का प्रस्ताव किया, विपक्ष ने श्री के. सुब्बाराव को अपना उम्मीदवार बनाया। चुनाव हुए। मैंने देखा उन दिनों ज़ाकिर हुसैन थोड़े चिंतित दिखाई दिए थे। डा. ज़ाकिर हुसैन मेरे बड़े भाई श्री प्यारे लाल पर बहुत मेहरबान थे जो गांधी जी के सचिव और उनके निधन के पश्चात उनके जीवनी लेखक थे . . . हम जब चाहते थे उनसे मिल सकते थे। मैं उनके लिए आनन्दमई माँ की दी हुई जाप माला लाई जो मेरे विचार में बहुत पावन थी। वह एक पक्के मुसलमान होने के बाद भी सभी धर्मों का समान रूप से आदर करते थे। उन्हों ने इसी सम्मान व आदर के साथ उस माला को अपने तकिए के नीचे रख लिया। वह काफ़ी संख्या से जीते और भारत के राष्ट्रपति बने।

13, मई सन् 1967 को ज़ाकिर साहब ने भारत के राष्ट्रपति का पद संभाला। उनका कहना था कि सारा हिन्दुस्तान मेरा घर है और हिन्दुस्तान के लोगों ने एक निश्चित अवधि के लिए मुझे इस परिवार का बुज़ुर्ग चुना है। यह मेरा सौभाग्य होगा कि मैं इस देश को अपनी जनता के लिए दृढ़ और सुन्दर बनाऊँ। उन्हों ने यह कार्य साम्प्रदायिक तनाव, हिंसा और विनाश की भर्त्सना के साथ आरंभ किया। उन्हों ने धार्मिक सामंजस्य, राष्ट्रीय एकता

और रचनात्मक कार्यक्रमों को आगे बढ़ाया जिस पर उन्हें पूर्ण व दृढ़ विश्वास था। जब भी डाक्टरों ने अस्वस्थता के कारण आराम करने को कहा उनका जवाब होता था यदि मैं कार्य नहीं करूंगा तो इस पद पर भी नहीं रहूँगां।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो ऊंचे पदों के कारण स्वयं भी ऊंचे हो जाते हैं। पर कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके दम से पदों की गरिमा बढ़ जाती है। ज़ाकिर साहब उन्हीं लोगों में से थे जिन्होंने पद को प्रतिष्ठा प्रदान की।

ज़ाकिर हुसैन ने सादा जीवन अपनाया, पर अमीर लोगों के प्रति उनके मन में कभी घृणा नहीं उत्पन्न हुई। वह अपने रहन-सहन में एक कलाकार, एक आरटिस्ट थे चाहे वह स्कूल के एक शिक्षक हों या फिर भारत के राष्ट्रपति। वह अपने पहनावे में भी नियम व सिद्धांत को मानते थे। सदैव सफ़ेद खद्दर की शेरवानी पहना किये। अच्छे कपड़ों के वह शौक़ीन थे, उन्हें फूलों से प्यार और पशुओं से मुहब्बत थी। जब वह एक स्कूल टीचर के रूप में एक छोटे से घर में रहा करते थे या फिर वह राष्ट्रपति बन कर राष्ट्रपति भवन में निवास करने लगे, दोनों स्थानों पर उनकी रुचि में अन्तर नहीं आया। उन्हें सुन्दर व बढ़िया गुलाब उगाने तथा अनोखे व विचित्र पत्थरों के जमा करने का शौक़ था। उनके पास राष्ट्रपति भवन में सुंदर पत्थरों का एक संग्रहालय सा था।

उनका व्यवहार अमीर ग़रीब सबके साथ एक समान था। उनके यहाँ बहुत ही कोमल और अवर्णनीय हंसने हसांने का स्वभाव पाया जाता है। वह एक सच्चे धार्मिक, सच्चे दीनदार मुसलमान और एक सच्चे इन्सान थे। दूसरे धर्मों का वह उसी प्रकार आदर व सम्मान करते थे जो धर्म के प्रति होना चाहिए। एक़ बार देहली में रामलीला में राम के माथे पर तिलक लगाने पर लोगों ने आपत्ति जताई। उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा कि वह किसी एक वर्ग के राष्ट्रपति नहीं हैं अपितु समूचे भारत और उसमें रहने वाले सभी जनों के राष्ट्रपति हैं।

एक बार जब गुरू गोविन्द सिंह जी के बारे में भाषण दे रहे थे उन्हें शर्मिन्दगी हुई और उन्हें यह एहसास हुआ कि उनकी आँखें भीग गई हैं और यही स्थिति कुछ श्रोतागणों की भी है। वह ऐसे गहरी भावना के साथ बोल रहे थे जिसने सुनने वालों को महान गुरू की महिमा और प्यार की अथाह गहराइयों से परिचित कराया। वह एक सच्चे दिल के इन्सान थे। सभी धर्म, सभी धर्मों के पैगम्बरों, उनके अवतारों के लिए उनके मन में श्रद्धा, सम्मान और इज़्ज़त थी।

इनकी समस्त विशेषताओं, समस्त गुणों में सबसे प्रबल एक गुण है जो इन में था वह था हंसने हसाने का। इसी के कारण बहुत से तनावपूर्ण क्षणों को, जो उन्हें अपने दायित्व के फलस्वरूप मिला करते थे, दूर करने में मदद मिलती थी। इनकी यह हास्य-व्यंग की प्रवृत्ति अच्छी लगा करती थी। किसी के मन को आघात पहुंचाना उद्देश्य न होता था। इस से किसी को चोट नहीं पहुंचती थी। एक दिन उनके मित्र की भतीजी उनसे मिलने आई।

उन्हों ने उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया जैसा कि वह दूसरों के संग किया करते थे। उन्हों ने सोचा संभवत: ज़ाकिर साहब ने उन्हें पहचाना नहीं और यह सोचकर कहा: "शायद आप मुझे पहचाने नहीं"। ज़ाकिर साहब ने तुरन्त उत्तर दिया: "मैं तो आपको पहचान गया मगर शायद आप मुझे नहीं पहचानीं"। ज़ाकिर साहब की पत्नी शाहजहाँ बेगम को बकरियाँ बहुत पसंद थीं। यदि उनकी कोई प्रिय बकरी मर जाती थी तो वह उस दिन खाना नहीं खाती थीं। ज़ाकिर साहब को भी बकरियाँ पसन्द थीं। एक दिन एक मित्र उनके घर आए। उन्हों ने देखा कि ज़ाकिर साहब एक खाट पर बैठे हैं और सामने वाली खाट पर एक बकरी बैठी है। ज़ाकिर साहब ने अपने मित्र से कहा हमारे घर के सभी लोग बाहर गए हुए हैं, यह बकरी मेरा साथ दे रही है।

ज़ाकिर साहब ने अपनी सामाजिक स्थिति का लाभ उठाकर, कभी किसी व्यक्ति की अनुचित ढंग से सहायता करने हेतु प्रशासन पर दबाव नहीं डाला। एक बार ज़ाकिर साहब के एक पुराने विद्यार्थी अपने पुत्र को लाए और कहा कि यह तीन वर्षों से दसवीं में फेल हो रहा है इस बार कृपा करके इसको पास करवा दीजिए। ज़ाकिर साहब ने जवाब दिया कि "तुम मुझे इतनी छोटी सी बात के लिए क्यों कह रहे हो। बी.ए. का प्रवेशपरिपत्र ले आओ मैं प्रवेश दिला दूँगा।" इस प्रकार उन्होंने अपने मित्र को उनकी अनुचित बात का बोध कराया।

ज़ाकिर साहब के व्यक्तित्व की एक विशेषता यह भी थी कि उन्हें अच्छे और स्वादिष्ट खाने बहुत प्रिय थे। परन्तु अस्वस्थता के कारण चिकनाईयुक्त खानों से उन्हें परहेज़ करना होता था। एक दिन अलीगढ़ जाते हुए उन्हों ने अपने ड्राईवर से कहा कि बच्चों के लिए तन्दूरी मुर्ग ले आए। और जब तन्दूरी मुर्ग आ गया तो कार में पीछे रख दिया गया। थोड़ी देर पश्चात चालक को ऐसा लगा कि कुछ खाया जा रहा है। चालक ने ज़ाकिर साहब से पूछा तो कहने लगे "मैं चख कर यह देख रहा था कि यह बच्चों के लिए अच्छा है या नहीं।"

दंगों के दौरान ज़ाकिर साहब दंगाईयों के बीच घिर गए। एक सेनाधिकारी ने बड़ी मुश्किल और कठिनाई से उन्हें बचाया। इस सूचना के मिलते ही नेहरू उन्हें देखने जामिया मिल्लिया आए। उन्होंने देखा कि ज़ाकिर साहब एक तांगे में चले आ रहे हैं। नेहरू ने उन्हें रोका और अपनी चिन्ता व्यक्त की क्योंकि दंगाईयों ने पुस्तकालय में आग लगा दी थी। ज़ाकिर साहब ने मुख पर मुस्कान बिखेरते हुए कहा "हमें दो लाख का लाभ हुआ, पांच लाख की पुस्तकों में से हमने दो लाख की पुस्तकें बचा लीं।"

गांधी जी ज़ाकिर साहब को बहुत पसन्द करते थे। वह दंगे की घटना को सुन कर ज़ाकिर साहब को देखने जामिया मिल्लिया आए। उन्हों ने देखा ज़ाकिर साहब शान्त व निश्चिन्त थे। ख़ुदा पर, मानव प्रकृति की अच्छाई पर, उनके विश्वास ने उनके मन की शान्ति को बनाए रखा। उन्हों ने चाहे एक गुरू के रूप में या कुलपति के रूप में अथवा

राज्य सभा के सत्र की अध्यक्षता करते हुए या फिर राष्ट्रपति के रूप में कार्यरत रहते उन सभी क्षणों में वह सबके लिए होंठों पर मुस्कान लिए एक ही अन्दाज़ में शान्त व गंभीर रहे जो किसी को भी उत्तेजित कर सकते थे ।

3, मई 1969 को अपने व्यस्त कार्यक्रम के बीच उन्हें दिल का दौरा पड़ा और उनका निधन हो गया । ज़ाकिर साहब का परिवार और समूचा भारत अनाथ हो गया । आसुओं की बाढ़ में डूब गया ।

ज़ाकिर साहब जैसे लोग रोज़ रोज़ जन्म नहीं लेते, पर जब जन्म लेते हैं तो अपने पीछे एक ख़ुशबू छोड़ जाते हैं जिस से वातावरण एक लम्बे समय तक सुगंधित रहता है । डा. ज़ाकिर हुसैन का ऐसा ही व्यक्तित्व था जिस पर भारत माता को गर्व है । आइए हम सब मिलकर उनकी यादों को श्रद्धांजली अर्पित करें ।

डा. ज़ाकिर हुसैन की शैक्षणिक अवधारणाएं

प्रो. बी. शैख़ अली

डा. ज़ाकिर हुसैन इतिहास में 20 वीं शताब्दी के एक महान शिक्षा दार्शनिक के रूप में जीवित रहेंगे। वह भारतीय कला कौशल तथा विद्या की जागृति के काल की पैदावार थे और उन्हें पूरा विश्वास था कि सुधारात्मक शिक्षा के द्वार खोलने से ही राष्ट्रीय जागृति संभव हो सकती है। इनकी समूची शैक्षिक विचारधारा के ढांचे की आधारशिला है मूल्यों की एक ऐसी पद्धति जिसमें मनुष्य को जीवन के उच्च उद्देश्यों की ओर अग्रसर करने की संभावनाए निहित हों। ज़ाकिर साहिब ने ऐसा सामाजिक दर्शन प्रस्तुत किया जो भारतीय ऋषि-मुनियों, सूफ़ी-संतों और पश्चिमी दार्शनिकों का मानव जगत को दिया हुआ उपहार था। इस प्रकार की शिक्षा का वह जीवन भर विरोध करते रहे जो मानवीय गुणों से व्यक्ति को वंचित करती हैं, ज़माने की मांगों को पूरा नहीं करती और मनुष्य को मानवता और समाज से बेगाना अथवा पराया बना देती है। शिक्षा को वह मानव की संपूर्णता का आधार समझते थे, और उसे वह मनुष्य की प्रगति व भलाई की कुंजी समझते थे। उन की हार्दिक इच्छा थी कि भारतीय संस्कृति की विशेषताएं नई विश्व पद्धति की नीव बन जाएं और सुधार के मार्ग पर पुन: अग्रसर मानव उन्हें अपना मार्गदर्शक बनाकर वर्तमान के अति सुंदर और अतीत के उत्कृष्ट तत्वों को अपने में समाहित कर ले। उनकी विचारधारा के अनुसार मानव मस्तिष्क उसकी संस्कृति, सभ्यता और उसके भाग्य में एक आंतरिक सम्बंध है और यही वह तीन स्तंभ थे जिन पर उन्होंने पूरे शैक्षिक ढांचें को खड़ा किया था। उन्होंने यह विचार प्रस्तुत किया कि वास्तविक और यथार्थ शिक्षा में साईंस और नैतिकता का सामंजस्य होना चाहिए, उसे सच्चाई की उत्साहपूर्ण खोज को बढ़ावा देना चाहिए जो मानवता, इंसानियत तथा शांति की खोज करने वाली हो। उसका लक्ष्य परिपूर्णता और उच्च आदर्श होना चाहिए। उसे सामाजिक परिवर्तन, बदलाव और राष्ट्रीय विकास का माध्यम बनना चाहिए। ज़ाकिर साहिब ने अपने सामाजिक दर्शन को ऐसे मूल्यों की पद्धतियों पर स्थापित किया जो उनकी इंसान दोस्ती, मानव प्रेम, विशाल हृदयता, उनकी वतनपरस्ती, देशप्रेम और उनकी सार्वभौमिक एकता के विचारों का स्रोत बनीं।

डा. ज़ाकिर हुसैन ने, जिन्हें सामान्य रूप से ज़ाकिर साहिब कहा जाता है, यह विचार प्रस्तुत किया कि व्यक्तिगत और राष्ट्रीय जीवन के लिए अधिक आत्मिक विकास की

विचारधाराएं बच्चों को याद करानी चाहिएं । वीरता, बहादुरी, नेकी, सच्चाई, लावण्य युक्त न्याय, न्याय का सौंदर्य, समान व्यवहार, जनसेवा तथा त्याग के विचार ऐसी ईटें हैं जो हमारे भविष्य के उज्जवल विचारों के भवन के निर्माण के लिए अनिवार्य हैं । ज़ाकिर साहिब का उद्देश्य बच्चों को ईमानदार, निडर, निर्भीक, सत्यपूजक, विश्वसनीय, दरियादिल, उदार और रवादार बनाना था । वह हमारी शैक्षिक संस्थाओं को व्यक्तिगत लाभ प्राप्ति के बजाए सामाजिक हित के लिए निष्ठापूर्ण कार्यशाला और केवल सतही विद्यापीठ के बजाए मानवीय मूल्यों के विभिन्न पहलुओं को व्यवहारिक प्रयोग में लाने योग्य और हितकारी शैक्षिक केन्द्रों में परिवर्तित करना चाहते थे ।

मूल्यों की समस्या उनके मन में सबसे अधिक महत्ता लिए थी । उनकी दृष्टि में घटनाओं, आंकड़ों और जानकारी की इतनी महत्ता नहीं है जितनी महत्ता दृष्टिकोण, रुजहानात, रहन-सहन के ढंग, नैतिकता और व्यवहार आदि की है । उनके अनुसार "व्यक्ति में मूल्यों का क्रमबद्ध ज्ञान" ही शिक्षा की परिभाषा है । एक शिक्षित व्यक्ति का मस्तिष्कीय क्षितिज विशाल होना चाहिए जिसमें मूल्यों की धरोहर तारों के समान चमक रही हो । मूल्यों से ही मानवीय उमंगों की परिपूर्णता होती है । समस्त वह वस्तुएं जो मानव उमंगों की पूर्ति करती हैं उनके पीछे मूल्यों का हाथ होता है । परंतु उमंगों का अर्थ सही रूप में लिया जाना चाहिए । इसका अर्थ होना चाहिए मन की गहराई से किसी नेक और बढ़िया वस्तु की आकाँक्षा । शिक्षा पतनावस्था से उसी ऊंचाई पर पहुंचाती है जहाँ ममत्व की भौतिक गहराई लुप्त हो जाती है । इसीलिए शिक्षा को मूल्यों में गिरावट नहीं लानी चाहिए । मूल्य वह सोच है जो जीवन को शक्ति, शांति, सुकून, विकास और संरक्षण प्रदान करती है । इनसे शांति, सयंम, क्रमबद्धता, सौम्यता, सौंदर्य, शालीनता और उत्कृष्टता उत्पन्न होती है । मूल्य मनुष्य को अपनी पहचान कराने, अपना भविष्य बनाने में सहायक है । बच्चे ही में अच्छा जीवन बिताने की संभावित योग्यता है । और यही संभावित शक्ति एक मूल्य के रूप में प्राकृतिक रूप से उसमें विद्यमान है । उसे उजागर किया जाना चाहिए क्योंकि शिक्षा का वास्तविक कार्य यही है । ज़ाकिर साहिब ने भौतिक मूल्यों, वैयक्तिक मूल्यों, सांस्कृतिक मूल्यों, आध्यात्मिक मूल्यों, आत्मिक मूल्यों जैसे अनेक मूल्यों का पता दिया है । उन्होंने आठ विभिन्न प्रकार के मूल्यों की सूची तैयार की है । यह हैं मनोरंजक मूल्य, सामूहिक मूल्य, आचरण के मूल्य, भौतिक महत्ता के मूल्य, प्राकृतिक सौन्दर्य के मूल्य, बुद्धिजीवियों के मूल्य, धार्मिक मूल्य, शारीरिक गठन के मूल्य । सबसे पूर्व भौतिक या आर्थिक मूल्यों को लीजिए जो समस्त क्रिया कलापों को गति प्रदान करने का अनिवार्य भाग हैं । ज़ाकिर साहिब आर्थिक मूल्यों में नैतिक मूल्यों को मिला देना चाहते हैं । भारतीय जनता को शिक्षित बनाने का अर्थ होगा उन्हें जीवन की वास्तविक प्रखरता को निर्धारित करने के लिए तैय्यार करना । शारीरिक परिश्रम जीवनयापन करने की कला के साथ ज़ाकिर साहिब का काम के मदरसे के विषय में चिंतन उन्हीं विचारों को निर्धारित

करने की ओर सही क़दम था ।

पहले यह कि ज़ाकिर साहिब के वैयक्तिक मूल्यों के विषय में आरोग्यता, बल, शक्ति, सफ़ाई-सुथराई और शारीरिक देखभाल सम्मिलित है । समय की पाबंदी, व्यायाम, पौष्टिक आहार, विश्राम और मनोरंजन जैसी अच्छी आदतें स्वस्थ व सेहतमंद जीवन के लिए आवश्यक हैं ।

दूसरे यह कि शालीनता, सूघड़पन, सभा संबंधी शिष्टाचार, सौम्य, प्रशिक्षण, उदारता, दूसरों की सहायता व सहृदयता जैसे मूल्यों को बच्चों की शिक्षा का भाग होना चाहिए । इन मूल्यों में ज़ाकिर साहिब ने आचरण, ईमानदारी, समय की पाबंदी, किफ़ायत से काम करना, विनम्रता, स्नेह, विनीतभाव के गुणों को जोड़ दिया और इन्हें भी शिक्षा का अनिवार्य अंग क़रार दिया ।

तीसरे यह कि वैयक्तिक मूल्यों के साथ साथ ज़ाकिर साहिब ने सामाजिक मूल्यों की वकालत की जिसका अर्थ है समाज के प्रति दायित्व का बोध, दीन-हीन लोगों के लिए चिंता और सहानुभुति, समस्त धर्मों और मतों का सम्मान तथा जीवन के क्षेत्र में निराशाग्रस्त व्यक्तियों से सहानुभूति । ज़ाकिर साहिब सामाजिक मूल्यों के अंतर्गत सेवा, त्याग, रवादारी, प्रेम, स्नेह, देशभक्ति, राष्ट्र भक्ति, मानव प्रेम, इंसानदोस्ती, एकता, तालमेल, और सहयोग जैसे विचारों को प्रस्तुत करते हैं ।

चौथे यह कि उन्होंने सांस्कृतिक धरोहर को मूल्यों के अपने दृष्टिकोण में समोया है । मानव मन और वह कार्यशैली जिससे मानव ने शांतिपूर्ण समाज की स्थापना की है सांस्कृतिक मूल्यों के तहत आते हैं । सभ्यता या संस्कृति एक पेचीदा परिपूर्ण प्रणाली है जिसमें शिक्षा, विचारधारा, मत, कला, आर्ट, शिष्टाचार, जीवन पद्धतियाँ, रीति रिवाज और वह प्रत्येक गुण, योग्यता या आदत सम्मिलित है जो मनुष्य को समान से, एक दूसरे से भिन्न करती है । संस्कृति वह ख़ज़ाना है जो किसी राष्ट्र का गौरव होता है । समस्त शैक्षिक अहराम सांस्कृतिक नीव पर खड़े होते हैं ।

पाँचवें यह कि ज़ाकिर साहिब आत्मिक मूल्यों की अनदेखा नहीं करते । संस्कृति और धर्म का घनिष्ठ सम्बंध है । धर्म अच्छे जीवन के लिए व्यवहारिक और नैतिक उसूल प्रस्तुत करता है । धार्मिक तेज और सांईसी स्वभाव दोनों ही की मानव विकास के लिए आवश्यकता है । धर्म बिना साईंस के अंधा है । और साईंस बिना धर्म के लंगड़ी है । भारत में धर्म का विशेष महत्व है । प्रत्येक हिन्दू घर में एक पूजाघर होता है, प्रत्येक मुस्लिम घराने में जानमाज़ होती है, प्रत्येक ईसाई घर में हज़रत ईसा का चित्र लटका होता है और प्रत्येक सिख के लिए एक धार्मिक चिन्ह होता है । पूजाघर में मेहमान विशिष्ट देवता होता है । मुस्लिम नमाज़ में उच्च कोटि का तेज व नूर अल्लाह का है और ईसाई उपदेशों (सरमन) का विषय गाड (भगवान) है । ज़ाकिर साहिब चाहते थे कि धार्मिक मूल्य शैक्षिक कार्यक्रमों का अटूट भाग बन जाएं । परंतु मिले-जुले कलचर में इस विचार को

व्यवहारिक रूप प्रदान करने में सामने आने वाली अत्यधिक कठिनाईयों से वह भली भाँति अवगत थे। धर्म एक अत्यन्त सूक्ष्मग्राही क्षेत्र है जहाँ एक धर्म को दूसरे धर्म से अच्छा प्रमाणित करने की इच्छा का खटका लगा रहता है। इसलिए धार्मिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने में उन्हें संकोच था। और ठीक यही वह चट्टान थी जिससे मूल्यजन्य शिक्षा की योजना लुढ़क पड़ी। इसलिए ज़ाकिर साहिब ने धार्मिक मूल्यों को विभिन्न रूप दिए। उन्होंने धार्मिक मूल्यों को प्रेम, सेवा, त्याग, स्नेह, भाईचारा, बराबरी, रवादारी, सहनशीलता, अहिंसा और सच्चाई का नाम दिया क्योंकि यही वह शिक्षा है जो समस्त बड़े धर्म देते रहे हैं। उन्होंने धर्म सम्बंधी मतों को उनके नैतिक भाग से अलग किया। ज़ाकिर साहिब ने मत अथवा "अक़ीदे" को नहीं छेड़ा परंतु नैतिकता पर बल दिया। उनकी दृष्टि में मुहब्बत, प्रेम व सहृदयता समस्त धर्मों की जड़ हैं जो जाति पांति, धर्म व विश्वास की रुकावटों को ढा देगें और इमारत केवल मानवता की सुदृढ़ चट्टान पर खड़ी हो जाएगी।

ज़ाकिर साहिब ने नैतिक मूल्यों की व्याख्या की है। उन्होंने इन्सान बनाने, आचरण का निर्माण करने और मूल्यों से परिपूर्ण शिक्षा का मार्ग अपनाया। वह हमारे राष्ट्रीय जीवन को "शक्ति को नैतिकता से, तकनीकी को जायज़ व नाजायज़, उचित व अनुचित की पहचान से और कर्म को भक्ति भाव से" मिलाना चाहते थे। वह हमारे राष्ट्रीय जीवन के उन सात पापों से अवगत थे जिन का पता गाँधीजी ने दिया था। -- सिद्धांतों के बिना राजनीति, कर्म के बिना धन, आत्मा अथवा ज़मीर के बिना ऐश व आनन्द, आचरण के बिना विद्या, ईमानदारी के बिना व्यवसाय, मानवता के बिना विज्ञान और निष्ठा के बिना भक्ति व उपासना। इसलिए ज़ाकिर साहिब का विचार था कि जीवन की समस्त प्रगति और उसका विकास ऐसे परिवेश में रह कर होना चाहिए जो उचित और अनुचित की कसौटी पर सुदृढ़, नैतिक रूप से ठीक और आत्मिक रूप से जागरूक हो।

इस प्रकार उनका शैक्षिक दर्शन जिस प्रणाली के चारों ओर घूमता है वह मूल्यों की प्रणाली है। उनके भौतिक मूल्य नेचर से मेल खाते थे और मानव के शारीरिक विकास के लिए उनकी आवश्यकता है। परंतु उनके सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य आत्मिक क्षितिज को छूते हैं जो मनुष्य को इंसान बनाने के लिये अनिवार्य हैं। प्राकृतिक मूल्य जीव पर लागू होते हैं जबकि सांस्कृतिक मूल्य स्वभाव के अनुसार नैतिक, विषय के अनुसार दार्शनिक और गुण अथवा जौहर के अनुसार आध्यात्मिक व रुहानी होते हैं। ज़ाकिर साहिब ने प्राकृतिक मूल्यों को नैतिक व्यक्तित्व की सतह की प्राप्ति का साधन जाना है। चाहते थे कि राष्ट्र उग्रवादिता, क्षेत्रीय पक्षपात, अलगाववाद, भाषायी पक्षपात, क्षेत्रीय विवाद, बिरादरीवाद और संप्रदायवाद से पाक हो। यह वह नए सात पाप थे जो क़ौम और राष्ट्र को कमज़ोर बनाने के लिए उभर कर सामने आ रहे थे।

उनके मूल्यों की प्रणाली शिक्षालय की चारदीवारी में ही नहीं रुक जाती अपितु उसका फैलाव समूचे समाज तक है। व्यक्ति से लेकर समाज तक, समाज से राष्ट्र तक और राष्ट्र

से संपूर्ण मानव जगत तक उनके कार्यक्षेत्र के तहत आते हैं । व्यक्ति के उद्देश्य सामाजिक उद्देश्य के पूर्व व बाद के संदर्भों में ही पूर्ण हो सकते हैं । वह अपने परिवेश से निकल कर या दूर होकर पानी से निकली मछली के समान हो जाएगा । इसलिए व्यक्ति, समाज, राज्य के सम्बंध में स्वराज्य और आज़ादी के अत्यंत महत्वपूर्ण मूल्यों की उन्होंने बढ़ोतरी की है । संपूर्ण मानव इतिहास स्वराज्य, राजनीतिक स्वतंत्रता, सामाजिक स्वतंत्रता, सांस्कृतिक स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतंत्रता, मानसिक स्वतंत्रता आदि नाटकीय तत्वों का संकलन है । हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि ज़ाकिर साहिब के जीवन के अधिकांश रचनात्मक दृष्टिकोण का संबंध उस युग से है जब राजनीतिक स्वतंत्रता पर उनके कार्यों का क्षेत्र केंद्रित था । स्वतंत्रता के पश्चात उन्होंने व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ साथ सामाजिक स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतंत्रता और सांस्कृतिक स्वतंत्रता पर बल देना आरंभ कर दिया ।

स्वतंत्रता पर ज़ाकिर साहिब जो बल देते थे उसे हम भली भांति समझ सकते हैं क्योंकि इसपर यदि हम मुक्ति के हिन्दू विचारधारा की दृष्टि से मनन करें जो जीवन-मृत्यु के बंधनों से स्वतंत्र होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तो आयु का प्रत्येक पड़ाव मुक्ति की ओर बढ़ता हुआ क़दम है । स्वतंत्रता व्यक्ति और समाज दोनों के सत्कर्मों का पारितोषिक है । ज़ाकिर साहिब ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता की विचारधारा पर अधिक ध्यान दिया है । वह सिगमंड फ्रायड से सहमत हैं कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता सभ्यता अथवा रहन-सहन का उपहार नहीं है । रुसों ने अति विस्तार से इसके सम्बंध में लिखा है । संस्कृति व सभ्यता ने मानव को ज़ंजीरों में बाँधा है और सलामती व संरक्षण के कपटपूर्ण जाल में फसं कर उसने एक के बाद एक अपनी स्वतंत्रता खो दी है । आधुनिक प्रजातांत्रिक राज्य स्वतंत्रता का स्वर्ग नहीं हैं अपितु एक योग्य अल्पसंख्यक के हाथ में एक शक्तिशाली एकाधिपत्य अथवा तानाशाही है जिसे क़ानून व अम्न के बहाने अपनी मन मानी करने की अनुमति मिल जाती है । ऐसा राज्य डार्विन के प्राकृतिक चुनाव के नियमों के समीप पहुंच जाता है जिसके तहत शासन करना बलिष्ठ का उद्देश्य होता हैं । आजकल की सरकारें सैनिक दृष्टि से इतनी शक्तिशाली हैं कि जनता को सिर झुकाने पर बाध्य होना पड़ता है । सैनिक और आर्थिक शक्ति ने जनता के समक्ष कोई मार्ग नहीं छोड़ा सिवाए इसके कि वह सिरों को तोड़ने के स्थान पर सिरों की गिनती के माध्यम से अपने विवादों को निपटाए । आनन्द का आदर्श सदा एक जैसा नहीं रहा है और समय समय से बदलता चला आ रहा है ।

राज्य के अत्याचार के ख़तरे को टालने के लिए ज़ाकिर साहिब व्यक्तिगत स्वतंत्रता हेतु बुद्धिजीवियों की प्राचीर बनाने का नुसख़ा प्रस्तावित करते हैं । वह चाहते हैं कि शिक्षाविद समाज को सभ्य बनाने का अत्यंत प्रभावशाली माध्यम बनें । परंतु उन्हें निराशा हुई जब उन्होंने उच्चस्तरीय शिक्षित लोगों को व्यक्तिगत स्वतंत्रता को समाप्त करते पाया । इसका कारण राज्य की कार्यपद्धति में नैतिक तत्वों का अभाव था । इसके लिए सही ढंग की

शिक्षा की आवश्यकता थी । अफ़लातून (एक यूनानी दार्शनिक) के प्रशंसक होने के कारण वह इस बात की महत्ता को समझ सके कि अफ़लातून ने रियासत के संरक्षकों के लिए इस प्रकार के परिश्रमपूर्ण प्रशिक्षण को क्यों प्रस्तावित किया था । ज़माने की सच्चाईयों का साक्षी होते हुए उन्होंने इस सच्चाई को जान लिया था कि "हम ऐसी दुनियाँ में जन्मे हैं जहाँ बेगानापन हमारा प्रतीक्षार्थी है ।"

आधुनिक जीवन की सच्चाईयाँ ऐसी हैं कि धन में बढ़ोतरी से असमानता बढ़ती है । क़ौम जितना अधिक उत्पन्न करती है उतना ही अधिक उस के नागरिकों की आय में अंतर सामने आता है । आज की दुनिया में धन सम्पन्नता का अर्थ है स्वामित्व में असमानता, अमीर और अधिक अमीर या धनी हो जाएं और निर्धन और अधिक निर्धन । क्योंकि यदि सभी लोग धनी हो जाएंगे तो अमीरी की धारणा ही समाप्त हो जाएगी । कुछ के पास बहुत कम होना ही चाहिए ताकि वह दूसरों के अधिक पाने के मार्ग में सहयोगी हो सकें । जान रसकिन न कहा था कि "तुम्हारी जेब में पड़ी गिन्नी की शक्ति तुम्हारे पड़ोसी की जेब में गिन्नी के न होने पर निर्भर करती है । यदि उसे इसकी आवश्यकता नहीं है तो यह तुम्हारे लिए व्यर्थ है ।"

ज़ाकिर साहिब एक और बात से चिंताग्रस्त थे । धनी और प्रभावशाली लोगों को अपने बच्चों को शिक्षित बनाने के अवसर प्राप्त हों, जो उच्चपदों पर आसीन होकर कम भाग्यशालियों को मातेहती के स्तर पर रहने के लिए विवश करते हैं । इसी के कारण समाजी तनाव उत्पन्न होता है । इस स्थिति की रोक थाम के लिए ज़ाकिर साहिब का प्रस्ताव था कि शिक्षा को राष्ट्रीय बनाया जाए ताकि चौदह वर्ष की आयु के सभी बच्चे मूल शिक्षा प्राप्त कर सकें और अहराम की मौलिक सतह पर सब को बराबर रखा जा सके । तकनीकी पेशे से सम्बधिंत या व्यवसायिक अथवा सामान्य शिक्षा के उच्चस्तरों तक सबकी पहुंच हो सके और अत्याधिक प्रतिभावान बच्चों को राज्य की सहायता प्राप्त हो ।

संक्षेप में यह कि ज़ाकिर साहिब के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य था बाहरी मन-मस्तिष्क को आँतरिक मन-मस्तिष्क में परिवर्तित करना । बुद्धि कहती है नियमों से कटिबदद्ध रहो, हमारे भीतर की नैतिक भावना कहती है कि नियमों से ऊपर उठकर इश्क़ (आसक्ति) को अपनाओ जहाँ कर्म दु:ख का कारण होता है और दु:ख कर्म का कारण बनता है । और यहीं पर शिक्षा "मूल्यों की सुदृढ़ चेतना" का रूप धारण कर लेती है क्योंकि "स्वतंत्रता कभी दी नहीं जाती वह तो ली जाती है । और वही उसे बचा पाते हैं जो अपने कर्मशील जीवन के प्रत्येक क्षण में उसे प्राप्त करते रहते हैं ।"

उनके मूल्यांकन की प्रणाली मानव की सामाजिक आवश्यकताओं, जीवन के प्रवाहित रहने की ज़रुरतों, बुद्धिजीवियों की विद्या सम्बंधी रुचि और पारसाओं (तपस्वियों) अथवा आचरण विशुद्ध लोगों के नैतिक तजरुबे के गहन अध्ययन का परिणाम है । यह सभी तत्व ज़ाकिर साहिब की रचनात्मक विचारधारा की मथानी में मथ कर एक ऐसी मूल्यों की

प्रणाली में ढल गए जो ज़ाकिर साहिब के मानव प्रेम को दर्शाते हैं । इनका मानव प्रेम शक्ति और पद, ऐश व आनन्द, भोग-विलास और शान-शौकत, धन-दौलत और विलासिता के मूल्यों से भिन्न था । उसका मुख्य आधार सत्य व न्याय, हुस्न, (सौंदर्य) व इश्क़, सेवा व त्याग से जीवन बिताने और ख़ुश रहने का मार्ग दिखाना है ।

ज़ाकिर साहिब के मूल्यों की प्रणाली का अभिप्राय एक नयी सामाजिक पद्धति तैय्यार करना था जिसमें कुछेक अधिकार रखने वाले वर्गों के द्वारा लोगों के शोषण की कोई गुंजाईश न हो । हाथ से कार्य करने वालों के सम्बंध में लोगों के व्यवहार में इस से इंक़लाबी बदलाव उत्पन्न होगा । ज़ाकिर साहिब का विचार था कि निर्धनों, ग़रीबों की ओर ध्यान देना और उनसे सहानुभूति रखना सभ्य जीवन की मूलभूत आवश्यकता है । भारत और मानव जगत के महान भविष्य की ओर बढ़ते क़दमों के समय" विश्व शांति तथा हमारी मिली-जुली संस्कृति के जीवित रहने के लिए वह प्रजातंत्र और अंहिसा को सर्वोपरि समझते थे । अहिंसा पर आधारित उठाए जाने वाले क़दमों अथवा कार्यों पर उन्हें अत्यधिक विश्वास था । हिंसा के बिना किए गए कार्यों से लोगों ने अतीत में बहुत कुछ प्राप्त किया है । भारत में भक्ति आंदोलन, इसलाम में सूफ़ी विचारधारा, ईसाईयों का प्रेम दर्शन, हिन्दुओं, बुद्धधर्मियों और जैन धर्म के अनुचरों की अंहिसा सभी हिंसा से पाक उठाए गए क़दमों पर आधारित हैं । इन सभी के अतिरिक्त स्वतंत्रता प्राप्ति की गाँधी जी की तकनीक अहिंसा पर आधारित थी जो वहशियाना (जंगली व उजड्ड) शक्ति के मुक़ाबले में कहीं अधिक शक्तिशाली प्रमाणित हुई ।

ज़ाकिर साहिब की मूल्य प्रणाली का एक दूसरा पक्ष प्रेम है जो विश्व को गतिशील करने की शक्ति है । भूभाग पर पाए जाने वाले जीवधारी मुहब्बत की पैदावार हैं और जो मानव और मानव के बीच समस्त झगड़ों और विवादों का हल है । यह एक कमज़ोर अथवा दुर्बल भावना का क्षणिक बोध नहीं है अपितु जीवन का व्यावहारिक रूप है जिसमें मन-मस्तिष्क, शरीर व आत्मा एक दूसरे से मिल जाते हैं । परिपूर्णता व संपूर्णता की विचारधारा की ओर उठने वाला यह क़दम है, बाह्य सम्बंधों से भीतरी सम्बंधों की घनिष्ठता इससे प्रकट होती है । मनुष्य को इससे अमन, शांति, आराम व सुख एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है । ज़ाकिर साहिब ने जो कुछ सोचा, जो कुछ कहा और जो कुछ किया उन सभी में प्रेम और मुहब्बत का संदेश ही सर्वोपरि है ।

उनके मानव प्रेम का दूसरा पहलू हुस्न है । प्राकृतिक सौन्दर्य उन्हें सबसे अधिक प्रभावित करता है । फूल से लेकर पत्थर तक, शायरी से लेकर सुलेखन तक, संगीत से लेकर चित्रकला तक और बच्चों से लेकर पशु-पक्षियों तक के सौन्दर्य के वह पूजक हैं । सेवा एवं बलिदान उनके मानव प्रेम का तीसरा पहलू है । सेवा समस्त सद्गुणों की ठोस शक्ल है । दुआ पढ़ने वाले होठों से वह हाथ अधिक पावन होते हैं जो दूसरों को सहारा देते हैं । यूनानी बुद्धिमानी, हिन्दुओं की सहृदयता, ईसाई दान-पुण्य, बुद्ध की दयालुता,

रहमदिली, इस्लाम धर्म की विशेषता कि सभी बराबर हैं, सूफ़ियों के इश्क़, जर्मन विचारशीलता और पश्चिमी कर्मनिष्ठा के सिद्धान्त से ज़ाकिर साहिब ने पूर्ण रूप से लाभ उठाया है । वह लोगों को उठ खड़े होने और कर्म करने पर उकसाते हैं । ख़रगोश की भाँति निद्रा में लीन लोगों से वह कहते हैं कि "कर्म ही पूजा है ।"

अंत में हम कह सकते हैं कि ज़ाकिर साहिब ने मूल्यों की जिस प्रणाली की स्थापना की है उससे अनेक हितकर व लाभकारी परिणाम निकाले जा सकते हैं । पहला यह कि विश्व की प्रत्येक वस्तु इस उद्देश्य की पूर्ति की ओर अग्रसर है जिस के लिए उसकी रचना हुई है । मनुष्य को भी उसी दिशा में बढ़ना चाहिए और क्षणिक आनंद से ऊपर उठकर इस बात की प्राप्ति की ओर बढ़ना चाहिए जिसकी उससे आशा की जाती है । दूसरे यह कि विश्व की प्रत्येक वस्तु इस इच्छा के प्रभावाधीन है कि वह जो कुछ है उस से श्रेष्ठ हो जाए । बीज पौधा बन जाता है, बच्चा बढ़कर आदमी हो जाता है इसलिए मानव मस्तिष्क को सही दिशा में बढ़ना चाहिए । तीसरे यह कि विश्व की हर वस्तु का अस्तित्व किसी दूसरी वस्तु के लिए है । वह केवल अपने लिए नहीं है । केवल मानव ही इस नियम को तोड़ता है और स्वार्थी हो जाता है । उसे भी सभी के सामाजिक हित के लिए ज़िन्दा रहना चाहिए ।

चौथे यह कि विश्व की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है और ठोस भी । समय बदलता है, मौसम बदलता है, शरीर बदलता है परंतु सुदृढ़ता भी उतनी ही बड़ी सच्चाई है । नीम के बीज से आम का फल पैदा नहीं होता । कुत्ते की वफ़ादारी, बिल्ली की नमी, गुलाब की सुगंध कभी नहीं बदलती । मनुष्य को भी मनुष्य बने रहना चाहिए और उसे पत्थर दिल नहीं होना चाहिए । इंसानदोस्ती, मानव प्रेम वह उद्देश्य है जिसे उसे पूरा करना है । यही वह धर्म है जिसका उसे अनुकरण करना है । और यही वह सिद्धान्त है जिसकी उसे पाबंदी और अनुपालन करना है ।

ज़ाकिर साहिब के समक्ष मनुष्य का भाग्य काल सीमा के भीतर कर्म करना और दैनिक जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को ही पूर्ण करना नहीं है अपितु अपने पीछे न मिटने वाले मूल्यों को छोड़ जाने के लिए उसे काल के परिवेश में उसकी व्याख्या करनी चाहिए । इतिहास के महान क्षण वह नहीं है जब हुकूमतें स्थापित हुईं अपितु वह हैं जब सदगुण, शराफ़त, अच्छे स्वभाव उच्च शिखर पर पहुंचे । प्राकृति से मन के सामंजस्य का बोध ही सब से बड़ी नेकी है । ऐसे ही अवसरों पर मनुष्य अपनी आत्मा अथवा ज़मीर को देदीप्यमान करके ज्ञान व हिकमत के दीप प्रज्वलित करता है । और वही प्रकाश उसे यह जानने पर विवश करता है कि समाज की ओर उसके दायित्व अत्याधिक हैं । ज़ाकिर साहिब का पूरा ध्यान ऐसी ही आत्मा को देदीप्यमान करने पर था जो बुद्धि और विवेक के व्यक्तिगत प्रशासन को पार करके परिपूर्ण इंसान बनाने का मार्ग है ।

वह आज भी ज़िंदा हैं

सादिक़ अली

ज़ाकिर साहिब हिन्दुस्तान के जाने माने और लोकप्रिय लोगों में से एक थे जिन्होंने आज़ादी की लड़ाई में भाग लिया और एक नये समाज की आधारशिला रखी। इन का आज़ादी का संघर्ष प्रत्यक्ष रूपेण नहीं था और न ही खुले आम था। इनका पब्लिक कैरियर उस समय आरंभ हुआ जब इन्होंने सन् 1920 में असहयोग आंदोलन के संदर्भ में खिलाफ़त और स्वराज्य आंदोलनों में भाग लिया। उन्होंने गांधी जी की आवाज़ पर, "कि अंग्रेज़ी शिक्षा संस्थाओं को छोड़ो, अपनी शैक्षिक संस्थाएं खोलो जहाँ उचित ढंग की राष्ट्रीय शिक्षा प्रदान की जाए", तुरन्त हाँ कही। इस आवाज़ ने देश के दूसरे भागों में कुछेक युवा विद्यार्थियों में उमंग व उत्साह पैदा किया। अलीगढ़ विश्वविद्यालय भी राष्ट्रीय उथल-पुथल से प्रभावित हुए बिना न रह सका। यद्यपि इस आवाज़ का बहुत विरोध हुआ परन्तु विद्यार्थियों का एक वर्ग था जिस ने इस चुनौती को स्वीकार किया, कालिजों को छोड़ दिया और नई शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना में संलग्न हो गया। डा. ज़ाकिर हुसैन ने भी बढ़ चढ़ कर इस में भाग लिया। जामिया मिल्लिया जैसे नये संस्थान की कहानी वास्तव में ज़ाकिर हुसैन के जीवन की कहानी है। गाँधी जी जैसी महान और वरिष्ठ हस्तियाँ इस से जुड़ गईं। यह कहानी अत्यंत रोचक ढंग से विस्तारपूर्वक ज़ाकिर साहिब के साथी बयान किया करते थे। एक नई संस्था की आधारशिला रखना, जबकि अनेक प्रकार के उतार चढ़ाव का सामना था, एक कीर्तिमान स्थापित करने से कम न था। शिक्षा के क्षेत्र को इसने एक नया मार्ग दिखाया। पर इससे बढ़ कर और भी अन्य पक्ष हैं जिनका वर्णन अनिवार्य है। परन्तु इस समय दो पक्षों पर ही रोशनी डालूँगा।

शिक्षा, जिस का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, ज़ाकिर साहिब का प्रिय विषय था। शिक्षा राष्ट्रीय जीवन के समस्त पहलुओं पर नज़र रखती है। विदेशियों के अधिकार और क़ब्ज़े को समाप्त करने के प्रयासों के बीच उनके समक्ष बहुत सारे उद्देश्य थे। सबसे पहला और महत्वपूर्ण उद्देश्य एकता और देश के एकजुट होने का था। परन्तु इस एकता और एक जुट होने का सम्बन्ध किसी साम्राज्य या सरकार से नहीं था। अपितु इस का सम्बन्ध लोगों और उनकी संस्कृति में समन्वय अथवा उनकी एकता से था, देश की आज़ादी की लड़ाई के समय गाँधी जी ने भी इस पर विशेष रूप से बल दिया था। स्वतंत्रता प्राप्ति का

सारा बोझ इसी पर था । परन्तु देश में इस प्रकार की उमंग व उत्साह के लक्षण नहीं थे । आज़ादी के संघर्ष के दौरान जब भी कोई नया मोड़ आता आंखों के सामने धुन्ध सी छा जाती । हिन्दू मुस्लिम एकता की नीव, संदेह और भ्रम पर थी और अविश्वास का यह तत्व हिन्दू और मुसलमान दोनों के बीच एक दूरी उत्पन्न कर रहा था । पर ज़ाकिर साहिब को और कोई चीज़ इतनी प्यारी नहीं थी जितनी हिन्दू-मुस्लिम दोस्ती । इस समस्या का क्या समाधान हो, वह कौन से उपाय हों जो हिन्दू मुस्लिम एकता की ठोस नीव रखें ।

इस बात को समझने और जानने के लिए ज़ाकिर साहिब ने भारतीय संस्कृति का बड़ी गहराई से अध्ययन किया था और यह बात उनकी समझ में आ गई कि आरम्भ में विभिन्न दृष्टिकोणों को समाविष्ट करके एक ऐसी पद्धति का सृजन किया जाए जो सबके लिए स्वीकार्य हो और लोगों में यह झुकाव तथा दृष्टिकोण पैदा करे ताकि वह भली भांति जीवन के मूलभूत सिद्धान्तों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन सकें । जीवन और विचारों के इस मूलभूत समावेश की पहुँच की ओर निसंदेह उतार चढ़ाव आएंगे । कुछ लोगों का इन विचारों के प्रति झुकाव पैदा होगा और कहीं विरोध उत्पन्न होगा । मगर जीवन और संस्कृति में मेल जोल अंतिम समय तक वरीयता रखते हैं । ज़ाकिर साहिब की इस्लामी शिक्षा के आंरभिक दौर के दृष्टिकोण एक सामान्य आदमी पर यह प्रभाव छोड़ते हैं कि ताक़त और शक्ति तलवार के ज़ोर से मिलती है । परन्तु क़ुरान और हज़रत मुहम्मद का जीवन अम्न-शांति, सुलह-इंसाफ़, भाईचारे और आज़ादी का संदेश देते हैं । जहाँ तक मैं समझता हूँ और वास्तविक रूप से मेरे विचारों को समझा जाए तो यह एक संदेश है जो भारत की नैतिकता के स्वर को गुंजायमान रख सकता है । बहुत सी बातों में समरूपता और समावेश कुछ सांस्कृतिक विभिन्नता पर भी निर्भर है । लेकिन एक अच्छे प्रजातांत्रिक देश में मतों और विचारों की समरूपता का होना भी आवश्यक है ताकि सब मिल जुल कर किसी समस्या का समाधान कर सकें । वास्तव में प्रजातंत्र की कामयाबी इस बात पर निर्भर है कि सब लोग आपस में मिल जुल कर रहें । भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि अंग्रेज़ी सरकार ने हिन्दू-मुस्लिम में मन-मुटाव, वैमनस्य और असहमतियों को खूब बढ़ावा दिया । यह स्थिति मध्यकाल के अंत में उभर कर सामने आ गई थी । इस स्थिति के विपरीत संघर्ष करने और इस लानत (अभिशाप) को समाप्त करने के लिए एकता को सुदृढ़ बनाने की अत्याधिक आवश्यकता थी ।

मुस्लिम लीग और कांग्रेस के बीच बढ़ते दरार को डा. ज़ाकिर हुसैन ने बड़े दु:ख के साथ अनुभव किया । हम एक दूसरे में कमियाँ निकाल सकते हैं परन्तु हम यह नहीं जानते कि एक दूसरे में कमियाँ खोजने से हमारा देश कहीं का भी नहीं रहेगा । इस दु:ख को डा. ज़ाकिर हुसैन ने जामिया मिल्लिया के समारोह में राजनैतिक नेताओं को सम्बोधित करते हुए व्यक्त किया था । ज़ाकिर साहिब के भाषण का सारांश यह था कि एक ठोस और मिले जुले वातावरण की आवश्यकता है जहाँ आज़ादी के साथ हर आदमी अपनी धार्मिक

और सांस्कृतिक धरोहरों को सुरक्षित बनाए रख सके, विशेष रूप से इस युग में जिस में हम सांस ले रहे हैं। इस महत्वपूर्ण विषय पर ज़ाकिर साहिब ने मार्मिक ढंग से क्या कहा और किससे कहा यह हमारी आने वाली पीढ़ी को सोचना चाहिए क्योंकि उसी आधार पर प्रजातंत्र अथवा जमहूरियत का निर्माण हो सकेगा।

साम्प्रदायिकाता की समस्याएं अभी कुछ समय तक और चलेंगी, पृष्ठभूमियाँ तथा संदर्भ व प्रसंग बदलते रहेंगे। परन्तु उनको प्रजातांत्रिक ढंग से सुलझाने की आवश्यकता होगी। हमारे देश का सामाजिक जीवन विभिन्न वर्गों पर आधारित है जो अपने-अपने धर्म पर अटल विश्वास रखते हैं। अपनी सामाजिक रीतियों और रूढ़ियों को भली भांति उत्साह और उमंग से मनाते है और इस प्रकार धर्म और रीतियों से बंधे हुये है। इन सारी बातों पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। "यदि विभिन्न वर्गों के लोग अपने-अपने दृष्टिकोण में यहाँ व्यापकता पैदा करें तो हर धर्म एक दूसरे को बांधने की बहुत बड़ी शक्ति है। धार्मिक दृष्टिकोण की व्यापकता, उसका खुलापन प्रत्येक धर्म में है। परन्तु धर्म कुछ लोगों के हाथ आ जाता है तो अपनी गरिमा खो देता है और संकीर्ण विचारधारा को और बढ़ावा देता है।"

डा. ज़ाकिर हुसैन अन्य धार्मिक पथप्रदर्शकों जैसे हकीम अजमल ख़ाँ, डा. अंसारी, मौलाना आज़ाद और ख़ान अबदुल गफ़्फ़ार ख़ाँ की भांति धार्मिक थे। यह धार्मिक कट्टर पन अपने आप में स्वयं ही व्यापक और विश्वव्यापी महत्ता लिए है। इसलिए कि यही सार्वभौमिक अथवा व्यापक धार्मिक दृष्टिकोण साम्प्रदायिकता को समाप्त करने का एक उचित माध्यम है। उनके विचार में शिक्षा मानव में दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता तथा सम्मान को उजागर करती है। भारत विभाजन के समय जो वातावरण उत्पन्न हो गया था उस में इस की सम्भावना पैदा हो गई थी कि जामिया मिल्लिया तोड़-फोड़ करनेवालों की भेंट चढ़ जाती। फिर भी इसका अस्तित्व बाक़ी रहा। उसने न केवल साम्प्रदायिकता के नारों की अनदेखी की अपितु उन लोगों को भी मात दी जो उसे बढ़ावा दे रहे थे।

दूसरा क्षेत्र जिसमें ज़ाकिर साहिब ने स्थायी सहयोग व समर्थन प्रदान किया वह था शिक्षा का प्रसार-प्रचार, जिसके चारों ओर उनका पूरा चरित्र घूमता रहा था। उनका विचार था कि किसी भी मनुष्य के मानसिक विकास और सामाजिक रख-रखाव तथा सूदृढ़ता के लिए शिक्षा का प्रचार प्रसार एक बहुत बड़ा गुर है। भारत को किस प्रकार के शैक्षिक-प्रशिक्षण की आवश्यकता है, यह बात उनहोंने केवल यूँ ही नहीं कह दी थी। उन्होंने अपने अध्ययन को अधिक व्यापक बनाया। रोगग्रस्त मस्तिष्क को पढ़ा और समझने का प्रयत्न किया, इसमें उनको अधिक परिश्रम करने पड़ा था। खिलाफ़त और स्वराज्य आन्दोलनों के हंगामों में किसी भी शैक्षिक संस्था को इतनी खींचातानी और संघर्ष का सामना नहीं करना पड़ा जितना कि जामिया मिल्लिया को करना पड़ा। चाहे वह ज़ाकिर साहिब हों या मुजीब या आबिद हुसैन उन लोगों ने जो घोर कष्ट और पीड़ाएँ सहन कीं

वह अवर्णनीय हैं । एक प्रकार की प्रचार प्रसार की भावना उन लोगों में उत्पन्न हो गई थी । ज़ाकिर साहिब ने जामिया मिल्लिया के लिए जो स्तर निर्धारित किया था उनको पूरा करना इतना सहज कार्य नहीं था ।

मन, मस्तिष्क और शरीर आपस में क्या तालमेल रखते हैं, यही विषय उनके प्रत्येक भाषण और प्रत्येक लेखन में मिलता है । उनको बढ़िया से बढ़िया चीज़ की खोज रहती थी । प्रत्येक वस्तु में वह वरीयता के इच्छुक रहते थे । उनके व्यक्तित्व का यही एक सर्वोपरि पहलू था । दैनिक जीवन और उसकी समस्याओं पर दृष्टि रखना उनके जीवन का एक महत्वपूर्ण भाग था ।

ज़ाकिर साहिब बहुत बड़े शिक्षाविद थे । पूरे देश के लोगों के लिए उनका अनुपम चरित्र तथा उच्च विचारधारा एक बहुत बड़ा आदर्श था । उनकी राष्ट्र भक्ति अथवा देश निष्ठा में कभी भी कोई आँच नहीं आई थी । यही कारण था कि भारत के विभाजन के बाद भी कहीं न कहीं उनकी सेवाएँ प्राप्त की जाती रहीं । राजनैतिक क्षेत्र से अलग हटकर भी देखें तो ऐसा कभी नहीं हुआ कि कभी भी, किसी भी समय, किसी भी प्रकार का दायित्व उनको सौंपा गया हो और उन्होंने उसे भली भांति निभाया न हो । भारत के बटवारे से उनको घोर हार्दिक कष्ट पहुँचा, इस सीमा तक कि उनकी जान भी ले सकता था । वह एक सच्चे मुसलमान थे परन्तु धार्मिक शिक्षा पर आधारित उनका संदेश हिन्दू, मुस्लिम, सिख तथा ईसाई सबके लिए एक था । वह यह कि भाईचारे का उद्देश्य यह है कि सभी लोगों को समान दृष्टि से देखा जाए ।

ऐसा लगता है कि 1947 में जब देश आज़ाद हुआ तो ज़ाकिर साहिब ने जीवनदर्शन को भली भांति समझ लिया था । उनकी पारदर्शिता, उच्चता, उनके द्वारा किए गए कार्य, उनकी बुद्धिमत्ता, और दक्षता धीरे-धीरे सब पर प्रकट होती गई ।

यह बात बहुत अनूठी है कि जैसे जैसे और जब-जब उन के पद बदलते गए वैसे-वैसे उनकी दिलचस्पियाँ बढ़ती गईं । ज़ाकिर साहिब ने जीवन के समुद्र को कड़े परिश्रम तथा अति सुंदर ढंग से पार किया, यद्यपि उनके जीवन में कड़ुवाहट भी कम नहीं थी ।

जब गाँधी जी ने प्राथमिक शिक्षा की योजना आरम्भ की तो वह चिंतित थे और चाहते थे कि यह विचार देश वासियों के समक्ष काफ़ी छानबीन और सोच समझ के साथ रखना चाहिए । उस समय उन्हें डा. ज़ाकिर हुसैन की बुद्धिमत्ता और योग्यता को काम में लाने का ध्यान आया । इस सम्बँध में काफ़ी फेर बदल किए गए । ज़ाकिर साहिब ने अनुभव किया और फिर अपना विचार प्रस्तुत किया कि सरकार ने प्राथमिक शिक्षा की योजना पर अनुकूल ध्यान नहीं दिया । भारत विभाजन के पश्चात् क़ौम का मन उखड़ा उखड़ा था । प्राथमिक शिक्षा पद्धति भी अंधकार में लुप्त थी और यह भी शिकायत की जा रही थी कि हमारी वर्तमान प्राथमिक शिक्षा का ढांचा ही बहुत जर्जर है । यह भ्रमित मस्तिष्क की पहचान थी और वैसे भी प्राथमिक शिक्षा की कमज़ोरियाँ इस कारण नहीं थीं कि अनपढ़

लोगों की संख्या अधिक थी (जब कि यह संख्या अब भी हमारे देश में विद्यमान है) अपितु विशेष रूप से इसलिए थीं कि हमारी शिक्षा पद्धति बहुत ही ख़राब और त्रुटिपूर्ण थी । इस विषय पर काफ़ी चिंतन-मनन और विस्तारपूर्वक सोचने की आवश्यकता है । जब कि शिक्षा की कोई ऐसी बंधी टकी परिभाषा नहीं है जो दुनिया बिना किसी वादविवाद के स्वीकार कर ले, यहाँ तक कि यह बात तो एक देश में भी संभव नहीं है, इसकी परिभाषा तो बदलती रहती है । शिक्षा समस्त राजनीतिक, सामाजिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक गुणों का ही भाग है । ज़ाकिर साहिब ने पूरब-पश्चिम के शिक्षा क्षेत्र के बड़े-बड़े दार्शनिकों, शिक्षा शास्त्रियों और अफ़लातून से लेकर डेगी तक की विचार धाराओं से स्वयं को लाभान्वित किया ।

किस प्रकार शिक्षा मनुष्य को राजनीतिक, सामाजिक, मानसिक व आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करेगी यह बात ज़ाकिर साहिब के लिए निरंतर परेशानी का कारण बनी रही है ।

डा. ज़ाकिर हुसैन और नए समाज की रचना

क़ैसर नक़वी

किशोरावस्था थी-कोई सोलह-सत्तरह साल की आयु और सीमित बुद्धि, बस्ती का सामंती परिवेश, परंतु स्वतंत्रता संग्राम की हवा से वातावरण गरम और हमारा मस्तक नए-नए विचारों का भंडार बना हुआ। कभी-कभी जब जामिया मिल्लिया इस्लामिया के कार्यों की चर्चा होती थी तो लगता कि वह बच्चों के लिए एक नया संसार या स्वप्न की सी बातें हैं। इसी संदर्भ में डा. ज़ाकिर हुसैन साहिब की भी चर्चा होती थी और हमारे संवेदनशील मन में उनकी एक अद्भुत अविश्वसनीय-सी कल्पना बन रही थी। परतुं अब पच्चीस-तीस साल उन्हें देखने, विभिन्न अवस्थाओं में उनके साथ काम करने और उनके व्यक्तित्व को थोड़ा-बहुत समझने के बाद यह असाधारण महापुरुष कुछ और आश्चर्यजनक लगने लगा है।

मैं देहली में नजफ़गढ़ में अध्यापकों की ट्रेनिंग के एक स्कूल में प्रशिक्षण प्राप्त कर रहा था, जिसमें 'प्रारंभिक शिक्षा' पर भी ज़ोर था और इसी कारण हम दो-चार लड़के जामिया में बच्चों का मेला देखने पहली बार ओखला आए थे। यहीं मैंने पहली बार उस 'जादूगर' अर्थात ज़ाकिर साहिब को देखा और उनसे बात की। कुछ ज़ाकिर साहिब का मोहक और आकर्षक व्यक्तित्व और कुछ जामिया के लड़कों के उस मेले में कार्य, संगठन, ज़िम्मेदारी और एक विचित्र कल्पनात्मक ढंग, उन सबने मिलकर मुझे कुछ ऐसा रिझाया कि मैंने अपने अवचेतन मस्तिष्क में अपने जीवन का उद्देश्य जामिया चले आना तय कर लिया। आज जब काफ़ी गतिशील जीवन बिताने के बाद फ़ुरसत में अपने जीवन के विचारों और कर्मों का लेखा-जोखा करता हूँ तो ज़माने के सारे उलट-फेर, सफलताओं और विफलताओं, अप्राप्ति और प्राप्ति के उलझावों में इसी निर्णय को अपने जीवन का सब से बहुमूल्य निर्णय पाता हूँ, इसलिए कि जीवन तो वैसे भी लाभ और हानि के एक असीम सिलसिले का नाम है। जब स्वंय अपने-आप और अपने बहुत से साथियों पर विचार करता हूं तो लगता है कि ज़ाकिर साहिब की वैयक्तिक विशेषता ने कितने बहुत-से विभिन्न और विपरीत मत के लोगों पर प्रभाव डाला है।

जामिया के कार्य और उनसे होने वाले प्रभाव लहरों के खेल के समान थे, जैसे ठहरे हुए पानी में एक कंकर फेंक दिया जाए तो उसकी लहरें एक केन्द्र से उठती हैं और छोटी

से बड़ी होती हुई फैलती चली जाती हैं, इसी तरह अब लगता है कि ज़ाकिर साहिब सबसे पहले एक काल्पनिक बिंदु-सा बना देते थे जिसमें विचार और कर्म का एक छोटा वृत, फिर उससे बड़ा, फिर उससे बड़ा वृत बनता चला जाता था। यहां के हर कार्य, हर योजना, हर विचार में उनकी छाया साफ़ झलकती दिखाई देती है। जामिया के विभिन्न सामाजिक कार्यों में मेरा संबंध प्रत्यक्षरुप से बहुत अधिक ज़ाकिर साहिब से रहा परंतु विभाग में अधिकतर शफ़ीक़ुर्रहमान क़िदवाई, जो स्वंय एक संपूर्ण, अद्वितीय और मज़बूत व्यक्तित्व रखते थे और ज़ाकिर साहिब के विचारों और कर्मों के अनुयायी थे, के सामने उत्तरदायी था।

ट्रेनिंग पूरी करके बड़े यत्नों से हमारे कुछ कृपालु बड़ों ने जैसे-तैसे हमें सरकारी स्कूल में नौकरी दिला दी और हमने उनके विचार में अपना 'अंतिम उद्देश्य' भी पा लिया। 1943 में युद्ध-संकट की स्थिति में हमारे परिवार में किसी व्यक्ति को अस्सी रुपये महीना की नौकरी मिल जाना बहुत बड़ी बात थी। मगर हमारा मन उससे न केवल संतुष्ट नहीं था वरन् विद्रोह के लिए तैयार था, इसलिए जैसे ही हमें जामिया में एक ख़ाली जगह का पता चला, हम इस फूल पर शहद की मक्खी के समान मंडराने लगे और अंतत: स्वंय शफ़ीक़ साहिब के चेतावनी देने के बावजूद कि बत्तीस रूपये के जिस वेतन का वादा हमसे किया जा रहा है उसका हर महीने मिल जाना भी किसी तरह निश्चित नहीं है। हम अपनी हर प्रकार की दरिद्रता की पूंजी के साथ जामिया के उस परिवार में पहुंच गए जो कंगाल तो था पर अपने सिद्धांत और कार्य के संबंध में प्रतिष्ठित था।

मैं जामिया इसलिए आया था कि मुझे बच्चों से असाधारण लगाव था और मैंने महसूस किया था कि जामिया बच्चों की शिक्षा से अधिक उनके मानसिक विकास, रटाई और परीक्षाओं से अधिक व्यक्तित्व का निर्माण और एक आत्मविश्वासी सोच पैदा करने की इच्छुक है। और अब इस क्षेत्र में लगभग पचास बरस बच्चों से सीधा संबंध रखने और बच्चों के विभिन्न संगठनों को देखने और बरतने के बाद सत्यनिष्ठा के साथ स्वीकार करता हूँ कि ज़ाकिर साहिब और उनकी जामिया की प्रणाली पूरे देश में न केवल अलग और उत्कृष्ट थी वरन् बच्चों की छुपी हुई योग्यताओं को उभारने, काम में लाने और एक संपूर्ण व्यक्तित्व बनाने में अद्वितीय थी, जहां बच्चे को अपनी उभरती हुई योग्यताओं के अनुसार 'बच्चों की दुकान', 'बच्चों का बैंक', 'बच्चों की म्यूनिसिपलटी', 'बच्चों की हुकूमत', 'बच्चों की अदालत', 'बाग़बानी', 'बच्चों का ख़्वांचा' जैसे विभागों के महत्वपूर्ण सदस्य होते थे। एक दिन की पाठशाला में अध्यापक, हैडमास्टर, चपरासी, यहां तक कि सफ़ाई कर्मचारी, और पूरे स्कूल का संरक्षक, बड़ी से बड़ी सभा का सभापति और ऐसे बहुत-से कामों में नाममात्र या 'निरीक्षण के लिए' नहीं, पूरी लगन और पूरी ज़िम्मेदारी के साथ काम करने और उभरने के अवसर निरंतर दिए जाते हों, वहां बच्चे के व्यक्तित्व के हर पक्ष के विकास के लिए कितना विस्तृत क्षेत्र होगा। प्रॉजैक्ट शिक्षा

प्रणाली, खुली हवा में एक-एक सप्ताह की पाठशालाएं, जामिया स्काऊटिंग के अधीन काफ़ी लम्बे समय के कैम्प, गंदी बस्तियों में घूमने, प्रौढ़ शिक्षा और दूसरे सामाजिक कार्यों में शुरू से ही साथ लेकर बच्चे को अपने समाज की दशा से पूरी तरह परिचित कर देने का काम भी शिक्षा का एक भाग था, जिससे भारतीय संस्कृति से जानकारी के साथ बुद्धि भी प्रखर होती थी। और इन सब आंदोलनों और योजनाओं के प्रेरक और आदर्श पात्र स्वंय डा. ज़ाकिर हुसैन थे और उनके चारों ओर फैले वह सितारे थे जिन्हें डा. आबिद हुसैन, प्रो. मुहम्मद मुजीब, शफ़ीकुर्रहमान क़िदवाई, हाफ़िज़ फ़य्याज़ अहमद और दूसरे बहुत-से निस्स्वार्थ कार्यकर्ताओं के नामों से जाना जाता था। अब आश्चर्य होता है कि इतनी धनहीनता, प्रतिकूल परिस्थितियों, सरकारी और समाजी विरोधों के बावजूद यह सब कुछ कैसे हो जाता था जो अब अधिक साधन होते हुए भी नहीं हो पाता। हर प्रकार से विश्वास इसलिए होता है कि हम स्वंय इसके साक्षी भी थे और सक्रिय रुप से इसमें भागीदार भी।

जैसा मैंने कहा कि मैं एक काल्पनिक नक़्शा लेकर जामिया में आया था परंतु कुछ दिन बाद उस समय के जामिया के सारे कामों पर गहरी नज़र डाली तो उससे बड़ी वास्तविकता का पता चला। वह यह कि ज़ाकिर साहिब का कार्यक्षेत्र और उनके विचार और योजनाएं केवल अच्छे स्कूलों की एक श्रृंखला तक ही सीमित नहीं थे। यह काम तो उनकी पूरी योजना का केवल एक अंश था और निश्चय ही उस समग्र का एक महत्वपूर्ण अंश-मगर, उस में वास्तव में पूरा समाज, उसके सारे पक्ष और समाज की रचना करने वाले सारे छोटे-बड़े तत्व एकत्र थे। मेरे विचार में वह एक स्वतंत्र, संवेदनशील, जागरूक, विवेकशील और ज़िम्मेदार समाज की रचना की एक संपूर्ण योजना बनाकर खड़े हुए थे और उसके हर पक्ष के लिए मूल या नमूने के कामों का आरंभ कर देना ही उनके जीवन का उद्देश्य था, जिसे वह 1920 (जामिया का स्थापना) से अपने देहांत तक हर क्षण पूरा करने की कोशिश करते रहे।

जामिया ने अपने प्रारंभिक वर्षों में ही लेखन और संकलन का काम शुरू कर दिया था। कुछ वर्ष बाद मक्तबा जामिया के नाम से यह उर्दू में बड़ों और बच्चों की श्रेष्ठ और उच्च स्तरीय पुस्तकें प्रकाशित करने वाली बड़ी संस्था बन गई। इसके माध्यम से उत्तम और प्रगतिशील साहित्य प्रकाशित करके भारत में उभरते हुए पढ़े-लिखे लोगों का मानसिक़ प्रशिक्षण करना था और इस काम को इसने अच्छे-बुरे हर समय में पूरा किया। ज़ाकिर साहिब को मक्तबा के कामों से बहुत दिलचस्पी थी, विशेष रुप से 'पयामे-तालीम' पत्रिका से और दिलचस्प पुस्तकों के माध्यम से बाल साहित्य का तो उन्होंने ऐसा मार्गदर्शन किया कि उसमें एक नई जान पड़ गई।

इससे भी उत्तम, प्रज्ञाशील व्यक्तियों के मानसिक प्रशिक्षण के लिए जामिया का एक और विभाग उर्दू अकादमी था जिसके आधीन बहुत गंभीर साहित्यिक, राजनीतिक और

सांस्कृतिक गोष्ठियां, सेमिनार और सभाए आयोजित होती थीं और उनमें देश और विदेश के विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ लेक्चर देते थे। इसी विभाग से एक उच्चस्तरीय पत्रिका 'जामिया' निकलती थी जिसमें वैज्ञानिक और सांस्कृतिक लेख प्रकाशित होते थे। ज़ाकिर साहिब इस विभाग की कार्यवाही में डा. आबिद हुसैन, प्रो. मुजीब और अन्य कार्यकर्ताओं के साथ निर्देशक के रूप में रूचि लेते थे। इस विभाग के अधीन आयोजित सभाओं में जिन लोगों ने लेक्चर दिए उनमें तुर्की की प्रसिद्ध नेता ख़ालिदा अदीब ख़ानम और डा. मुहम्मद इक़बाल जैसे व्यक्तियों के नाम दिखाई देते हैं।

जामिया के उद्देश्यों में मुसलमान समाज में मुख्यत: और हिन्दोस्तानियों में साधारणत, राजनीतिक सूझबूझ, सामाजिक चेतना और अपने समय की विदेशी सरकार और पश्चिमी संस्कृति के मुक़ाबले में एक स्वतंत्र विचार पैदा करने का उद्देश्य भी था जिसे उभारने के लिए ज़ाकिर साहिब ने हर अवसर का उपयोग किया। उदाहरणात: एक विकट् समस्या थी जामिया के लिए धन इकट्ठा करने की। जब हिन्दोस्तान के संपन्न वर्ग और राजाओं, नव्वाबों ने सरकार-विरोधी जामिया की विचारधारा से डरकर जामिया को आर्थिक सहायता देने से हाथ खींच लिया तो ज़ाकिर साहिब ने शफ़ीकुर्रहमान साहिब के संचालन में एक आंदोलन 'हमदर्दाने-जामिया' (जामिया के समर्थक) शुरु किया। इसका मूल उद्देश्य तो कम आय वाले लोगों अर्थात् 'जनसाधारण' से जामिया के लिए मासिक अभिदान प्राप्त करना था परंतु इस संस्था ने भी जामिया के विचारों के समानांतर सोचने वालों का एक बहुत बड़ा ग्रुप बना लिया। ज़ाकिर साहिब ने जामिया की पच्चीस वर्षीय जुबली (1946) के अवसर पर कहा था कि यह हज़ारों लोग जो जामिया को प्रतिमास थोड़ा सा अभिदान देते हैं, इससे हमारे कार्य की जनसाधारण में लोकप्रियता और उनके संतोष का अनुमान होता है। वास्तव में यह जनसाधारण के चिंतन को जाग्रत करने का अनोखा उपाय था।

समाज के चिंतन को नया रूप देने और उसमें राष्ट्रीय चेतना पैदा करने का आदर्श प्रयास जामिया का विभाग 'तालीम-ओ-तरक़्क़ी' था, जिसका मूल उद्देश्य ही जनसाधारण से संपर्क और उनका मानसिक प्रशिक्षण था। जिस समय मैंने जामिया के कार्यों को गहराई से देखा उस समय तक देहली में जामिया के सारे शैक्षणिक विभाग क़रोलबाग़ से ओखला स्थानांतरित हो चुके थे। क़रोलबाग़ क्षेत्र में बच्चों के स्कूल को तालीमी मर्कज़ न. 1 का नाम दिया गया था जो छठी कक्षा तक का अनिवासी स्कूल था और जामिया की सारी विशेषताओं के साथ बच्चों के लिए कार्य कर रहा था परंतु तालीमी मर्कज़ न. 2 को देखकर और इसके कार्यों को समझकर लगा कि यह समाज में नई प्रतिभा पैदा करने के कितने महत्वपूर्ण कार्य की ओर एक ठोस प्रयत्न था। इसके अधीन प्रौढ़ शिक्षा की योजना का प्रारंभ हुआ था और नए वयस्क पढ़े-लिखों के लिए उनकी परिस्थिति के अनुसार छोटे-छोटे व्यवसायों, त्योहारों, धर्म, परंपरा और आधुनिक जीवन

की संस्थाओं इत्यादि पर आधुनिक ढंग से अनेक पुस्तकें छपवाई गई थीं जो उन्हें पढ़ाने के अतिरिक्त उनके जीवन काल की समस्याओं से भी परिचित कराती थीं। कारख़ाने के मज़दूरों, शिल्पियों, अनपढ़ व्यवसायिकों, तांगेवालों के लिए रात की क्लासें, लाईब्रेरी, और दिलचस्प और उपयोगी वार्तालाप की गोष्ठियां होती थीं जिनमें यह सब लोग बड़ी दिलचस्पी के साथ भाग लेते थे। एक भित्ति समाचार पत्र निकलता था जिसमें चित्रों और मोटी-मोटी सुर्ख़ियों के साथ ख़ास ख़ास समाचार और समसामयिक परिस्थितियों पर उनकी समझ-बूझ के अनुकूल हलके-फुलके लेख होते थे।

मुझे याद है कि अपने देश की प्रतिष्ठा और महानता की भावना पैदा करने के लिए वहां हिंदोस्तान का एक मानचित्र लगा हुआ था जिसमें उपमहाद्वीप में रूस को छोड़कर यूरोप के सारे देश समाए हुए दिखाए गए थे। उसे देखकर सीधे-सादे लोगों पर बड़ा गहरा प्रभाव होता था। महीने में एक दो बार उनके अपने प्रोग्राम, सभाएं, खेलकूद की प्रतियोगिताएं, नाटक आदि होते थे। मतलब यह कि पूरे क़रोलबाग़ और नगर के कई क्षेत्रों में जनसाधारण के निम्न वर्ग में एक निरंतर हलचल और गतिशील समाज का वातावरण बना रहता था। शफ़ीक़ साहिब का लोकप्रिय व्यक्तित्व और उनकी भरपूर रूचि और कभी-कभी ज़ाकिर साहिब के आने से यहां के लोगों में सम्मान और अपनी महत्ता की भावना उत्पन्न हो रही थी।

जनसाधारण से इस निकट संपर्क और सहानुभूति सूचक संबंध के सकारात्मक प्रभाव स्पष्ट रूप से 1947 के अति संक्रामक काल और उसके बाद थोड़े समय तक महसूस भी हुए। अवर्णनीय परिस्थितियों की प्रचंडता से विवश होकर समाज का यह वर्ग जामिया की इन संस्थाओं और अपने साथियों को क़रोलबाग़ में रोक तो न सका, पर जामिया के सब कार्यकर्ता सकुशल वहां से निकल ज़रुर आए और उन परिस्थितियों में यह भी एक चमत्कार से कम बात न थी। फिर कुछ साल बाद जो देहली स्टेट का पहला इलेक्शन हुआ तो देहली के बिल्कुल बदले हुए और सांप्रदायिकता से विषाक्त वातावरण में देहली के जनसाधारण ने शफ़ीकुर्रहमान क़िदवाई को उनकी अनुपस्थिति में सफल किया। क्योंकि समाज में परिवर्तन ज़ाकिर साहिब और जामिया के मूल उद्देश्यों में यह एक महत्वपूर्ण उद्देश्य था, जिसकी चर्चा ज़ाकिर साहिब के अनेक भाषणों, विशेषत: शैक्षणिक भाषणों, और रेडियो से प्रसारित होने वाले भाषणों में जगह-जगह मिल जाती है, इसलिए कि वह हर अवसर पर इस का अनुसरण करते थे। थोड़े समय के लिए ज़ाकिर साहिब सुन्नी मजलिसे औक़ाफ़ के अध्यक्ष हो गए। जिसके अधीन देहली में एक अनाथालय भी चलता था। ज़ाकिर साहिब, जो अनाथ की व्यथा और मनोवृत्ति से स्वंय गुज़र चुके थे, उस अनाथालय में ऐसे परिवर्तन किए जो उस समय तो क्रांति से कम नहीं समझे जाते थे। उदाहरणात: सबसे पहले उसके नाम से 'अनाथालय' के उस काले धब्बे को, जो हर क्षण बच्चे की हीनता की याद दिलाता रहता था, मिटा कर 'बच्चों का घर'

नाम रख दिया। 'बच्चों का घर' के नियमों में बच्चों का अभिदान इकट्ठा करना, लोगों के घर जाकर खाना खाना, और बहुत-सी तिरस्कारपूर्ण बातें वर्जित करने का प्रस्ताव समाहित किया गया और बच्चों के वस्त्र, रख-रखाव और नित्य जीवन को आम होस्टल के जीवन में बदल दिया गया।

1947 में देहली से बेघर हुए लोगों के लिए जब हुमायूं के मक़बरे और पुराने क़िले में सुरक्षा कैम्प बनाया गया तो उन बेसहारा और दुर्दशाग्रस्त लोगों की सेवा के लिए जामिया के ही वह युवक निकले जिन्हें स्वंय पूरी तरह यह विश्वास नहीं था कि स्वंय जामिया के भवन कब छिन जाएंगे। मैं स्वंय क्योंकि उन सेवकों में था इसलिए मुझे ज्ञात है कि ज़ाकिर साहिब उस समय में स्वयं कितने तल्लीन थे और उनके इन कार्यों के संरक्षक होने के विचार से हमें कितनी ढारस रहती थी। फिर उसी समय के ऐसे बच्चों को, जिनके मां-बाप क्या परिवार तक का पता न था, ज़ाकिर साहिब ने एकत्र किया और कुछ को अपने घर में पाला और कुछ का पालन-पोषण अपने साथियों के सुपुर्द किया और अंत में उनकी ज़िम्मेदारी जामिया को सौंपँ दी। देश विभाजन के नतीजे में दूसरे भाग से आए हुए बेसहारा लोग, जो 'रिफ़्यूजी' कहलाते थे, जब जामिया के क्षेत्र के आसपास बसे तो ज़ाकिर साहिब ने बढ़कर उनकी शिक्षा, उन्हें जामिया लाने ले जाने, पुस्तकों और दोपहर के खाने का प्रबंध किया और अध्यापकों के विद्यालय में इसके लिए नियमित प्रोग्राम चलाया गया। सीमांत प्रांत से आए हुए लोगों को जब फ़रीदाबाद में बसाने की योजना बनी तो ज़ाकिर साहिब जामिया के विद्यार्थियों और कार्यकर्ताओं का ग्रुप लेकर स्वंय वहां पहुंचे और कई दिन उनके कैम्प लगवाने और उन्हें जीवन की सुविधाएं उपलब्ध कराने में सहायता की। मैं समझता हूं कि यह सारे कार्य मानवीय सहानुभूति की भावना से अपने साथी कार्यकर्ताओं को प्रेरित करने और स्वंय उन लोगों में सौहार्द उत्पन्न करने के लिये किये गए, जिनके के लिए कार्य किए जा रहे थे। इन उपद्रवों के बाद शहर में सांप्रदायिकता के विचार और उसके आंदोलनों के विष को समाप्त करने का यह कार्य बहुत आवश्यक था। जामिया कमज़ोर होने के कारण बहुत अधिक तो न कर सकी परंतु सबसे पहले एक अति संवेदनशील क्षेत्र बाड़ा हिन्दूराव और क़रोलबाग़ की सीमा पर बहुत जल्दी एक ऐसा छोटा-सा विद्यालय खोल लिया जिसमें हिन्दू, मुस्लिम, सिख बच्चे बिला खटके आते थे, पढ़ते थे, खेलते-कूदते थे, लड़ते-भिड़ते थे और मनुष्यों की भांति साथ रहते थे। इस बात को उस समय के जानकार अनहोनी और चमत्कार से कम नहीं समझेंगे। यह स्कूल शफ़ीक़ मेमोरियल स्कूल के नाम से इन्हीं विशेषताओं के साथ आज भी स्थित है और जानकार लोग यह भी जानते हैं कि ज़ाकिर साहिब ने शफ़ीक़ साहिब के देहांत के बाद कई अवसरों पर व्यक्तिगत रूप से इसकी कितनी सहायता की थी। फिर सिलसिला इस क्षेत्र से आगे बढ़ा और शहर के अन्य कई क्षेत्रों में बच्चों के काम ने आगे बढ़कर बच्चों की एक बहुत बड़ी कान्फ्रेंस और बच्चों की बिरादरी का रूप लिया।

क्योंकि इन सारे कार्यों से मैं स्वंय एक सक्रिय पात्र के रूप में संबद्ध था इसलिए मैं पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि इनमें शफ़ीक़ साहिब की कर्मठता और ज़ाकिर साहिब की आत्मा हमारी मार्गदर्शक थी। इन कामों से देहली के बहुत-से क्षेत्रों में एकता, प्रेम और आपसी मेल जोल का वातावरण बनाने में अत्याधिक सहायता मिली।

ज़ाकिर साहिब के मन में देहाती क्षेत्रों के लोगों के दुखों का निवारण करने और उनके बीच काम करने की इच्छा बहुत पहले से दिखाई देती है और वैसे भी प्रारंभिक शिक्षा के विचार के अगुआ के रूप में उनकी आबद्धता सबसे अधिक देहात से ही होना अनिवार्य थी। इस प्रकार ज़ाकिर साहिब ने बहुत पहले से इस तरफ़ भी ध्यान देना शुरू कर दिया था। देहली के गांवों में सामाजिक कार्यों, सार्वजनिक कार्यों की जानकारी और सामाजिक चेतना पैदा करने के उद्देश्य से जामिया स्वयंसेवक ग्रुप गांवों में बराबर जाते रहते थे। ओखला गांव में बहुत पहले एक मॉडल स्कूल स्थापित कर दिया गया था और जामिया के आसपास के लोग जामिया को बड़ी आत्मीयता और प्रेम से देखते थे। 1947 के बाद भी 'तीलीम-ओ-तरक़्क़ी' ने काफ़ी समय तक इस काम को जारी रखा। निश्चय ही अब एहसास होता है कि ज़ाकिर साहिब ने सामाजिक चेतना के विकास के अपने उद्देश्य को अपने जीवन के किसी अवसर और मोड़ पर विस्मृत नहीं किया। उस समय के उन छात्रों से, जो ज़ाकिर साहिब की वाइसचांसलरी की अवधि में अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में थे, जब वार्तालाप होती है तो अनुमान होता है कि वह छात्रों में एक नया बोध, ज़िम्मेदारी का भाव, आत्मविश्वास और स्वतंत्र देश के तक़ाज़ों को पूरा करने वाला चरित्र निर्मित करना चाहते थे और इसके लिए भाषण और लेखन या किसी भी अवसर को हाथ से न जाने देते थे।

आज अपने निजी अवलोकन, जीवन के अनुभवों और ज़ाकिर साहिब के साथ काम करने के बाद मैं महसूस करता हूं कि गांधीजी, जवाहर लाल नेहरू, मौलाना आज़ाद, ज़ाकिर साहिब और ऐसे ही कुछ नेता इस स्वतंत्र भारत के नवनिर्माण में, समाज के चिंतन को दिशा देने को अपना प्रथम कर्तव्य समझते थे और इनमें से हर व्यक्ति ने, जिस्र क्षेत्र में भी वह क्रियाशील था, इस कर्तव्य को निभाने की भरपूर कोशिश की। क्योंकि राजनीति से ज़ाकिर साहिब का सीधा संबद्धं नहीं रहा और वह अपने-आपको हमेशा एक 'शिक्षक' कहकर ही गर्व महसूस करते थे, इसलिए उन्होंने अपने समाज के शिक्षक के रूप में बच्चों, बड़ों, शिक्षित, बुद्धिजीवी, कम पढ़े-लिखों, अनपढ़ों, शहरियों, देहातियों, मतलब यह कि समाज के हर वर्ग में अपने विचारों और कार्यों से प्रभावी होने का प्रयास किया।

महिष्ठ विद्वान् स्वर्गीय डा. ज़ाकिर हुसैन

डा. फ़ारूक़ अब्दुल्ला

यूँ तो मनुष्य दुनिया में आए हैं, आते रहे हैं और अपरिमित संख्या में आते रहेंगे। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को यह सम्मान प्राप्त नहीं कि वह मुनष्य है और मानव सृष्टि से संबद्ध समस्त अभिप्रायों की कसौटी पर पूरा उतरता है। ग़ालिब का कहना है:

[1]बसकि दुशवार है हर काम का आसां होना।

आदमी को भी [2]मुयस्सर नहीं इनसां होना॥

यह मूल्यवान बात मानवीय श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए चिंतनीय है। मनुष्य यदि सम्मान के शिखर से गिर कर असंमान के गर्त में गिर जाए तो मनुष्य नहीं रहता, वह दानव के स्तर से नीचे आ जाता है। इसीलिए उसके मार्गदर्शन के लिए एक के पश्चात् दूसरे पथप्रदर्शक आए। चूँकि मार्गदर्शन की [3]कौसर और [4]तसनीम (गंगा और यमुना) को प्रवाहित रखना अभिप्रेरित था तो सर्वश्रेष्ठ साधन के रूप में विद्या का चयन किया गया। हर आनी और जानी वस्तु पतनावस्था को प्राप्त होगी। केवल पतित पावन परमात्मा द्वारा प्रदत्त अनश्वर गुण के कारण विद्या कभी पतनशील नहीं होगी।

समय की सलीब ने प्रत्येक व्यक्ति को कालकूट का प्याला पिलाया। परन्तु ज्ञानी नश्वर शरीर को छोड़ कर काल ललाट पर अमर होकर नियत हो गए।

ऐसे लोगों की सूचीपुस्तिका के पृष्ठ स्वर्गीय डा. ज़ाकिर हुसैन के उल्लेख से सुभोशित होंगे। यह बात सत्य है कि वह भारत भूमि के गौरवशाली सपूत थे। उन्होंने अपने निर्मल जीवन की प्रतिष्ठा से राष्ट्रपति की गद्दी को शोभायमान किया। उच्चतम पद पर आसीन होना उनका एकमात्र परिचय नहीं बल्कि ज्ञान जगत के इस प्रतिष्ठावान अश्वारोही का व्यक्तित्व शिक्षा सुगंध से कामना कुसुम को सुवासित करने में पूर्णत: समर्थ था। यह महिष्ठ ज्ञानी न केवल विद्याविद् और शिक्षक थे बल्कि अपने ज्ञान के चमत्कार से विद्वानों और शिक्षकों को विद्या और शिक्षक का गुण सिखाते थे।

स्वर्गवासी ज़ाकिर साहिब की चर्चा करते समय महाकवि इक़बाल की जग विख्यात मर्दे मोमिन (योगी पुरुष) की कल्पना याद आती है। इस विचार की प्रत्येक रेखा ज़ाकिर साहिब पर चरितार्थ होती हुई दिखाई पड़ती है। उन्हों ने अपने दामन कनान के यूसुफ़ के समान हर लांछन से सुरक्षित रखे। चरित्र निर्माण और व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया से

गुज़रते हुए ज़ाकिर साहिब शारीरिक रूप से और आध्यात्मिक दृष्टि से उच्चतर होते गए। उन्होंने इतना संमान अर्जित किया कि उनके देशवासी उनकी ओर ताकते रहे जैसे ईंट-पत्थर से बनाए हुए कुतुब मीनार की ऊँचाई की तरफ़ दर्शकगण सर ऊँचा करके तकते हैं।

डा. साहब वस्तुत: अपने द्वारा रचित संसार के ईंट-पत्थर के नहीं बल्कि हाड़-मांस के वह कुतुब मीनार थे जिसे कालचक्र की आँधियों के झोंके झुका नहीं सकते। इस मूर्धन्य विद्वान का उद्देश्य न केवल अपने देश की भूमि पर शांति स्थापित करना था बल्कि वह सार्वभौमिक महापुरुष होने के नाते समस्त विश्व में शांति के गुलाब खिलते हुए देखना चाहते थे। वह स्वंय जब यमके आह्वान पर शरीर त्याग कर चले गए तो वातावरण में सुगंधि के समान ही बिखर गए। यदि हम अपनी प्राण शक्ति को विशुद्ध कर सकें तो इस की गमक पदे-पदे भारत के वातावरण में सूँघने को मिलेगी।

ख़ुदा अनादि काल तक स्वर्गवासी की समाधि पर ज्योति की वर्षा करता रहे।

जम्मू (तवी)

4 फ़रवरी, 1997

नोट :

1. चूँकि, क्योंकि। 2. सुलभ्य, उपलब्ध। 3. स्वर्गीय जल स्रोत। 4. बैकुंठ सरिता। 5. सीरिया निवासी पयबंर हज़रत यूसुफ़ जिन के चरित्र को मलिन करने की चेप्टा मिस्र की सम्राज्ञी जुलैख़ा ने किया था।

उन्होंने हिन्दुस्तान को तलाश किया, उसे सम्मान दिलाया और उसकी मसीहाई की।

राज मोहन गाँधी

सन 1925, में बर्लिन में ज़ाकिर हुसैन का एक रहस्य मुजीब साहब से चर्चा करते समय मुझ पर खुला :

सन 1925 के आंरभ में जामिया मिल्लिया के बारे में ज़ाकिर हुसैन, आबिद हुसैन और मेरे बीच एक बहुत ही गंभीर चर्चा हो रही थी। चर्चा के बीच डा. ज़ाकिर हुसैन ने कहा कि उन्होंने जामिया मिल्लिया में काम करने का निश्चिय कर लिया है। डा. आबिद हुसैन ने भी पेशकश कर दी। मैंने भी अपनी इच्छा व्यक्त की। डा. ज़ाकिर हुसैन ने मेरी ओर देखा और कहा नहीं, तुमको ऐसा नहीं करना चाहिए। जामिया मिल्लिया तुम्हारे लिए उपयुक्त जगह नहीं है। मेरे पूछने पर कि क्यों जब आप लोगों के लिए है तो मेरे लिए उपयुक्त क्यों नहीं। उन्होंने कहा कि मैंने तो बहुत सोच समझकर फ़ैसला किया है। मैं भी दृढ़ता से अपनी बात पर अड़ा रहा कि मैं भी आप लोगों के साथ चलूँगा। इस पर उन्होंने कहा देखो यदि मैं तुम को देहली स्टेशन पर उतार कर एक खुले मैदान में ले जाकर खड़ा कर दूँ और कहूँ कि यह जामिया मिल्लिया है तो तुम क्या कहोगे।

मैं भी यही कहूँगा कि हाँ यह जामिया मिल्लिया है। उन्होंने तुरंत मुझे गले से लगा लिया और कहा कि बहुत अच्छा तुम भी ख़ुशी से हम में शामिल हो जाओ।

इससे पांच साल पहले अलीगढ़ में ज़ाकिर साहिब एक अध्यापक और साथ ही साथ 'ला' (विधि) और एम.ए. के भी विद्यार्थी थे। उन्होंने टीचरी से त्याग पत्र दे दिया और अपनी क्षात्रवृत्ति से भी हाथ उठा लिया। यह गाँधीजी और अली बंधुओं के आवाहन की आवाज़ का जवाब था कि क्या अलीगढ़ के शिक्षकगण और विद्यार्थी सरकारी सहायता प्राप्त संस्थानों में रहना पसंद करेंगे।

जो लोग डा. साहब को सहृदय एंव कृपालु मनुष्य के रूप में जानते हैं और यह भी जानते हैं कि यह बहादुर शिक्षक और विद्यार्थी सन 1920-25 में अपने कुछेक साथियों को साथ लेकर वफ़ादारी की पताका हाथ में लिये एक अंजान परंतु सोचे समझे सफ़र पर रवाना हुआ और इस प्रकार जामिया मिल्लिया इसलामिया अस्तित्व में आई। सन 1969 में

भारत के राष्ट्रपति की हैसियत से राष्ट्रपति भवन में जिसका देहांत हुआ। यह वही व्यक्ति था जिसे हम ज़ाकिर हुसैन के नाम से जानते हैं।

बारह साल पूर्व जब मैंने विस्तार से ज़ाकिर हुसैन के जीवन का अध्ययन किया तो मुझे घोर आश्चर्य हुआ कि हिन्दुस्तान ने उन के दिल में घर कर लिया था जिसमें भारत प्रेम के साथ-साथ हिन्दू मुस्लिम दोनों ही रच-बस गये थे। सन 1920 में उन्होंने गाँधीजी और अली बंधुओं की आवाज़ पर सब से पहले हां कही। कुछ और विशिष्ट लोगों ने भी लोगों में हिन्दू मुस्लिम दोस्ती का एहसास जगाया जिसमें ज़ाकिर हुसैन का बहुत बड़ा हाथ था। उन्होंने भारत को अपना घर समझा और हिन्दुओं को अपना साथी।

डा. ज़ाकिर हुसैन में आरम्भिक जीवन में धैर्य व सहनशीलता के तत्व बहुत कम थे। बचपन से ही उन्होंने अपने इस स्वभाव को बदला। और क्षमाशीलता व सहनशीलता को अपने भीतर पैदा किया। वह बड़ी से बड़ी भड़काने वाली तथा झुंझलाहट उत्पन्न कर देने वाली बातों की अनदेखी कर दिया करते थे। मुजीब साहब के कथनानुसार ज़ाकिर साहब के स्वभाव का एक भाग यह था कि वह क़ायमगंज (यू.पी.) के पठान थे। अतीत के दिनों में पठानों ने धन दौलत इकट्ठा करने के स्थान पर 'पेशदस्ती' (मारधाड़) से काम लिया। अत: ज़ाकिर हुसैन के दादा ग़ुलाम हुसैन ख़ान ने एक आदमी को केवल इस बात पर छुरा मार दिया कि वह उनके मना करने के बाद भी उनके तालाब का पानी प्रयोग में लाता था।

शालीन, समझदार और रुपवान नौजवान डा. ज़ाकिर हुसैन इस्लाम और हिन्दुस्तान दोनों ही के लिए गर्व के योग्य था। पढ़ाई के दिनों में अन्य सैकड़ों युवाओं के समान ज़ाकिर हुसैन इटावा बोर्डिंग हाऊस में रहा करते थे और मिडिल क्लास के विद्यार्थी थे। सन 1911-13 के बीच तराबुलस, (बलक़ान) झगड़े ने सिर उठाया था जब योरोप ने विश्व के एकमात्र ख़ुदमुख़तार (स्वतंत्र) मुस्लिम देश तुर्की पर आक्रमण किया था। वहाँ की स्थितियों ने ज़ाकिर हुसैन को बहुत प्रभावित किया था। वह नौजवान इटावा स्टेशन पर लखनऊ के दैनिक समाचारपत्र 'पाईनियर' की प्रतीक्षा किया करता था और अपने मित्रों को तुर्की में घटित घटनाओं तथा स्थितियों के विषय में बताता था। यही नहीं अपितु मस्जिद में नमाज़ के पश्चात लोगों को तुर्की में सामने आने वाली घटनाओं और स्थितियों के विषय में बताता था।

इस्लाम से पागलपन तक इश्क़ (प्रेम), वफ़ादारी (निष्ठा) के साथ साथ ज़ाकिर हुसैन हिन्दुस्तान के लिए भी जलते-कुढ़ते थे और घुटन का अनुभव करते थे। 1920 के आरंभ से ही उनके मन में हिन्दुओं के लिए आदर व इज़्ज़त की भावना जागृत हुई लेकिन साथ साथ मुसलमानों के अधिकार और उनकी पहचान के लिए उन्होंने आवाज़ उठाई। इसी प्रकार हिन्दुओं के अधिकार के लिए भी लड़ाई लड़ी।

सन 1967 में जब वह हिन्दुस्तान के राष्ट्रपति चुने गए तो न केवल यह कि वह राजघाट

पर श्रद्धाजंली अर्पित करने गए बल्कि ख़ुद उनके शब्दों में "मैं एक बार अपने आप को उस महान इंसान को समर्पित करता हूँ जिसने सब से पहले मुझे अपने देश के लोगों के लिए स्वंय को समर्पित कर देने का रास्ता दिखाया था", अपनी श्रद्धा व्यक्त की।

उन्होंने एक बार पुन: याद दिलाया कि महात्मा ने एक बार विशेषत: "हिन्दू" शब्द प्रयुक्त किया था और कहा था कि हमारा सामाजिक ढाँचा ऐसा होना चाहिए कि पिछड़े लोग उभर कर सामने आएं। भीतर से ऐसा लगता था कि इस्लामी रीतियों और मतों से हट कर वह हिन्दुओं का समर्थन कर रहे थे। इस बात पर ज़ाकिर हुसैन बहुत दु:खी हुए थे, यद्यपि उनका मन साफ़ था, उन को किसी बात की शर्मिन्दगी भी नहीं थी। वह जानते थे, कि "राम राज्य" गाँधी जी सदैव सामाजिक भलाई के रुप में प्रयुक्त करते थे। भारत के राष्ट्रपति का पद संभालने के पश्चात भी वह सबकी भलाई चाहते थे। उनको जो हिन्दू नहीं है उसके सहयोग व समर्थन की आवश्यकता नहीं थी फिर भी वह सबके कल्याण की चिंता करते थे। उन्होंने राम राज्य की बात इसी संदर्भ में की थी। उनकी इच्छा थी और प्रयास भी कि हिन्दू मुस्लिम एक हों, केवल "हिन्दुस्तानी" हों, केवल इस कारण नहीं कि वह राष्ट्रपति बन गए थे बल्कि उन्होंने ऐसा चाहा ही था। उन्हीं के शब्दों में जब उनको यह सम्मान प्रदान किया गया तो उनकी चेतना संपूर्ण समाज और सभ्यता से संबद्ध थी।

एक निरंतर खटपट हिन्दू-मुसलमान के बीच चल रही थी। मुसलमान अपने स्थान पर सोचते थे कि वह बहुत कष्ट में हैं, "वह" हमें क्षति पहुँचाते हैं। यह विचार उनके मन मस्तिष्क को उत्तेजित करता था कि "वह" भी "उनको" दु:ख पहुँचा चुके हैं।

आज के युग में यह बात बहुत ही मुश्किल से स्वीकार की जाएगी। परंतु वस्तुत: ज़ाकिर हुसैन का जीवन हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों की भलाई व उत्थान के लिए समर्पित था। कुछ मुसलमानों ने ज़ाकिर हुसैन पर नुक्ताचीनी (कटुआलोचना) की कि "राम राज्य" एक पक्षीय न होना चाहिए, इसे बीच का संतुलित मार्ग होना चाहिये। मुसलमानों की दृष्टि में यह अत्यंत अपमानजनक है। इसका उदाहरण यह दिया गया कि एक हिन्दू रेलवे अधिकारी के अपमानजनक तथा जानलेवा व्यवहार करने पर एक मुस्लिम कर्मचारी ने ज़ाकिर हुसैन की जान बचाई।

मुजीब ने बताया कि 1946 में नौ मास पूर्व जामिया मिल्लिया के "जश्ने सीमीन" (रजत जयंती) समारोह के अवसर पर वाइस चांसलर के रूप में ज़ाकिर हुसैन ने बहुत ही भावुक, मर्मस्पर्शी और सुंदर भाषण से लोगों को मंत्रमुग्ध किया था और जो स्टेज पर उपस्थित नेहरु, आज़ाद, और लियाक़त को प्रभावित किए हुए बिना न रह सका।

अगस्त 1946 में कलकत्ते में भीषण मार काट हुई, और 1947 में भी होने वाली थी। कांग्रेस और मुस्लिम लीग की सरकार तत्कालीन वाईसराय वैवेल के अधीन थी। ज़ाकिर हुसैन स्वंय कांग्रेस के प्रतिनिधि थे लेकिन जिन्नाह ने वैवेल को बताया कि ज़ाकिर हुसैन

बस एक कठपुतली हैं, या वह किसी भी प्रकार कांग्रेस का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। बात कहने का जो ढंग जिन्नाह ने ज़ाकिर हुसैन के लिए अपनाया वह 1973 में चार वर्ष पश्चात छपी पुस्तक में ज़ाकिर हुसैन के निधन के बाद सामने आया।

किंतु ज़ाकिर हुसैन 1945 में ही जानते थे कि अस्थायी सरकार में उनकी भागीदारी पर प्रतिबंध लगा दिया गया है। ज़ाकिर हुसैन ने नेहरु, आज़ाद और लियाक़त को संबोधित करते हुए कहा था :-

आप सब राजनैतिक गगन के जगमगाते सितारे हैं और करोड़ों दिलों में आपका मान है। आप महानुभावों की उपस्थिति में मैं अपने घोर दु:ख और भावनाओं को व्यक्त करते हुए आप से विदा चाहता हूं ताकि मैं पठन-पाठन के कार्यों में व्यस्त हो जाऊं। एक दूसरे से नफ़रत अथवा घृणा की आग हमारे देश में फैली हुई है। ऐसे में हमारा कोई भी कार्य केवल पागलपन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। हम अपनी संस्कृति व सभ्यता को कैसे बचा सकेंगे जबकि हमारे चारों ओर एक पागलपन फैला हुआ है। यह कड़वे शब्द बल्कि इनसे भी अधिक कठोर शब्द इस स्थिति के उल्लेख के लिए कम हैं जो हमारे चारों ओर फैली हुई हैं। आप लोग बेचैनी को दूर कर सकें तो मानवजाति का कल्याण होगा।

भगवान के लिए अपने बिखरे हुए मन मस्तिष्क को एकत्र करके एकाग्रचित से काम लीजिए और चारों ओर फैली नफ़रत की आग को बुझाइए। यह समय छान बीन और नुक्ताचीनी का नहीं। यह समय है नफ़रत की फैलती आग को बुझाने का और अधिक फैलने से रोकने का, यह लपट कहीं और न हवा पकड़ ले।

यह शब्द जो भावनाओं को तीव्र करते हैं, शब्द जो सचेत करते हैं और हृदय की गहराईयों से प्रार्थना करते हैं-- पर इन शब्दों का सम्बन्ध वास्तव में अपनी अस्वीकृति को याद करना नहीं था। यह शब्द 1947 की शर्मनाक घटनाओं को तो नहीं रोक सके, पर नि:संदेह अपने अर्थ को नहीं खो सके।

राष्ट्रपति काल की एक स्मरणीय घटना आज भी याद है। 1967 के अंत में पटियाला में पंजाब विश्वविद्यालय में उनको गुरू गोविन्द सिंह भवन का शिलान्यास करना था। इस अवसर पर वह कैसे संबोधन करें। वह स्वंय और श्रोतागण दोनों समझते थे कि एक मुसलमान को सिखों को सम्बोधित करना है। श्रोतागण और अन्य वक्ताओं दोनों के मन में सिख मुस्लिम हिंसा के घाव ताज़ा थे। ज़ाकिर हुसैन नहीं भूले थे कि गुरु गोविन्द सिंह एक मुसलमान के हाथों शहीद हुए थे। उनके पिता और बेटे भी एक मुसलमान राजा के इशारे पर मार डाले गए थे। ज़ाकिर हुसैन भाषण देने खड़े हुए। यह बात उनके मन में थी कि 1947 में उनकी जान एक सिख ने बचाई थी। और संभवत: अपनी पुत्री रेहाना और अपने कुछ भाईयों के असामयिक निधन से प्रभावित होकर उन्होंने भाषण दिया। भावना की प्रचडंता से उनकी आंखें भीग गईं और श्रोतागण भी भावुक हो उठे। भाषण के बीच उन्होंने कहा:-

"गुरु गोविन्द सिंह का संपूर्ण जीवन एक दास्तान है, कथा है बलिदान की, परिश्रम की, शैक्षिक प्रयत्नों की, सिपाहियाना समझदारी की, अनुपम वीरता की, अति प्रबल कृपा, दया, स्नेह और अद्वितीय प्रेम की, छूती हैं जो दिलों को, हिला कर रख देती हैं बुद्धि को। यह कहानी स्पष्ट रुप से दर्शाती है कि अल्लाह के इस नेक बंदे का जीवन एक पावन, अति पवित्र, सुन्दर और महान.जीवन है जो सस्ते दामों में नहीं ख़रीदा जा सकता।

वह क्या चीज़ थी जो यह महात्मा भगवान को भेंट करने के लिये लाया। अपना नज़राना, भेंट, अपने प्राणों से ज़्यादा प्रिय अपने परिजनों की भेंट, उनके पिता की भेंट जो इनकी आंखों की ज्योति थे, अपने प्यारे बेटों की भेंट जो निर्भीक, निडर और साहसी साथी थे-- यह सभी भेंट चढ़ा दी उन्होंने।"

मन की अथाह गहराईयों से निकले यह मर्मस्पर्शी, दर्द में डूबे हुए शब्द जिन में मन का दु:ख भी छुपा था तथा इतिहास ने जो घाव डाले थे उन पर मरहम भी था।

डा. ज़ाकिर हुसैन के राष्ट्रपति होने के दिनों बहुत ही थोड़े समय में राष्ट्रपति भवन के फूल अति सुन्दर हुआ करते थे। हम हरी भरी लानों, सुन्दर फूलों के बिना उनके सोच भी नहीं सकते।

डा. ज़ाकिर हुसैन की दृष्टि अतंर्राष्ट्रीय परिस्थितियों पर भी थी। अपनी हंगरी और यूगोसलाविया की यात्रा के पश्चात तीस वर्ष पूर्व उन्होंने दुर्गादास से कहा था :

"इन देशों में परिवर्तन आ रहा है, बदलाव की हवाएं बड़ी तेज़ी से चल रही हैं और तेज़ी से इन दोनों देशों में बदलाव आ रहा है, यद्यपि वह लोग यह भी नहीं जानते कि आने वाला परिवर्तन किस प्रकार का होगा। साम्यवादी हल और समस्याएं क्या होंगी, किसी को इसकी चिंता भी नहीं। किंतु यहाँ अपने देश में केवल नारे बाज़ी करते हैं और बस। जब वह गणतंत्र के उपराष्ट्रपति थे (सन 1962-67) और फिर भारत के राष्ट्रपति हो गए उस समय कुछेक अवसरों पर मुझे उनसे भेंट करने का गौरव प्राप्त हुआ। प्रत्येक बार मेरा उत्साहपूर्ण अभिनन्दन हुआ परंतु मैं हर बार एक ऐसी भावना लेकर आया कि इतना बड़ा सम्मान पाने के पश्चात भी वह बहुत उदास थे क्यों कि जो राष्ट्रीय आंदोलन उन्होंने और दूसरे साथियों ने आरंभ किया था 1920 में वह अपनी परिपूर्णता तक नहीं पहुंच पाया है। अपनी क़ौम व देश के लिए यह सौहार्दपूर्ण भाव और प्रेम ही उनके महान व्यक्तित्व की पहचान हैं।

भारतीय राजनीति में ज़ाकिर साहब की भूमिका

डा. रफ़ीक़ ज़करिया

उर्दू के सुप्रसिद्ध व्यंग्यकार प्रोफ़ेसर रशीद अहमद सिद्दीक़ी ज़ाकिर साहब के घनिष्ठ मित्रों में से थे। अपनी पुस्तक "हमारे ज़ाकिर साहब" में उन्होंने ज़ाकिर साहब से संबंधी अनेक रोचक घटनाओं का उल्लेख किया है। इन घटनाओं से उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू प्रकाशित होते हैं। परंतु हमारे भूतपूर्व राष्ट्रपति की राजनीति में रुचि के संबंध में कोई भी झाँकी परिलक्षित नहीं होती क्योंकि रशीद अहमद सिद्दीक़ी के कथनानुसार ज़ाकिर साहब ने राजनैतिक कार्यों में कभी दिलचस्पी नहीं ली। वस्तुत: यह उनके स्वभाव के प्रतिकूल बात थी। वह एकांतप्रिय थे और रचनात्मक कार्यों में रुचि रखते थे। रशीद साहब के मतानुसार तो ज़ाकिर साहब राजनीतिज्ञ थे ही नहीं। वह न किसी राजनैतिक दल से संबंध रखते थे और न ही उनकी नीतियों और कार्यक्रमों पर चलते थे। परंतु इसीके साथ साथ,जैसा कि रशीद साहब ने लिखा है, वह राजनैतिक गतिविधि और राजनीतिज्ञों को कई रूप से प्रभावित भी कर सके।

ज़ाकिर साहब का राजनीति से संबंध तीसरी दशाब्दी के आरंभ में उस समय स्थापित हुआ जब वह एम.ओ. कालिज के एक छात्र थे। इस कालिज के संस्थापक सर सैय्यद थे और आगे चलकर इसने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वद्यालय के नाम से ख्याति प्राप्त की। यह ख़िलाफ़त और असहयोग आंदोलन का युग था। अलीबंधु मौलाना मुहम्मद अली और शौकत अली, गाँधी जी के साथ राजनैतिक क्षितिज पर उभरते हुए सितारे थे। उन्होंने बरतानिया के विरुद्ध प्रथम देशव्यापी आंदोलन का सूत्रपात किया जिसे उस समय ख़िलाफ़त आंदोलन और पंजाब ख़ूनी कांड का नाम दिया गया। इस आंदोलन के अंतर्गत एक तो उस वादे के उलंघन के लिए विरोद्ध प्रकट किया गया जो बरतानिया के प्रधानमंत्री लार्ड जार्ज ने हिदुस्तानी मुसलमानों से किया था कि वह काबा और अरब स्थित अन्य पवित्र स्थानों की रक्षा करते रहेंगे और प्रथम विश्व युद्ध (1914-1918 ई.) में तुर्की की पराजय के बावजूद यह स्थान 'उस्मानी ख़िलाफ़त' के संरक्षण में पूर्ववत रहेंगे। और दूसरा मुद्दा यह था कि जनरल डायर के हाथों जालियान वाला बाग़ में सैकड़ों निर्दोष भारतीयों

का संहार। बरतानिया के विरुद्ध आंदोलन के कार्यक्रम का एक भाग यह था कि सरकारी अनुदान से चालित संस्थाओं को छात्र छोड़ दें । कालिज के पुराने छात्र की हैसियत से अली बंधु अलीगढ़ आए और विद्यार्थियों को इस बात पर उद्यत किया कि वह अपनी मातृ शिक्षालय का परित्याग कर दें । छात्रों में अत्याधिक जोश था और व्यवस्थापकगण कालिज बंद होने के प्रत्येक संभव प्रयत्नों को विफल बनाने पर उतारू थे । ज़ाकिर साहब प्रारंभ में इन घटनाओं से अधिक प्रभावित नहीं थे । वह एक गंभीर और अध्ययनशील विद्यार्थी के समान अपनी शिक्षा छोड़ने से हिचकिचा रहे थे । उन्होंने मौलाना मुहम्मद अली का स्फूर्तिपूर्ण भाषण सुना था किंतु वह उनके तर्कों से पूर्णतया सहमत नहीं थे । बड़े भाई शौकत अली ने ईश्वरीय परिकोप से डराया और छात्रों से अपील की कि वह इस्लाम के उद्देश्यों के प्रतिकूल न हों । सभा से लौटते हुए ज़ाकिर साहब बहुत उलझे हुए थे, वह रात भर जागते रहे और सोचते रहे कि वह क्या करें ? दूसरे दिन प्रात: काल वह रशीद साहब के पास पहुँचे और कहा कि उन्होंनें निश्चय कर लिया है कि अपनी शिक्षा अधूरी छोड़ देंगे और आंदोलन में संमिलित हो जाएँगे । रशीद साहब आश्चर्य चकित रह गए । उन्होंने अपने मित्र को रोकने की बहुत कोशिश की । ज़ाकिर साहब ने कहा कि यद्यपि मैं इससे पूर्णतय सहमत नहीं हूँ, किंतु उस के अतिरिक्त और कोई उपाय भी नहीं है क्योंकि हमारे लाखों लोग इसे उचित समझ रहे हैं । वह इसको सफल बनाने के लिए हर प्रकार का बलिदान दे रहे हैं । ऐसे मोड़ पर यदि हम अपने भाइयों के साथ खड़े नहीं हुए तो यह कायरता होगी। मैं यह नहीं चाहता कि आने वाली पीढ़ियाँ अलीगढ़ के छात्रों के लिए कहें कि इस लक्ष्यपूर्ति के लिए बलिदान देने की भावना उनमें नहीं थी जबकि दूसरी संस्थाओं के विद्यार्थी इस भावना से ओत-प्रोत थे । ज़ाकिर साहब ने कालिज छोड़ दिया और जामिआ मिल्लिया आ गए जिसके संस्थापकों में गाँधी जी और अली बंधु थे और जो आगे चलकर उच्चशिक्षा का प्रथम राष्ट्रीय शिक्षालय बन गई ।

बस यही उनकी राजनीति थी । ज़ाकिर साहब ने बिना किसी आडंबर के नेताओं के आह्वान पर हुँकार भरी और ख़ामोशी से आंदोलन में संमिलित हो गए । उन्होंनें कार्यक्रम के उस भाग को अपनाया जो उनके सर्वाधिक अनुकूल था अर्थात राष्ट्रीय शिक्षा । उन्होंनें अपने जीवन के उत्तम वर्ष इसी की सेवा में लगा दिए और समस्त ऐश्वर्य का जो उन्हें सहज रूप से प्राप्त हो सकते थे परित्याग कर दिया । वह जामिआ में वास्तविक ग़रीबी का जीवन व्यतीत करने लगे और भारत जब तक स्वतंत्र नहीं हुआ वह जामिआ में ही रहे । उस काल में न उन्होंनें कुछ माँगा और न उन्हें कुछ मिला । उन्होंनें अपने देशवासियों की निस्स्वार्थ सेवा की और उस के बदले में उन्हें न प्रशंसा की इच्छा थी न किसी बदले की चाह । स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में ऐसे कम ही व्यक्ति होंगे जिन्हों ने आहुति दी हो और बदले में कुछ न मिलने की कभी कोई शिकायत न की हो । ज़ाकिर साहब के निकट बलिदान उनके कर्तव्य का एक हिस्सा था और कर्तव्य को पूर्ण करना ही इन के लिए

वास्तविक उपासना थी। जामिआ मिल्लिया की तीन दशाब्दियों से अधिक निस्स्वार्थ सेवा इस का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। वस्तुत: यह राजनीति नहीं थी। परंतु यदि राजनीति का अर्थ, जैसा कि जान मोरले ने कहा था, सुकृत्य है तो हमारे सार्वजनिक जीवन में ऐसे बहुत कम व्यक्ति होंगें जो ज़ाकिर साहब के पथप्रदर्शक बन सकें।

सिद्धांत: ज़ाकिर साहब कांग्रेस के साथ थे। जब भी आवश्यकता हुई वह उस के उद्देश्यों का साथ देने से कभी नहीं हिचकिचाए। परंतु अपने विचारों को प्रकट करने की उनकी अपनी ही शैली थी। वह बहुधा बेलाग और स्वतंत्र रूप से अपना मत प्रकट करते थे। उन्हें कटु आलोचना से घृणा थी और किसी का दिल तो दुखाना ही नहीं चाहते थे, किंतु अपने दृष्टिकोण पर सुदृढ़ रहते थे। उनके विरोधी भी थे। जब गाँधी जी की प्रेरणा से उन्होंने शिक्षा की वर्धा योजना का बीड़ा उठाया तो उन्हें निंदा का लक्ष्य बनना पड़ा। मुस्लिम लीग ने इस का घोर विरोध किया। ज़ाकिर साहब को बहुत आश्चर्य हुआ। जिन्नाह ने अपनी राजनीति के आधार पर कहा "मैं हर उस बात का विरोध करता हूँ जिसका समर्थन मिस्टर गाँधी करते हैं"। इसके बावजूद भी मुस्लिम लीग और जिन्नाह से उनके संबंध अच्छे रहे। इस का प्रमाण यह है कि जब "कलकत्ता दंगों" के उपरांत, जो जिन्नाह की "प्रत्यक्ष शक्तिप्रयोग" घोषणा के फलस्वरूप हुए थे, 1946 ई. के विकराल काल में भी एक ओर नेहरू तथा आज़ाद एवं दूसरी ओर जिन्नाह तथा ल्याक़त अली को एक ही मंच पर लाने में वह सफल हो गए। यह बात किसी चमत्कार से कम नहीं थी, प्रत्येक व्यक्ति आश्चर्यचकित था। इसी प्रकार की राजनीति को वह कार्यविंत करते थे। उनमें एक विशेष गुण यह था कि वह कठिन और सरल परिस्थितियों में अंतर्विरोधों पर नियंत्रण कर लेते थे। हर रोग का उपचार खोज लेने की क्षमता उनमें ईश्वर प्रदत्त थी।

यह अवसर जामिआ मिल्लिया इस्लामिया की रजतजयंती समारोह का था जब यह चारों नेता एक मंच पर एकत्रित हुए थे। इस स्थिति ने एक एतिहासिक घटना का रूप धारण कर लिया। ज़ाकिर साहब ने, अल्पकाल के लिए ही सही, दो भिन्न राजनैतिक दृष्टिकोण के पोषक लोगों को एक मंच पर ला खड़ा किया। इससे सिद्ध होता है कि वह कितने परोपकारी मनुष्य थे, जिन पर सब भरोसा करते थे, यहाँ तक कि दो शत्रु दलों को जोड़ने के लिए वह एक कड़ी बन सकते थे। परंतु दुर्भाग्यवश वह दोनों में सहमति उत्पन्न न करा सके।

ज़ाकिर साहब ने अपने स्वागत भाषण में इन नेताओं से स्पष्ट शब्दों में कहा था: "आप सब साहेबान (महानुभाव) आस्माने सियासत राजनैतिक क्षितिज के सितारे हैं, लाखों नहीं करोड़ों लोगों के दिलों में आप के लिए जगह है। आप की यहाँ मौजूदगी (उपस्थित) से फ़ायदा (लाभ) उठाकर मैं तालीमी (शैक्षणिक) काम करने वालों की तरफ़ से बड़े ही दुख के साथ चंद लफ़्ज़ (कुछ शब्द) अर्ज़ (निवेदन) करना चाहता हूँ। आज मुल्क में बाहमी नफ़रत (पारस्परिक घृणा) की जो आग भड़क रही है उसमें हमारा चमनबंदी

(पुष्प खिलाने) का काम दीवानपन (उन्माद) मालूम होता है । यह आग शराफ़त (उदारता) और इंनसानियत की सरज़मीन (भूमि) को झुलसे देती है । इसमें नेक और मुतवाज़िन (संतुलित) शख़्सियतों (विभूतियों) के ताज़ा पूल कैसे पैदा होंगे ? हैवानों (दानवों) से भी पस्ततर (पतित) सितह एख़्लाक़ (नैतिकता) पर हम इनसानी एख़्लाक़ (मानवीय नैतिकता) को कैसे सँवार सकेंगे ? बरबरियत (बर्बरता) के दौर दौरे में (कालचक्र में) तहज़ीब (संस्कृति) को कैसे बचा सकेंगे ? इसके नए ख़िदमतगुज़ार (सेवक) कैसे पैदा कर सकेंगे ? जानवरों की दुनिया में इनसानियत (मानवता) को कैसे सँभाल सकेंगे ? यह लफ़्ज़ शायद कुछ सख़्त (कठोर) मालूम होते हों लेकिन इन हालात (परिस्थितियों) के लिए जो रोज़ बरोज़ (दिन प्रति दिन) हमारे चारों तरफ़ फैल रहे हैं इससे सख़्त लफ़्ज़ भी बहुत नर्म होते हैं । हम जो अपने काम के तक़ाज़ों (मांगों) से बच्चों का आदर करना सीखते हैं आप को क्या बताएँ कि हम पर क्या गुज़रती है जब हम सुनते हैं कि बहमियत (बर्बरता) के इस बोहरान (संकट) में मासूम (निर्दोष) बच्चे भी महफ़ूज़ (सुरक्षित) नहीं । शायरे हिंदी (भारतीय कवि) ने कहा था कि हर बच्चा जो दुनिया में आता है अपने साथ प्याम (संदेश) लाता है कि ख़ुदा अभी इनसान से पूरी तरह मायूस (निराश) नहीं हुआ । मगर क्या हमारे देश का इनसान अपने से इतना मायूस हो चुका है कि इन मासूम (निरीह) कलियों को भी खिलाने से पहले मसल देना चाहता है। ख़ुदा के लिए सर जोड़ कर बैठिए और इस आग को बुझाइए । यह वक्त इस तहक़ीक़ (छानबीन) का नहीं है कि आग किसने लगाई, कैसे लगी, आग लगी हुई है उसे बुझाइए। यह मसला (समस्या) इस क़ौम (संप्रदाय) और उस क़ौम के ज़िंदा रहने का नहीं है, मुहज़्ज़ब इनसानी ज़िंदगी (सुसंस्कृत मानव जीवन) की बुनियादों (आधारों) को यूँ ढहने न दीजिए ।"

देश विभाजन ज़ाकिर साहब के लिए एक धचका था, उन्होंने अपने ढंग से इस विभाजन को रोकने की अत्याधिक चेष्टा की । उनके मित्र कांग्रेस और लीग दोनों में विद्यमान थे । वह उन लोगों से कहते थे कि शताब्दियों पुरानी एकता के भवन को न ढाएँ । परंतु वह लोग कोई व्यवहारिक समाधान नहीं खोज पाए । ज़ाकिर साहब को आशा की किरण उस समय दृष्टिगोचर हुई जब कैबिनेट मिशन योजना को सारे दलों ने स्वीकार कर लिया । परंतु इसके पश्चात घटित घटनाओं ने उनका दिल तोड़ दिया । उन्होंने निश्चय कर लिया कि जामिया से चले जाएँगे और एकांत में अपना जीवन पढ़ने लिखने में बिता देंगे । परंतु भाग्य में तो कुछ और ही लिखा था । प्रधान मंत्री नेहरू ने उनसे कहा कि वह अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति का पदभार सँभालें क्योंकि यह पृथकतावादी मुसलमानों की शिक्षालय बन गई थी । हिन्दुस्तानी मुसलमानों के लिए धर्मनिरपेक्षता के आधार पर इसकी कायाकल्प समय की अत्यंत महत्वपूर्ण आवश्यकता थी । ज़ाकिर साहब इस आग्रह को नकार नहीं सके क्योंकि पहली बात तो यह थी कि इनके मन में नेहरू का

बहुत संमान था, दूसरी बात वहाँ एक चुनौती थी जिस से निपटने के लिए उनसे कहा गया था। हृदय रोग के बावजूद ज़ाकिर साहब ने आठ वर्ष तक अलीगढ़ को धर्मनिरपेक्ष रूप देने के अनथक प्रयास किए। निस्संदेह वह "उसका रुख़ मोड़ने में सफल हुए किंतु पूर्णतया नहीं। उन्होंने त्यागपत्र दे दिया यद्यपि अभी उनके कार्यकाल में लगभग डेढ़ साल शेष थे। उन्होंने न केवल अलीगढ़ के छात्रों और अध्यापकों को बल्कि सारे भारतवर्ष के मुसलमानों को उपदेश दिया। ज़ाकिर साहब ने उन लोगों से कहा था: "अपनी आस्था और अपने धर्म की विशेषताओं के एहसास के साथ उन्नति के पथ पर अग्रसर हों, यह तुम्हारे लिए भारतीय जीवन के एक स्वस्थ विकास में सेवा का एक अतिरिक्त दायित्व और विशिष्ट अवसर सिद्ध हो सकता है। यह भाव वंचना या बेवफ़ाई का नहीं हैं। इस कर्तव्य को साधारणतया संकीर्ण और कपटी छिद्रान्वेषी कठिन बना देते हैं। हमारे राष्ट्रीय जीवन में धार्मिक भेद-भाव की स्मृतियाँ, उन संकीर्ण और अनुदार व्यक्तियों के लिए निर्दयपूर्ण और सहानुभूतिरहित मिथ्याप्रचार का द्वार खोलती है।" उन्होंने हिंदूओं और हिंदुस्तानी समाचार पत्रों से भी कहा कि मुसलमानों के संबंध में हर उस बात को अत्यंत सरलतापूर्वक मान लिया जाता है जिस से कोई भ्रामक अर्थ निकलता हो। उन्होंने कहा: "मैं इस उतावलेपन को समझ सकता हूँ किंतु मैं समझता हूँ कि एक हिन्दुस्तानी होने के नाते मुझे हर वह बात करनी चाहिए जिससे वफ़ादार भारतीय मुसलमान नागरिकों के प्रति अस्वस्थ प्रवृत्ति उत्पन्न न हो। वह अपने ही देश में विदेशी नहीं समझे जा सकते। यह प्रवृत्ति निराशा और वंचन का उत्तेजनापूर्ण भाव उत्पन्न करती है। यह न उन लोगों के लिए उचित है और न हमारे देश के लिए।" अलीगढ़ छोड़ने के उपरांत नेहरू चाहते थे कि ज़ाकिर साहब विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष बन जाएँ। परंतु समकालिक शिक्षा मंत्री मौलाना आज़ाद ने इस पदभार को सँभालने की बात डा.सी.डी. देशमुख से कर ली। किसी कारणवश आज़ाद ज़ाकिर साहब को लेना नहीं चाहते थे। मौलाना को इसके पश्चात भी उनके बिहार के राजपाल बनाए जाने पर आपत्ति थी। परंतु दोनों में से किसी ने इस दुराव के संबंध में कभी बात नहीं की। एक बार हुमायूँ कबीर ने, जो मौलाना के घनिष्ट लोगों में थे, उन दोनों के बीच की ग़लतफ़हमी दूर कराने की चेष्टा की और ज़ाकिर साहब को राय दी कि वह आज़ाद से मिल लें। आत्मसम्मानी ज़ाकिर साहब ने उत्तर दिया कि "मेरे छोटे से झोंपड़े से मौलाना आज़ाद की सरकारी कोठी के बीच की दूरी उतनी ही है जितनी कि मौलाना की कोठी से मेरे झोंपड़े की है।" आज़ाद को दूसरे मुस्लिम नेताओं से एक प्रकार को चिढ़ सी थी, इसलिए ऐसा व्यवहार ज़ाकिर साहब के ही साथ नहीं था बल्कि अलीबंधुओं, डा. मुख़्तार अहमद अंसारी, हकीम अजमल ख़ाँ, सरहदी गाँधी और उनके भाई डा. खान साहब के प्रति भी उनकी यही प्रवृति थी। इनमें से किसी से भी आज़ाद के अच्छे संबंध नहीं थे।

बिहार के राजपाल का कार्यकाल सफलतापूर्वक पूर्ण करने के पश्चात ज़ाकिर साहब को भारत का उपराष्ट्रपति निर्वाचित किया गया था । उपराष्ट्रपति की हैसियत से राज्यसभा की अध्यक्षता करनी होती थी जिसकी बैठकें बहुधा उत्पातपूर्ण होती थीं । स्पष्ट है यह उनके लिए विलक्षण अनुभव था, अक्सर विक्षोभोत्पादक था, इसके के बावजूद ज़ाकिर साहब अपनी कुशलनीति और अपने धैर्य के कारण उसे नियंत्रित कर लेते थे । वह कभी क्रोधित नहीं होते थे और सदैव शालीन और शिष्टाचारपूर्ण व्यवहार करते थे तथा अपने रोचक तर्क से ग़लती करने वाले को लज्जित कर देते थे । परंतु इस का मूल्य उन्हें चुकाना पड़ा था । सदस्यों में अटल बिहारी उन्हें बहुत पसंद थे । उनकी वाग्मिता, मुग्धकारी भाषणशैली और रोमांचक प्रवृत्ति ने ज़ाकिर साहब का दिल जीत लिया था और उन्होंने एक बार कहा था: ''मैं राजनीति को नापसंद करता हूँ किन्तु अटल जी मेरे इस रोग का उपचार कर सकते हैं।''

अब सब से बड़े राजनैतिक संकट का सामना ज़ाकिर साहब को करना था । आजीवन वह निर्वाचन से बचते रहे और राजनैतिक उपद्रवों से अपने को अलग रखा । परंतु डा. राधाकृष्णन के अवकाश प्राप्त होने के पश्चात् हिन्दुस्तान के राष्ट्रपति स्पष्ट है ज़ाकिर साहब ही हो सकते थे । लेकिन इन्दिरा गाँधी को प्रधानमंत्री के रूप में अपना प्रभुत्व मनवाना अभी शेष था । उस समय वस्तुत: न केवल विपक्षी दल बल्कि सत्ताधारी कांग्रेस के वरिष्ट नेता भी उनसे संदिग्ध थे । इस कमज़ोरी के कारण उनके द्वारा प्रस्तावित नाम को आघात पहुँच सकता था । जीत के लिए आवश्यक मतदाताओं की संख्या में पर्याप्त कमी आ चुकी थी क्योंकि केंद्र और राज्यों दोनों में कांग्रेस की निर्वाचक मत क्षमता घट गई थी । कांग्रेस के अध्यक्ष कामराज को आशंका थी कि ऐसे संकटपूर्ण अवसर पर एक मुसलमान को इस उच्चपद के लिए प्रत्याशी बनाना ख़तरनाक हो सकता है । इसके अतिरिक्त विपक्षी दल भी एक साथ हो गए थे और उन्होंने उच्चतम न्यायालय के भूतपूर्व प्रधान न्यायाधीश सुब्बा राव को अपना प्रत्याशी बनाया था । फिर भी श्रीमती गाँधी अपनी बात पर अड़ी रहीं । उन्हें विश्वास था कि ज़ाकिर साहब अवश्य जीतेंगे क्योंकि उनके नेतृत्व पर हिन्दू और मुसलमान दोनों को भरोसा है । उन्होंने इस चुनाव को धर्मनिरपेक्षता से भारत के आसंजन की परीक्षा बना दिया । वह सही सिद्ध हुईं और ज़ाकिर साहब बहुत बड़े बहुमत से विजयी हुए।

ज़ाकिर साहब का देहावसान अपने कार्यकाल के बीच में ही हो गया । उनकी कमी ने हिन्दुस्तानी राजनीति की राह मोड़ दी, किंतु यह एक अलग कहानी है । जहाँ तक ज़ाकिर साहब के जीवन का प्रश्न है, मैं जब इस पर दृष्टिपात करता हूँ तो मुझे सेनिका की वह बात याद आ जाती है जो उसने वास्तविक रूप से महान व्यक्तियों के संबंध में लिखी है: ''महान वह है जो मिट्टी के बरतनों का उपयोग इस प्रकार करे जैसे वह चाँदी के हों और चांदी के बरतनों का उपयोग ऐसा करे जैसे वह मिट्टी के हैं ।''

अलीगढ़ से ज़ाकिर साहिब का सम्बन्ध

आले अहमद सुरूर

इस्लामिया हाई स्कूल इटावा में शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् ज़ाकिर साहिब अलीगढ़ पहुँचे जहाँ उनका प्रवेश एम.ए.ओ. कालिज में हो गया। इटावा स्कूल के प्रधानाध्यापक ज़ाकिर साहिब को क़ायमगंज से जानते थे, उन्होंने इस युवक में योग्यता की झलक देख ली थी और उन की कृपा-दृष्टि के परिणामस्वरूप ज़ाकिर साहिब एक प्रवीण छात्र, एक योग्य वक्ता और युवा नेता के रूप में उभरे। प्रोफ़ेसर हुबीबुर्रहमान स्कूल और कालिज में ज़ाकिर साहिब के सहपाठी थे। उन्होंने अपनी श्रद्धा प्रकट करते हुए उस समय की चर्चा की है जब यूरोप में बल्क़ान का युद्ध चल रहा था। प्रो. हबीबुर्रहमान लिखते हैं कि ज़ाकिर साहिब उन्हें और कुछ अन्य मित्रों को ले कर प्रतिदिन रेलवे स्टेशन पहुँच जाते थे ताकि दोपहर में आए हुए ताज़ा समाचारपत्रों को ख़रीद सकें। स्टेशन से यह सब मित्र स्कूल पहुँचते और वहाँ उपस्थित प्रतीक्षा करते छात्रसमूह के सामने वह समाचारपत्र पढ़े जाते और युद्ध-क्षेत्र की सामयिक स्थिति से लोगों को अवगत कराया जाता और पश्चिमी शक्तियों द्वारा शोषित और युद्ध के घायलों के लिये चँदा एकत्रित किया जाता। एम.ए.ओ. कालिज में प्रवेश के पश्चात् नेतृत्व करने की योग्यता रखने और उच्च श्रेणी के वक्ता होने के कारण वह छात्रसंघ के उपाध्यक्ष नियुक्त हुए जो उस समय के किसी भी छात्र के लिए बहुत बड़ा सम्मान था। उस समय तक छात्रसंघ का अध्यक्ष कालिज का प्रिंसिपल हुआ करता था। ज़ाकिर साहिब लाइब्रेरी पांबदी से जाते थे हालाँकि क्लास की उपस्थिति के सिलसिले में इतने पाबंद न थे। हबीबुर्रहमान साहिब पढ़ाई के बारे में उनसे ज़्यादा गंभीर और समय के पाबंद थे और बी.ए. की परीक्षा की तैयारी के लिए उन्हों ने विस्तारपूर्वक नोट्स तैयार किए थे। उनके मित्र, ज़ाकिर साहिब पर तरस खा कर अपने नोट्स उन्हें दे दिया करते थे। हबीबुर्रहमान साहिब बड़े मज़े से बताया करते कि ज़ाकिर साहिब न केवल ये कि फ़र्स्ट डिवीज़न में सफल हुए बल्कि पूरी क्लास में प्रथम रहे जब कि स्वयं वह सेकण्ड डिवीज़न में सफल हुए। उन्होंने एम.ए. (अर्थशास्त्र) में प्रवेश लिया। 1919 ई. में जब असहयोग आन्दोलन और ख़िलाफ़त आन्दोलन का आरम्भ हुआ उस समय गाँधी जी और मौलाना मो. अली ने युनिवर्सिटी और कालिज के बायकॉट की आवाज़ उठाई। ज़ाकिर साहिब एम.ए.ओ. कालिज में टयूटर के रूप में सेवा कर रहे थे। उन्होंने

अपने कुछ अन्य सहायकों और छात्रों की एक बड़ी संख्या के साथ एम.ए.ओ. कालिज को छोड़ दिया और जामिया मिल्लिया इस्लामिया के आन्दोलन में सम्मिलित हो गए।

हालाँकि मौलाना मो. अली. जामिया के संस्थापकों में से थे, कुछ ही समय बाद उनकी रूचि इस संस्था से कम हो गई। उन के सामने उन का राजनीतिक चरित्र और भारत से अंग्रेज़ों के शासन का अंत जैसे महान् उद्देश्य थे। उस समय डा. मुख़्तार अहमद अंसारी और हकीम अजमल खाँ, जो बड़े राष्ट्रीय नेताओं में गिने जाते थे, जामिया मिल्लिया के मामलों को देख रहे थे। जामिया मिल्लिया अलीगढ़ से दिल्ली स्थानांतरित हो गई थी और क़रौल बाग़ में किराये के मकानों में इसका काम चल रहा था। ज़ाकिर साहिब इस दरम्यान जर्मनी में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे और प्रोफ़ेसर सोम्बार्ट के निरीक्षण में अपनी पी.एच.डी. का थीसिस लिख रहे थे। जब उन्होंने सुना कि जामिया मिल्लिया बंद की जाने वाली है तब उन्होंने जर्मनी से ये संदेश भेजा कि उन की वापसी की प्रतीक्षा की जाए और जामिया के लिए अपनी सेवा प्रस्तुत की। ज़ाकिर साहिब जब अपने दो मित्रों सैय्यद आबिद हुसैन और मो. मुजीब के साथ भारत आए तब उन्होंने दस-बारह अध्यापकों पर आधारित एक बोर्ड ऑफ ट्रस्टीज़ का निर्माण किया, इन लोगों ने अधिक-से-अधिक एक सौ पचास रूपये मासिक वेतन पर बीस वर्ष तक जामिया मिल्लिया की सेवा करने का संकल्प किया। इस प्रकार ज़ाकिर साहिब को जामिया मिल्लिया का वास्तविक निर्माता कहा जा सकता है कि उन के नेतृत्व में जामिया एक ऐसी प्रतिष्ठित राष्ट्रीय संस्था बन सकी जिस में स्वदेशी शिक्षा, चरित्र-निर्माण, नैतिक मूल्य और भारतीय परम्परा में गर्व के तत्व सम्मिलित थे। इस के अतिरिक्त पश्चिमी मूल्यों की अच्छी परम्पराओं की प्राप्ति के फलस्वरुप जामिया एक ऐसी संस्था बनी जिस ने ऐसे मुसलमान तैयार किए जो उस समय में अच्छे राष्ट्रीय नेता भी बने। प्रो. डब्लू.सी. स्मिथ ने अपनी पुस्तक "मॉडर्न इस्लाम इन इंडिया" में जामिया की बड़ी प्रशंसा की है और उसके रूप को सजाने में डा. ज़ाकिर हुसैन के प्रयत्नों के लिए भरपूर तरीक़े से श्रद्धा प्रकट की है।

जामिया में पूरी तरह व्यस्त होने के बावजूद ज़ाकिर साहिब अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी की कोर्ट और कार्यकारिणी की बैठकों में सम्मिलित होने का अवसर निकाल लेते थे। एम.ए.ओ. कालिज को दिसम्बर 1920 ई. में यूनिवर्सिटी का दर्जा दे दिया गया था। 1938 ई. में गुलाम मुहम्मद, जो बाद में पाकिस्तान के गवर्नर जनरल हुए, के साथ ज़ाकिर साहिब ने मुहम्मद अली जिन्नाह से प्रार्थना की कि वह अलीगढ़ के कुलपति पद के लिए किसी उचित व्यक्ति का नाम चयन करें। जिन्नाह साहिब ने सर शाह सुलेमान का नाम प्रस्तुत किया जो उस समय नवनिर्मित फ़ेडरल कोर्ट के जज थे। और सर शाह सुलेमान सब की सहमति से अलीगढ़ के कुलपति नियुक्त हुए। वह सप्ताह में एक दिन के लिए अलीगढ़ आते थे फिर भी यूनीवर्सिटी के लिए उन की सेवाएँ बहुमूल्य हैं। दुर्भाग्यवश कुछ वर्षों में ही उनकी मृत्यु हो गई। ज़ाकिर साहिब इस बीच अलीगढ़ की

कार्यकारिणी के सदस्य रहे ।

1940 ई. से 1947 ई. तक अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी बड़ी हद तक मुस्लिम लीग के प्रभाव में रही और जब अगस्त 1947 ई. में भारत स्वतंत्र हुआ और देश का विभाजन हुआ तो अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी का राष्ट्रीय चरित्र भी प्रभावित हुआ । यूनिवर्सिटी के वह छात्र, जिन का सम्बन्ध उन क्षेत्रों से था जो पाकिस्तान में सम्मिलित हुए, प्रवास कर गए और शेष जो रह गए वह अपने को अकेला और बेसहारा समझने लगे । नवाब इस्माईल खाँ 1947 ई. के अंत में यूनिवर्सिटी के कुलपति बने । उन्होंने बड़ी कोशिश की कि संस्था पूरी तरह जीवित रहे परन्तु मुस्लिम लीग से अपने सम्बन्ध के कारण उनकी कोशिशें सफल न हो सकीं । इस मुख्य मामले पर उस समय के शिक्षा मंत्री मौलाना आज़ाद ने सुझाव रखा कि डा. ज़ाकिर हुसैन को अलीगढ़ का कुलपति नियुक्त किया जाए । ज़ाकिर साहिब एजूकेशनिस्ट के रूप में पूरे देश में प्रसिद्ध थे, उन्हें गाँधी जी ने 1937 ई. में बेसिक एजूकेशन की कमेटी का अध्यक्ष नियुक्त किया था और इस कमेटी ने प्राइमरी एजूकेशन के लिए वरधा स्कीम की दिशा निर्देश में दस्तकारी द्वारा शिक्षा देने की सिफ़ारिश की थी । 1946 ई. में जब केन्द्र में अंतरिम सरकार स्थापित हुई तब जवाहर लाल नेहरू ने ज़ाकिर साहिब को मंत्री परिषद् में शिक्षा-मंत्री के रूप में नियुक्त करना चाहा था ।

ज़ाकिर साहिब अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी को उच्च स्तर पर लाने और उसे शक्ति प्रदान करने के आज़माईशी मिशन में तन-मन से जुट गए । जवाहर लाल नेहरू, मौलाना आज़ाद और यू.पी. की गवर्नर सरोजनी नायडू ने ज़ाकिर साहिब की कोशिशों में उनकी बड़ी सहायता की । उन सब की इच्छा थी कि अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी एक ऐसा उच्च शिक्षा केन्द्र बने जिस पर पूरे देश को गर्व हो । इस बारे में ज़ाकिर साहिब ने सबसे पहले उन विभिन्न शास्त्रों और कलाओं के विशेषज्ञों से सम्पर्क स्थापित किया जो देश के जाने-माने लोग थे और वह उनकी सलाह से बहुत से प्रसिद्ध शिक्षकों को अलीगढ़ लाने में सफल हो सके । इसके अन्तर्गत प्रो. पी.एस. गिल (भौतिक विज्ञान), प्रो.डी.पी. मुखर्जी (अर्थशास्त्र), डा. नूरूलहसन (इतिहास), डा. अब्दुल अलीम (अरबी) के नाम लिए जा सकते हैं । यूनिवर्सिटी की आर्थिक-स्थिति बिगड़ी हुई थी । स्वदेशी राज्यों से यूनिवर्सिटी को अनुदान मिलने बंद हो गए थे और केन्द्रीय सरकार का अनुदान इतना नहीं था जिससे यूनिवर्सिटी का ख़र्च पूरा होता । कुछ ही समय में स्थिति परिवर्तित हो गई । ज़ाकिर साहिब ने मुझ से 1951 ई. में कहा था कि केन्द्रीय सरकार का अनुदान बारह लाख हो गया है और उसमें वृद्धि की आशाए भी हैं । यह सब इस लिए संभव हो सका कि यूनिवर्सिटी के बहुत से प्रोजेक्ट्स केन्द्रीय सरकार ने स्वीकृत कर लिए थे । ज़ाकिर साहिब उस ऐजूकेशन कमीशन के सदस्य थे जिसके चेयरमैन डा. राधा कृष्णन थे और इस रूप में उन्हें बहुत से विद्वानों और कलाकारों से मिलने का अवसर मिला । ज़ाकिर साहिब

ने इन में से बहुत-से लोगों को कुछ समय के निवास के लिए, सेमिनार में सम्मिलित होने के लिए और भाषण देने के लिए अलीगढ़ आने के लिए निमंत्रित किया। अलीगढ़ की साईंस फ़ैकल्टी के बहुत से शिक्षक अपने भविष्य को सँवारने की दृष्टि से अलीगढ़ छोड़ चुके थे। ज़ाकिर साहिब ने इस स्थिति से निबटने के लिए अध्ययन-अवकाश के नियमों को सरल बना दिया जिसके परिणामस्वरूप बहुत से युवक और योग्य अध्यापक इंगलैंड और अमरीका उच्च शिक्षा के लिए भेजे गए। इस नीति के कारण यूनिवर्सिटी के बहुत से विभागों को लाभ पहुँचा। अलीगढ़ के फ़ारसी-अरबी के विभाग अत्यन्त प्रसिद्ध थे। ज़ाकिर साहिब ने मरकज़े उलूमे इस्लामिया की आधारशिला रखी जिसके लिए मौलाना आज़ाद ने जो स्वयं एक सर्वमान्य विद्वान थे, अपने मंत्रालय से यूनिवर्सिटी की बड़ी सहायता की। इस मरकज़ में अरब दुनिया, ईरान और तुर्की के अध्ययन और इस्लाम के विकास में उनके आपसी सम्बन्धों को विशेष रूप से महत्व प्राप्त था। इस मरकज़ में भारत से बाहर के विद्वान थे, यहाँ आने और बदले में अलीगढ़ के अध्यापकों के विदेशों में जाने की गुंजाईश रखी गई थी। इस के अन्तर्गत फ़ारसी के विद्वान सईद नफ़ीसी और तुर्की के विद्वान नियाज़ी बर्की के नाम लिए जा सकते हैं। यूनिवर्सिटी का इंजीनियरिंग कालिज बहुत थोड़े से उपकरणों के साथ काम तो कर रहा था, परन्तु उसकी स्थिति बहुत अच्छी न थी। ज़ाकिर साहिब ने इस कालिज को स्थायित्व दिया और उसे इंजीनियरिंग की शिक्षा का एक बड़ा केन्द्र बनाया। उन्होंने केन्द्रीय सरकार को इस बात पर तैयार किया कि मेडिकल कालिज की स्थापना के लिए एक बड़ा अनुदान दिया जाए। अस्पताल की स्थापना के लिए यू.पी. की सरकार से भी उनकी बात-चीत चल रही थी और प्रवेश के नियमों पर भी विचार किया जा रहा था। ऐसे में ख़राब स्वास्थ्य होने के कारण उन्हें अलीगढ़ छोड़ना पड़ा। उसी समय अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी और बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के नामों के परिवर्तन के बारे में भी एक सुझाव पर विचार किया जा रहा था। मौलाना आज़ाद ने इस सुझाव पर ज़ाकिर साहिब की राय मालूम की परन्तु ज़ाकिर साहिब ने इस सुझाव का विरोध किया तो ये सुझाव रद्द कर दिया गया।

अलीगढ़ में 1940 ई. से ही लड़कियों को कुछ विषयों में पोस्ट ग्रेजुएट क्लासों में प्रवेश मिलने शुरू हो गए थे परन्तु वह बुर्क़े में आती थीं और क्लास रूम के दूसरी ओर बैठती थीं। लड़कों और लड़कियों के बीच एक चिलमन हुआ करती थी। ज़ाकिर साहिब ने इस परम्परा का अंत किया। जो लड़कियाँ बुर्क़ा पहनना चाहती थीं उन पर कोई पाबंदी न थी लेकिन क्लास रूम के बीच की चिलमन हटा दी गई। ज़ाकिर साहिब ने यूनिवर्सिटी की सांस्कृतिक गतिविधियों को नया जीवन दिया और नाटक, संगीत और अन्य वस्तुकला के लिए विभिन्न क्लब खोले गए और इस प्रकार छात्रों और छात्राओं की रचनात्मक योग्यता को बढ़ावा मिला। प्रसिद्ध कवि और ओल्ड बोआय मजाज़ की लोकप्रिय कविता 'नज़्रे अलीगढ़' को यूनिवर्सिटी के तराने के रूप में उसी समय अपना

लिया गया था। इस तरानेकी धुन स्वर्गीय इश्तियाक़ मुहम्मद ख़ाँ ने तैयार की थी। यह तराना यूनिवर्सिटी के हर विशेष समारोह में गाया जाता है जो सुनने वालों को मुग्ध कर देता है। इस तराने के आख़री बंद विशेष रूप से दिलों को छू लेते हैं:

जो अब्र यहाँ से उठ्ठेगा, वह सारे जहाँ पर बरसेगा
हर जूएरवां पर बरसेगा, हर कोहे गराँ पर बरसेगा
हर सर्वोसमन पर बरसेगा, हर दश्तोदमन पर बरसेगा
ख़ुद अपने चमन पर बरसेगा, ग़ैरों के चमन पर बरसेगा
हर शहरे तरब पर गरजेगा, हर क़स्रे तरब पर कड़केगा
ये अब्र हमेशा बरसा है, ये अब्र हमेशा बरसेगा

ज़ाकिर साहिब की वाइस चाँसलरी के समय में विश्वव्यापी महत्व रखने वाले जो प्रतिष्ठित व्यक्ति अलीगढ़ पहुँचे उन में सऊदी अरब के शाह सऊद और ईरान के रज़ा शाह पहलवी के नाम विशेष रूप से लिए जा सकते हैं। शाह सऊद के आगमन के परिणामस्वरूप मेडिकल कालिज की स्थापना के लिए अलीगढ़ को दस लाख रूपयों का बहुमूल्य अनुदान भी मिला।

स्वतंत्रता के पश्चात् भी केवल मुसलमान अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी की कोर्ट के सदस्य हो सकते थे। इसके अलावा मुस्लिम दीनियात पढ़ना सब के लिए अनिवार्य था। 1953 ई. के एक्ट में यूनिवर्सिटी के विशेष चरित्र को बाक़ी रखते हुए इस बात की भी गुंजाईश निकाली गई कि ग़ैरमुस्लिम भी यूनिवर्सिटी की कोर्ट के सदस्य हो सकते हैं और मुस्लिम दीनियात के बजाय नीतिशास्त्र भी विषय के रूप में पढ़ा जा सकता है। मैं ने उस समय इस बात को अपने एक शेर में इस प्रकार कहा था:

"The gates of the wine tavern be now open for all lovers of wine
But there who came to drink shall have the same sparkle"

ज़ाकिर साहिब ने अंडर ग्रेजूएट स्तर पर सामान्य शिक्षा के लिए एक प्रोजेक्ट तैयार किया। इस प्रोजेक्ट को जिस टीम ने तैयार किया उसके डायरेक्टर डाक्टर सैय्यद आबिद हुसैन थे। उन की सहायता के लिए तीन सीनियर अध्यापक भी थे, जिन्हें विज्ञान, समाजशास्त्र-विज्ञान और सार्वभौमिक साहित्य के पाठ्यक्रम तैयार करने की ज़िम्मेदारी सौंपी गई थी। सामान्य शिक्षा का यह केन्द्र रॉकफ़िलर फ़ाऊन्डेशन के बहुमूल्य अनुदान के योगदान से बनाया गया। इस केन्द्र में एक म्यूज़ियम और एक लाइब्रेरी की भी स्थापना की गई। विश्वव्यापी शोहरत रखने वाले चित्रकार एम.एफ़. हुसैन ने इस केन्द्र की अगली दीवार पर अनुपम चित्रण किया है जिसका विषय "प्रगति" है। एक हॉल जो कैनेडी के नाम से सम्बन्धित है, ढाई हज़ार बैठने वालों की समाई रखता है। हालाँकि अंडर ग्रेजुएट

स्तर पर एक बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम के महत्व को पूरी दुनिया में माना जा रहा है। किंतु अब यहाँ आर्ट और साहित्य के विभिन्न क्लब और म्युज़ियम ही बाक़ी हैं। फिर भी यह केन्द्र हमें आश्चर्य में डाल देता है कि ज़ाकिर साहिब ने इतने समय पहले वैज्ञानिक स्तर पर कैसे महत्वपूर्ण क़दम उठाए थे।

1953 ई. के ऐक्ट से पहले अलीगढ़ में वाइस चाँसलर का कार्यकाल तीन वर्ष था परन्तु इस ऐक्ट के बाद उसे पाँच वर्ष कर दिया गया। ज़ाकिर साहिब ने लगभग आठ वर्ष (1948 ई. से 1956 ई.) कुलपति के रूप में सेवा की। उन का स्वास्थ्य बिगड़ गया था। अपने स्वास्थ्य के बारे में वह सदैव लापरवाह रहे। अपने खाने-पीने की पाबंदी का ख़्याल भी उन्हें कभी नहीं रहा। वह डॉयबिटीज़ के रोगी थे। अतः उन्होंने सितम्बर 1956 ई. में यूनिवर्सिटी को छोड़ दिया। उन का नाम यूनिवर्सिटी ग्राँट कमीशन के चेयरमैन के पद के लिए विचाराधीन था परन्तु बाद में मौलाना आज़ाद ने अपनी राय बदल दी और सी.डी. देशमुख, जिन्होंने केन्द्रीय सरकार से उन्हीं दिनों महाराष्ट्र राज्य न बनाए जाने के विरोध में अपना त्यागपत्र दिया था, यू.जी.सी. के चेयरमैन बना दिये गए। उस समम भाषा के आधार पर राज्यों के नवनिर्माण पर विचार हो रहा था और श्री देशमुख को इस ज़िम्मेदारी को स्वीकार कर लेने पर तैयार कर लिया गया। बाद में 1957 ई. में ज़ाकिर साहिब को बिहार का गवर्नर नियुक्त किया गया।

अपने आठ वर्षीय कार्यकाल में ज़ाकिर साहिब ने छात्रों और अध्यापकों पर गहरे चिन्ह छोड़े। उन्होंने छात्रों में विश्वास पैदा किया और देश और राष्ट्र के लिए आबद्धता की भावना का उनमें विकास किया। न केवल यह बल्कि उन्हें एक दिशा प्रदान करने में उनका मार्गदर्शन किया। यूनिवर्सिटी कैम्पस को ज़ाकिर साहिब ने हरा-भरा और सरसब्ज़ बनाया। गुलाब के पौधों और बोगन वेलिया की झाड़ियाँ ज़ाकिर साहिब को बहुत प्रिय थीं। यूनिवर्सिटी की लाइब्रेरी की नई इमारत को मौलाना आज़ाद के नाम से सम्बन्धित किया गया जिसकी नींव जवाहर लाल नेहरू ने रखी।

यूनिवर्सिटीयों को कुछ ही ऐसे कुलपति मिले हैं जिन्होंने न केवल यह कि अपने समय के छात्रों और शिक्षकों पर गहरे चिन्ह छोड़े हो बल्कि पूरे संसार ने उनकी प्रशंसा भी की हो। इस मान्य-प्राप्त सूची में से केवल चार कुलपतियों की चर्चा करूँगा। अलीगढ़ के डा. ज़ाकिर हुसैन, लखनऊ यूनिवर्सिटी के आचार्य नरेन्द्र देव, मद्रास यूनिवर्सिटी के लक्ष्मास्वामी मुदालियार और दिल्ली यूनिवर्सिटी के सी.डी. देशमुख। यह चारों व्यक्ति मनुष्यों के बीच एक विशाल वृक्ष के समान थे। हमें अब ऐसे लोग देखने को नहीं मिलेंगे। उनकी याद हमारे दिलों में हमेशा रौशन रहेगी। वह लोग भाग्यशाली हैं जिन्होंने उनको देखा और उन के साथ काम किया। आने वाली नस्लें उनसे हमेशा प्रेरणा लेंगी। ईश्वर उन आत्माओं को शांति प्रदान करे।

भारत के राष्ट्रपति ज़ाकिर साहिब : एक अनुपम मनुष्य

अमीना अहमद आहूजा

भारतीय कुसुमकुंज के अद्वितीय पुष्प,

श्रद्धेय डा. ज़ाकिर हुसैन के व्यक्तित्व में शालीनता और ज्ञान तथा उत्कृष्टता के तत्व कूट-कूट के भरे थे, वह समस्त प्रकार के सामाजिक बंधनों और भेदभाव से मुक्त थे।

यूँ तो राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया किन्तु शिक्षा क्षेत्र विशेषरूप से आप का ऋणी रहा। शिक्षा से आप की दिलचस्पी और लगाव का नतीजा है कि अब तक अनेक शैक्षणिक और सामाजिक संस्थाओं और संगठनों को आप के संरक्षण का गर्व है। बहुत से शैक्षणिक संस्थाएँ आप के नेतृत्व में प्रगति पथ पर चलायमान हुए। देश और विशेषरूप से शिक्षा की समस्याओं को आप ने जिस कुशलता से सुलझाया उसके चिह्न हमारे मन-मस्तिषक पर अंकित हैं। मसीहुल्मुल्क (वैद्यराज) हकीम अजमल ख़ाँ के 1927 ई. में देहावसान के पश्चात् जामिया मिल्लिया की बागडोर ज़ाकिर साहिब ने सँभाली क्योंकि आप को इस बात का पूरा एहसास था कि:

शोरे बुलबुल कम नगर्दद गर रवद गुल ज़े चमन[2]

ज़ाकिर साहिब एक उदारचेता बुद्धिजीवी और अत्यंत सच्चे अध्यापक थे। ऐसी हस्ती की इस संकट बेला में जामिया को अत्याधिक आवश्यकता थी। इस समय ज़रूरी था कि वह सेवा भाव को जाग्रत करें:

सूरते ख़िदमत सिफ़ते मर्दुमीस्त[3]
ख़िदमत करदन शर्फ़े आदमीस्त

और आप निज़ामी के इस शेर के भावार्थ को बहुत अच्छी तरह समझते थे:

अगर सद कूह बायद कनद 'पुलाद
ज़बून बाशद बदस्ते आदमीज़ाद

और हुआ यही। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और जामिया मिल्लिया इसी भाव का साकार रूप हैं। आप जैसे विद्वान और ज्ञानी, दूरदर्शी और मानवतावादी के हाथों इन संस्थाओं की दृढ़ बुनियाद पड़ी, यद्यपि कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

मुजीब साहब के कथनानुसार:

"उन को इससे मतलब न था कि राष्ट्र की सेवा करें। उनको वस्तुत: अपने आप को मुसीबत में डालना था जिस को झेलने से उनको आत्मसंतुष्टि मिले। यह चिंतनधारा हज़रत ईसा के जीवन और दोस्तोयोस्की के विचारों का गहन अध्ययन किए बिना कठिनाई से समझ में आएगी।"

श्रद्धये हकीम अजमल खाँ ने, जो लोगों की नाड़ी पर हाथ रख कर समस्त प्रकार के रोगों का उपचार करते थे, ज़ाकिर साहिब से पहली भेंट में ही उनकी मानसिकता और मनोबल को परख लिया और कहा:

"चलो मेरे साथ देहली और शिक्षा संस्था में काम करो जो तुम्हारे सिद्धांतों के अनुकूल चल रही है। वहाँ तुम्हारे लिए धन-दौलत नहीं, किन्तु परमात्मा की अनुकंपा और आत्मानंद, जो जनसेवा की सच्ची सहायता से प्राप्त होती है, उपलब्ध है।"

मसीहुलमुल्क की बात ज़ाकिर साहिब के दिल में उतर गई और जर्मनी से वापसी पर आप ने देहली आकर जामिया की सेवा की और उसे नवीन जीवन प्रदान किया। जामिया की शुरुआत इसी काल में क़रौलबाग़ में हुई।

पहली बार ज़ाकिर साहिब को मैंने निकट से जामिया के कार्यालय क़रौलबाग़ में देखा। यह आज़ादी और देश विभाजन से कुछ वर्ष पूर्व की बात है। अपने माता-पिता और भाई बहनों के साथ मेरा बहुधा जामिया जाना होता था। मेरे पिता स्वर्गीय बैरिस्टर नूरुद्दीन अहमद साहब का संबंध जामिया से क़ानूनी मसलों पर राय देने पर आघृत था। ज़ाकिर साहिब मेरे पिता पर विश्वास करते थे। यदि कोई सराहनीय कार्य करता तो वह बेझिझक और खुले मन से प्रशंसा करते थे और इस बात की दाद देते थे कि नूरुद्दीन साहब ने क़ानून की पुस्तकों को अपने मस्तिष्क में संकलित कर लिया है क्योंकि वह कभी-कभार ही क़ानूनी ग्रंथों के पन्ने उलटते थे। मेरी माता दिल्ली की महावरेदार उर्दू बोलने में कुशल थीं और ज़ाकिर साहब उनके इस कौशल की अत्याधिक सराहना करते थे क्योंकि वह अंग्रेज़ महिला थीं और क़ुर्रतुलऐन हैदर ने अपनी किताब "कारे जहाँ दराज़ है" में उन के बारे में यूँ लिखा है: "डा. जाकिर हुसैन का कहना था-उन सारी योरपीय महिलाओं में जिन्होंने हिन्दुस्तानियों से विवाह किया था एक अंग्रेज़ महिला बेगम नूरुद्दीन एकमात्र नारी थीं जिन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा पर इतना अधिकार प्राप्त कर लिया था।" जहाँ तक अपने बचपन में ज़ाकिर साहिब से बात चीत करने के अवसर मुझे मिले वह कभी भुलाए नहीं जा सकते। एक बार मुजीब साहब के यह कहने पर कि मैं चित्रकला में रुचि रखती हूँ तुरंत मेरा काम देखने की ज़ाकिर साहब ने फ़रमाइश की। काम देखते ही बच्चों के लिये लिखी अपनी पुस्तक "अब्बू ख़ाँ की बकरी" की उन्होंने चर्चा की और मुझे उसके लिए चित्र बनाने के लिए कहा। जामिया से मुझे पत्र लिखा कि "अमीना नूरुद्दीन यह कंट्रेक्ट आप को दिया जाता है।" मेरी ख़ुशी का अनुमान लगाना कठिन है, मैं स्कूल में पढ़ती थी

और बारह साल की उम्र रही होगी। ज़ाकिर साहिब के ख़त को सब साथियों को स्कूल में कई दिन तक दिखाती फिरी, मैं इतनी प्रसन्न थी।

देश की स्वधीनता के पश्चात् ज़ाकिर साहिब से एक अविस्मरणीय भेंट लंदन में हुई। आप हमारे यहां चाय पीने आए, और चाय पीने के बाद कुछ गुलाब के फूल देखने के लिए बग़ीचे में गए। कहने लगे कि लंदन से गुलाब की क़लमें हिन्दुस्तान ले जाकर अपने हरे-भरे उद्यान की शोभा और बढ़ाएँगे। आप को बाग़बानी का बहुत शौक़ था। जब वह उपराष्ट्रपति बने और फिर राष्ट्रपति के पद पर आसीन हुए तो उनके कुसुमकुंज उनके बाग़बानी से लगाव का प्रमाण थे।

मुझे ज़ाकिर साहिब के निकट काम करने का एक अवसर और मिला जब ज़ाकिर साहब उपराष्ट्रपति थे और एक सम्मानित अतिथि के रूप में सरकारी दौरे पर सोवियट यूनियन गए थे। उनके शिष्टमंडल की एक सदस्य मैं भी थी। रूसी और फ़ारसी से मेरी जानकारी यहाँ काम आई। ज़ाकिर साहिब साहित्यकारों, चित्रकारों और बुद्धिजीवियों का बहुत सम्मान करते थे। रूस में राजनैतिक भेंटों के पश्चात् बैले के कलाकारों और संगीतकारों से मुलाक़ातें हुईं। ज़ाकिर साहिब के विचारों का अनुवाद करते समय उनके एक पुराने भाषण के कुछ शब्द मानस में गूँजने लगे:

"स्कूल में कला और संगीत, गायन और नृत्य को निश्चय ही स्थान देना चाहिए। शिक्षा की संपूर्ण प्रक्रिया के संबंध में मेरा विचार यही है क्योंकि इन क्रियाकलापों का स्वरूप महत्वपूर्ण सांस्कृतिक संसाधन का है जो व्यक्ति की मानसिकता के निर्माण में सहायक होते हैं।" मास्को में ज़ाकिर साहिब के कारण नक़्क़ाशी के वह नमूने देखने को मिले जिन पर सरकारी प्रतिबंध लगा हुआ था। समरक़ंद और बुख़ारा को देखने के दौरान इतिहास से असाधारण लगाव के कारण ज़ाकिर साहिब का मन प्रफुल्लित हो गया। यहाँ आपने निस्संकोच हाफ़िज़ का शेर पढ़ा :

अगर आं तुर्के शीराज़ी बदस्त आरद दिले मारा[5]
बख़ाले हिन्दोइश बख़्शाम समरक़ंद व बुख़ारा
महफ़िल में वाह-वाह के नारे गूँज उठे।

यद्यपि ज़ाकिर साहिब का प्रत्यक्ष संबंध सामाजिक शिक्षा के विभिन्न विभागों से था किन्तु आप का व्यक्तित्व मूलरूप से एक अत्यंत बहुमुखी कलाप्रेमी जीव का था। प्राकृतिक दृश्यों से, फूलों से, पौधों से, वास्तुकला, लेखनकला, सुन्दरलिपिकारिता, चित्रकला से उन्हें बहुत लगाव था। जितने वह सौंदर्यप्रेमी थे उतना ही कुरूपता और भ्रष्ट रुचि से पनाह माँगते थे। कला उनके लिए केवल अवकाश का समय बिताने का मनोरंजन नहीं थी। उन्होंने अपने शैक्षणिक अवधारणा द्वारा अपने जीवन और चिंतन को साकार किया है और उसे समस्त शास्त्रों में व्याप्त समान तत्व का रूप दिया है। आज ज़ाकिर साहब को याद करते हैं तो यह शेर गुनगुनाने लगते हैं:

वह आए 'बज़्म में इतना तो मीर ने देखा
फिर इसके बाद चिराग़ों में रौशनी न रही

नोट:

1- हकीम अजमल ख़ाँ की उपाधि।

2- बुलबुल का चीत्कार कम नहीं होता यदि फुलवारी से फूल चला जाए।

3- सेवाभाव मनुष्य का गुण है, सेवा करना आदमियत की उत्कृष्टता है।

4- यदि सौ पहाड़ भी हों तो पुलाद (शाहनाम: फ़िरदौसी का एक बलिष्ठ योद्धा) उन्हें धराशायी कर सकता है (क्योंकि) मनु के पुत्र मानव के हाथों के आगे यह तुच्छ हैं।

5- यदि वह शीराज़ की मोहिनी मेरे हृदय को हस्तगत कर ले तो मैं उसके काले तिल पर समरक़ंद और बुख़ारा को निछावर कर दूँगा।

6- सभा, संगोष्ठी

डा. ज़ाकिर हुसैन और डा. मोहम्मद इक़बाल

प्रो. जगन्नाथ आज़ाद

डा. सैय्यदा सैय्यदैन हमीद (सम्पादक, डा. ज़ाकिर हुसैन शताब्दी स्मारक ग्रंथ) का डा. ख़लीक़ अंजुम की मार्फ़त यह निमंत्रण मिलने पर कि मैं स्मारक ग्रंथ के लिए डा. ज़ाकिर हुसैन के जीवन और काल पर एक लेख भेजूँ, मेरे दिमाग़ में कई विषय आये- जैसे कि डा. ज़ाकिर हुसैन शिक्षाविद के रूप में, डा. ज़ाकिर हुसैन बच्चों के लेखक के रूप में, वर्धा शिक्षा योजना, डा. ज़ाकिर हुसैन अनुवादक के रूप में, डा. ज़ाकिर हुसैन से मेरी मुलाकातें और डा. ज़ाकिर हुसैन अंजुमन-ए-तरक़्क़ी-ए-उर्दू (हिंद) के सदर के रूप में आदि आदि। लेकिन अचानक ही मेरे ज़हन में एक बिल्कुल ही अलग किस्म का विषय आया और वह था - "डा. ज़ाकिर हुसैन और डा. मोहम्मद इक़बाल"। लेकिन मेरे कुछ साथियों का, जिनसे मैंने बातचीत की, ख़्याल था कि इन दोनों में बिल्कुल भी समानता नहीं है। दोनों के राजनीतिक मुक़ाम अलग अलग थे। लेकिन बहुत से व्यक्तियों के बारे में तुलनात्मक अध्ययन से मुझे पता चला है कि जब दो महान लेखक या महान कलाकार एक ही सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षिक या दार्शनिक माहौल में रहते हैं चाहे दिखने में एक दूसरे से प्रभावित दिखाई न भी पड़ें तो भी सामाजिक वातावरण से तालमेल का आधार बन जाता है। यह निकटता उनकी कृतियों में व्यक्त हो या न हो पर इससे वे एक दूसरे के क़रीब ज़रूर आ जाते हैं।

डा. ज़ाकिर हुसैन और डा. इक़बाल की बौद्धिक निकटता के बारे में मेरा यही कहना है। महत्वपूर्ण यह नहीं है कि देश की इन दो महान हस्तियों ने दो अलग अलग रास्ते अपनाये बल्कि यह है कि दोनों के बीच कितना बौद्धिक तालमेल था। मुस्लिम लीग की स्थापना भारत में 1906 में हुई लेकिन हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच राजनीतिक मतभेद काफ़ी पहले ही पैदा हो गये थे। इन मतभेदों से देश के जन जीवन पर अक्सर असर पड़ता था। हाँ ख़िलाफ़त आन्दोलन का थोड़ा सा समय ज़रूर ऐसा था जब दोनों के मतभेद लगभग समाप्त हो गये थे। 1920 में मौलाना मोहम्मद अली और मौलाना शौकत अली देश के राजनीतिक क्षितिज पर छाये हुए थे। ये दोनों ही राजनीतिक नेता गाँधी जी के साथ थे। दोनों ने ही नागरिक असहयोग आन्दोलन के दौरान ब्रिटिश सरकार के खिलाफ़ बायकाट का नारा बुलन्द किया था। इन्हीं दिनों गाँधी जी अलीगढ़ गये और

उन्होंने अलीगढ़ विश्वविद्यालय को ब्रिटिश शिक्षा के बहिष्कार के लिए राज़ी करने की भरपूर कोशिश की लेकिन वे कामयाब नहीं हुए । नतीजा यह हुआ कि उनके समर्थकों ने अलीगढ़ विश्वविद्यालय को छोड़ कर नई यूनिवर्सिटी बनाने का फ़ैसला किया जिसका आज नाम है जामिया मिल्लिया इस्लामिया । डा. ज़ाकिर हुसैन अलीगढ़ यूनिवर्सिटी छोड़ने वाले अग्रणियों में से थे । हालांकि अक्तूबर 1920 में डा. ज़ाकिर हुसैन जामिया मिल्लिया के कुलपति नहीं थे (जो कि वे अगले साल बन गये) लेकिन सच तो यह है कि शुरू से ही जामिया का मार्ग निर्देशन करने वाली ताक़त वही थे । सभी जानते हैं कि जब गाँधी जी ने इक़बाल साहब से कुलपति बनने के अनुरोध का पत्र लिखा था तो उन्होंने इस बारे में हकीम अजमल खाँ, मौलाना मोहम्मद अली, मौलाना शौकत अली, डा. अंसारी और डा. ज़ाकिर हुसैन से सलाह मशविरा किया था ।

इस घटना से अंदाजा लगया जा सकता है कि राजनीति में विरोधी विचारों के बावजूद दो महान हस्तियाँ एक दूसरे की महानता की कितनी क़दर करती थीं और किस तरह उन्होंने अपने दौर में देश की सभ्यता के विकास को सही धुरी पर बनाये रखा ।

इक़बाल जामिया के कुलपति नहीं बने लेकिन बौद्धिक रूप से वे इस संस्था से कितने जुड़े रहे यह साहित्य के इतिहास का अटूट हिस्सा है ।

डा. ज़ाकिर हुसैन, डा. इकबाल से 20 साल छोटे थे । डा. इकबाल का जन्म 1877 में और डा. ज़ाकिर हुसैन का जन्म 1897 में हुआ था यानि उनका रिश्ता बड़े और छोटे का था । जब डा. ज़ाकिर हुसैन 20 साल के आस पास की उम्र के रहे होंगे तो वे इक़बाल की तीन-चार पुस्तकें ज़रूर पढ़ चुके होंगे । इलमुल इक़तिसाद (अर्थशास्त्र), द डेवलपमेंट आफ़ मैटाफ़िज़िक्स इन परशिया, असरार-ए-ख़ुदी और रमूज़-ए-बेख़ुदी और उनकी कुछ प्रसिद्ध उर्दू नज़में और ग़ज़लें । ख़िज्र-ए-राह 1921 में छपी थी और तुलु-ए-इस्लाम 1922 में । बांग-ए-दिरा दो साल बाद प्रकाशित हुई लेकिन कुलियात-ए-इक़बाल काफ़ी पहले छप चुकी थी और वह भी हैदराबाद में जहाँ डा. ज़ाकिर हुसैन ने अपना बचपन गुज़ारा ।

मैं यह सब इस तथ्य के समर्थन में कह रहा हूँ कि जामिया मिल्लिया इस्लामिया के संस्थापकों ने, जिन्होंने इक़बाल साहब को जामिया का कुलपति बनाना चाहा था, वे उनकी दार्शनिक श्रेष्ठता, शैक्षिक उत्कृष्टता और राजनीतिक विचारधारा के पूरी तरह क़ायल थे । डा. ज़ाकिर हुसैन उन लोगों में थे जिन्होंने महात्मा गाँधी को इस बात के लिए राज़ी किया कि वे इक़बाल साहब को पत्र लिखें । सिर्फ़ इसलिए नहीं कि वे उनकी शायरी के दीवाने थे बल्कि इसलिए कि वे उनकी विद्वता और राजनीतिक विचारों से पूरी तरह परिचित थे। जामिया मिल्लिया के लिए फ़ख़्र की बात है कि डा. ज़ाकिर हुसैन को ऐसे साथी मिले जो महान विद्वान थे और जिन्होंने पूरी ज़िन्दगी निःस्वार्थ सेवा की । जब हम इक़बाल का ज़िक्र करते हैं तो मुझे प्रोफ़ेसर मुजीब और डा. आबिद हुसैन का ख़्याल

आता है । यह 1930 की बात है कि जामिया में जश्ने इक़बाल मनाने का फ़ैसला किया गया । इस सिलसिले में सैयद नाज़िर लिखते हैं:-

"डा. आबिद हुसैन और डा. ज़ाकिर हुसैन ने सोचा कि जर्मन विश्वविद्यालयों की तरह जामिया को भी इक़बाल समारोह का आयोजन करना चाहिये जिसमें महान विद्वानों और प्रतिष्ठित व्यक्तियों को आमंत्रित किया जाये और इक़बाल साहब को, जो कि इस समारोह में मौजूद रहेंगे, सम्मान के रूप में शोध लेखों का गुलदस्ता भेंट किया जाये । लेकिन दुर्भाग्य से राजनीतिक उथल पुथल, नागरिक असहयोग आन्दोलन और इसके बाद गोलमेज़ सम्मेलन की घोषणा से ये कार्यक्रम आयोजित नहीं किया जा सका ।"

सैयद नाज़िर नियाज़ी उन हस्तियों में से थे जिन्होंने जामिया मिल्लिया में तालीम पायी। वे डा. ज़ाकिर हुसैन, प्रोफ़ेसर मुजीब और डा. आबिद हुसैन के शागिर्द थे । उन्हें इक़बाल के बारे में अच्छी जानकारी थी । वे मौलवी सैयद मीर हसन के भतीजे थे और उन्होंने डा. इक़बाल की पुस्तक "द रीकंस्ट्रक्शन आफ रिलीजस थाट इन इस्लाम" का उर्दू में तर्जुमा किया था । उन्होंने अपनी पुस्तक "मक्तूबाते इक़बाल" में कई जगह लिखा है कि इक़बाल अक्सर डा. ज़ाकिर हुसैन की सेहत के बारे में पूछताछ किया करते थे ।

इसी पुस्तक "मक्तूबाते इक़बाल" में जामिया मिल्लिया में ग़ाज़ी रउफ़ पाशा के आने का ज़िक्र करते हुए सैयद नाजिर नियाज़ी लिखते हैं: "स्वर्गीय डा. अंसारी के डा. इक़बाल से गहरे ताल्लुक़ात थे । उन्होंने स्वयं डा. इक़बाल को आमंत्रित किया था । डा. ज़ाकिर हुसैन ने जामिया के कुलपति के नाते डा. साहब को पत्र भी लिखा था । लेकिन डा. जाकिर हुसैन ने मुझसे भी उन्हें एक निजी पत्र लिखने को कहा और यह निश्चित करने को कहा कि इक़बाल साहब यह निमंत्रण स्वीकार कर लें । जब मेरा पत्र इक़बाल साहब के पास पहुंचा तो उन्होंने जवाब दिया:-

"प्रिय नियाज़ी साहब, अस्लामअलेकुम,

मुझे आपकी चिट्ठी अभी मिली है । अगर तब्दीली न की जा सके तो काफ़ी मुश्किल होगा । आप कोशिश करें कि भाषण के अंतिम दिन का कार्यक्रम मेरी अध्यक्षता में हो और अंतिम भाषण 18 तारीख़ को रखा जाये । अगर ऐसा संभव न हो तो मैं यहाँ से 19 मार्च को रवाना हो कर 20 को सवेरे दिल्ली पहुंचूंगा । लेकिन अगर डा. अंसारी इस बात के लिए राज़ी हो जायें कि आख़िरी भाषण 18 तारीख़ को होगा तो मुझे तार से सूचित करें । बाकी ख़ैर । 20 तारीख़ सवेरे (या जैसा भी कार्यक्रम हो) मुझे रेलवे स्टेशन पर मिलें, वस्स्लाम ।

मोहम्मद इक़बाल
मार्च 8, 1933"

"मैंने इक़बाल साहब का संदेश डा. ज़ाकिर हुसैन को दे दिया । वह बहुत ही खुश हुए लेकिन मुश्किल यह थी कि इससे घोषित प्रोग्राम में कुछ गड़बड़ी हो गयी । आपसी

सलाह मशविरे के बाद फ़ैसला किया गया कि इक़बाल साहब से 18 तारीख़ को आने की गुंज़ारिश की जाये । उन्होंने भी इसे मान लिया । इस बीच डा. साहब ने इक़बाल साहब को धन्यवाद का पत्र तो लिख ही दिया लेकिन 16 मार्च को उन्होंने ज़ोर देकर कहा कि मैं लाहौर जाऊं और इक़बाल साहब को लेकर दिल्ली आऊं । इसलिए मैं 17 तारीख़ को लाहौर पहुंचा और इक़बाल साहब को भी इसका इंतज़ार था । ज्यों ही मेरी उनसे मुलाक़ात हुई उन्होंने स्वर्गीय डा. अंसारी और ग़ाज़ी साहब की सेहत के बारे में दरियाफ़्त किया । इसके बाद उन्होंने जामिया में अपने दोस्तों, ख़ासतौर पर डा. ज़ाकिर हुसैन, डा. आबिद हुसैन और मुजीब साहब के बारे में पूछताछ की । बातचीत के दौरान तुर्कों और तुर्की राजनीति का भी ज़िक्र आया ।'' इस तरह इस पुस्तक में डा. ज़ाकिर हुसैन और डा. इक़बाल के बीच भावनात्मक एकता की कई जगह चर्चा है ।

यह बताना ज़रूरी लगता है कि डा. अंसारी और डा. ज़ाकिर हुसैन की निजी कोशिशों से डा. इक़बाल 18 मार्च को जामिया मिल्लिया इस्लामिया आये । उसी शाम उन्होंने उस बैठक की सदारत की जिसमें ग़ाज़ी रऊफ़ पाशा ने ''देश भक्ति और इस्लामी एकता'' (वतनीयत और इत्तेहादे इस्लाम) पर भाषण दिया । हालांकि इक़बाल साहब जामिया के मेहमान थे लेकिन वे डा. अंसारी के घर ठहरे । इस सिलसिले में सैयद नाज़िर नियाज़ी आँखों देखा हाल इस तरह बयान करते हैं:-

''ग़ाज़ी साहब ने अभिलेख पढ़ा और अध्यक्ष होने के नाते मोहम्मद इक़बाल समापन शब्द कहने के लिए खड़े हुए तो ग़ाज़ी साहब के विचारों से उनके ज़हेन में इस्लाम के भविष्य का मंज़र आ गया । वह अपने पर काबू नहीं रख सके । उनमें जज़्बात का सैलाब आ गया और अपने भाषण के दौरान उन्होंने अपनी नज़्म ''मस्जिद-ए-कुर्तबा'' से यह शेर सुनाया जो बाद में बाल जिबरील में प्रकाशित हुआ:

''जर्मनों ने सुधार के नाम पर वह तहलका मचाया
कि पुराने का कोई नामो-निशान ही न रहा''

''इस शेर के बाद तो वे शेर पर शेर कहते ही चले गये । श्रोता मंत्रमुग्ध बैठे रहे । मोहम्मद अली हाल में इतनी खामोशी कि पत्ता भी हिले तो आवाज सुनाई दे जाये । एक तरफ़ तो उनकी ताजा तरीन शायरी और दूसरी तरफ़ ग़ाज़ी हसन रऊफ़ पाशा के पसंददीदा शहीदों की याद ताजा हो आई । जब उन्हों ने अपना भाषण यह कहते हुए समाप्त किया और हर व्यक्ति सोच रहा था - कि ''हम क्या थे और क्या हो गये'':-

''आओ देखें कि समुद्र क्या लाया है
और यह नीला आसमां क्या क्या रंग बदलता है''

''जब भाषण समाप्त करने के बाद उन्होंने आसन ग्रहण किया तो तालियों की गड़गड़ाहट से हाल गूंज उठा और हाज़रीन ने मंच के पास पहुंच कर उनके हाथों को चूम कर शुक्रिया अदा किया ।''

सच तो यह है कि पूरा माहौल डा. ज़ाकिर हुसैन की निजी कोशिशों का नतीजा था। अगर उन्होंने अपनी सूझ बूझ से सैयद नाज़िर नियाज़ी को लाहौर न भेजा होता तो शायद इक़बाल साहब के लिए 18 तारीख़ को सवेरे दिल्ली पहुंचना मुमकिन नहीं था।

जहाँ तक मेरी जानकारी है डा. ज़ाकिर हुसैन ने इक़बाल के बारे में कोई लेख नहीं लिखा। इक़बाल साहब के दर्शन और शायरी के बारे में उनका प्रेम उस संदेश से साफ़ झलकता है जो उन्होंने इक़बाल अंक के लिए "जौहर" के सम्पादक को भेजा था। इस संदेश में डा. ज़ाकिर हुसैन ने लिखा: "आप जिस शख़्सियत के बारे में यह अंक निकाल रहे हैं उनकी शायरी ही इतना व्यापक संदेश है कि अगर हमारे युवक उसे समझ जायें तो हमारी मुस्लिम क़ौम ज़रूर कुछ बेहतर हो जायेगी। इक़बाल साहब का जन्म हमारे जीवन और क़ौम (मिल्ली ज़िंदगी) की महत्वपूर्ण उपलब्धि है और यह उम्मीद ही की जा सकती है कि अब कुछ सुधार आने वाला है। - इकबाल साहब उन शायरों में से नहीं थे जिन्होंने ज़िन्दगी में सिर्फ़ मौज मस्ती की और इसका गुणगान करते रहे। वे उन मसीहाओं में से थे जो सूखती हुई हरियाली में प्राण फूंक देते हैं।" दो-तीन पृष्ठों के इस संदेश में डा. ज़ाकिर हुसैन ने इक़बाल साहब की शायरी और उनके दर्शन की महानता का सजीव वर्णन किया है। उन्होंने डा. इक़बाल की फ़ारसी शायरी और उनके सिद्धान्तों का बड़ा ही भावानात्मक चित्रण किया है, उनकी जागरूकता, उल्लास और तंमयता, बुद्धि और ज्ञान, प्रेम और मनोभाव, अन्तर्ज्ञान, बौद्धिक परिपक्कता, जीवन के सौंदर्य और इसकी चकाचौंध का भी। जब तक इक़बाल साहब की सभी पुस्तकों का बारीकी से अध्ययन न किया जाये इन निहित संदेशों को समझ पाना सम्भव नहीं है।

डा. ज़ाकिर हुसैन डा. इक़बाल का बहुत सम्मान करते थे। 1923 में जब डा. ज़ाकिर हुसैन आगे पढ़ाई के लिए जर्मनी गये तो उन्हों ने काव्यानी प्रेस से दीवान-ए-ग़ालिब का सचित्र और सुनहरी जिल्द का संस्करण छपवाया। उन्हों ने मुझे लिखा "मेरी इच्छा है कि काव्यानी प्रेस से बांग-ए-दिरा भी इसी शक्ल में छपवाया जाये। लेकिन डा. इक़बाल को यह सुझाव पसंद नहीं आया क्योंकि वहाँ "नस्तालीक़" छपाई का इंतज़ाम नहीं था और इक़बाल साहब "नस्तालीक़" को "नस्ख़" (अरबी लिपि) पर क़ुर्बान करने को तैयार नहीं थे। हालांकि फ़ोटो आफ़सेट छपाई की जा सकती थी लेकिन यह बहुत ही मंहगी थी। इसलिए यह विचार अंजाम नहीं दिया जा सका।"

वर्तमान लेखक की डा. ज़ाकिर हुसैन से कुछ ही मुलाक़ातें हुईं। एक बार जबकि वे नई दिल्ली में मेरी बेटी की शादी में हमारे घर आये।

उस वक्त आमतौर पर वे मेरे पिताजी से ही बातचीत में मसरूफ़ रहे। डा. साहब से एक भेंट के दौरान मैंने अपनी पुस्तक "इक़बाल और उसका अह्द" के पहले भारतीय संस्करण की प्रति उन्हें भेंट की। इस किताब के कारण बातचीत का सिलसिला चल निकला और विषय स्वाभाविक रूप से इक़बाल साहब रहे। बातचीत के दौरान उन्होंने

कहा: ''तुम लाहौर वालों ने तो इक़बाल पर क़ब्जा ही जमा लिया है।'' इस वाक्य के कई अर्थ निकल सकते थे। इसलिए जवाब में मैंने सिर्फ़ इतना ही कहा कि इक़बाल साहब तो पूरब और पश्चिम के शायर थे उन पर कोई कैसे एकाधिकार कर सकता है ? उन्हों ने किताब को सरसरी नज़र से देखना शुरू किया। एक अध्याय ''कलामे इक़बाल का हिन्दुस्तानी पसमंजर'' (इक़बाल की शायरी की भारतीय पृष्ठभूमि) पर उनकी नज़र कुछ टिक गयी। उन्होंने मुझसे कहा: ''तुमने इस विषय में जो कुछ भी लिखा है उसका अन्य भाषाओं में अनुवाद किया जाना चाहिये और इक़बाल की शायरी में ऐसी और चीज़ें दिखाई पड़ें तो उन्हें भी इस अध्याय में शामिल कर लो। आज ज़रूरत इस बात की है कि इक़बाल की शायरी के इस अंदाज़ को देशवासियों के सामने लाया जाये। मैंने गुज़ारिश की कि इक़बाल का यह पक्ष कुछ सीमाओं के अन्तर्गत ही देखा जा सकता है। इसे और ज़्यादा खींचा नहीं जा सकता क्योंकि हम भारतीय देशभक्ति और राष्ट्रवाद को एक ही समझते हैं। हम देखते हैं कि इक़बाल देशभक्त तो थे लेकिन वे राष्ट्रवाद के खिलाफ़ थे। अगर हम गहराई में जायें तो हमें दोनों के बीच एक सीमा निश्चित करनी होगी और तब शायद इससे कुछ गलतफ़हमी पैदा हो जाये। इस पर उन्हों ने पूछा कि गलतफ़हमी की संभावना क्यों है ? मैंने जवाब दिया कि हमारे कुछ लेखक इक़बाल की देशभक्ति के विचार को इतना खींचते हैं कि वे इक़बाल को पाकिस्तान की स्थापना के विचार का ज़िम्मेदार नहीं ठहराते हालांकि यह बात उनके 1930 के अध्यक्षीय भाषण में देखने को मिलती है। इस पर डा. साहब ने पूछा कि क्या मैं ऐसा समझता हूँ कि इक़बाल ने पाकिस्तान बनाने की हिमायत की है। मैंने जवाब दिया कि यह साबित करने के लिए कि इक़बाल का पाकिस्तान से कोई सरोकार नहीं है। लोग इस बात पर ज़ोर देते हैं कि उनके उस भाषण में, या उनकी नज़मों या गद्य में ''पाकिस्तान'' शब्द कहीं नहीं आया। इस तर्क के बारे में कहना चाहूंगा कि इक़बाल ने यह विचार आल इंडिया मुस्लिम लीग में अध्यक्ष पद से अपने भाषण में रखा था और जो बाद में पाकिस्तान की शक्ल में सामने आया।''

डा. ज़ाकिर हुसैन को इससे काफ़ी आश्चर्य हुआ लेकिन फिर बातचीत का रुख़ राष्ट्रवाद और इसके पश्चिमी परिपेक्ष्य की ओर मुड़ गया और मैं इस संबंध में उनके विचारों से अपरिचित रह गया।

ऊपर के पैराग्राफ़ को एक अपवाद ही समझा जाना चाहिये। मैंने सिर्फ़ कुछ तथ्य बयान किये हैं और मेरा मंशा कुछ साबित करने का बिल्कुल नहीं है। इससे पहले मैं डा. इक़बाल और डा. ज़ाकिर हुसैन के विचारों में निकटता की बात कर रहा था। ये बात डा. इक़बाल और डा. ज़ाकिर हुसैन की ज़िंदगी में क़दम-क़दम पर दिखायी पड़ती है विशेषत: इस तथ्य में कि मूलत: दोनों में से कोई भी राजनीतिज्ञ नहीं था। हालांकि डा. ज़ाकिर हुसैन भारत के उपराष्ट्रपति और राष्ट्रपति बने और इक़बाल पंजाब मुस्लिम लीग और आल इंडिया मुस्लिम लीग के प्रेसीडेंट तथा पंजाब विधान परिषद के अध्यक्ष बने

और उन्होंने चुनाव लड़े लेकिन दिलो-दिमाग़ से उनमें से कोई भी राजनीतिज्ञ नहीं था। दोनों की दिलचस्पी शिक्षा और शिक्षा की समस्याओं में थी। हालांकि उनकी ज़िन्दगी के इस पहलू पर ज़्यादा नहीं लिखा गया है लेकिन उन्होंने शिक्षा की बारीकियों और पेचीदगियों को काफ़ी अहमियत दी। दोनों को ही मुसलमानों की शिक्षा-समस्याओं की जानकारी थी। दोनों ही बच्चों की शिक्षा के हिमायती थे क्योंकि दोनों ही शिक्षक और शिक्षाशास्त्री थे, इसलिए शिक्षा की समस्या पर उन्होंने जो कुछ भी लिखा इसके सभी व्यवहारिक पहलुओं पर काफ़ी सोच विचार के बाद लिखा।

बच्चों की शिक्षा के बारे में डा. ज़ाकिर हुसैन ने आकाशवाणी से तीन भाषण प्रसारित किये। अपने तीसरे भाषण में उन्होंने कहा था:-

"बाहरी अनुशासन के हौवे को छोड़कर हमारे स्कूलों के पाठ्यक्रम में बच्चों को अच्छी शिक्षा देने की बात कहीं नहीं है। मानव इतिहास उठा कर देखिए। मनुष्य की सभी मुश्किलों का कारण है उसका अपने साधनों को ही ध्येय मानना। इससे साधन उसके निकट हो गये हैं और लक्ष्य दूर खिसकता जा रहा है। सिर्फ़ साधनों पर ही नज़र रहती है और लक्ष्य ओझल हो जाते हैं।"

यह एक महत्वपूर्ण मुद्दा है जो कि इक़बाल ने गद्य और पद्य दोनों में ही व्यक्त किया है। मिसाल के तौर पर उनका कहना है कि शिक्षा का उद्देश्य जानकारी देना नहीं है बल्कि मानव की क्षमताओं और प्रतिभाओं का विकास है। अपने लेख "बच्चों की तालीम ओ तरबीयत" में इक़बाल साहब लिखते हैं:

"क्योंकि मानव के अंगों का विकास अनुपात के सिद्धान्त के अनुसार होता है इसलिए विवेक का विकास भी इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर होता है। अत: शिक्षा के ऐसे तरीक़े को ही पूर्ण माना जायेगा जो बुद्धि और ज्ञान के समन्वित और एकरूप विकास का साधन हों। बुद्धि और सूझबूझ, सृजनशीलता, कार्यकुशलता, इच्छाशक्ति और मस्तिष्क की अन्य सभी विद्याऐं क्रियाशील होंगी क्योंकि पूर्ण शिक्षा व्यवस्था वही है जिससे सूझ बूझ और ज्ञान और तर्कसंगत क्षमताओं का विकास हो। ऐसा नहीं है कि दिमाग़ में जानकारी ज़बरदस्ती ठूंसी जाये।"

जहाँ तक शिक्षा की समस्याओं का सवाल है डा. इक़बाल और डा. ज़ाकिर हुसैन दोनों ही विद्वान और शिक्षा दार्शनिक थे। इसीलिए उन्होंने बच्चों से लेकर बड़ों तक शिक्षा की सभी समस्याओं का गहन अध्ययन किया और आश्चर्य की बात है कि बहुत सी समस्याओं पर दोनों के विचार एक से हैं। मिसाल के तौर पर आधुनिक शिक्षा के मूल सिद्धांत, आधुनिक शिक्षा के लिये प्रोत्साहन, आधुनिक शिक्षा की खामियां और इन्हें दूर करने के उपाय, शिक्षा के लक्ष्य, प्राकृतिक विज्ञान, मानव शास्त्र आदि। दोनों में ऐसी मिसालें बहुतायत से मिल सकती हैं।

मैंने बच्चों की शिक्षा के बारे में दोनों के विचारों का ज़िक्र किया है। डा. इक़बाल

और डा. ज़ाकिर हुसैन दोनों को ही इस बात का श्रेय जाता है कि अपने कार्य में अति व्यस्तता के बावजूद दोनों ने बच्चों के लिए साहित्य सृजन किया। इक़बाल ने पद्य में और डा. ज़ाकिर हुसैन ने गद्य में। बच्चे डा. ज़ाकिर हुसैन की पुस्तक "अब्बू ख़ाँ की बकरी" और इक़बाल की नज़्म "लब पे आती है दुआ बन के तमन्ना मेरी" या "टहनी पर किसी शजर की तनहा, बुलबुल था कोई उदास बैठा" या "इक दिन किसी मक्खी से यह कहने लगा मकड़ा" कभी नहीं भूल पायेंगे। हालांकि डा. इक़बाल और डा. ज़ाकिर हुसैन ने बच्चों के लिए ज़्यादा कुछ नहीं लिखा लेकिन उन्होंने जो कुछ भी लिखा वह भटकों के लिए प्रकाश स्तम्भ जैसा है।

इन दोनों प्रतिभा-सम्पन्न हस्तियों में एक और समानता है- और वह है दर्शन के प्रति उनका गहरा भावनात्मक लगाव। इक़बाल ने दार्शनिक के रूप में ख्याति पाई। जहाँ तक डा. ज़ाकिर हुसैन का सवाल है मैं उनकी पुस्तक 'तालिमी ख़ुतबात' या प्लैटो की पुस्तक "स्टेट" के उनके अनुवाद को पढ़ने को नहीं कहूंगा। मैं तो सिर्फ़ यही कहूंगा कि इसकी प्रस्तावना के पढ़ने से ही मेरा आशय स्पष्ट हो जायेगा। डा. ज़ाकिर हुसैन ने यही प्रसिद्ध पुस्तक अनुवाद के लिए क्यों चुनी ? शायद इसलिए कि प्लैटो ने अपनी इस पुस्तक में शिक्षा के बारे में काफ़ी कुछ लिखा और जो कुछ भी लिखा वह आज भी उतना ही सही है जितना कि 2500 वर्ष पहले था। मेरा विचार है कि अगर डा. ज़ाकिर हुसैन दर्शनशास्त्र के दीवाने नहीं होते और उन्हों ने प्लैटो के विचारों का बारीकी से अध्ययन न किया होता तो उन्होंने यह पुस्तक नहीं चुनी होती। वे शायद किसी दूसरी आधुनिक किताब को अनुवाद के लिए चुनते। मैं यह सब कुछ दोनों हस्तियों के विचारों में निकटता के बारे में कहूं या न कहूं लेकिन जब मैंने उस पुस्तक की प्रस्तावन पढ़ी तो मुझे एकदम ख़्याल आया कि इक़बाल ने भी प्लैटो का गहराई से अध्ययन किया था। उन्होंने भी "द रीकन्स्ट्रक्शन आफ़ रिलीजस थाट इन इस्लाम" में कई जगह प्लैटो की चर्चा की है। लेकिन कृपया यह न कहिये कि इक़बाल साहब ने प्लैटो की विचारधारा को भेड़ चाल या "फ़िलोसफ़ी आफ़ द शीप" कहा था।

यहाँ यह कहना उचित होगा कि इक़बाल का एतराज़ केवल प्लैटो की "थियुरी आफ़ आइडियाज़" (विचारों के सिद्धान्त) को लेकर है। उनके दर्शन या उनकी ज्ञान की श्रेष्ठता को लेकर नहीं। इक़बाल ने प्लैटो की दार्शनिक श्रेष्ठता को स्वीकार किया है और उसके दर्शन की सराहना की है। "द रिकंस्ट्रक्शन आफ़ रिलीजस थाट इन इस्लाम" में उन्हों ने प्लेटो की इन शब्दों में प्रशंसा की है:

"जैसा कि क़ुरान में कहा गया है कि राजनीति में आपसी मेलजोल से काम लिया जाये, उसी तरह प्लैटो ने भी अपनी पुस्तक "द स्टेट" में इस विचार का प्रतिपादन किया है।

इसी प्रकार नीचे लिखे शेर में इक़बाल साहब ने न केवल महिलाओं के प्रति सम्मान

प्रकट किया है बल्कि उन्होंने प्लैटो की सराहना भी की है:-

"वह प्लैटो के संवाद तो न लिख सकी
लेकिन उसकी ज्वाला से प्लैटो की चिंगारी भड़की"

"द स्टेट" के बारे में डा. ज़ाकिर हुसैन ने लिखा है: "तथ्य यह है कि मनुष्य के पूरे जीवन के बारे में सोचा गया है। लेकिन मानवीय जीवन के व्यवहारिक पहलुओं पर ज़्यादा ध्यान दिया गया है इसलिए पुस्तक के ज़्यादा हिस्से में नैतिक और राजनीतिक समस्याओं की चर्चा है। लेकिन बौद्धिक सूझ बूझ और विचारों की भी अनदेखी नहीं की गयी है।"

इस पुस्तक में दर्शन की उड़ान के साथ साथ विचारों की स्वाभाविक एकलयता आश्चर्यजनक है। इसमें मनुष्य की आत्मा के अपूर्व सौंदर्य और नैतिक पहलुओं का विषद वर्णन है। रूसो के अनुसार शिक्षा की समस्याओं पर वह सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है। आधुनिक शिक्षा व्यवस्था और इसके विभिन्न अंगों को समझने और उनके निदान के लिए यह बहुत ही उपयोगी है। यह परिवर्तन के रहस्य और मनुष्य समूहों के उत्थान-पतन की कुंजी है और इससे दर्शन के इतिहास की विभिन्न समस्याओं को समझने का मौक़ा मिलता है।

मेरा कहना यह नहीं है कि डा. ज़ाकिर हुसैन और डा. इक़बाल के राजनीतिक दृष्टिकोणों में कोई अन्तर नहीं था। उन दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर ज़रूर था लेकिन राजनीति से जीवन के मूल्य कहीं ऊंचे हैं और अगर जीवन के मूल्य श्रेष्ठ हैं तो दूसरे की अच्छाइयों, समानताओं पर नज़र रखी जाती है, मतभेदों पर नहीं। इस तरह आदमी का स्वयं का नज़रिया ही उसके परीक्षण की कसौटी बन जाती है। मूलत: इक़बाल और ज़ाकिर हुसैन दोनों ही संत थे और इक़बाल के इस शेर से लेख को समाप्त करना अनुचित नहीं होगा:-

ओ संत आप भी कैसे वीतरागी हो,
दुनिया भर की पीड़ा अपने अतंर्मन में समेटे
उस (परमात्मा) की याद में लौ लगाये हो
दामिनी से भी तीव्र है विचार-प्रवाह तुम्हारा ॥

उत्कृष्ट मानव - निष्णात अध्यापक

अब्दुलसत्तार

हवाए तुंदोतेज़ लेकिन चराग़ अपना जला रहा है
वह मर्दे दर्वेश जिसको हक़ ने दिए हैं अंदाज़े ख़ुसरवी

(झंझावात है किंतु वह फ़क़ीर मनुष्य अपना दिया जलाए हुए है जिसे ईश्वर ने राजकीय वैभव प्रदान किए हैं ।)

ज़ाकिर साहब के बारे में न जाने कितने लेखकों ने अपने-अपने ढंग से लिखा है और उनको इसका अधिकार था इसलिए कि वह या तो उनके निकट रहे थे और बहुत सामीप्य से जानते थे या बुद्धिजीवी और मानव पारखी थे और ऐसी शैली में लिखते थे कि जो कुछ लिखें वह बुद्धि की कसौटी पर पूरी उतर सके ।

मुझ में उनमें से कोई अच्छाई नहीं, न तो ज़ाकिर साहब के बारे में कोई विश्वसनीय बात कह सकता हूँ और न उनके व्यक्तित्व को समझने का दावा करता हूँ । परन्तु एक साधारण विद्यार्थी की हैसियत से जो कुछ देखा या मुझ से सम्बंधित रहा उसे बताऊँ क्योंकि मैं प्राथमिक शिक्षा काल से ही उनका शिष्य रहा हूँ ।

ज़ाकिर साहब और उन के निकटतम मित्र शफ़ीक़ुर्रहमान क़िदवाई बिजनौर चन्दा इकट्ठा करने के लिए गये । स्वर्गीय पिता जी उस समय स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़े हुए थे, सरकारी नौकरी छोड़ कर सिर्फ़ स्वतंत्रता आंदोलन का काम उनका ओढ़ना बिछौना था । जहाँ तक मेरी और मेरे भाइयों की शिक्षा का सम्बंध था उस समय हम लोग मुस्लिम स्कूल बिजनौर में पढ़ते थे, जो पिता जी के एक घनिष्ठ मित्र और भिक्षुधर्मी व्यक्ति थे, अपनी लगन और मेहनत से उसका कार्य किया करते थे । परिवार के दूसरे लोग पिता जी के विचारों के विपरीत तत्कालीन सरकार के निकट थे और उनकी शिक्षा सरकारी स्कूल बिजनौर और उसके बाद अलीगढ़ यूनीवर्सिटी में हुई थी । पिता जी ने यह प्रतिज्ञा की थी और उस प्रण को अन्त तक निभाया कि अपने किसी बच्चे की अंग्रेजी सरकार के किसी भी संस्था या ऐसे स्कूल और कालेज में जिस को सरकारी मदद किसी प्रकार से मिलती हो वहाँ अपने बच्चों को शिक्षा नहीं दिलाऊँगा । ज़ाकिर साहब और शफ़ीक़ साहब से बात हुई और हम लोग जामिया को सौंप दिये गये । मेरे दोनों भाई तो कुछ वर्ष बाद

वापस बिजनौर चले गये लेकिन मैं तब से ही जामिया में रहा और दूसरी किसी शिक्षा संस्था का मुँह न देखा ।

लोग नहीं जानते हैं, अगर जानते होंगे तो कम ही लोग कि भारत का राष्ट्रपति कभी देहली नगरपालिका की मेम्बरी का प्रत्याशी रहा था । संभवत्: 1937 की बात है, मित्रों के कहने सुनने से मेम्बरी का नामांकन पत्र भर दिया । डाक्टर बुधवीर सिंह जो बाद में दिल्ली नगरपालिका के अध्यक्ष भी रहे उनके प्रतिद्वंद्वी थे । लेकिन इसे सौभाग्य कहें या दुर्भाग्य कि नामांकन पत्र अस्वीकार हो गया । हुआ यह एक घनिष्ठ मित्र ने फ़ीस भरी थी और उन की बहुत बड़ी इच्छा थी कि ज़ाकिर साहब मेम्बर बनें । उन्होंने फ़ार्म में ज़ाकिर हुसैन खाँ नाम लिखा जबकि ज़ाकिर साहब की न आदत थी न ही इच्छा थी कि वह अपने नाम के साथ कभी खाँ लगाते । मेरे विचार में उसकी उन्हें आवश्यकता नहीं थी क्योंकि इस तरह के शब्द हम जैसे लोग अपनी कमज़ोरियों और कमियों को आडंबरपूर्ण बनाने के लिए या अपना महत्व जताने के लिए प्रयोग करते हैं । ज़ाकिर साहब के हस्ताक्षर में 'खाँ' शब्द का प्रयोग नहीं था । ज़ाकिर हुसैन नाम से नामांकन पत्र भरा गया था और दोनों फ़ार्मों में अंतर के कारण उसे ख़ारिज़ कर दिया गया । हम लोग अपने साथियों के साथ रात के समय एकत्रित हो कर छोटे जुलूस निकालते और ज़ाकिर हुसैन ज़िन्दाबाद के नारे लगाते थे । गला फाड़ने का परिणाम सामने यह आया कि नामांकन पत्र ही रद्द हो गया और हम लोग अपने-अपने छात्रावास में चुप बैठ गये ।

अलीगढ़ से जामिया क़रोल बाग़ में आ गई थी । इस बात को अधिक समय नहीं हुआ था । तिब्बिया कालिज जो हकीम अजमल खाँ के प्रयत्नों का फल थी, वह भी क़रोल बाग़ में थी । हकीम अजमल खाँ ने जामिया के कार्यभार का दायित्व बड़ी हद तक अपने ऊपर ले लिया था और इसलिए वह चाहते थे कि यह संस्था आपके कालिज के निकट रहे ताकि वह दोनों जगह काम कर सकें ।

किराये के मकानों में प्राथमिक, माध्यमिक स्कूल और छोटा सा कालेज स्थापित हो गया । शायद ज़ाकिर साब ने सोचा कि किराये के मकानों में कब तक यह संस्था चल पायेगी और छात्रावास के लिए मकान प्राप्त करना और नियमित रूप से उनका किराया देना कब तक चलता रहेगा इसलिए उनके मन में यह बात आई कि कहीं दिल्ली नगर से बाहर जाकर अपनी बस्ती बसाई जाए । ज़मीन प्राप्त करना और उस पर भवनों का निर्माण करना बहुत बड़ा काम था । उस समय जो परिस्थितियां थीं उनमें ऐसा होना संभव नहीं दिखाई देता । लेकिन जो लोग काम के धनी होते हैं वह कठिनाइयों से न घबराते हैं और न साधनों की कमी उनके आड़े आती है । ओखला उस काल में नगर से बहुत दूर बसा एक गाँव था । वहाँ किसी न किसी प्रकार ज़मीन प्राप्त करने का काम आरंभ किया और धीरे धीरे कार्य चलता रहा । फिर यह बात सोची जाने लगी कि अब भवन निर्माण कार्य आरंभ कर दिया जाये । ज़ाकिर साहब ने हाइंस साहब से प्रारूप बनाने की बात की । स्वयं

उन्हें भवनों की तकनीकी जानकारी तो शायद न थी किन्तु हर वस्तु में गुण और सौन्दर्य उत्पन्न करना उनकी आदत थी। हाइंस साहब की सहायता से जर्मनी और भारत की मिली जुली वास्तुकला के आधार पर भवनों का निर्माण आरंभ हुआ। उस काल के तीन भवन - प्राथमिक, माध्यमिक और उस्तादों के मदरसे (टीचर-ट्रेनिंग-कालेज) आज भी वास्तुकला के अनुपम नमूने हैं। इसके पश्चात् और भी भवन बने, बड़े-बड़े भवन निर्मित हुए किन्तु उनमें वह सौन्दर्य और प्राच्य एवं पाश्चात्य का वह मिश्रण नहीं मिलता।

जैसे-जैसे जामिया विभाग बढ़ते गये वैसे-वैसे गिरते-पड़ते नये भवन बनते रहे। कहीं तो अच्छा कार्यकर्ता मिल गया और उसके कारण एक संस्थान खड़ा हो गया। और कभी संस्थान स्थापित करने की आवश्यकता पड़ी तो जैसे उचित योग्यता के कार्यकर्ता मिलते गये विभाग स्थापित होते गये। उस्तादों का मदरसा (टीचर ट्रेनिंग कालिज) खजूर रोड क़रोल बाग़ में ही स्थापित हो गया था। प्रौढ़ शिक्षा का कार्य भी बिना साधन के ज़ाकिर साहब के एक विश्वसनीय साथी शफ़ीकुर्रहमान क़िदवाई की सहायता से प्राथमिक चरण से गुज़र कर एक रचनात्मक कार्य दिखायी पड़ने लगा। यह बात समझ में न आती थी कि काम बढ़े जा रहे थे किन्तु संसाधन की कमी के कारण कोई काम रुकता न था। मैं समझता हूँ कि यह हमारे लिए एक बहुत बड़ा दृष्टांत है कि प्रतिकूल परिस्थितियों में कठिनाइयों की उपेक्षा करके लोग कैसे-कैसे बड़े काम कर लेते हैं। काम करने वाले भी मिल जाते हैं। सहायता करने वाले भी उपलब्ध हो जाते हैं। इस युग में गाँधी जी और हकीम अजमल खाँ के कारण वित्तीय कठिनाइयों में पर्याप्त कमी हुई है। और इन लोगों का निष्ठापूर्ण और उत्साहवर्धक स्नेह तथा अनथक प्रयासों से माली कठिनाइयां काम में रुकावट न बन सकीं। जमुना लाल बजाज उस समय जामिया के कोषाध्यक्ष थे और धन उपलब्ध कराने में उनका बड़ा हाथ था। मौलाना मोहम्मद अली के पश्चात् डा. अंसारी कुलाधिपति नियुक्त हुए। ज़ाकिर साहब को सहारा मिला और काम में अच्छी तरह मदद मिली। हकीम अजमल खाँ के देहावसान से जो कमी पैदा हो गई थी वह किसी हद तक पूरी हो गई। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि आरम्भ से जामिया का लक्ष्य आधुनिक शिक्षा और संयुक्त राष्ट्रीय आंदोलन था। सच पूछिये तो अलीगढ़ से पृथक हो कर अपने सिद्धांतों को मार्गदर्शक रूप देने का कार्य जामिया में चल रहा था। काम करने वाले, काम में सहायता करने वाले, हर प्रकार के विचारों और प्रत्येक धर्म के लोग थे। इनमें इ.जी.कैलाट कैमरिज से अंग्रेज़ी साहित्य में एम.ए. करके आये थे वह जामिया के साथ हो गये। जर्मनी के एक इंजीनियर और एक महिला मिस गेर्डा फ़िलिप्सबार्न ने भी अपनी सेवायें जामिया को अर्पित कर दी थीं। गाँधी जी, जमना लाल बजाज और इसी प्रकार के दूसरे लोगों ने जामिया के कामों में हाथ बंटाया। वस्तुतः जब लक्ष्य काम होता है तो यह बातें नहीं होती हैं कि कौन है और क्या कर रहा है, बस काम ही उद्देश्य होता है।

ज़ाकिर साहब में यह गुण आरंभ से था कि व्यक्ति कैसा ही मिल जाए परन्तु यदि वह

काम करना चाहे तो ज़ाकिर साहब उससे न केवल काम ले लेते थे बल्कि उसके व्यक्तित्व को भी चमका देते थे और धीरे-धीरे वह कार्यकर्ता काम का एक आवश्यक अंग बन जाता था। यह बात बहुत कठिन होती है। बहुत से लोग जो विभिन्न स्थानों से आए हों, जिनकी विचारधारा भिन्न हो, योग्यतायें अलग-अलग हों उनको किसी काम के लिए एकत्रित करके उनसे काम लेना सरल नहीं है। ज़ाकिर साहब हमेशा यह बात कहा करते थे कि महत्वपूर्ण आदमी नहीं है, काम है। वह बहुत पढ़े-लिखे लोगों से साधारण काम ले लेते और थोड़ा बहुत पढ़े-लिखे लोगों के कन्धों पर बड़े-बड़े कामों का बोझ डाल देते। मेरे विचार में यह उनकी अपनी योग्यता थी कि वह सब लोगों से विचार विमर्श तो अवश्य करते किन्तु अपनी बात मनवा लेते और नेतृत्व की योग्यता को काम में लाकर उस काम के चारों ओर सबको इकट्ठा कर देते। फिर लोगों को काम में आज़ाद छोड़ देते और समय समय पर सबको प्रोत्साहित करते रहते।

हमारे अर्थशास्त्र के अध्यापक स्वर्गीय प्रो. मोहम्मद आक़िल साहब सरकार की एक शैक्षणिक योजना के सिफ़ारिशों के कारण इंगिलस्तान गये थे ताकि वहाँ के ग्रामों और नगरों की स्थिति का निकट से अध्ययन करें। इसलिए हमारी एफ़.ए. की कक्षाएँ ज़ाकिर साहब लेने लगे। ज़ाकिर साहिब के यहाँ अतिथियों की भीड़ लगी रहती थी। और प्रायः इस कारण से कक्षा का समय आगे-पीछे हो जाता था। एक दिन ऐसा हुआ कि कक्षा का समय हो गया। हम में से कोई ज़ाकिर साहब को देखने उनके कार्यालय गया तो ज्ञात हुआ कि बाहर के कुछ लोग आए हैं और शायद आज क्लास न हो सके। हमारे इंडोनीशिया और मलेशिया के कुछ साथी थे जो मछली के शिकार के माहिर थे, उनके साथ ही कुछ अटकल हमें भी आ गई थी। वर्तमान बटला-हाऊस के साथ एक नाला बहता था जो जाकर जमुना से मिल गया था। वहाँ पर्याप्त मात्रा में मछलियाँ मिल जाया करती थीं। हम सबने मछली मारने का कार्यक्रम निश्चित कर लिया। जाल लेकर नाले पर पहुँचे और जाल डाला तो अच्छा ख़ासा माल मिल गया। मछलियां लेकर छात्रावास पहुँचे। मछलियाँ बनाने और पकाने में आनन्द आ रहा था। अच्छी-ख़ासी पिकनिक का वातावरण था।

अतिथि जब चले गए तो ज़ाकिर साहब को याद आया कि क्लास लेनी थी। इधर-उधर खोजा तो किसी का पता नहीं। केवल एक विद्यार्थी चलता-फिरता दिखाई दिया। डा. साहब ने उनको पुकारा और सलाम किया और बोले कि क्लास है, मैं उपस्थित हुआ हूँ। वह बहुत लज्जित हुए और बोले शेष साथी प्रतीक्षा करके चले गए और अब छात्रावास में हैं। ज़ाकिर साहब उनको साथ लेकर होस्टल की ओर चले। रास्ते में खूब चहल-पहल थी। देखा कि ज़ाकिर साहब आ रहे हैं। देखते ही सब घबरा गये। किन्तु ज़ाकिर साहब छात्रावास में आ गये और अस्लामअलैकुम कह कर बोले कि मैं इसलिए उपस्थित हुआ कि क्लास थी। किसी को कुछ कहते बन न पड़ा। सब छोड़-छाड़ कर

हम उनके पीछे-पीछे हो लिए। ज़ाकिर साहब ने न कोई प्रश्न किया और न डाँट डपट की। आगे-आगे ज़ाकिर साहब थे। विद्यार्थी कक्षा में जाकर बैठ गये और क्लास आरंभ हो गई। जितना समय बचा था उसमें पढ़ाया और क्लास समाप्त हो गई। स्पष्ट है कि छात्रों पर इस बात का क्या प्रभाव पड़ा होगा ? इसके पश्चात् किसी को साहस नहीं हुआ कि ज़ाकिर साहब की कक्षा को छोड़ सके।

हर चीज़ को बारीकी के साथ देखने की उनकी आदत थी। छोटी-छोटी चीज़ों पर उनका ध्यान जाता था। खिड़की में धूल या मिट्टी जमी है तो उसे साफ़ कर दिया। होस्टल में किसी प्रकार की गंदगी दिखाई दी तो बातचीत करते करते उस पर मिट्टी डालने लगते। रास्ते में कोई काग़ज़ का टुकड़ा दिख़ाई पड़ जाता तो उसे उठा कर जेब में रख लेते।

एक बार "अब्बू खाँ की बकरी" नामक उनकी पुस्तक से संबंधित जामिया मिल्लिया की ओर से कोई छोटा सा जलसा था। मैं भी उपस्थित था। उस समय मैं खेती किया करता था। और गुलाब की खेती में शायद उस समय दिल्ली में पहले नम्बर पर था। विशेष रूप से रायल गुलाब मेरे यहाँ से भारी मात्रा में प्रतिदिन मंडी जाया करता था। ज़ाकिर साहब ने मुझे देखकर पूछा कि क्या कर रहे हो। मैंने बताया तो प्रसन्न हुए। उसी बीच किसी ने कहा कि आजकल गुलाब की खेती में बहुत व्यस्त हैं। तुरंत मेरी ओर मुड़े और पूछा। अच्छा बताओ गुलाब का सबसे अच्छा आधार कौन सा होता है। मुझे पता नहीं था। मैं एक कृषक के रूप में काम करता था, इस बारीकी को क्या समझता। मैं सटपटा गया, और जब उत्तर न बन पड़ा तो स्वयं बोले: देसी गुलाब सबसे अच्छा आधार होता है।

ज़ाकिर साहब हाथ के काम को महत्व देते थे। उनका कोई विद्यार्थी यदि काम करता तो बहुत प्रसन्न होते। रुड़की में पिता जी के एक जानने वाले बेकरी का काम करते थे। पिताजी ने मुझे वहाँ काम सीखने भेज दिया। काम सीख कर जामिया आया और अल्फ़ा बेकरी के नाम से एक बेकरी चलाने लगा। ज़ाकिर साहब ने इसका उद्घाटन किया और इस समारोह में जामिया के अध्यापक और कर्मचारी भी सम्मिलित हुए।

मैं स्वयं भी काम करने वालों के साथ काम किया करता था। एक दिन काम कर रहा था। हाथ कुहनियों तक मैदे में सने थे। किसी ने द्वार खटखटाया। मैं गया तो ज़ाकिर साहब को देखकर घबरा गया। परन्तु उनके मुखड़े पर जो प्रसन्नता थी उसे बताना मेरे बस में नहीं है। कुछ देर काम देखते रहे, फिर बोले तुम्हें पता है कि मुझे शक्कर की बीमारी है। इसमें ब्राउन ब्रेड लाभदायक होती है। क्या तुम ब्राउन ब्रेड बना सकते हो। मैंने हाँ तो कर दी किंतु इसे बनाने का मुझे अनुभव न था। काम करने वाले जानते थे, उनसे परामर्श किया और ब्राउन ब्रेड बना के मैंने उनके घर भेजना आरम्भ कर दिया। पता नहीं उन्होंने खाई या नहीं किन्तु इनका मूल्य चुकाने की चिन्ता में पड़ गये। क़ीमत लेने से मैंने इंकार कर दिया। उनका आग्रह और मेरा इंकार। एक दो सप्ताह पश्चात् उन्होंने बहाना किया

कि अब ज़रुरत नहीं है और रोटी बन्द कर दो । मुझे याद है तरह-तरह से वह उसका मूल्य चुकाते रहे ।

मेरे एक मित्र सतीशचन्द्र जो पहले जामिया में काम करते थे और बाद में नई दिल्ली परिवार नियोजन विभाग में प्रशिक्षण अधिकारी हो गये थे । वह मुझसे बोले कि परिवार नियोजन का एक जलसा ओखला की चौपाल पर क्यों न करा दें और ज़ाकिर साहब से, जो उस समय उपराष्ट्रपति थे, इसमें आने का निवेदन करें । मैं उस समय शिक्षा और प्रगति के ग्रामीण केन्द्र में काम किया करता था । ओखला में भी हमारा कार्यक्रम चल रहा था । मैंने हाँ कर ली ।

ज़ाकिर साहब हमारे कहने से इस छोटे से जलसे में भी आ गये । जलसा समाप्त होने के पश्चात् वह जाने के लिए कार में बैठ गये । हम लोग ज़ाकिर साहब के सामने जाने से घबरा रहे थे । लेकिन जब वह गाड़ी में बैठ गए तो उन्हें कुछ याद आया और मेरी तलाश हुई । मैं उनकी कार के शीशे में मुँह डाल कर खड़ा हो गया । मुझसे बहुत भेद भरे ढंग से बोले तुम्हारे कितने बच्चे हैं । मैंने कहा छः बच्चे । मेरी ओर बहुत रहस्यपूर्ण ढंग से देखा और ड्राइवर से कहा चलो । शायद बताना चाहते थे कि अब परिवार नियोजन की सूझी है । उपराष्ट्रपति होने से पूर्व ओखला आये थे । और अपने घर में ठहरे हुए थे । भारत सेवक समाज ने ओखला स्कूल में अपना शिविर लगाया था । उन लोगों ने ज़ाकिर साहब को शिविर में आमंत्रित किया । ज़ाकिर साहब घर से पैदल ओखले गाँव के बीच से होते हुए ओखला स्कूल पहुँचे और रास्ते में ओखला गाँव को जैसे पहले देखा था वैसा ही पाया, कोई प्रगति उनको दिखाई न पड़ी, न सफ़ाई, न सड़क, न साफ़-सुथरे मकान । उन्होंने लोगों से पूछा कि क्या यहाँ जामिया की ओर से कोई काम होता है । लोगों ने बताया कि प्रौढ़ शिक्षा का और उसके साथ कुछ और भी काम होते हैं । पूछने पर पता चला कि अब्दुलसत्तार ही ग्रामीण केन्द्र के प्रभारी हैं और उन्हीं के ज़िम्मे यह काम है । उस समय तो चुप हो गये और जलसे से फ़ुरसत पाकर घर चले गए ।

इन्हीं दिनों एक दिन मैं उनके घर पर उपस्थित हुआ । ज़ाकिर साहब ने एक छोटा सा काम मेरे ज़िम्मे किया था । उसी के बारे में ख़ुर्शीद आलम साहब के पास गया था । इस बात का अनुमान भी न था कि श्रीमान अन्दर ही होंगे । निःसंकोच घंटी पर हाथ रख दिया । कुछ मिनट बाद देखता हूँ ज़ाकिर साहब आ रहे हैं । हवा ख़राब हो गयी, मैं जल्दी से बोला ''मास्टर साहब (उस समाज में हम लोग उन्हें मास्टर साहब ही कहा करते थे) आप से काम नहीं ख़ुर्शीद साहब से काम है ।'' वह बोले: ''तुम्हें तो मुझसे काम नहीं लेकिन मुझे तुमसे काम है ।'' यह कह कर बात करते हुए मुझे बाहर ले आये और बहुत ही शांतभाव से बोले: ''यार, सुनो मेरे विचार में ओखला गाँव को आग दे दो क्योंकि दोबारा बसेगा तो अच्छा बसेगा''। यह बातें हो ही रही थीं कि प्रो. मोहम्मद मुजीब साहब आ गये । मुझे छोड़ मुजीब साहब से बोले: ''मैं इन से कह रहा हूँ कि ओखला गाँव को

आग दे दो ।" मुजीब साहब व्यंग्य समझ गये । वैसे भी कुछ कहने की हिम्मत इस समय किसी में न थी । मुजीब साहब बोले "हाँ विचार तो उत्तम है, अति उत्तम है ।" यह कहना था कि मुझे तो छोड़ दिया और मुजीब साहब से लिपट गये और न जाने क्या-क्या कहा क्योंकि मुजीब साहब ही एक प्रकार से शिक्षा और प्रगति ग्रामीण कार्यक्रम के ज़िम्मेदार थे । मैं तो अवसर पाते ही वहाँ से निकला तो मुड़कर न देखा ।

ज़ाकिर साहब कहा करते थे कि अगर कोई काम इसलिए है कि किया जाए तो वह इसलिये भी है कि उसे सुन्दरता के साथ किया जाए । ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जिनमें उनका यह कथन याद आता है । जामिया में इसी बात में "जलियांवाला बाग़" की दुर्घटना को स्मरणीय बनाए रखने और उसको राष्ट्रीय पर्व के रूप में मनाने का एक निश्चित कार्यक्रम बना था जिसे राष्ट्रीय सप्ताह का नाम दिया जाता था । 1 अप्रैल को जामिया में आम कार्यक्रम इस तरह पर होता था कि सारे काम करने वाले चपरासी, बावर्ची, निम्न स्तर के कर्मचारी सबको अवकाश दिया जाता था और सारा काम अध्यापक और विद्यार्थी करते थे । कोई सफ़ाई कर रहा है, तो कोई सड़क पर झाड़ू दे रहा है, कोई खाना पका रहा है । विद्यार्थी और अध्यापक ही नालों की सफ़ाई और धुलाई करते थे । इस समय में ड्राई लैटिरीन थे । फ़लैश लैटिरीन का चलन नहीं था । हम लोग बग़ैर किसी हिचक के शौचालय भी साफ़ करते, हमें किसी भी प्रकार का संकोच नहीं होता था, कोई लाज नहीं आती थी । और ऐसा रिवाज वर्षों चलता रहा । राष्ट्रीय सप्ताह का कार्यक्रम वर्ष में एक बार तो होना आवश्यक था । संध्या समय बौद्धिक कार्यक्रम होता । राष्ट्रीय सप्ताह के महत्व का आभास कराया जाता और जलियांवाला बाग़ की दुर्घटना को याद किया जाता । इस का परिणाम यह हुआ कि मस्तिष्क में यह बात भी बैठ गई कि कोई कार्य छोटा या बड़ा नहीं होता । इस का प्रभाव मुझ पर अब तक है । 15-20 वर्ष पहले की बात है कि सफ़ाई कर्मचारी से झगड़ा हो गया और उसने घर का काम छोड़ दिया । मैंने बहुत इतमिनान के साथ अपने घर की सफ़ाई की । वस्तुत: दो-तीन महीने तक सफ़ाई करता रहा । बच्चों को बुला कर दिखाता कि उससे अच्छी सफ़ाई तो मैं स्वयं ही कर लेता हूँ । घर के लोग इस बात पर शर्म भी महसूस करते थे और उसे छुपाते भी थे परन्तु मुझे कभी बुरा नहीं लगा ।

ज़ाकिर साहब के व्यक्तित्व को भी मैंने बहुत निकट से देखा है । यह स्पष्ट है कि आर्थिक समस्याएं जब बहुत कठिन थीं तो उनकी घर-गृहस्थी उससे प्रभावित क्यों न होती होगी । बेगम साहिबा भैंसें और मुर्ग़ियां पालती थीं, एक आध गाय भी थी । और जीवन की गाड़ी गिरते-पड़ते चलती रहती थी । परन्तु कभी शेरवानी पर एक धब्बा नज़र न आता था, दफ़्तर में फ़र्श पर बैठने का प्रबन्ध था । तकिये के सहारे डेस्क पर काम करते थे । एक सुलेख का नमूना दफ़्तर में लटका हुआ था । आज भी मुझे याद है यह सुलेख कला का शाहाकार था परन्तु अर्थ की दृष्टि से उस में अत्यधिक गहराई थी:

दुनिया-ए-दनी को नक़्शे फ़ानी समझो   हर चीज़ यहाँ की आनी जानी समझो
पर जब करो आग़ाज़ कोई काम बड़ा   हर सांस को उम्रे जावदानी समझो

(इस संसार को मिटने वाले पदचिह्न समझो, हर चीज़ यहाँ की आनी-जानी समझो, परंतु जब किसी बड़े काम का श्रीगणेश करो तो प्रत्येक श्वास को चिरायु समझो)

ज़ाकिर साहब का बर्ताव अपने मित्रों के साथ बराबरी का रहता था। हर व्यक्ति को वह सम्मान देते थे। सबके साथ अच्छा व्यवहार करते थे। जहाँ तक बन पड़ता मित्रों की छोटी मोटी सहायता भी कर दिया करते थे। मिलजुल कर काम करने से उनमें एक ऐसा गुण पैदा हो गया था कि योग्यता के आदान प्रदान की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। वह दूसरों को सिखाते भी थे और दूसरों से सीखते भी थे। ज़ाकिर साहब का व्यक्तित्व उनके सारे मित्रों की योग्यताओं और मेहनतों का सारांश था। इसलिए ज़ाकिर साहब को समझने में यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि सारे मित्रों के सामूहिक प्रयासों और कारनामों का नाम ज़ाकिर है।

वह पक्के मुसलमान थे और इस्लाम संबंधी अध्ययन भी बहुत था। फ़कीरी के गुणों वाले थे और निष्ठा और आस्था के कारण उनमें एक असाधारण क्षमता पैदा हो गई थी। हिन्दुस्तान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और विशेषरूप से मुसलमानों की स्थिति में जिस प्रकार विभिन्न कालों में परिवर्तन होते रहे थे और इस्लामी समाज में जो उतार चढ़ाव उत्पन्न होते रहे हैं, वह उनकी दृष्टि में थे। शाह वली उल्लाह का लेखन उनके मस्तिष्क में था, सूफ़ी-सन्तों से बहुत प्रभावित थे। इसलिए वह कठिन परिस्थितियों में आग में कूदना जानते थे। वह हर प्रकार के लोगों से चाहे नह किसी धर्म या किसी क्षेत्र के हों अपना मेल-जोल बढ़ा लेते थे और उनसे अपने शिक्षा अभियान में काम लेते थे। जामिया में इस ज़माने में विद्यार्थियों की संख्या अधिक नहीं थी। परन्तु इस अल्प संख्या में वह अधिक क्षमता पैदा करने का प्रयत्न करते थे। देश के अतिरिक्त विदेशों से विद्यार्थी जामिया में आकर शिक्षा प्राप्त करते थे। इसमें दक्षिण अफ़्रीक़ा, दक्षिण बहरैन, मलैशिया के विद्यार्थी भी बड़ी संख्या में थे। इसका अर्थ स्पष्ट था कि ज़ाकिर साहब ने उन समस्त क्षेत्रों में किसी न किसी हद तक अपना प्रभाव डाला था और जामिया की एक साख बन गई थी अन्यथा कोई अभिभावक इतनी दूर अपने बच्चों को क्यों ऐसी शिक्षा संस्था में विद्यार्जन हेतु भेजता जिस का भविष्य अंधकारमय था और तत्कालिक सरकार की अनुदान और उपाधियों की सरकारी स्वीकृति इस संस्था को प्राप्त न हो सकी थी। सरकार की दृष्टि में तो यह एक विरोधी आंदोलन की तरह थी और उसकी आँख में काँटे की तरह चुभती थी।

ज़ाकिर साहब ने शिक्षा के कामों के साथ-साथ अपने संयुक्त राष्ट्र के लक्ष्य को कभी नहीं भुलाया।

इस बात को मैं पहले भी लिख चुका हूँ। मुसलमानों ने अंग्रेज़ों की कूटनीति का

सामना करने के लिए नाना प्रकार के मोर्चे बनाये। हिन्दुस्तान के मुसलमानों का एक दल जो धर्म से भी जुड़ा था और मुस्लिमों और भिन्न-भिन्न विचारधारा के लोगों के साथ कंधे से कंधा मिला कर संघर्ष करने को तत्पर था। ज़ाकिर साहब ने उनकी नीति से लाभ उठाया। राष्ट्रवादी मुसलमानों का यह दल अपनी धार्मिक अस्मिता के साथ अंग्रेज़ दुश्मनी और मिली जुली राजनीति में सब लोगों को लेकर क़दम बढ़ाता था। हज़रत शेख़-उल-हिन्द, मौलाना महमूद-उल-हसन और उनके साथियों ने अंग्रेज़ी दुश्मनी में राष्ट्रीय स्तर पर जो कारनामे किए थे ज़ाकिर साहब उन को न केवल मानते थे बल्कि सदैव उन का आदर करते थे तथा उन से लाभांवित होते थे। मौलाना महमूद-उल-हसन ने तो जामिया का शिलान्यास किया था और मौलाना मोहम्मद अली जामिया के सरसंचालक थे। इसलिए वह देवबन्द और अलीगढ़ के आंदोलनों से सावधानी के साथ अपने काम में मदद लेते थे। मैंने स्वयं देखा है कि मौलाना उबैदुल्लह सिंधी से, जो देश निष्कासित होकर रूस चले गये थे और अंत में भारत वापस आ गये थे, उन्होंने पर्याप्त मात्रा में लाभ उठाया और उन से प्रभावित हो कर "बैतुलहिकमत" (ज्ञान-विज्ञान केन्द्र) की नींव रखी। इसी के साथ-साथ तब्लीग़ी जमात के संस्थापक मौलाना मोहम्मद इलयास से उनका घनिष्ठ संबंध था। मौलाना मुसलमानों में धार्मिक आस्था उत्पन्न करना चाहते थे, राजनीति से दूर और बिल्कुल पृथक रहने की चेष्टा करते थे। मैं इस बारे में पूरे विश्वास से कह सकता हूँ कि ज़ाकिर साहब से उन का संबंध अत्यंत घनिष्ठ था। ज़ाकिर साहब किसी भी प्रकार का भेदभाव चाहे वह किसी भी रूप में हो सहन नहीं कर सकते थे, उनके लिये इतना पर्याप्त था कि अच्छा मुसलमान हो और देश हित और राजनैतिक कार्यों में कंधे से कंधा मिलाकर चले।

डा. अंसारी देश के राष्ट्रीय नेता थे और राजनीति में उन का व्यक्तित्व महत्वपूर्ण समझा जाता था। वह जामिया के कुलाधिपति रहे। किंतु उनके कार्यकाल को अधिक समय न बीता था कि उनका देहांत हो गया जिस का जामिया पर बहुत प्रभाव पड़ा और ज़ाकिर साहब तो उस अवसर पर अधिक भावुक हो उठे। मैं उस समय छठी कक्षा का विद्यार्थी था। मसूरी एक्सप्रेस में डा. अंसारी को दिल का दौरा पड़ा। जामिया पर शोक के बादल छा गये। निर्णय हुआ कि डा. अंसारी को ओखला, जो बाद में जामिया नगर हो गया था, में उन्हें दफ़न किया जाए। लारियों का प्रबन्ध हुआ और जामिया के सारे विद्यार्थी और अध्यापक अपने इस उपकारक के शव को लेकर जामिया नगर आ गये। डा. अंसारी के जनाज़े के साथ उन के भाई हकीम नाबीना भी आये थे। मैं था तो छोटा सा परन्तु क़ब्र के निकट ही मौजूद था। ज़ाकिर साहब को लोगों ने हंसते भी देखा होगा, उनका गांभीर्य भी देखा होगा, उनका ओजस्वी मुखड़ा भी देखा होगा परन्तु शायद उन को फूट-फूट कर रोते हुए नहीं देखा होगा। जिस समय दफ़नाने से फ़ुरसत पाई तो ज़ाकिर साहब बहुत चुप खड़े थे। फिर कहने लगे कि आइये अब चलें और यह कह कर इस प्रकार फूट-फूट कर रोए

कि मैं आज तक उस दृश्य को नहीं भूला । ज़ाकिर साहब का उनसे कोई रक्त का संबंध नहीं था, उम्र में भी काफ़ी अंतर रहा होगा ।

परन्तु केवल यह भावना थी कि जिस काम का बीड़ा उठाया था उस का एक सक्रिय कार्यकर्ता चला गया, और शायद आकाशवाणी से डा. अंसारी के निधन पर ज़ाकिर साहब ने जो भाषण दिया था उससे अनुमान लगाया जा सकता है कि ज़ाकिर साहब को उन के देहांत से जो क्षति पहुँची थी उसे वह कितना महत्व देते थे ।

इसी प्रकार की एक घटना मौलाना शौकत अली के देहांत के संबंध में घटी । मौलाना मोहम्मद अली का जो संबंध जामिया से था और इस संस्था पर जो उनके उपकार थे उन्हें कौन नहीं जानता । वह उस समय राष्ट्रीय आंदोलन और ख़िलाफ़त आंदोलन के प्राण थे । मौलाना शौकत अली उनके भाई और दाहिना हाथ थे यद्यपि उनको वह हैसियत न मिल सकी थी जो मौलाना मोहम्मद अली को प्राप्त थी । मौलाना शौकत अली के देहावसान पर ज़ाकिर साहब ने उनको दफ़नाने का प्रबंध किया । जामिया के सारे अध्यापक, विद्यार्थी, उनके जनाज़े को लेकर चले । शवयात्रा के साथ एक झंडा भी था । यह मुझे याद नहीं कि झंडा कैसा था लेकिन शवयात्रा के साथ क़रोल बाग़ से बाड़ा हिन्दु राव, सदर बाज़ार, चाँदनी चौक होता हुआ जामा मस्जिद पहुँचा और हरे-भरे शाह की समाधि के पास जामिया प्रबन्ध के अनुसार उन्हें दफ़ना दिया गया । अब वह समाधि एक मस्जिद के बीच में है । मीना बाज़ार के निकट एक मस्जिद है । उसमें भी नमाज़ पढ़ने जाना होता है तो क़ब्र सामने रहती है और याद आता है कि उनका अंतिम क्रियाकर्म में हम लोग भी उपस्थित थे । और वहीं से दो सौ क़दम की दूरी पर मौलाना अबुलकलाम आज़ाद की समाधि है । जब मेरी दोनों पर नज़र पड़ती है तो अलग प्रकार का अहसास होता है ।

आजकल लोग बच्चों की स्कूली शिक्षा को बहुत महत्व देते हैं क्योंकि यही प्रतिभा के विकास का समय होता है और वह इस समय जो कुछ सीखता है उस की ज़िन्दगी के हर क्षेत्र में उसका प्रभाव बना रहता है । ज़ाकिर साहब ने यह बात आज से पचास वर्ष पूर्व समझी और उस पर विशेष ध्यान दिया । उन्होंने ऐसा रास्ता बताया कि बाद में और लोगों ने भी इस से लाभ उठाया ।

प्राथमिक और माध्यमिक स्कूल दोनों आवासीय थे । वस्तुत: बाहर रहने वाले छात्रों को भी प्रवेश मिल जाता था किंतु विशेष ध्यान छात्रावास के विद्यार्थियों पर रहता था । उसके चौबीस घंटे शैक्षणिक और सामाजिक वातावरण में बीतते थे । एक विद्यार्थी के मानसिक विकास और उसकी प्रगति पर पूरे समय दृष्टि केन्द्रित रहती थी । शिक्षा के साथ अच्छा स्वच्छ रहन-सहन, अनुशासन, खेल और खाने के नियम, खेल और धार्मिक शिक्षा जिनसे एक विद्यार्थी प्रभावित हो सकता है, केवल आवासीय शिक्षालय में ही उपलब्ध हो सकते हैं ।

स्कूल में बच्चों का बैंक, बच्चों की दूकान, बच्चों का न्यायालय, चुनाव, खुली हवा

का स्कूल, जो अपने स्कूल से दूर जा कर लगाना होता था, स्कूल के आवश्यक अंग थे। बच्चे साफ़-सुथरे कैसे रहते हैं, वस्त्र किस प्रकार के पहनते हैं, आपस में बोल-चाल और उठने-बैठने के ढंग बच्चों में अनायास पैदा हो जाते थे। बच्चों की एक पत्रिका "पयामे तालीम" के नाम से निकलती थी जो हर विद्यार्थी को पढ़ने को दी जाती थी।

मुझे भली भांति याद है कि देश और विदेशों के शिक्षाविद इस प्रयोग को देखने आते और ज़ाकिर साहब उन लोगों को विशेष रूप से मदरसा दिखाते। वह लोग इससे प्रभावित होते और प्रशंसात्मक टिप्पणियां लिखकर वापस जाते थे।

बच्चों को जेब ख़र्च के लिए तीन आने प्रति सप्ताह मिलता था। उन्हें ख़र्च करने की स्वतंत्रता थी। उस समय तीन आने बहुत तो नहीं किन्तु अच्छे ख़ासे होते थे। बच्चे बाहरी अस्वस्थ्य वातावरण से प्रभावित न होने पाएं इसका भी विचित्र प्रबंध होता था। बच्चों का बैंक अपना नोट छपवाता था और वह जामिया में ही स्वीकृत थे। इस प्रकार बच्चे इधर-उधर जाकर चीज़ें क्रय नहीं कर सकते थे। देखने में यह बात बहुत साधारण सी थी किन्तु बच्चे के प्रशिक्षण पर इसका प्रभाव पड़ता था। मुझे खेद है कि अब इस प्रकार का वातावरण बहुत कम रह गया है। अध्यापकों में वह लगन और रूचि नहीं रही है। इसमें उनका दोष नहीं बल्कि परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी हो गई हैं। आवाँ-का-आवाँ आग की लपेट में आ गया है। अब तो प्रवेश, परीक्षा, और शीघ्रातिशीघ्र शिक्षा पूर्ण करने की धुन सवार है। इसकी चिन्ता किसको है कि बालक किस वातावरण में पल कर कैसा बना। हम लोग इस समय अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूलों की ओर भागते हैं और प्रवेश के लिए मारे-मारे फिरते हैं केवल इसलिए कि उनमें बच्चों की शिक्षा-दीक्षा और अनुशासन का उचित प्रबंध है। यह भूल जाते हैं कि यदि लगन हो तो हमारे स्कूलों में भी वही वातावरण बहुत थोड़ी सी मेहनत से सुधर सकता है।

स्कूल की शिक्षा से ज़ाकिर साहब को इतना लगाव था कि एक ज़माने में वह माध्यमिक स्कूल के हेडमास्टर बन गये और स्कूल का प्रत्यक्ष प्रबंध अपने हाथ में ले लिया। उस काल में यह बात न थी कि कौन क्या काम करता है। जो भी काम को अच्छे ढंग से कर सकता था या करने का प्रयत्न करता था उसी के सुपुर्द वह कार्य कर दिया जाता था। उस काल की एक बहुत रोचक घटना याद आ गई:

मुझसे छोटे भाई स्वर्गीय अब्दुलरब मुन्नन सातवीं कक्षा में अनुत्तीर्ण हो गये। इस काल में उत्तीर्ण और अनुत्तीर्ण होने वालों को दूसरी कक्षा में भेजने की रीति भी थी। परीक्षा की विलक्षण पद्धति होती थी। मेरे गणित के अध्यापक स्वर्गीय बरकत अली साहब, जो नियमों के संबंध में बहुत कट्टर थे, प्रतिदिन के कार्य और मासिक जांच रिपोर्ट भी बनाया करते थे।

मेरे छोटे भाई ने मुझ से आकर कहा कि मैं तो फेल हो गया, अब क्या करूं। मैंने शीघ्र हिम्मत बंधाई और वादा किया और विश्वासपूर्ण ढंग से कह दिया कि मैं ज़ाकिर

साहब से सिफ़ारिश कर के तुम्हें दूसरी कक्षा में उन्नत करा दूँगा। बात यह थी कि ज़ाकिर साहब और उनके दूसरे साथी अपने छात्रों से इतना प्रेम करते थे कि हर विद्यार्थी यह समझता था कि मुझे उनके दिल में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। मैं भाई को लेकर ज़ाकिर साहब के कार्यालय में गया। उस समय ज़ाकिर साहब साफ़-सुथरे फ़र्श पर बैठे किसी काम में व्यस्त थे। मैंने निस्संकोच चिक उठाई और अन्दर आने की अनुमति मांगी। उन्होंने प्रेम पूर्वक कहा, आओ, आओ। मैं भाई को लेकर उपस्थित हो गया। बोले: "हाँ, कहो, क्या बात है।" मैंने कहा: "यह मेरा छोटा भाई है।" बोले "हाँ-हाँ, मैं जानता हूँ, वैसे मैं अनजान रहता हूँ लेकिन मैं बहुत कुछ, जानता हूँ।" फिर मैंने कहा: "यह सांतवीं में फ़ेल हो गया है।" बोले: "अच्छा फ़ेल हो गया, बड़ा अफ़सोस है। फिर क्या हो।" मैं ने नि:संकोच होकर कहा कि इसको उन्नति दे दीजिए। "अच्छा-अच्छा उन्नति दे दूँ।" फिर थोड़ी देर चुप रहे। चपरासी को आवाज़ दी "कफ़ील खाँ"। कफ़ील खाँ आए तो बोले: "अरे भाई कफ़ील खाँ ज़रा कालिज का प्रवेश रजिस्टर ले आओ।" मैं कुछ सटपटाया और कुछ बोलना चाहा कि स्वंय बोले: "मैं इसका प्रवेश कालेज में कर देता हूँ।" मैं घबरा गया, कुछ बोलना चाहा किन्तु क्या बोलता। स्वंय बोले: "अरे भाई क्या परेशानी है। यह घर की बात है। मैं इसका प्रवेश कालेज में करा देता हूँ।" मुझे पसीना आ गया। कहूँ तो क्या कहूँ। ऐसा फँसा कि निकलने का रास्ता तलाश करने लगा। उठ कर बाहर का रास्ता लिया। ज़ाकिर साहब ने न क्रोध किया न वाद-विवाद किया। बस एक शब्द में बात का अन्त कर दिया। बात की बात और मनोरंजन का मनोरंजन। उसके बाद किसकी हिम्मत थी जो किसी की सिफ़ारिश की बात सोचे।

परिस्थिति ने करवट ली। राजनैतिक क्षितिज पर काले बादल घुमड़ने लगे। मुस्लिम लीग और कांग्रेस में ठन गई थी। अग्रेज़ों का खेल, दुनिया में युद्ध का विचित्र वातावरण, समझ में न आता था कि अब क्या होगा। मुसलमान उत्तेजित होकर पाकिस्तान का नारा लगा रहे थे, संयुक्त राष्ट्रीयता का ढाँचा टुकड़े टुकड़े होता दिखाई पड़ रहा था। देश का बुद्धिमान वर्ग जिसमें शिक्षा और धर्म से संबद्ध प्रतिष्ठित व्यक्ति सम्मिलित थे, देशवासियों को होश की बात समझाना चाहता था किन्तु इस कोलाहल में उनकी कौन सुनता। अधिकांश मुसलमान मुस्लिम लीग के साथ हो गए थे और पाकिस्तान को ही अपनी समस्याओं का समाधान समझते थे। विभिन्न हिन्दू और मुसलमान नेताओं ने प्रयास किये। नाना प्रकार के सुझाव सामने आए। परन्तु देखते-देखते नवाखाली में आग और खून की होली खेली जाने लगी। गाँधी जी उसकी लपेट में आ गये। अच्छे-अच्छे और बुद्धिमान नेताओं की समझ में नहीं आता था कि क्या किया जाए।

इसी समय जामिया की रजत जयंती मनाई जाने वाली थी किन्तु ऐसे वातावरण में कौन माई का लाल जयंती मनाने का सपना देख सकता था। लेकिन कुछ लोग ऐसे भी होते हैं कि किसी स्थिति में अच्छे और बुरे का ध्यान नहीं रखते। जो सोचते हैं कर दिखाते हैं।

जामिया जयंती मनाने का निर्णय हो गया था। यद्यपि परिस्थितियाँ प्रतिकूल थीं किंतु यहाँ तो लोगों को आग से खेलने का ढंग आता था, आग से बचकर अपना मार्ग निकाल लेते थे और बड़े से बड़ा काम कर गुज़रते थे।

ज़ाकिर साहब सदैव कहा करते थे कि हम तो शिक्षा कार्य में लगे हुए लोग हैं, हमें राजनीति से क्या लेना। परन्तु फिर भी देखा गया कि बड़े-बड़े राजनैतिक दिग्गज उनसे आकर परामर्श करते ओर उनसे निष्ठापूर्ण मैत्री संबंध रखते थे। इसमें मुस्लिम लीग के बहुत से नेता थे जिनसे ज़ाकिर साहब का घनिष्ठ सम्बंध था। परन्तु ज़ाकिर साहब ने मूल सिद्धान्तों पर कभी समझौता नहीं किया। वह संयुक्त राष्ट्रीयता को ही देश की समस्या का एकमात्र समाधान समझते थे; मुसलमानों का हित भी इसी में सुरक्षित जानते थे। अत: इसी दृष्टि को अंत तक अपनाए रहे। वित्तीय सहायता के लिए वह नवाबों से संबंध रखते थे और तत्कालीन सरकार के विरोध के बावजूद उनसे माली सहायता ले लेते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि उनका संबंध सब वर्गों से था और उन्हें वह अपने काम में उपयोग में लाया करते थे।

जामिया जयंती के अवसर पर कोई भी बुद्धिमान आदमी यह बात नहीं कह सकता था कि देश में उस समय जो वातावरण था उसमें जामिया जयंती समारोह मनाया जाए। परन्तु समारोह इन्हीं परिस्थितियों में मनाया गया, और अत्यंत सुन्दर ढंग से मनाया गया। हैदराबाद, भोपाल, रामपुर के रजवाड़ों से माली सहायता ली। देश के समृद्ध और धनवानों से भी चन्दा लिया गया और बड़े धूमधाम से जयंती मनाई गई। और ऐसी कोई बात भी दिखाई न पड़ी कि देश की परिस्थितियों और माली कठिनाइयों के कारण कोई काम अधूरा छोड़ दिया गया हो।

इस अवसर पर भारतीय इतिहास में शायद यह अनोखी या अनहोनी बात थी जो केवल ज़ाकिर साहब की विवेकशीलता, उनकी लोकप्रियता, साहस, आकर्षण और उनकी महत्वाकांक्षा के कारण ही सम्भव हो सकी।

देश विभाजित हो गया। जिसका जहाँ सींग समाया भाग खड़ा हुआ। किसी की समझ में नहीं आता था कहाँ जाए। उधर हिन्दू, इधर मुसलमान चारों तरफ़ दौड़ रहे थे। किसी को होश नहीं था। रक्त की वह होलियां खेली गईं कि इंसान से इंसानियत ने मुँह फेर लिया और ऐसा फेरा कि उसके कुकर्मों पर हिंसक जंतुओं को भी लाज आने लगी, जीवित तो जीवित, मृतकों की क़ब्रों तक को न छोड़ा। दिल्ली के आस-पास को भी आग ने लपेट में ले लिया। पूरा देश अपना दायित्व और नैतिक मूल्य भूल कर इस बहाव में बह गया। दिल्ली शहर के क़रोलबाग़, पहाड़ गजं, सब्ज़ी मण्डी, सदर बाज़ार, बाड़ा हिन्दु राव और अन्य इलाक़ों के लोग आंतकित होकर घर बार छोड़कर भाग खड़े हुए। सरकार भी क्या करती, पुराना क़िला और हुमायूँ के मक़बरे में कैम्प लगा दिये गये। लोगों की भीड़ थी कि इन में टूटी पड़ती थी। कितने मारे गये, कितने बेघर हुए, कोई

हिसाब न था । लाशों के ढेर आग के शोले, महिलाओं का चीत्कार, भीषण दृश्य था । आस-पास के दूसरे स्थानों के लोग जहाँ-जहाँ मुसलमान थे घर छोड़कर शरण लेने के लिए कैम्प में आ गये। शाहदरा ख़ाली हुआ, झील खरंजा ख़ाली हुआ, वस्तुतः सब-कुछ लुट गया । उधर पाकिस्तान से जो लोग भाग कर आये, उनकी भी यही हालत थी । जो ट्रेन आती थी उस में लाशें और रक्त । लोग इन दृश्यों को देखकर और भी उत्तेजित हो जाते थे और बदला लेने के लिए यहाँ के लोगों को निशाना बना लेते थे । महरौली खाली, तुग़लक़ाबाद, बदर पुर, किलोखड़ी, निर्जन हुए । कौन-कौन नाम गिनाए जाएं । कुरान की आयत का अर्थ सार्थक हो उठे थे कि "आँखें अन्धी नहीं होतीं, दिल अन्धे हो जाते हैं ।"

इन परिस्थितियों में ओखला और जामिया नगर जैसी बस्ती का महत्व ही क्या था । चारों ओर भय के काले बादल घिर रहे थे । रात होती तो लगता वह खा जाएगी, दिन होता तो हर ओर पेड़-पौधे भी हिंसक शत्रु से दिखाई पड़ते थे ।

इस समय गर्मियों की छुट्टियां थी । जामिया के विद्यार्थी और कर्मचारी अपने-अपने वतन गए थे । उन्हें क्या पता था कि उनकी अनुपस्थिति क्या रंग लाएगी । ज़ाकिर साहब के निकट के साथियों में केवल कुछ लोग रह गए थे, इ.ज.कैलाट, हाफ़िज़ फ़ैय्याज़ अहमद, मास्टर अब्दुलहयी आदि । इनके अतिरिक्त कुछ गिने-चुने कर्मचारी और विद्यार्थी थे । सब सर जोड़कर बैठे कि अब क्या हो । नाना प्रकार की रायें लोग दे रहे थे। कुछ लोग पाकिस्तान और कुछ रामपुर जाने के पक्ष में थे । ऐसे ही अवसर आते हैं जब कोई सरफिरा, मौनधारी, योगी पुरुष अपने अंतस्तल की ज्योति से रास्ता दिखलाता है । ज़ाकिर साहब का निर्णय था कि चाहे जो परिस्थितियां हों हम यहीं रहेंगे । जिस संस्था का अब तक सिंचन किया है उसे छोड़ कर नहीं जाएंगे चाहे हमारे प्राण भी प्राणदाता के सुपुर्द कर दिये जायें । साहस बंधाने वाला कोई होता है और उसकी सहायता ईश्वर की ओर से होती है । साथियों ने बिना संकोच इस राय को शिरोधार कर लिया । खाने का प्रबन्ध मास्टर अब्दुलहयी के ज़िम्मे हुआ । व्यवस्था सम्बंधी काम अख़्तर हमीद साहब को, जो अल्लामा मशरिक़ी के दामाद थे, सौंपा गया और उन्हें डिक्टेटर का पद दिया गया । इ.जे. कैलाट ने, जो खिलाड़ी भी थे, शिकारी भी और श्रेष्ठ अध्यापक भी, जिन-जिन लोगों के पास लाइसेंस के हथियार थे उसकी सूची बनाई और सब लोगों को एकत्रित करके, जामिया स्टोर के बरामदे में अपना मोर्चा बना लिया । चारों ओर से बुरी सूचनायें आती थीं । शहर यहां से जलता हुआ दिखाई देता था । चारों तरफ़ अंधेरा था किन्तु योगी पुरुष अपने घोंसले के कुछ तिनकों पर सहारा करके उनको बचाने में सीना तान कर खड़ा था । राशन की कमी होती गई । पहले दो रोटी प्रत्येक व्यक्ति को मिलती थी । फिर एक रोटी मिलने लगी । फिर भी लोगों के माथे पर बल न पड़े । आस-पास के गाँवों ने, जिन से जामिया के सम्बंध थे, उन परिस्थितियों के होते हुए भी, जो कुछ संभव हो सका सहायता की । कैलाट साहब की सहायता से मसीहगढ़ चर्च ने कुछ अनाज, जो उनके भंडार में था, दे दिया ।

परिस्थितियां बुरी से बुरी होती गयीं। प्रतिदिन सूचनायें आती थीं कि धाड़ (एक सशस्त्र भीड़) आज आएगी, कल आएगी। दिन में भी आ सकती है, रात के समय भी आ सकती है। सरकार कुछ नहीं कर सकती। प्रशासन नाम की कोई वस्तु नहीं है। इस अवसर पर ज़ाकिर साहब ने ओखला गाँव को भी, जो कि इस समय बहुत छोटा सा था, अपने संरक्षण में ले लिया था। इससे जामिया को तो किसी प्रकार की सहायता न मिल सकती थी लेकिन जामिया उनकी सहायता इस प्रकार कर सकती थी कि जो हमारा हाल वह तुम्हारा, परन्तु हम तुम्हें अकेला नहीं छोड़ेंगे। संध्या को औरतें और बच्चे जामिया के प्राथमिक स्कूल में आ जाते थे। हम लोग, जो विद्यार्थी थे, रात-रात भर उनकी रखवाली करते थे। दिन में वह लोग गाँव में वापस चले जाते और यही सिलसिला चलता रहता।

एक दिन शाम को पण्डित नेहरु अकस्मात आ गये। ज़ाकिर साहब से उन्हें लगाव था और जामिया की उन्हें चिन्ता थी। इस आपत्ति में भी उन्हें जामिया याद रही। ज़ाकिर साहब ने उन्हें आस-पास के क्षेत्रों की बातें बताईं कि वह किस तरह हिंसक भीड़ को रोकते रहे और क्या-क्या परिणाम निकले। बातें बहुत समय तक हुईं। ज़ाकिर साहब ने बड़े आराम से अपना यहाँ जमे रहने और ठहरने का फ़ैसला सुनाया। अन्यथा यह भी हो सकता था कि पण्डित नेहरु जामिया की मोहब्बत में उसे किसी सुरक्षित स्थान पर स्थापित कैम्प में भेज सकते थे।

इस का परिणाम यह हुआ कि रात में मद्रास रेजीमेन्ट की, जो उस काल में भेदभाव से मुक्त समझी जाती थी, एक बड़ी टुकड़ी जामिया और उसके चारों ओर तैनात कर दी गई। ओखला भी उनके नियंत्रण में आ गया। एक दिन गाँधी जी भी पधारे और ढारस बंधाई। बिलकुल तो नहीं किन्तु कुछ मन शांत हुआ। परंतु काम करने वाले ऐसी बिगड़ी हुई परिस्थितियों में रचनात्मक कार्यों की ओर से ध्यान नहीं हटा सकते थे। पुराना क़िला और हुमायूँ के मक़बरे के कैम्प में खाना और दूसरी आवश्यक वस्तुओं के बँटवाने की समस्या थी। जामिया ने इस काम को अपने ज़िम्मे ले लिया। कैम्प में सेक्टर बना दिये गये और हम लोग उनमें काम करने लगे। जामिया लारी हम लोगों को सुबह कैम्प पहुँचाती थी और शाम को वापस ले आती थी। यह सेवा का अवसर था और जो भी संभव हुआ ज़ाकिर साहब के नियंत्रण में उसे किया गया।

एक दिन हम लोग शाम को वापस कैम्प से आ रहे थे। रास्ते में भोग़ल में गाड़ी रुकी कि कुछ आवश्यक सामान ख़रीद लिया जाए। वहीं पर अचानक यह ख़बर मिली कि गाँधी जी शहीद कर दिये गये। इस दुखद घटना का देश पर विचित्र मिला-जुला प्रभाव हुआ। कुछ लोग होश की बातें करने लगे। आबादी का स्थानांतरण तो जारी रहा, स्पेशल ट्रेनें तो आती-जाती रहीं परन्तु हिंसा की घटनाएँ बहुत कम हो गयीं।

सरकार को भी होश आया कि ऐसा कब तक चलेगा। कुछ कड़े प्रबन्ध किये गये।

जो लोग जान बचाकर सीमा-पार से सर छुपाने यहाँ आये थे उन के लिए रहने-सहने, खाने-पीने की व्यवस्था की गई । अवकाश समाप्त होने पर जामिया के अध्यापक और विद्यार्थी, जिनका संबंध दिल्ली से था, आने लगे और गिरते-पडते पढ़ाई का कार्यक्रम आरंभ हुआ। परंतु चारों ओर लोग सहमे-सहमे थे । लोगों का एक दूसरे पर से विश्वास उठ गया था। इन में अल्पसंख्यकों के अलग से डिब्बे लगाये जाते थे । परन्तु फिर भी परिस्थितियों में पर्याप्त सुधार दिखाई पड़ने लगा था ।

केन्द्रीय और राज्य सरकारों ने सत्ता संभाली और प्रशासनिक कार्यक्रमों को गतिशील बनाया गया । केन्द्र में मौलाना आज़ाद शिक्षा मंत्री हुए । शिक्षा का कार्य ऐसी परिस्थितियों में ऐसा डगमग हो गया था कि उस का अनुमान ही किया जा सकता है । शिक्षा का काम करने के लिए शांत वातावरण की बहुत आवश्यकता होती है जिसका यहाँ अभाव था ।

इधर अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का मामला अधिक जटिल स्थिति में था । वहाँ के विद्यार्थियों और अध्यापकों ने पाकिस्तान बनने में खुल्लम-खुल्ला काम किया था, देश के विशेष और साधारण जनों की आंखों में यह संस्था खटक रही थी । परन्तु इसको बंद कर देना सरल न था । मौलाना आज़ाद और उनके साथी समझते थे कि यह ऐसी संस्था है जो दीर्घकालीन अनथक परिश्रम के फलस्वरूप अस्तित्व में आई है और राष्ट्र और देश के उत्कृष्ट प्रतिभाओं ने इसको बनाया था । इसलिए इसकी उपेक्षा करना हानिकारक होगा । ऐसा करने से केवल मुसलमानों की ही नहीं अपितु राष्ट्रीय क्षति होगी जिसकी पूर्ति नहीं हो सकेगी । परन्तु पिछले विषैले प्रभाव का, जो राजनैतिक भूलों के कारण इस संस्था में व्याप्त हो गये थे, अकस्मात समाप्त होना भी संभव न था ।

मौलाना आज़ाद और पंडित नेहरु की दृष्टि ज़ाकिर साहब पर थी । इसमें शंका भी नहीं कि इतने बड़े काम को अपने सर ले लेना हर किसी के बस का काम न था । ज़ाकिर साहब का सम्बंध अलीगढ़ विश्वविद्यालय से रह चुका था । वह उससे अलग हो कर जामिया में काम कर रहे थे और सफल भी थे लेकिन वह जानते थे कि इस संस्था का भी मुसलमानों पर और विशेषरूप से उन पर हक़ है और इस हक़ को निभाने का यही अवसर है ।

ज़ाकिर साहब को तैयार किया गया और वह अलीगढ़ विश्वविद्यालय के कुलपति हो गये । इस प्रकार से जामिया से उनका संबंध केवल कम ही नहीं हुआ अपितु बहुत कम हो गया और यह जामिया के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ था । ज़ाकिर साहब भले ही जामिया के कामों में रूचि लेते रहे हों किंतु केवल रूचि ही काम नहीं करती । उसके लिए व्यावहारिक कार्यों में सम्मिलित होना भी आवश्यक है । अलीगढ़ विश्वविद्यालय जामिया से बहुत बड़ी थी, उसका अपना अलग स्थान था । उसका काम भी बड़ा था, समस्याऐं भी बहुत थीं । सबसे बड़ा काम यह था कि विचारों में परिवर्तन लाना था, और यह बदलाव, महीनों और कुछ वर्षों का काम न था । इसमें वह ऐसे लगे और ऐसे उलझे

कि फिर जामिया की ओर ध्यान न दे सके । वैसे तो वह ऐंग्लो अरबी स्कूल के और दिल्ली के अनाथालय, जिसे उन्होंने बच्चों का घर नाम दिया था, के कामों में बराबर रूचि लेते रहे । ऐंग्लो अरबी स्कूल के सम्बंध में तो उन्होंने बहुत मन लगाकर काम किया ।

अलीगढ़ में विश्वविद्यालय का कार्य जामिया के कामों से भिन्न था । जामिया में रचनात्मक काम था । अलीगढ़ में एक बनाई संस्था को नया मोड़ देने का काम था । वैसे नवीन भवन का निर्माण इतना कठिन नहीं होता जितना पुरानी इमारत को संवारने, उसका नवोद्धार करने और नया रूप देने का काम होता हैं । क्योंकि इसमें पुरानी नींव भी रहती है और उसका नवीकरण भी किया जाता है । अलीगढ़ की राष्ट्रीय साख बुरी तरह से देशवासियों की दृष्टि में संदिग्ध थी । वह ज़ाकिर साहब के प्रयत्नों, सरकार के पूर्णत: ध्यान देने और मौलाना आज़ाद की विशेष कृपा के कारण किसी हद तक सुधरती दिखाई पड़ने लगी थी । इस काल में शिक्षा सचिव मान्यवर गुलाम-उस-सैय्यदैन साहब थे । उनका ज़ाकिर साहब से पुराना संबंध था । ज़ाकिर साहब और उनमें मतैक था और शिक्षा के क्षेत्र के वह अनुभवी खिलाड़ी थे । उनके कारण भी अलीगढ़ को सुधारने में सहायता मिली होगी क्योंकि शिक्षा सचिव की हैसियत से बहुत सी समस्याऐं अत्यंत सरलतापूर्वक हल हो जाती होंगी ।

धीरे-धीरे समय बीतता गया और अलीगढ़ अपने नये जन्म की ओर अग्रसर होने लगा । वैसे भी बड़ा नुक़सान उठाने के बाद आँखें खुलती थीं और ग़लतियों का तीव्रता से आभास होने लगा था । उसके अतिरिक्त वह तत्व जो राष्ट्रीय आंदोलन के समय वहाँ पर सत्ता में थे या तो पाकिस्तान भाग गए थे या उन्होंने हाथ-पैर डाल दिए थे और उससे पृथक हो गए थे ।

अलीगढ़ में कुछ शांति दिखाई देने लगी थी, परिस्थितियों में परिवर्तन आने लगा था । तब ज़ाकिर साहब ने स्वर्गीय करनल बशीर हुसैन ज़ैदी को कुलपति का भार सौंप दिया । सरकार और विशेष रूप से पंडित नेहरु, मौलाना आज़ाद और दूसरे ज़िम्मेदार लोगों के सामने यह समस्या आई कि अब ज़ाकिर साहब से कौन सा काम लिया जाये जो उनके सम्मान का द्योतक भी हो और वह उसे स्वीकार भी कर लें । जामिया में स्थिति सामान्य हो चुकी थी । ज़ाकिर साहब के पुराने साथियों ने काम संभाल लिया था और पुरानी नींव पर नए कामों को चलाने का प्रयत्न हो रहा था ।

ज़ाकिर साहब के शैक्षणिक जीवन का यह ख़तरनाक मोड़ था । वह सदैव कहा करते थे कि हम शिक्षा का काम करने वाले लोग हैं हमें राजनीति से क्या मतलब । परंतु इंसान के वश में सब कुछ नहीं होता । बरतानिया के राजकाल में सरकार जब किसी सुबुद्ध और असाधारण योग्यता के आदमी को उभरता देखती थी तो उसके ऊपर कोई सुनहरा जाल फेंकती थी या कोई बड़ी नौकरी देकर उसका ध्यान राष्ट्र की ओर से हटा देती थी और फिर वह व्यक्ति सरकार की मशीन का एक विश्वसनीय अंग बन जाता था । प्रशिक्षण ऐसा

किया जाता कि जनता से, अतिरिक्त इसके कि वह उस पर राज करे, और शान के साथ रहे, और कोई सम्बंध न रहता था। पदोन्नति होती रहती थी। उसके दूसरी ओर देखने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

परन्तु यहाँ अंग्रेज़ी राज का मामला न था। यहाँ तो मित्रों का आग्रह और परामर्श था। और इन्हीं का प्रयत्न था कि ज़ाकिर साहब की झोली में बिहार की गवर्नरी डाल दी गई। ज़ाकिर साहब सूफ़ी प्रवृत्ति के, भिक्षुधर्मी व्यक्ति थे। वैभव की ओर उनकी दृष्टि कभी न उठती थी। यह मेरा अपना विश्वास है कि ज़ाकिर साहब इस प्रकार के राजनैतिक नियुक्ति से कभी सहमत नहीं हो सकते थे। किन्तु ज़ाकिर साहब के जीवन में सहनशीलता और रख-रखाव इतना था कि उसके प्रभाव के अंतर्गत उन्हों ने न चाहते हुए भी उस पद को स्वीकार कर लिया। सरकार के कर्ता-धर्ता लोगों ने यह भी सोचा होगा कि एक व्यक्ति को जिसने देश के लिए इस तरह कठिनाइयां और विपत्तियां झेली हैं, कुछ आराम भी मिलना चाहिये और गवर्नरी में क्या करना है, कुछ नहीं, बस वैभवशाली और चिन्तामुक्त जीवन ही तो बिताना होता है। ज़ाकिर साहब के व्यक्तित्व को इन तमाम चीज़ों से कोई लेना-देना नहीं था। उन पर जाल फेंका गया था और वह उसके फन्दे में फँस गए।

अब पहली सी परिस्थितियां न थीं। उनको शिक्षा के साथ जनता का नेतृत्व का काम करना था। ज़ाकिर साहब में यह योग्यता थी। उन्होंने जर्मनी और योरप के शैक्षणिक वातावरण में इसका अनुभव प्राप्त किया था।

यह बहुत ही कठिन अवसर था। ऐतिहासिक निर्णय का समय था। ज़ाकिर साहब के जैसे व्यक्ति को बहुत गंभीरतापूर्वक सोचकर निर्णय लेना चाहिये था। उनको ऐसी परिस्थितियाँ उपलब्ध हो सकती थीं और देश उनके आवाहन पर हुँकारी भर सकता था तथा उनकी विद्वता, विवेकशीलता, राजनैतिक योग्यता पर पूरा भरोसा कर सकता था। दूसरी बड़ी समस्या राष्ट्रवादी मुसलमानों के दल की थी जो उस समय दुविधा में था। यह ज़ाकिर साहब का समर्थन कर सकता था। सरकार और मुसलमानों के बीच वह एक निरंतर माध्यम का काम कर सकते थे। मुझे यह कहने तक में हिचक नहीं होगी कि राष्ट्रवादी मुसलमानों ने अत्यंत प्रेम और प्रेरणा से भारतीय संयुक्त राष्ट्रीयता का समर्थन किया था किंतु देश विभाजन के पश्चात उनकी ऐसी दुर्गति हुई कि उन पर बिजली सी गिर पड़ी। कोई नहीं था जिसे वह अपनी व्यथा सुनाते, मार्ग के उतार-चढ़ाव में किसका सहारा लेते और पुन: हिन्दुस्तानी समाज में अपना उचित स्थान प्राप्त करते।

शायद ज़ाकिर साहब यदि यह बात सोच लेते कि मुसलमानों का विश्रंखल समूह उनके साथ आ सकता है और साधारण मुसलमान उनका समर्थक हो सकता है तो न केवल यह कि राष्ट्र को, जिसमें हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, पारसी सभी सम्मिलित हैं, एक निष्ठावान और संघर्षशील पुरुष मिल जाता अपितु स्वयं ज़ाकिर साहब भी अमर हो जाते।

जामिया और अलीगढ़ जिन पर उनका अत्याधिक उपकार है बाक़ी तो रहे किन्तु ऐसा

शेष रहना किस काम का । इसमें शंका नहीं कि अलीगढ़ विश्वविद्यालय के उनके "कुलपति" होने से अलीगढ़ को किसी हद तक सरकार और जनता का विश्वास प्राप्त हुआ । किन्तु जामिया को जो बहुत हद तक एक विशेष दृष्टिकोण की पोषक रही थी एक शैक्षणिक आश्रम बना कर छोड़ दिया गया । ज़ाकिर साहब का व्यक्तित्व ऐसा था कि यदि जामिया की ओर उनकी कृपादृष्टि हो जाती तो वह वास्तविक रूप से राष्ट्रीय मुस्लिम विश्वविद्यालय का स्थान प्राप्त कर लेती, शिक्षा और राजनीति दोनों में उसका अपना स्थान होता । आपके संकेत मात्र से अधिक से अधिक समस्याओं का समाधान और प्रगति के अवसर उपलब्ध हो जाते । परन्तु यह सब नहीं हुआ और वह सैकड़ों कालेजों के समान एक कालेज होने से अधिक आगे न बढ़ सकी, न उसमें वह सोच थी और न काम की लगन । वैसे तो बढ़ते-बढ़ते वह एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय बन गई किन्तु विश्वविद्यालय तो बहुत से हैं । जामिया ने जिन परिस्थितियों में और जिन राष्ट्रीय आदर्शों के लिए काम किया था उसका स्थान भारत के विश्वविद्यालयों में उच्चतम होना चाहिये था । परन्तु क्या हुआ, यह सबको ज्ञात है ।

यदि ज़ाकिर साहब उस समय सरकार के दिखावटी पदों की ओर से मुँह मोड़ लेते और मित्रों से क्षमा याचना कर लेते तो यह बात न होती । उन्हें साथ काम करने वालों की कमी न थी, उन लोगों में सूझ-बूझ भी थी और कार्य क्षमता भी थी, वह मूल्यों के प्रति निष्ठावान भी थे और उनका मन और मस्तिष्क, धार्मिक भेदभाव से मुक्त था । वह सारे लोग ज़ाकिर साहब के चारों ओर एकत्रित हो जाते और एक स्वस्थ नेतृत्व का शिलान्यास रखा जाता, जिसका आधार शिक्षा और राजनीति पर होता । खेद है ऐसा न हो सका । इसके लिए कौन ज़िम्मेदार है, इसका उत्तर कौन देगा । पाठक स्वंय निर्णय करें, मैं तो बस यही कह सकता हूँ कि:

कौन नहीं क़ातिल फ़िक्रो अमल की राह में
आदमी सोचे है क्या, करता है क्या, होता है क्या

ज़ाकिर साहब ने अपना समस्त जीवन शिक्षा को भेंट कर दिया । छोटी बड़ी शैक्षणिक संस्थाओं को नये सिरे से सजीव किया । शिक्षा के साथ राजनीति का भी उन्हें बहुत गहरा ज्ञान था, अवसर भी थे । किन्तु उन्हें अवसर न मिला अन्यथा वह भारतीय संसद में जामिया की रजत जयंती में दिये गये अपने भाषण की यह पंक्तियां दोहराते कि:

आग़ोश्ता एम बर सरेख़ार बख़ूने दिल ।
क़ानूने बाग़बानी-ए-सहरा नविश्ता एम ।

(हमने हृदय के रक्त में काँटे की नोक को भिगोकर बीहड़-बंजर में उद्यान लगाने का नियम लिखा है ।)

वह असाधारण व्यक्ति थे किंतु थे तो मनुष्य ही । मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि न उन्हें वैभव की लालसा थी और न ही आर्थिक लाभ का उन्हें मोह था, न

लोकप्रियता की उन्हें इच्छा थी। उन्हें राज्यपाल की कुर्सी से लेकर राष्ट्रपति के सिंहासन तक कभी भी मन की शांति नहीं मिली। वह सहनशील थे। जिसने आरंभ से ही संघर्ष का मार्ग अपनाया हो और कभी काम से सर न उठाया हो वह जीवन के सुगम अप्रिय मार्ग को कैसे स्वीकार कर सकता था। वह स्वतंत्र विचारक थे। बेलाग शैक्षणिक और राजनैतिक टिप्पणी करते थे। भिक्षुधर्मिता के साथ, जो उनके स्वभाव का अंग थी, वह राष्ट्र का उचित मार्गदर्शन करते थे।

परन्तु भाग्य में सोने का पिंजड़ा लिखा था। वहाँ ऐश्वर्य के सामान थे, प्रतिष्ठा थी, वैभव था, किन्तु यह सब उनके लिए एक बोझ थे, और वह अन्त तक यह बोझ ढोते रहे।

लोगों ने ख़बर सुनी कि हृदय गति रुक जाने से ज़ाकिर साहब स्वर्गवासी हो गये। मैं कहता हूँ कि कर्मठ व्यक्ति मानसिक क्लेश का शिकार हो कर सोने के पिजंड़े में फड़फड़ा कर दम तोड़ गया:

ऐ तायरे लाहूती इस रिज़्क़ से मौत अच्छी
(ऐ ब्रह्मलोक के पक्षी ऐसे दाना-पानी से मृत्यु अच्छी है।)

ज़ाकिर साहब ने पिछले चालीस साल चिन्तन-मनन और तपस्या में जीवन व्यतीत किया था। वह राष्ट्र के स्वभाव से परिचित थे। हिन्दू मुसलमान सब उनका आदर करते थे। पिछले अनुभवों के आधार पर सबका उन पर पूर्ण विश्वास था। शिक्षा कार्य करने के साथ-साथ धीरे-धीरे राजनीति से उनका योग पहले ही हो चुका था। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेता उनकी राय को गंभीरतापूर्वक लेते थे। गाँधी जी, मौलाना आज़ाद, पंडित नेहरु उन पर भरोसा करते थे। राष्ट्रवादी मुसलमानों का एक बड़ा दल नेतृत्व के अभाव में अपने आप को निस्सहाय समझ रहा था। जहाँ तक धार्मिक विचारों के मुसलमानों का संबंध है, मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि उसके नब्बे प्रतिशत धर्माचार्य राष्ट्रवादी थे, ज़ाकिर साहब पर उन्हें पूर्ण विश्वास था। परन्तु दुर्भाग्यवश एक ऐसा ऐतिहासिक मोड़ आया और ऐसी ऐतिहासिक भूल हुई कि जिसका कुपरिणाम हम आज तक भोग रहे हैं और पता नहीं कब तक भोगते रहेंगे। परिणाम यह हुआ कि वह लोग, जो अपने मन में आशंकाऐं रखते थे और द्वेष भावना से प्रेरित थे, सामने आने लगे। पन्द्रह वर्ष किसी न किसी प्रकार कुशलता से बीत गये। परन्तु उसके पश्चात एक वर्ग उभरा और ऐसा उभरा कि सरकार को चुनौती देने लगा। मुसलमानों को विशेष रूप से इन पर संदेह था क्योंकि वह अब तक सरकार का विश्वासपात्र बने हुए थे। ज़ाकिर साहब यदि राजनेता बनने के स्थान पर जननेता बने होते तो संभव है कि यह अवसरवादी, सत्ता लोलुप्त वर्ग न उभर पाता।

हमारे ज़ाकिर साहब

ख़लीक़ अंजुम

यह 1950 ई. की बात है। मैं और डा. अस्लम परवेज़ माध्यमिक कक्षा में प्रवेश पाने के लिए अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय पहुँचे। देश विभाजन के पश्चात् अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के लोगों में विश्वास और भरोसा उत्पन्न करने के लिए, कि वह भी धर्मनिरपेक्ष हिन्दुस्तान की मुख्य धारा का अंग हैं, डा. ज़ाकिर हुसैन को वहाँ का कुलपति बनाकर भेजा गया था। उन दिनों मेरे सगे मामूं स्वर्गीय हबीबुर्रहमान अज़ीज़ी जामिआ मिल्लिया इस्लामिया में प्रो. मुहम्मद मुजीब के निजी सचिव थे। जब हम लोग अलीगढ़ जा रहे थे तो मामूंजान ने डा. ज़ाकिर हुसैन के नाम मुजीब साहब से पत्र लिखवा कर हमको दे दिया। इस पत्र में हमारा परिचय था और मेरे सम्बन्ध में मुजीब साहब ने लिखा था कि यह आर्थिक सहायता के अधिकारी हैं, इनकी कुछ सहायता कर दीजिए। अलीगढ़ पहुँचने के पश्चात् हम कुलपति ज़ाकिर हुसैन की कोठी में प्रविष्ट हुए। वहाँ अलग-अलग कमरों के तीन दरवाज़े थे और तीनों पर चिक़ें पड़ी हुई थीं। एक कमरे से एक साहब बाहर निकले तो मैंने उनसे पूछा कि हमें ज़ाकिर साहब से मिलना है। जिस कमरे से वह बाहर आए थे उसी की ओर संकेत करते हुए उन्होंने मुझसे कहा कि वह उस कमरे में बैठे हुए हैं। मैं और अस्लम परवेज़ चिक़ उठाकर बेधड़क उस कमरे में घुस गए। वहाँ कई सज्जन बैठे हुए थे और मेज़ पर फाईलों का ढेर लगा हुआ था। मुझमें उद्दंड होने की सीमा तक आत्मविश्वास था। इतने बड़े-बड़े लोगों की उपस्थिति से मुझ को किसी भी प्रकार के भय या संकोच का अनुभव नहीं हुआ। सस्वर अस्सलाम अलैकुम कहते हुए मैं मेज़ के निकट पहुँच गया और उन सज्जनों से मैंने पूछा कि आप में से डा. ज़ाकिर हुसैन कौन हैं। वस्तुत: मैं डा. ज़ाकिर हुसैन से कभी मिला नहीं था। ज़ाकिर साहब खड़े होकर हमारे निकट आए और मेरी कमर पर हाथ रखकर हम दोनों को कमरे से बाहर ले गए। मैंने उन्हें प्रो. मुजीब का पत्र दिया। ज़ाकिर साहब ने खड़े-खड़े पत्र पढ़ा और हमें लेकर बराबर के कमरे में चले गए। वहाँ एक मेज़ पर बहुत पतले दुबले से एक सज्जन बैठे काम कर रहे थे। ज़ाकिर साहब ने उनसे कहा, मुरीद साहब !

यह मुजीब साहब का पत्र लेकर आए हैं, इनका जो भी काम हो कर दीजिए। और फिर ज़ाकिर साहब ने हमसे पूछा कि आप कहाँ के रहने वाले हैं। हमने बताया कि हम

देहली ही के हैं । उन्होंने फिर हमसे पूछा हबीबुर्रहमान अज़ीज़ी साहब से तुम्हारा क्या संबन्ध है? मुजीब साहब ने ज़ाकिर साहब को अपने पत्र में हबीब साहब का भी उल्लेख किया था । मैंने बताया कि वह मेरे सगे मामूं हैं ।

ज़ाकिर साहब ने कहा मैं इस समय बहुत व्यस्त हूँ । आप फिर किसी समय आएँ तो बातें होंगी । उस समय ज़ाकिर साहब के इस सारे व्यहवार में कोई विशेष बात महसूस नहीं हुई । परन्तु कुछ बड़े होकर दुनिया के उतार चढ़ाव देखे तो ज़ाकिर साहब की इस असाधारण महानता को सराहना पड़ा ।

पहली बात तो यह कि जिस कमरे में वह बैठे थे वहाँ कोई चपरासी आदि नहीं था । फिर अत्यंत व्यस्त होते हुए भी वह हमारे साथ कमरे के बाहर आए । हमसे सविस्तार बात की और फिर अपने निजी सचिव मुरीद साहब के हवाले करके चले गए । क्या आज का कोई भी कुलपति विद्यार्थियों के साथ इस स्नेह, निष्ठा और शिष्टाचार के साथ व्यवहार कर सकता है ? और क्या कोई हमारे इस बेढंगेपन को कि हम बेधड़क उनके कमरे में घुस गए और नि:संकोच यह पूछ बैठे कि आप में से डा. ज़ाकिर हुसैन कौन हैं, क्षमा कर सकता है ? परन्तु ज़ाकिर साहब ने हमारी नासमझी और कच्ची उम्र की मनोवृति समझ के इस सब की नितांत अनदेखी कर दी । मुरीद साहब को हमारी अधिक सहायता करने की ज़रूरत नहीं पड़ी । उन दिनों प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों को स्ट्रैची हॉल जाना पड़ता था। हॉल में रजिस्टरार के कार्यालय के वह सारे कर्मचारी बैठे होते थे जो प्रवेश संबंधी कार्यवाही पूरी करते थे । स्ट्रैची हॉल में घुसते ही एक वरिष्ठ विद्यार्थी ने हमसे अपना परिचय कराया और फिर विभिन्न मेज़ों पर ले जाकर प्रवेश का कार्य पूरा करा दिया । यह वह समय था जब अलीगढ़ के सीनियर छात्र जूनियर विद्यार्थियों को अनुज समान समझते थे ।

जब हम होस्टल में जम जमा गए तो एक दिन ज़ाकिर साहब याद आए । एक बार फिर मैं और अस्लम परवेज़ ज़ाकिर साहब के कार्यालय पहुँच गए । आज वहाँ कार्यालय के बाहर चपरासी बैठा था । हमने चपरासी से ज़ाकिर साहब को कहलाया । उन्होंने हमें अन्दर बुला लिया । वहाँ बहुत से लोग बैठे थे और कुछ खड़े थे । ज़ाकिर साहब हम दोनों को पहचान गए और देखते ही बोले - "आप लोग शाम को घर आएँ ।"

मैं और अस्लम परवेज़ ज़ाकिर साहब के घर पहुँच गए । उनके नौकर द्वारा सूचना भिजवाई और ज़ाकिर साहब ने हमें ड्राइंग रूम में बुला लिया । वहाँ कुछ और लोग भी बैठे थे जिनका संभवत: जामिआ से संबंध था । उस समय वह क्या बातें कर रहे थे । अब मुझे याद नहीं, बस इतना याद है कि यह बातें जामिआ के विकास से संबंधित थीं । हाँ, इतनी सी बात मुझे अच्छी तरह याद है कि ज़ाकिर साहब ने कहा कि मुजीब साहब बहुत बड़े विद्वान है, किंतु यह कहना कठिन है कि वह प्रबंधक कैसे रहेंगे । थोड़ी देर में जब यह लोग उठकर चले गए तो ज़ाकिर साहब ने हमसे परिवार के बारे में पूछा । मैंने अपने

नाना स्वर्गीय प्रोफ़ेसर अज़ीज़ुर्रहमान के बारे में बताया जिनकी अंग्रेज़ी भाषा में लिखित कई पुस्तकें हैं और उर्दू में 'इल्मे मजलिसी' के नाम से उन्होंने कई खंडों में शेरों का कोष संकलित किया था। स्वर्गीय नाना के शेरों के कोष और जामा मस्जिद पर अंग्रेज़ी में उनकी पुस्तक से ज़ाकिर साहब अच्छी तरह परिचित थे। उन्होंने कहा कि इल्मे मजलिसी का पूरा सेट मेरे पास है। ज़ाकिर साहब ने फिर हमारी साहित्यिक अभिरूचि के संबंध में प्रश्न किए। पूछते रहे कौन-कौन से शायर (कवि) आप को पसंद हैं, आपको कौन-कौन से उपन्यासकार और कहानीकार पसंद हैं ?

लगभग आधे घंटे इसी प्रकार के विषयों पर बातचीत होती रही। हमारा साहित्यिक ज्ञान सीमित था। शायरों में इक़बाल, सरदार जाफ़री, एहसान दानिश और मजाज़ लखनवी हमारे प्रिय कवि थे। जब सरदार जाफ़री का नाम आया तो ज़ाकिर साहब ने कहा उनके कुछ शेर सुनाइए। अस्लम परवेज़ को उस काल में सरदार जाफ़री की बहुत सी कविताएँ कंठस्थ थीं। उन्होंने कई दीर्घ कविताओं के कुछ अंश सुनाए। हमारी बातचीत हो ही रही थी कि कुछ लोग आ गए। उन्हें संभवत: विश्वविद्यालय की कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं पर बात करनी थी। ज़ाकिर साहब ने हमसे कुछ नहीं कहा किंतु हम परिस्थिति का अनुमान करके अनुमति लेकर खड़े हो गए। और न चाहते हुए भी वापस आ गए। वस्तुत: हमें कुलपति की हैसियत का अनुमान ही नहीं था। हम उन्हें अपने स्कूल के प्रधानाचार्य ही के समान समझते थे।

विश्वविद्यालय में दो-चार महीने बीतने के पश्चात् हमें उनकी महत्ता और हैसियत का अनुमान हुआ। फिर तो वह निस्संकोचता समाप्त हो गई जो हमारी नासमझी के कारण उत्पन्न हो गई थी और ज़ाकिर साहब और हमारे बीच एक दूरी आ गई। अब ज़ाकिर साहब से मिलने का साहस शेष नहीं रह गया। कुछ दिनों पश्चात् एक जलसे में ज़ाकिर साहब से भेंट हुई। मैं और अस्लम सलाम करके दूर खड़े हो गए। ज़ाकिर साहब ने संकेत से हमें बुलाया, और कहा कि क्या आप दोनों मुझ से रूष्ट हैं। मैंने बहुत शिष्ट लहजे में कहा यह कैसे संभव हैं ... आप तो हमारे बुजुर्ग हैं। ज़ाकिर साहब ने कहा तो फिर आप इतने दिन से आए क्यों नहीं। मैंने निवेदन किया कि हम अवश्य आएँगे। दो-तीन दिन पश्चात् जब हम ज़ाकिर साहब से मिलने गए तो वह बहुत व्यस्त थे और उनके ड्राइंगरूम में लगभग पन्द्रह-बीस आदमी बैठे हुए थे। ज़ाकिर साहब ने वहाँ से बाहर आकर हमसे कहा कि क्षमा कीजिए ...इस समय कुछ लोग आए हुए हैं, फिर सही।

अलीगढ़ में हमारा बी.ए. का अंतिम वर्ष था। 1954 ई. से अब तक चार वर्षों में हम पर मुस्लिम विश्वविद्यालय का रंग बहुत अच्छी तरह चढ़ चुका था। इसमें तो कुछ हमारे स्वभाव के चुलबुलेपन और नटखटपन का योगदान था और कुछ उन सीनियरों के साथ का जो हमारे रूमपार्टनर थे। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय अबुसईद ज़ैदी थे जो उस समय जब हम अलीगढ़ पहुँचे हैं तो चौदह साल के सीनियर थे और मुमताज़ होस्टल में हमारे

रूमपार्टनर थे। पढ़ना-पढ़ाना जैसा था वैसा था ही। परंतु एक से एक एक्टिविटी (3धम-चौकड़ी) हमारा प्रतिदिन का काम था। हमारे अलीगढ़ काल की सबसे अंतिम, सबसे बड़ी और शायद ख़तरनाक भी वह एक्टिविटी थी जो हमने डाक्टर ज़ाकिर हुसैन के साथ की। उनकी सुपुत्री का विवाह था डा. ज़िल्लुर्रहमान ख़ाँ के साथ। स्पष्ट है कि कुलपति की बेटी का विवाह था और यूँ भी ज़ाकिर साहब हमारे राष्ट्रीय नेताओं में से एक थे। इसलिए इसमें बड़ी संख्या में लोग निमंत्रित थे। इसमें कुछ ऐसे छात्र भी थे जो विश्वविद्यालय की विभिन्न सोसाइटियों या क्लबों के विद्यार्थी प्रभारी या विभिन्न खेल-कूदों के कप्तान थे। चूँकि ज़ाकिर साहब का संबंध क़ायमगंज से था और अलीगढ़ में क़ायमगंज के विद्यार्थियों की अच्छी बड़ी संख्या थी जिनमें से बहुत से ऐसे होंगे जो या तो ज़ाकिर साहब के निकट या दूर के संबंधी थे या फिर उनके बुज़ुर्गों से ज़ाकिर साहब का पारिवारिक मेलजोल था। चुनांचे इस विवाहोत्सव में निमंत्रित होने वाले क़ायमगंजी छात्रों की बड़ी संख्या थी। बस इसी बात से हमारी खोपड़ी घूम गई। हमने सोचा कि ज़ाकिर साहब ने ग़ैरक़ायमगंजी छात्रों के साथ भेद-भाव का व्यवहार किया है जो उन्हें विवाह में निमंत्रित नहीं किया। बस क्या था, हमारे गुट के सारे सदस्य सर जोड़कर बैठे और एक ज़बरदस्त एक्टिविटी की योजना तैयार की गई। हम लोगों ने इस विवाह के कुछ जाली निमंत्रणपत्र छपवाए और अत्यंत उदारतापूर्वक विश्वविद्यालय क्षेत्र में रहने वाले सारे प्रतिष्ठितजनों और बहुत से छात्रों में भी बटवा दिए। उन दिनों अलीगढ़ नगर में उपरकोट से प्रकाशित होने वाली एक फ़िल्मी पत्रिका 'झलक' के संपादक को भी निमंत्रणपत्र दिया गया था क्योंकि यह झलक प्रेस में ही छपवाया गया था। परंतु झलक प्रेस वालों ने अपनी वैधानिक बचत के लिए इस पर अपनी प्रिंट लाइन भी अंकित कर दी और झलक प्रेस से मेरा संबंध अलीगढ़ में किसी से छिपा हुआ नहीं था। इसका उपाय हमने यह निकाला कि दावत में जाएँगे तो हम भी ज़रूर किंतु यह जाली निमंत्रणपत्र लेकर नहीं जाएँगे ताकि रंगे हाथों पकड़े न जाएँ। यूँ भी इस सभ्यजमाव में निमंत्रणपत्र चेक कौन करता। हुआ यह कि दावत में मेहमान पहुँचने आरंभ हो गए। यहाँ तक कि समय वह आया कि प्रबंधकों को महसूस हुआ कि अनिमत्रिंत अतिथियों की भी पर्याप्त संख्या यहाँ आ पहुँची है और अब खाना कम पड़ने वाला है जिसके लिए तुरंत कोई उपाय भी करना होगा। इधर संध्या समय हमारे गुट के पांच-छे व्यक्ति बन ठन के डिनर पर जाने के लिए होस्टल से निकलने लगे। हमारे बराबर वाले कमरे के दो-तीन पार्टनर भी कहीं बाहर जा रहे थे। हमने उनसे पूछा कि आप लोग किधर चल दिए तो उन्होंने बताया कि शमशाद बिल्डिंग खाना खाने जा रहे हैं। हमने उनसे कहा कि आज शमशाद बिल्डिंग खाना खाने का क्या काम है। आज तो ज़ाकिर साहब के यहाँ डिनर है। उन्होंने कहा कि उनके पास तो कोई निमंत्रपण पत्र आया नहीं। हमने उनसे कहा कि इसकी चिंता न कीजिए। हमारे पास कई अतिरिक्त निमंत्रण पत्र हैं। चुनांचे वह तीन अचकनपोश भी हमारे साथ हो लिए। जब हम दावत के पिंडाल

में पहुँचे तो कुछ प्रबंधकों के मुँह पर हवाइयाँ भी उड़ती देखीं। बहरहाल हम एक ख़ाली मेज़ पर जाकर बैठ गए। हमने देखा हमारे मुमताज़ होस्टल के वार्डेन अनस साहब और आफ़ताब हाल के प्रोवोस्ट कप्तान मुज़फ़्फ़र साहब भी व्यवस्थापकों में से हैं। अनस साहब ने हमें मेज़ पर क़ब्ज़ा जमाते देख लिया और हमसे कुछ कहने के स्थान पर कप्तान मुज़फ़्फ़र को कुछ इशारा किया। इस बातका आभास वहाँ हो चुका था कि अतिथियों की इस भरमार का कारण यह है कि बहुत से जाली निमंत्रण पत्र भी बँटे हैं। अनस साहब का संकेत पाते ही कप्तान मुज़फ़्फ़र लेफ़्ट-राइट करते हुए दो ही मिनट में हमारी मेज़ पर थे। उन्होंने आते ही बहुत रोबदार आवाज़ में हमसे कहा - शो मी योर इन्वीटेशन कार्ड। हमने कहा कि सर वह तो नहीं है। मुज़फ़्फ़र साहब का अगला वाक्य था - गेट अप। हम सब लोग एक दम गेट अप हो गए। उनका अगला आदेश था - गेट आउट। और हम सब गेट आउट होने लगे और हमारे साथ वह तीनों अचकनपोश सज्जन भी। वहाँ से निकल कर उन्हीं तीनों के साथ हमने भी शमशाद बिल्डिंग में खाना खाया। यह बात तो निश्चित हो चुकी थी कि इस एक्टिविटी में किन लोगों का हाथ है।

दो-तीन दिन पश्चात् प्राक्टर के यहाँ हम सब की पेशी हुई। वह अपनी कार में बैठाकर हमें ज़ाकिर साहब के कार्यालय ले गए। ज़ाकिर साहब विराजमान थे। प्राक्टर ने हमारी ओर इशारा करते हुए बताया कि उस दिन की बेहूदा शरारत इन लोगों की थी। इन लड़कों में मुझे और अस्लम को देख कर ज़ाकिर साहब की मुखमुद्रा पर जो संचारी भाव प्रकट हुए, उन्हें मैं आज तक नहीं भूला। उनके लिए यह विश्वास करना कठिन हो रहा था कि मैं और अस्लम उनका इस प्रकार निरादर करेंगे। ज़ाकिर साहब ने प्राक्टर साहब से कहा कि इन्होंने मेरे विरुद्ध तो कुछ नहीं किया। इनकी बहन का विवाह था, इसलिए यह जानें और इनकी बहन। तत्पश्चात् ज़ाकिर साहब बिल्कुल नार्मल हो गए। कुछ देर हमसे पढ़ाई के बारे में बातें करके हमें उन्होंने बिदा कर दिया। हम लोग अत्यंत लज्जित भारी क़दमों से बाहर आ गए। यदि ज़ाकिर साहब हमारे विरुद्ध कार्यवाही करते तो हम लोग इस प्रकार लज्जित न होते। इस घटना को घटित हुए दीर्घकाल व्यतीय हो चुका है। परंतु आज तक ज़ाकिर साहब का वह शिष्ट और उदारतापूर्ण व्यवहार याद है। ज़ाकिर साहब इस एक्टिविटी के कारण मेहमानों के आधिक्य और खाने की कमी से जिस व्यथा से गुज़रे होंगे उसका अनुमान भी किया जा सकता है। परंतु इस धृष्टता पर हमारे विरुद्ध कोई एक्शन नहीं लिया गया क्योंकि इस बात का संबंध व्यक्तिगत रूप से ज़ाकिर साहब से था, विश्वविद्यालय के अनुशासन से नहीं और व्यक्ति के रूप में ज़ाकिर साहब ने हमें क्षमा कर दिया था क्योंकि बाद में कई बार भेंट हुई किंतु ज़ाकिर साहब ने इस बात की कोई चर्चा नहीं की।

करौड़ीमल कालिज

जिस समय मैं करौड़ीमल कालिज क उर्दू विभाग का नियंत्रक और कालिज की बज़्मे अदब का अध्यक्ष था, उस समय प्रोफ़ेसर स्वरूप सिंह कालिज के प्रिंसिपल थे। कालिज में उस काल में कई भव्य समारोह हुए। प्रत्येक वर्ष बज़्मे अदब एक मुशायरा आयोजित करती थी। यह इतना लोकप्रिय था कि साल भर लोगों को इसकी प्रतीक्षा रहती थी। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के सुप्रसिद्ध लेखक और कवि यहाँ बहुधा निमंत्रित किए जाते थे। इस कालिज में ज़ोश मलीहाबादी भी आए और पाकिस्तान से हबीब जालिब और हिमायत अली शायर भी। उर्दूजगत में प्रथम बार फ़राक़ का समारोह मनाया गया और ज़ाकिर साहब उपराष्ट्रपति हुए तो बज़्मे अदब ने उन्हें भी यहाँ आने के लिए विशिष्ट अतिथि के रूप में निमंत्रित किया।

ज़ाकिर साहब ने हमारे तुच्छ निवेदन पर कालिज में पदापर्ण करना स्वीकार कर लिया। मैं और अस्लम परवेज़ जब उनकी सेवा में यह निवेदन करने के लिए पहुँचे और उन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर ली तो मैंने कहा कि आप को लेने के लिए कालिज की ओर से किसी व्यक्ति को भेज देंगे। ज़ाकिर साहब ने कहा कि मेरे आने का दिन, दिनांक और समय निर्धारित हो चुका है। मेरे सिक्युरिटी के कर्मचारी मुझे आप के कालिज पहुँचा देंगे और वहाँ तो आप सब मेरे स्वागत के लिए उपस्थित ही होंगे। मैंने अत्यंत नम्रतापूर्वक निवेदन किया कि श्रीमन् यह तो प्रथा का प्रश्न है। सभ्यता और शालीनता की भी कुछ माँगें हैं और हम उर्दू वालों के प्रशिक्षण का तो यह एक अंग है। चुनांचे यह निश्चित हुआ कि अस्लम परवेज़ और मैं ज़ाकिर साहब को लेने जाएँगे और जब निर्धारित दिन अस्लम परवेज़ उन्हें लेने पहुँचे तो ज़ाकिर साहब ने उन्हें अपनी कार में अपने पास बैठाया और रास्ते में बात करते हुए आए।

हम लोग मुमताज़ होस्टल में रहते थे। खाना ठीक ठाक मिलता था। मेस का बावरची किसी बात पर रुष्ट होकर चला गया। उसकी जगह दूसरा बावरची आया। एक तो होस्टल का खाना पहले ही अस्वादिष्ट होता था। नए बावरची का खाना और स्वादरहित हो गया। कभी नमक बहुत कम होता, कभी बहुत अधिक होता। कभी मिर्चें बहुत होतीं। संभवत: इतनी अधिक मात्रा में खाना पकाने का उसे अनुभव नहीं था। लड़कों ने वार्डेन से शिकायत की। कोई परिणाम प्राप्त नहीं हुआ। लड़के ज़ाकिर साहब के पास पहुँच गए। दूसरे दिन हम खाना खा रहे थे, नमक आज असाधारण रूप से अधिक था जिस पर कुछ लड़के उधम मचा रहे थे। अकस्मात वह लड़के चुप हो गए और डाइनिंग हाल में सन्नाटा छा गया। मुड़ कर देखा तो ज़ाकिर साहब पधारे थे। उनके साथ हमारे वार्डेन अनस साहब भी थे। सब लड़के खड़े हो गए। ज़ाकिर साहब ने पूरे डाइनिंग हाल में घूम कर सब लड़कों से भेंट की और एक मेज़ पर बैठ गए। वेटर से खाना मंगवाया। सब लड़कों के सामने खाना पहले ही आ चुका था। ज़ाकिर साहब ने लड़कों से कहा बिस्मिल्लाह कीजिए और खाना आरंभ कर दिया। उस दिन नमक इतना अधिक था कि मुँह में भोजन

रखना कठिन हो रहा था । परंतु ज़ाकिर साहब आराम से खाना खाते रहे । उन्हें देखकर सारे लड़के विवशतापूर्वक भोजन गले से उतारते रहे । खाना समाप्त हो गया तो ज़ाकिर साहब हाथ धोकर उसी मेज़ पर आकर बैठ गए और हाथ के इशारे से सब लड़कों को बुला लिया । जब सब लड़के आ गए तो ज़ाकिर साहब ने बहुत प्यार और नर्मी से समझाते हुए कहा – मैं मानता हूँ कि आज खाने में नमक अत्याधिक था । इस समस्या के समाधान का एक ढंग वह था जो आप लोगों ने अपनाया अर्थात हुल्लड़-हंगामा । एक ढंग यह है कि आप सभ्य तरीक़े से आवाज़ उठाएँ । घर में भी तो खाने में नमक न्यूनाधिक हो जाता है । क्या आप इसी प्रकार उधम जोतते हैं । विद्यार्थियों को देर तक समझाने के पश्चात् ज़ाकिर साहब ने वार्डेन से कहा कि एक दो दिन में बावरची बदल दीजिए । ऐसा बावरची रखिए जिसे खाना पकाना आता हो । फिर विद्यार्थियों से कहा कि आप को कुछ दिन से बुरा खाना मिल रहा था, मुझे इस का दुख है । इसकी भरपाई इस प्रकार की जा सकती है कि कुलपति फ़ंड से दो दिन तक आप को वह खाना मिलेगा जिसकी आप फ़रमाइश करेंगे । लड़कों ने कुलपति की इस उदारता पर बहुत देर तक तालियाँ बजाईं ।

एक बार एक फ़ार्म पर हस्ताक्षर कराने के लिए मैं और अस्लम दोनों ज़ाकिर साहब के पास गए । ज़ाकिर साहब उस समय इतिहास के एक विद्यार्थी से जो एम.ए. करने के पश्चात् अब राजनीति शास्त्र में एम.ए. करना चाहते थे, बात कर रहे थे । ज़ाकिर साहब ने उनसे कहा कि आप राजनीति शास्त्र में दूसरा एम.ए. संभवत: इसीलिए करना चाहते हैं कि इतिहास में जितना अध्ययन संभव था वह आप कर चुके और अब इस विषय में अतिरिक्त अध्ययन की गुंजाइश नहीं है । विद्यार्थी प्रतिभावान था, इस व्यंग्य को समझ गया । उसने बताया कि मैं तो वस्तुत: इतिहास में ही पी.एच.डी. भी करना चाहता हूँ । परंतु कठिनाई यह उत्पन्न हो गई है कि जो विषय मुझे रुचिकर है वह विभागाध्यक्ष को पसंद नहीं । उन्होंने उसकी जगह दूसरे विषय पर अनुसंधान करने का प्रस्ताव रखा है । इस समय मुझे यह तो याद नहीं आ रहा कि विभागाध्यक्ष द्वारा प्रस्तावित विषय क्या था। इतना अच्छी तरह याद है कि ज़ाकिर साहब ने विभागाध्यक्ष के प्रस्तावित विषय पर बात कर के यह सिद्ध किया कि वह विषय उचित नहीं और कुछ नये विषय पर अनुसंधान करने की उसे प्रेरणा दी । जब वह विद्यार्थी चला गया तो ज़ाकिर साहब ने हमारे फ़ार्म पर हस्ताक्षर कर दिए । वस्तुत: फ़ार्म मेरा था । बात यह थी कि डयुटी सोसाइटी अभावग्रस्त विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति दिया करती थी और इसके कर्त्ता-धर्त्ता थे मुईद खाँ लाहौल वलाक़ुवत ... फ़ार्म पर किसी लेक्चरर के हस्ताक्षर कराने थे । परंतु हमें घमंड था अपने ज़ाकिर साहब का । हस्ताक्षर कराने सीधे उनके पास पहुँच गए । हस्ताक्षर करके ज़ाकिर साहब ने मुझ से पूछा कि डयुटी सोसाइटी के प्रभारी कौन साहब हैं । मेरे मुँह से निस्संकोच निकल गया ... जी मुईद ख़ाँ लाहौल वलाक़ुवत । ज़ाकिर साहब मुस्करा दिए। फिर उन्होंने हमसे पूछा आप एम.ए. किस विषय में करेंगे । हम दोनों ने एक साथ कहा मनोविज्ञानशास्त्र में । होस्टल के

कमरे में हमारे सीनियर पार्टनर अबुसईद ज़ैदी ने हमें यही राय दी थी। पता नहीं उन्होंने हमें इसके लिए अनुप्रेरित क्यों किया था। अभी तो आप के एम.ए. तक पहुँचने में कई साल हैं (उस समय हम माध्यमिक कक्षा के अंतिम वर्ष में थे) किंतु जब इस का समय आए तो बहुत सोच समझ कर निर्णय कीजिए। एम.ए. में प्रवेश पाने से पहले देख लीजिए कि आप की रुचि किस विषय में है। मैं महसूस करता हूँ कि आप दोनों को उर्दू साहित्य से गहरा लगाव है। इसलिए मेरा व्यक्तिगत सुझाव तो यह है कि आप उर्दू में एम.ए. कीजिए।

जब हम ज़ाकिर साहब के पास जाते तो वह यह अवश्य पूछ लेते कि आजकल आप क्या पढ़ रहे हैं। उन दिनों हम उर्दू की जो भी पुस्तक पढ़ते उसकी चर्चा उनसे करते। यह अधिकांशत: काव्य संग्रह होते थे या फिर उपन्यास या कहानी संग्रह -- एक दिन इसी प्रकार हम ज़ाकिर साहब की सेवा में उपस्थित हुए। उस समय वह किसी काम में व्यस्त नहीं थे। उन्होंने वही प्रश्न किया कि हम क्या पढ़ रहे हैं। हम जो पुस्तकें पढ़ रहे थे उनके नाम उन्हें बता दिए। मुझे आज भी अच्छी तरह याद है कि ज़ाकिर साहब ने सलाह दी कि आप दोनों सरसैयद, शिबली और हाली की पुस्तकें पढ़ना आरंभ करें। इससे आप की नींव सुदृढ़ होगी। दूसरे ही दिन से हम लोगों ने पुस्तकालय से पुस्तकें निकलवा कर इन महान व्यक्तियों की कृतियों का अध्ययन आरंभ कर दिया। बी.ए. के उपरांत कुछ कारणवश हमें दिल्ली आना पड़ा। हम दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रवेश लेना चाहते थे। हमारा विचार था कि अर्थशास्त्र में एम.ए. करें। प्रवेश परिपत्र भर दिया और प्रवेश मिल गया। अभी शुल्क जमा नहीं की थी कि प्रोफ़ेसर ख़्वाजा अहमहद फ़ारूक़ी से भेंट हुई। उनके प्रयत्नों से दिल्ली विश्वविद्यालय में उर्दू विभाग एक पृथक विभाग के रूप में नया स्थापित हुआ था। यह वह समय था जब दिल्ली में उर्दू पर बुरा वक़्त पड़ा हुआ था। इसलिए ख़्वाजा साहब की ओर से इस नये विभाग के लिए एम.ए. के छात्रों की पकड़ धकड़ जारी थी। उन्हें ज्ञात था कि हम उर्दू में कुछ उलटा सीधा लिखते हैं। उन्होंने राय दी कि हम उर्दू में एम.ए. करें। ज़ाकिर साहब का निर्देश याद था। इसलिए हम दोनों ने दिल्ली विश्वविद्यालय से उर्दू में एम.ए. करने का निश्चय कर लिया।

अस्लम परवेज़ की पुस्तक 'इंशाअल्लाह ख़ाँ इंशा' जब प्रकाशित हुई तो उन्होंने एक प्रति ज़ाकिर साहब की सेवा में भी भेजी। वह उस समय बिहार के राजपाल हो चुके थे। इंशा पर प्रकाशित होने वाली उर्दू में यह प्रथम पुस्तक थी और स्वयं अस्लम परवेज़ की भी यह पहली कृति थी। इस संबंध में ज़ाकिर साहब ने जो विस्तृत पत्र अस्लम परवेज़ को लिखा, उसने हम दोनों को अत्याधिक प्रभावित किया। भला किसी राज्य के राजपाल को इतना अवकाश कहाँ कि नौसिखिए लोग अपनी पुस्तकें छपवाकर भेजते रहें और वह उन का न केवल गंभीरतापूर्वक अध्ययन करे बल्कि उस पर सविवरण राय भी स्वयं अपने हाथ से लिख कर भेजे। इंशाअल्लाह इंशा पर यद्यपि उन्होंने अपनी समीक्षा में पुस्तक के

गुण और अवगुण दोनों पर सविस्तार प्रकाश डाला था किंतु उनकी समीक्षा में आद्योपांत प्रोत्साहन का पहलू था। मैंने अपनी सबसे पहली पुस्तक 'मेराजुलआशिक़ीन' ज़ाकिर साहब को उस समय भेजी थी जब वह बिहार के राजपाल थे। यह पुस्तक मेरे एम.ए. करने के तुरंत पश्चात् प्रकाशित हुई थी, इसलिए अनुभवहीनता के फलस्वरूप उस में बहुत त्रुटियाँ थीं। ज़ाकिर साहब ने मेरा कड़ा मूल्यांकन किया। पुस्तक में कुरान शरीफ़ के आयतों के उद्धरण थे। इनमें वर्तनी की बहुत सी अशुद्धियाँ थीं। ज़ाकिर साहब ने उन्हें रेखांकित किया और अपने पत्र के अंत में लिखा कि आपको अरबी नहीं आती इसलिए ऐसा काम न कीजिए जिसमें अरबी के ज्ञान की आवश्यकता हो और यदि कोई विवशता हो तो अरबी रचना के संबंध में किसी अरबी के विद्वान से राय ले लेना चाहिए और विशेषरूप से यदि कुरानशरीफ़ की आयतों का मामला हो तो किसी निपुण विद्वान को दिखाए बिना पुस्तक कदापि न छापिए।

ज़ाकिर साहब उपराष्ट्रपति पद पर आसीन थे। 1965 ई. में मेरी पुस्तक "मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी सौदा" प्रकाशित हुई। मैंने ज़ाकिर साहब के निजी सचिव को फ़ोन करके भेंट का समय ले लिया। जब निर्धारित समय पर मैं वहाँ पहुँचा तो ज़ाकिर साहब के पास विदेश से आया हुआ एक प्रतिनिधिमंडल बैठा हुआ था। इसलिए मुझसे भेंट न हो सकी। ज़ाकिर साहब के लिए पुस्तक की जो प्रति ले गया था वह उनके निजी सचिव ए. इकराम साहब को देकर आ गया। तीन दिन पश्चात् इकराम साहब का एक औपचारिक पत्र आया जिसमें सूचना दी गई थी कि मेरी पुस्तक उपराष्ट्रपति की सेवा में प्रस्तुत कर दी गई है। मुझे यह बात बहुत बुरी लगी। इससे पहले प्रचलन यह था कि जब मैं ज़ाकिर साहब को अपनी कोई पुस्तक भेजता था तो चौथे-पांचवें दिन उनका पत्र आता था जिसमें पुस्तक प्राप्ति की सूचना होती थी और पंद्रह-बीस दिन पश्चात् ज़ाकिर साहब पुस्तक के संबंध में सविस्तार अपनी राय लिखते और इस पत्र में पुस्तक के गुणों और अवगुणों पर बेलाग टिप्पणी होती। मैंने कुछ दिनों ज़ाकिर साहब के पत्र की प्रतीक्षा की। जब वह नहीं आया तो मैंने इकराम साहब को पत्र लिखा कि मैंने पुस्तक मुझ पर कृपादृष्टि रखने वाले व्यक्ति को भेजी थी जो पत्र मिलते ही अपने करकमलों से पुस्तक प्राप्ति की सूचना देते थे। आप मेरी पुस्तक उपराष्ट्रपति से वापस लेकर मेरे ज़ाकिर साहब को दे दीजिए या मुझे लौटा दीजिए। पत्र भेजने के दो चार दिन पश्चात इकराम साहब का फ़ोन आया कि ज़ाकिर साहब ने दोपहर को खाने पर बुलाया है। बाद में पता चला कि प्रोफ़ेसर निसार अहमद फारूक़ी को भी खाने पर बुलाया है। हम दोनों समय पर पहुँच गए। मैंने अपने धृष्टतापूर्ण पत्र के लिए क्षमा याचना की तो ज़ाकिर साहब ने मुस्कराते हुए कहा कि मुझे आप का पत्र बहुत पसंद आया। एक तो लेखक और कलाकार में अहं होना अत्यंत आवश्यक है और दूसरे आप मुझे अपना समझते हैं इसीलिए तो आपने वह पत्र लिखा। इस विषय पर दो चार बातें हुईं और फिर वार्तालाप विभिन्न साहित्यिक विषयों की ओर

उन्मुख हो गई ।

अप्रैल 1969 ई. की बात है । ज़ाकिर साहब के निजी सचिव का फ़ोन आया कि ज़ाकिर साहब मुझसे मिलना चाहते हैं । मैं घर पर नहीं था । मुझे फ़ोन की सूचना मिली तो मैंने पी.ए. को फ़ोन किया किंतु भेंट का समय निर्धारित नहीं हो सका । तीन-चार बार चेष्टा की हर बार पी.ए. ने मेरा फ़ोन नम्बर ले लिया किन्तु मुझे समय नहीं दिया ।

3 मई 1969 ई. को मेरे ज़ाकिर साहब ख़ुदा को प्यारे हो गए और मैं उनसे मिलने से हमेशा के लिए वंचित हो गया ।

स्व. ज़ाकिर हुसैन के जीवन की महत्वपूर्ण तिथियाँ !

अबदुल लतीफ़ आज़मी

स्व. ज़ाकिर हुसैन के जीवन की महत्वपूर्ण तिथियाँ लिखने से पूर्व यह अच्छा होगा कि उनके मूल निवास स्थान, उनके माहौल अथवा वातावरण, खानदानी परिवेश, उनके चरित्र, उनके गुण और उनके व्यक्तित्व की विशेषताओं पर संक्षेप में एक नज़र डाल ली जाए।

डा. ज़ाकिर हुसैन का मूल स्थान क़ायमगंज था जो उत्तर प्रदेश का एक प्रसिद्ध टाऊन है जिसे सन् 1713 में मुहम्मद ख़ान बंगश ने, जिनका सम्बंध औरगंज़ेब के युग से था, अपने बड़े बेटे क़ायम खान के नाम पर आबाद किया था। उनके पिता का नाम फ़िदा हुसैन ख़ान था जो क़ायमगंज के स्कूल से शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात सन 1888 में हैदराबाद (दकन) चले गए। उस समय उनकी आयु 20, वर्ष थी। उन्होंने बेगम बाज़ार में मुरादाबादी बर्तनों का कारोबार आरंभ किया। विधि की पुस्तकों का अध्ययन किया। और उसमें इतनी दक्षता एवं प्रवीणता प्राप्त की कि वकालत की परीक्षा में बैठे और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। इसके पश्चात कारोबार छोड़कर वकालत आरंभ की। भगवान की कृपा से उनकी वकालत चल निकली और ख़ूब पैसा कमाया।

फ़िदा हुसैन ख़ान के सात पुत्र थे, लड़की कोई नहीं थी। ज़ाकिर हुसैन ख़ान तीसरे नम्बर पर थे। इनके छोटे भाई डा. युसुफ़ हुसैन ने ज़ाकिर साहब को फ़ख़्रे ख़ानदान (कुल श्रेष्ठ) का सम्मान प्रदान किया है। हैदराबाद के एक नौमुस्लिम अंग्रेज़ मास्टर अबदुल ग़नी उनके सर्वप्रथम गुरू थे। युवावस्था में ज़ाकिर साहब के आचरण पर एक सूफ़ी तथा दरवेश (सन्यासी) हसन शाह का गहरा प्रभाव पड़ा जो उनके दादा ग़ुलाम हुसैन ख़ान के दूर के सम्बंधी होते थे। डा. युसुफ़ हुसैन ख़ान ने अपनी पुस्तक "यादों की दुनियाँ" में लिखा है कि हसन शाह हम सब भाईयों में ज़ाकिर मियाँ को बहुत चाहते थे। उनसे अपनी फ़ारसी की पुस्तकें, जो सूफ़ी मत पर थीं, प्रतिलिपि करवाते थे। ज़ाकिर साहब का कहना है कि इससे उनका उर्दू लेखन अच्छा हो गया। जिन लोगों को ज़ाकिर साहब की चरित्र व व्यक्तित्व का निकट से अध्ययन करने का अवसर मिला है उन्होंने अनुभव किया होगा कि हसन शाह (भगवान उनपर अपनी अपार कृपा करे) के प्रभाव का किसी न

किसी रूप में अवश्य प्रकटन होता है ।

ज़ाकिर साहब जब एम.ओ. कालेज अलीगढ़ में शिक्षारत थे तो 1920 के असहयोग आंदोलन में सम्मिलित हो गए । इसके पश्चात मौलाना मुहम्मद अली जौहर के साथ जामिआ मिल्लिया चले आए जिसे उनके छोटे भाई यूसुफ़ हुसैन खान ने उनके जीवन का निर्णायक मोड़ ठहराया है । आगे चलकर महोदय लिखते हैं कि: "उन्हें भगवान ने हम भाईयों में सब से अधिक सुन्दर, सेहतमंद, और बलिष्ठ शरीर प्रदान किया था ।"

इस आवश्यक व्याख्या के पश्चात अब स्व. ज़ाकिर हुसैन के जीवन की महत्वपूर्ण तिथियाँ अवलोकनार्थ प्रस्तुत हैं:-

1897, 8, फ़रवरी – ज़ाकिर हुसैन ख़ान हैदराबाद दकन में जन्मे । यहाँ उनके माननीय पिता फ़िदा हुसैन ख़ान वकालत के (व्यवसाय) कारण रहते थे ।

1907, 8, दिसम्बर – इसलामिया हाई स्कूल-इटावा-यू.पी. में प्रवेश लिया ।

सन 1913 – इटावा इसलामिया हाई स्कूल से मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की और एम.ओ. कालेज अलीगढ़ में इन्टर साईंस में प्रवेश लिया ।

सन 1915 – क्रिस्टीयन कालेज लखनऊ में बी.एस.सी. में प्रवेश लिया । परंतु अस्वस्थता के कारण शिक्षा को पूरा न कर सके ।

"इटावा से हाई स्कूल पास करके अलीगढ़ में शिक्षारत थे कि उनके भाई ने परिवार की एक कन्या शाहजहाँ बेगम से इनका विवाह कर दिया जिनसे तीन पुत्रियाँ हुईं । सईदा बेगम, सफ़ीया बेगम, और रुक़ैय्या रेहाना-रुकैय्या रैहाना की पाँच वर्ष की आयु में ही मृत्यु हो गई । सईदा बेगम का विवाह ख़ुर्शीद आलम ख़ान से हुआ और सफ़ीया बेगम का ज़िल्लुर रहमान शाहजहाँपुरी से हुआ ।"

सन 1916 – एम.ए. ओ. कालेज अलीगढ़ में बी.ए. में प्रवेश लिया । इनके विषय अंग्रेज़ी साहित्य, दर्शनशास्त्र, और अर्थशास्त्र थे ।

सन 1917 – एम.ए. ओ कालेज की यूनियन के वाइस प्रेसिडेन्ट (Vice President) निर्वाचित हुए ।

सन 1917 – "हिन्दुस्तान में मुसलमानों की शिक्षा" नामक एक लेख लिखा जिस पर 100/रु. का पुरस्कार मिला ।

सन 1918 – एम.ए.ओ. कालेज अलीगढ़ से प्रथम श्रेणी में बी.ए. उत्तीर्ण किया ।

1919 – अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में एम.ए. प्रथम वर्ष की परीक्षा पास की परंतु असहयोग आंदोलन के कारण दूसरे वर्ष की परीक्षा न दे पाए ।

सन 1920, 29, अक्तूबर – अलीगढ़ में जामिआ मिल्लिया की स्थापना हुई । ज़ाकिर साहब मुस्लिम यूनिवर्सिटी छोड़ कर जामिआ मिल्लिया में आ गए ।

सन 1922 – बी.ए. करने के पश्चात प्रो. एडन कैनिन की पुस्तक "एलीमेंट्री पोलीटिकल इकोनामी" का अनुवाद किया जो "बुनियादी मआशियात" के नाम से

प्रकाशित हुआ। और उसी वर्ष ज़ाकिर साहब उच्च शिक्षा के लिए बर्लिन (जर्मनी) चले गए।

सन 1922 सितम्बर – ज़ाकिर साहब ने जर्मनी में लगभग सवा तीन वर्ष निवास किया। उस अवधि में भारतीय विद्यार्थियों के संगठन के अध्यक्ष रहे। उनका एक वर्णनीय कारनामा यह भी है कि बर्लिन के कादियनी प्रेस ने ग़ालिब के दीवान का अति सुंदर टाईप में एक अतिरोचक व मनभावन एडीशन प्रकाशित किया। इस एडीशन में ग़ालिब का जो चित्र प्रकाशित हुआ था उसे ज़ाकिर साहब की हिदायत पर एक जर्मन कलाकार ने बनाया था जो इतना लोकप्रिय हुआ कि आज तक वही प्रकाशित होता है।

सन 1928, 19, अप्रैल – जामिआ मिल्लिया की फ़ाउन्डेशन का समारोह जामिआ प्रमुख डा. मुख़तार अहमद अंसारी की अध्यक्षता में आयोजित हुआ जिसमें ट्रस्टीज़ कार्यकर्ताओं की स्थापना की गई जो जामिआ के समस्त प्रशासनिक कार्यों के उत्तरदायी थे। उसके सचिव डा. ज़ाकिर हुसैन नियुक्त हुए।

सन 1931 – अफ़लातून की प्रमुख पुस्तक "स्टेट" के अनुवाद का कार्य ज़ाकिर साहब ने एम.ए. की शिक्षा प्राप्त करने के समय आरंभ किया था। यह अनुवाद "रियासत" के नाम से इसी वर्ष प्रकाशित हुआ। उसका दूसरा संस्करण पुन: संशोधन के पश्चात 1967 में प्रकाशित हुआ।

1931, 5 से 7 मार्च तक – हिन्दुस्तानी एकाडमी यू.पी. इलाहबाद के निमंत्रण पर ज़ाकिर साहब ने एक विस्तृत लेख पढ़ा जो "मआशियात मक़सद और मिनहाज" के नाम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ।

सन 1935, 14 अगस्त – काशी विद्यापीठ बनारस के कुलपति डा. भगवान दास के निमंत्रण पर ज़ाकिर साहब ने राष्ट्रीय शिक्षा के विषय पर एक लेख पढ़ा जिसके आरंभ में उन्होंने कहा "मेरा पहला विचार यही था कि डा. साहब से क्षमा चाहूँ और यह लिखूँ कि संभवत: आप ने तार में ग़लत आदमी का पता लिख दिया है पर मुझे ध्यान आया कि शायद इस बुलावे में एक और बात छुपी है कि जामिआ मिल्लिया में मेरे साथी राष्ट्रीय शिक्षा का जो कार्य बड़ी कठिन परिस्थितियों में कर रहे हैं उसमें काशी विद्यापीठ के भाई और साथी जो स्वयं इसी प्रकार के कार्य में लगे हुए हैं हमारा साहस व मनोबल बढ़ाने और उस पर अपनी पसंद को प्रकट करना चाहते हैं। मैं अपनी ओर से तो क्षमा मांग लेता पर मेरे मन में आपके कार्य और आपके कार्यकर्ताओं का जो सम्मान है उसने अनुमति नहीं दी कि उनके मनोबलवर्धक निमंत्रण को अस्वीकार कर दूँ। यही कारण है कि आपके समक्ष उपस्थित हूँ।"

सन 1936, 10, मार्च – ज़ाकिर साहब ने बच्चों की शिक्षा और उनके प्रशिक्षण के शीर्षक से ए.आई.आर. दिल्ली से भाषण माला की प्रथम श्रृंखला प्रसारित की। इसके पश्चात दूसरी श्रृंखला 8, अप्रैल को और तीसरी तथा अंतिम 26, अप्रैल को।

सन 1936, 15, मई – ज़ाकिर साहब का 'अच्छा शिक्षक' के नाम से ए.आई.आर. दिल्ली से एक भाषण प्रसारित हुआ जिसके आरंभ में उन्होंने कहा "मनुष्य का जीवन सदा किसी दूसरे जीवन से जुड़ा होता है । उसके जीवन का दीप किसी अन्य मानसिक जीवन से प्रज्वलित होता है । जीवन की लहलहाती बाड़ी में ख़रबूज़े को देखकर ख़रबूज़ा रंग पकड़ता है । और इस प्रकार हर व्यक्ति किसी दूसरे का शिक्षक, सिखाने वाला और बनाने वाला होता है ।" आगे चलकर पुन: कहते हैं "शिक्षक के जीवन की पुस्तक के मुख्य पृष्ठ पर विद्या नहीं लिखा होता, मुहब्बत, प्रेम का शीर्षक होता है । उसे मानव से प्रेम होता है । समाज जिन गुणों का धारक होता है उन गुणों से प्रेम होता है, उन नन्हीं जानों से प्यार होता है जो आगे चलकर उन गुणों का अपने में समावेश करने वाली हैं । यह इसमें सहयोग प्रदान करता है । इसी कार्य में अपने मन के लिए सुख और अपनी आत्मा के लिए संतुष्टि पाता है ।"

9, और 10, मई की आधी रात में देश के मसीहा और जामिया मिल्लिया के कुलपति डा. मुख़तार अहमद अंसारी के अचानक निधन के अवसर पर ज़ाकिर साहब ने ए.आई.आर. दिल्ली से एक भाषण प्रसारित किया जिसमें उन्होंने अपनी विशेष मुद्रा में कहा "डा. साहब ने जिस दिन से संसार की कर्मभूमि में पदापर्ण किया उनके व्यक्तित्व ने सब का दिल मोह लिया इसलिए कि वह नेक थे, सच्चे थे, निष्ठ थे, उदार थे, ... इससे पूर्व कि उनकी राजनीतिक सेवाएं उन्हें प्रसिद्ध करें, हजारों लोग उन्हें अपना समझने लगे थे । ... उनके प्रेम और उनकी सहानुभूति ने कहीं अधिक लोगों पर अपना जादू किया । इस समय इन सबकी आंखों में उनकी प्रेम भरी आंखें, उनका मुस्कान युक्त चेहरा फिर रहा होगा । ... आज तीसरे पहर के समय जामिया मिल्लिया वालों ने अपने संरक्षक को अपनी नई बस्ती जामिया नगर के पहलू में जाकर दफ़नाया है ।"

सन 1937 – गाँधी जी ने शिक्षाविदों की कान्फ़्रेन्स बुलाई जिसमें ज़ाकिर साहब ने भी भाग लिया । योजना और शिक्षा पाठयक्रम तैय्यार करने के लिए जो समिति बनाई गई थी ज़ाकिर साहब उसके चेयरमैन निर्वाचित हुए ।

सन 1937, 29, मार्च – अखिल भारतीय मुस्लिम शैक्षिक कान्फ़्रेन्स की जुबली सभा में डा. ज़ाकिर हुसैन साहब ने जो लेख पढ़ा था उसका शीर्षक था "मुसलमानों की सेकंडरी शिक्षा" उसका शुभारभँ इन शब्दों से किया था "इस एतिहासिक शिक्षण संस्थान के माननीय कार्यकर्ताओं की सेवा में इसकी 50 वर्षीय जुबली पर हार्दिक बधाई प्रस्तुत करता हूँ और इस तुच्छ पर की गई कृपा जो मुझे इस विभाग की अध्यक्षता के लिए बुलाकर की गई है हार्दिक धन्यवाद" । आगे चलकर कहा "अपनी गोष्ठी का नाम और उसके कारनामों का इतिहास बताता है कि आप वास्तव में शिक्षा को एक सामूहिक कार्य समझते हैं । एक व्यक्ति की संपूर्ण शक्तियों का पूर्ण विकास समूह में ही संभव है । शिक्षा नाम ही इसका है कि विद्यार्थी का मानसिक व शारीरिक प्रशिक्षण करके उनमें सामंजस्य उत्पन्न

कराया जाए और उसे सभ्य जीवन के समस्त पक्षों का राज़दार बनाकर उसमें अपनी योग्यता अथवा दक्षता के अनुभव के अनुरूप जीवन में भाग लेने के लिए उसे तैय्यार किया जाए। अत: शिक्षण पद्धति की संरचना उसी समय संभव है जब संगठन के समक्ष आपसी रहन-सहन की कोई रूपरेखा मौजदू हो।''

22, अक्तूबर – प्रो. मुहम्मद मुजीब के शब्दों में ''ज़ाकिर साहब के जीवन के एक पक्ष का आरंभ जामिआ मिल्लिया की स्थापना से सामने आता है जो सरकारी स्कूलों और कालेजों के बाईकाट करने का गाँधी जी के आंदोलन का परिणाम था और दूसरे पक्ष का शुभारंभ उस समय से होता है जब वह उस गोष्ठी में सम्मिलित हुए जो 22, अक्तूबर 1937 को वर्धा में आयोजित हुई थी। यह गोष्ठी गाँधी जी की उस स्कीम अथवा योजना पर विचार करने के उद्देश्य से आयोजित की गई थी जो ग्रामीण क्षेत्रों के लिए मुफ़्त, अनिवार्य, और स्वयंसेवी शिक्षा से संबंधित थी।''

सन 1938 – ज़ाकिर साहब ने राजकीय तिब्बिया कालेज पटना के प्रमाणपत्र वितरण समारोह के अवसर पर चिकित्सा संबंधी शिक्षा के विषय पर आलेख पढ़ा जिसमें अत्यंत अनौपचारिकता के साथ और किसी हद तक हास्य-व्यंग्य के अंदाज़ में कहा ''अभी तक मैं ठीक-ठीक नहीं समझा कि इस सरकारी तिब्बिया कालेज के प्रमाणपत्र वितरण के अवसर पर मैं क्यों बुलाया गया हूँ। इस गुत्थी को सुलझाने का प्रयास किया तो ध्यान आया कि कहीं मेरे नाम के साथ जो कुछ दिन से डा. का शब्द लग गया है उससे तो धोखा नहीं हुआ। कभी-कभी गांवों और देहातों में लोगों ने मुझ से नाड़ी देखने और नुसख़ा लिखने का अनुरोध इसी धोखे में किया है। परंतु हमारे देश में तो आयुर्वेदिक चिकित्सकों और एलोपैथी के डाक्टरों में कुछ ऐसी बहुत बनती भी नहीं है कि इस संदेह में मुझे यहाँ बुलाया जाता। ... फिर मुझे ध्यान आया कि संभवत: मुझे संभावित रोगों के उस वर्ग का प्रतिनिधि समझकर आपने निमंत्रण दिया हो जो आपकी शिष्ट व सभ्य कला से लाभान्वित होता है और आपके नये उपाधि पाने वालों के लिए कम से कम कुछेक वर्ष और आपके कुछ शालीन साथियों के लिए जीवनपर्यन्त अभ्यास पट्टिका (तख़्त-ए-मश्क़) का काम देता है। पर हमारे देश में वास्तविक और संभावित रोगों की कुछ ऐसी कमी नहीं है कि चयन दृष्टि मुझ तक पहुंचती। किसी एक कारण पर मन पूर्ण रूप से ठहरा नहीं तो मैंने सोचना बंद कर दिया और यह निश्चय किया कि जो तीन कारण समझ में आते हैं उन्हीं को ठीक मानकर आपसे कुछ कहूँ।''

1938 – 4, अगस्त – शिक्षकों के विद्यालय (टीचर्स ट्रेनिंग कालेज) का उद्घाटन हुआ और ज़ाकिर साहब ने उस अवसर पर एक संक्षिप्त भाषण दिया।

1939 – 15 मार्च – ज़ाकिर साहब ने जामिया के भूतपूर्व विद्यार्थी संगठन के भवन की आधार शिला रखी। इस अवसर पर भाषण देते हुए आपने कहा ''जब भी जामिया में किसी नए भवन की आधारशिला रखी जाती है तो मेरा दिल थरथराता है। ऐसे अवसर का

लाभ उठाकर मैं जामिया वासियों को याद दिलाता हूँ कि भवनों की बहुतायत किसी संस्थान के लिए गर्व की बात नहीं है। अधिकांश भवन या तो समाधि प्रमाणित होते हैं या जेल ख़ाना। यदि भवन में वास करने वाले वास्तविक उद्देश्य को भूल जाएं तो वह भवन उनके उद्देश्यों और इरादों की समाधि बन जाते हैं। भवन व्यक्ति विशेष का उद्देश्य बन जाए तो वह जेल खाना है जिनसे उमंगों, हौसलों, बलवलों को निकलने का मार्ग नहीं मिलता।''

1940, 11, अप्रैल – जामिया मिल्लिया में मौलिक शैक्षिक कान्फ्रेन्स आयोजित हुई जिसका उदघाटन बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने किया। उनके माध्यम से ज़ाकिर साहब ने राजनीतिक नेताओं को सम्बोधित करते हुए कहा ''भगवान के लिए देश की राजनीति को सुधारिए और यथाशीघ्र ऐसे राज्य की नीव डालिए जिसमें क़ौम क़ौम पर भरोसा कर सके, दुर्बलों को शक्तिशालियों का भय न हो। ग़रीब अमीर की ठोकर से बचा रहे। जिसमें सामाजिक रहन-सहन शान्ति और अमन की सभ्यता के साथ साथ फल-फूल सके और हर एक से दूसरों के गुण उजागर हों। जहाँ हर एक वह बन सके जिसके बनने की उसमें योग्यता है। और वह बन कर अपनी समस्त शक्ति को समाज का चाकर जाने।''

1942, मार्च – ज़ाकिर साहब के शैक्षिक विचार और रेडियो द्वारा प्रसारित वार्ताएं पुस्तकीय रुप में प्रकाशित हुईं जिसे मैंने मक़तबा जामिया के लेखन व मुद्रण विभाग के प्रमुख के रुप में सकंलित किया था और जिसका मेरे गुरु प्रो. मुहम्मद मुजीब साहब ने प्राक्कथन लिखा था। इस पर 17-10-1942 की तिथि अंकित है। एक बार जामिया प्रमुख डा. ज़ाकिर हुसैन साहब ने एक ऐसी बात कही जिस से मैने यह निष्कर्ष निकाला कि संभवत: उन्हें किसी कारणवश मेरा यह कार्य पसंद नहीं आया। जब यह पुस्तक छप कर तैयार हो गई और जिल्द चढ़ाई जा रही थी तो ज़ाकिर साहब मकतबा जामिया पधारे और मुझ से पुस्तक के विषय में पूछा तो मैने वास्तविक स्थिति बता दी। उसी समय निम्न पंक्ति तुरंत लिखी और कहा कि इसे पुस्तक में सम्मिलित कर लिया जाए।

''आपाजान गर्डा फिलिप्स बोर्न के नाम'' आपाजान इस पुस्तक के अंतिम भाग आज छपकर आए है। इन भाषणों में, मैंने जो कुछ कहा है और जिस प्रकार कहा है उसमें आप का बहुत भाग है। जी चाहता है कि आप अनुमति दें तो इस सकंलन को आप के नाम से सम्बंधित करूँ।

आप इस समय बड़े कष्ट से पीड़ित हैं। आप ने परिश्रम और सेवा से जामिया के सब साथियों के दिल में जो स्थान बना लिया है उसका अनुमान सभंवत: स्वयं आप को नहीं। यदि दर्द बाँटा जा सकता तो यह सब उसको बाँट लेते और उसका समस्त बोझ आप ही पर न छोड़ते। पर क्या किया जाए कि यह किसी के अधिकार क्षेत्र में नहीं। बस यह प्रार्थना है कि जिसने यह पीड़ा आपको दी है वही उसके सहन की शक्ति और उस पर सब्र करने की प्रेरणा प्रदान करे और आपकी मुश्किल को आसान करे।

सन 1942, 31, मई – ज़ाकिर साहब ने आल इंडिया रेडियो दिल्ली से भाषण प्रसारित किया जिसका शीर्षक था "नन्हा मदरसे चला"। बच्चों के अभिभावकों और उनके शिक्षकों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा "बच्चे को मनुष्य का अग्रणी समझें, उसे बिना किसी सहारे के स्वयं भी बढ़ने दें, उसके ईश्वर प्रदत्त गुणों और रुचियों का सम्मान करें। समझें कि यह नन्ही सी जान अपने विकास की संभावित परिपूर्णता की ओर क़दम उठाती है। उसे सहारा दीजिए। मार्ग से कांटे हटा दीजिए पर उसके चलने की दिशा तो न बदलिये। न उस पर इतना ध्यान दीजिए कि वह फिर अपने पर ध्यान ही न कर सके। न इतनी उपेक्षा कीजिए कि उसकी वह आवश्यकताएं भी पूरी न हों जिन में वह वास्तव में आप पर निर्भर है।"

सन 1944 – दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. मोरिस गायर के निमंत्रण पर ज़ाकिर साहब ने "कैप्टलिज़्म" के शीर्षक से दस लेख पढ़े जो बाद में पुस्तकीय रूप में प्रकाशित हुए।

सन 1945, 3, मार्च – जामिया मिल्लिया में शैक्षिक केन्द्र हाल (कम्युनिटी सेंटर) की स्थापना की गई। जिसका उद्देश्य शिक्षित वर्ग के लिए शिक्षा और मनोरंजन के अवसर उपलब्ध कराना था। इस हाल का उदघाटन करते हुए जामिया प्रमुख ज़ाकिर हुसैन साहब ने कहा "जो लोग स्कूल और कालिजों से निकलने के पश्चात समझते हैं कि उनकी शिक्षा पूर्ण हो गई अब उन्हें किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं है, वह धोखे में हैं ... अपितु पढ़े लिखे लोगों के लिए अभी शिक्षा के और अवसर उपलब्ध कराना भी शैक्षिक पद्धति का बहुत बड़ा उद्देश्य है।"

सन 1945, 23, अक्तूबर – ज़ाकिर साहब ने यूनिस्को की गोष्ठी में भाग लेने के लिए लदंन को प्रस्थान किया। दूसरे दिन जहाज़ से जामिया की प्रस्तावित रजत जयंती के सचिव के नाम अपने पत्र में लिखा। मैं चाहता था कि भारत छोड़ने से पूर्व आपको एक पत्र भेजूँ। पर चलते समय किसी अन्य कार्यों में व्यस्त रहा और यह आलेख न भेज सका, रास्ते से यह पत्र भेज रहा हूँ। ख़ुदा करे 29, अक्तूबर को अर्थात जामिया के स्थापना दिवस से पूर्व (यह पत्र आपको) मिल जाए।

सन 1946 – अस्थायी सरकार की स्थापना हुई तो ज़ाकिर साहब को उसमें भाग लेने का निमंत्रण दिया गया। परंतु उन्होंने मना कर दिया।

सन 1946, 24, फ़रवरी – न्यु एजूकेशन फ़ेलोशिप-पंजाब के अधिवेशन में, जो सेंट्रल ट्रेंनिग कालेज लाहौर में "प्राथमिक और उससे पूर्व की शिक्षा" के शीर्षक के अंतर्गत आयोजित हुआ, ज़ाकिर साहब ने लेख पढ़ा।

सन 1946 अप्रैल – प्रसिद्ध जर्मन फ्रेडरेश लिस्ट की एक पुस्तक का अनुवाद बहुत पहले ज़ाकिर साहब ने किया था। इस वर्ष "मआशियाते क़ौमी" के नाम से वह प्रकाशित हुआ।

सन 1946 17, नवम्बर – जामिया की रजतजयंती के विशेष अधिवेशन में "जामिया के 25 वर्ष" के शीर्षक से ज़ाकिर साहब ने एक रिपोर्ट पढ़ी ।

सन 1947, 17 जनवरी – ज़ाकिर साहब ने सुन्नी वक़्फ़, दिल्ली के प्रशासनिक व वित्त संबंधी भ्रष्टाचार पर एक विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की । उन्हीं कार्यकर्ताओं के आधीन दरियागंज देहली का एक यतीम ख़ाना (अनाथालय) भी चल रहा था जिस में वह सभी ख़राबियाँ थीं जो सामान्यत: यतीम ख़ानों में होती हैं । ज़ाकिर साहब ने एक मर्मज्ञ शिक्षाविद के रूप में उन समस्त ख़राबियों के सुधार की निष्ठापूर्वक चेष्ठा की। उदाहरणार्थ सब से पहले उसका नाम यतीम-ख़ाने के स्थान पर बच्चों का घर रखा । साथ ही उन्होंने यह निर्णय लिया कि बच्चे किसी के घर पर खाने के लिए नहीं जाएगें और यदि कोई सज्जन पुण्य की दृष्टि से उन्हें खाना खिलाना चाहते हैं तो उसे संस्था को भेज दें । इसी प्रकार उन्हें चंदा एकत्र करने के लिए घर घर जाने से रोक दिया गया आदि। अब यहाँ के बच्चों को देखकर कोई नहीं कह सकता कि यह यतीम बच्चे हैं ।

सन 1947, अगस्त, – देश विभाजन के पश्चात ऐंगलो अर्बिक कालेज-अजमेरी दरवाज़ा देहली के भवन पर शरणार्थियों ने अधिकार कर लिया था । ज़ाकिर साहब के निःस्वार्थ प्रयासों से उसका क़ब्ज़ा ख़ाली हुआ । उसके पश्चात उस कालेज का नाम ज़ाकिर हुसैन कालेज कर दिया गया और उसकी प्रशासनिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए जामिया मिल्लिया इस्लामिया और उसके प्रमुख को महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान किए गए ।

सन 1947, 3, सितम्बर – देहली में भयंकर दंगों का क्रम आंरभ हुआ जिसके कारण विभिन्न क्षेत्रों जैसे सब्ज़ी मंडी, पहाड़गंज, करोल बाग़, आदि के मुसलमानों ने अपना घरबार छोड़कर पुराने क़िले, और हुमायूँ के मक़बरे में शरण लिया । उनके खाने-पीने और रहने-सहने के प्रबंध के लिए सरकार ने ज़ाकिर साहब को नियुक्त किया । अत: उन्होंने जामिया के शिक्षकों और कार्यकर्ताओं के सहयोग से यह दायित्व व सेवा उत्तम ढंग से निष्पादित की ।

सन 1948, 28, नवम्बर – मुस्लिम विश्वविद्यालय की कोर्ट ने सर्वसम्मति से ज़ाकिर साहब को विश्वविद्यालय का कुलपति चुना ।

सन 1951 यू.पी. के शिक्षा मंत्री की सेवा में लखनऊ शहर के दस हज़ार लोगों के हस्ताक्षरों से ज़ाकिर साहब ने एक आवेदन प्रस्तुत किया जिस में यह मांग की गई थी कि हमारे बच्चों के लिए उनकी मातृ भाषा उर्दू में शिक्षा का प्रबंध किया जाए ।

सन 1951 29, नवम्बर – नए नियमों के अनुसार 5 वर्ष के लिए ज़ाकिर साहब को मुस्लिम विश्वविद्यालय का पुन: कुलपति चुना गया ।

सन 1952, 12, मार्च – अलीगढ़ में आयोजित आल इंडिया मुस्लिम एजूकेशन कान्फ्रेन्स में "राष्ट्रीय शिक्षा की समस्याएं– एक मुसलमान की दृष्टि में" शीर्षक से

ज़ाकिर साहब ने समारोह के अध्यक्ष के रूप में एक लेख पढ़ा जिस में महोदय ने फ़रमाया- ''इस देश में मुसलमानों का जो वर्ग या समूह आबाद है केवल उसी की विशेष समस्याओं पर विचार करना हमारा कर्तव्य है । इस वर्ग के लोगों की भलाई और उत्थान के निश्चित मार्गों की खोज करना हमारा काम है ।'' – अपने इस लेख को ज़ाकिर साहब ने इन शब्दों पर समाप्त किया: खुदा करे कि आपके प्रयासों और ध्यान से इस कान्फ़्रेन्स के जीवन का नया दौर जो आरंभ होता है पहले युग से अधिक कामयाब और उद्देश्यपूर्ण प्रमाणित हो और स्वतंत्र भारत में आपके प्रयास धन्य कहे जाने के योग्य हों- आमीन''

सन 1952, जूलाई – ज़ाकिर साहब अमरीका के शैक्षिक दौरे पर थे । उसी जमा़ने में राज्य सभा के सदस्य मनोनीत हुए । 11, अगस्त को शपथ ली ।

सन 1954 – अनजुमन तरक़्क़ी उर्दू हिन्द के अध्यक्ष के रूप में ज़ाकिर साहब ने भारत के राष्ट्रपति की सेवा में यू.पी. के दो लाख व्यस्क नागरिकों के हस्ताक्षर के साथ एक मेमोरडंम प्रस्तुत किया जिस में यू.पी. में उर्दू को दूसरी क्षेत्रीय भाषा बनाने की मांग की गई थी ।

सन 1954 – ज़ाकिर साहब को पद्मविभूषण का ख़िताब मिला ।

सन 1954, 15, दिसम्बर – यूनेस्को की ओर से ज़ाकिर साहब ने अरब देशों को मौलिक शिक्षा से अवगत कराने के लिए क़ाहिरा के लिए प्रस्थान किया ।

सन 1955, 12, नवम्बर – प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू मुस्लिम विश्वविद्यालय पधारे तो ज़ाकिर साहब ने उनका अभिनंदन करते हुए फ़रमाया- मेरा कैसा सौभाग्य है कि अपने प्रियतम और माननीय अतिथि के स्वागत का गौरव प्राप्त हुआ ।

सन 1956 – ज़ाकिर साहब राज्य सभा के पुन: सदस्य नियुक्त किये गए । 26, अप्रैल को शपथ ली ।

सन 1956 मई – शाह इबने सऊद के निमंत्रण पर सऊदी अरब का पन्द्रह दिन का दौरा किया । इस अवसर पर उन्हें जो आभार परिपत्र प्रस्तुत किया गया था उसके उत्तर में विस्तार पूर्वक वर्णन किया – ''भारत के मुसलमान इतिहास की महत्वपूर्ण भूमिका निभाने पर नियुक्त हैं । मैं समझता हूँ कि भारत के मुसलमान का स्थान हिन्दुस्तानी समाज व क़ौम में आज विशेष हैसियत रखता है । हिन्द के मुसलमानों की पोज़ीशन यह है कि वह किसी के अधिकार के आधीन नहीं परंतु अकेले हुकूमत भी नहीं करते । वह एक स्वतंत्र गणतंत्र में आज़ाद शहरी की हैसियत रखते है । ... इस्लाम की जो स्थिति विश्वव्यापी जीवन में होनी चाहिए मुसलमानों की वही भारतीय जीवन में है ।''

सन 1955, 15, सितम्बर – मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति की अवधि में सवा साल शेष थे कि ज़ाकिर साहब उससे त्यागपत्र देकर जामिया नगर वापस आ गए । इस अवसर पर ज़ाकिर साहब को पुराने और घनिष्ठ साथी तथा मुस्लिम विश्वविद्यालय के श्रेष्ठ शिक्षाविद प्रो. रशीद अहमद सिद्दीकी ने इस कार्य से रोकने के लिए एक लम्बा चौड़ा

और अत्यंत भावनापूर्ण मुद्रा में पत्र लिखा, परंतु वह जो निर्णय कर चुके थे उस को बदलने को किसी स्थिति में तैयार नहीं हुए। वह अपने उस अप्रकाशित पत्र के अंत में लिखते है: "संक्षेप में यह कि अपना टर्म पूरा कर लीजिए। फिर छोड़ दीजिए। ऐसा कीजिएगा तो फ़ितना दब जाएगा और आपका कुछ न बिगड़ेगा। आप सब की आँख का तारा बने रहेंगे और विश्वविद्यालय और यहाँ के मुसलमान सदा आपके आभारी रहेंगे। डेढ़ दो वर्ष की बात है। अत्यंत अरुचिता के साथ भी यह अल्प अवधि काटी जा सकती है। दूसरी ओर इससे हम सब विनाश से बच जाएंगे"।

सन 1957, 28, जनवरी, – मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़ के उपाधि वितरण समारोह की अध्यक्षता ज़ाकिर साहब ने की और परम्परा के विपरीत उर्दू में लेख पढ़ा। प्रो. चासँलर नवाब मुहम्मद अहमद सईद ख़ान छतारी और कुलपति कर्नल बशीर हुसैन ज़ैदी को सम्बोधित करते हुए कहा: जनाब कुलपति जी जिस समय माननीय महोदय के समक्ष मेरा परिचय करा रहे थे तो मैं सोचता था कि क्या मैं कोई अजनबी हूँ जिसका इस प्रकार परिचय कराया जा रहा है। और मुझे मीर का प्रसिद्ध शेर याद आ रहा था जिसे अपने हाल के अनुकूल बनाने के लिए दूसरी पंक्ति को थोड़ा बिगाड़ना पड़ता है:

"पत्ता पत्ता बूटा बूटा हाल हमारा जाने है"। यह कैसे कहूँ कि "जाने न जाने गुल ही न जाने" कि गुल तो भली भाँति जानता है। इसलिए इस प्रकार कहूँगा "गुल भी खूब ही जाने है हमको, बाग भी सारा जाने है"। फिर भी चाहता हूँ कि मैं इस विद्यापीठ के और अपने सम्बध को जिस प्रकार अनुभव करता हूँ उसका कुछ वर्णन आप से करूँ।

अपने लेख के अंत में डिग्री प्राप्तकर्ताओं को सम्बोधित करते हुए ज़ाकिर साहब ने कहा: "तुम्हारा रास्ता तुम्हारी प्राकृतिक अद्वितीयता से आरंभ होता है। अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं और गुणों का चहुमुखी विकास करके और उनमें आपसी तालमेल उत्पन्न करके स्थायी चरित्र के मार्ग से गुज़रना है। और जब यह सीरत (आंतरिक गुण) किसी उच्च्व मूलियों की सेवक बन जाती है तो यही रास्ता व्यक्तित्व को नैतिकता के शिखर तक पहुंचा देता है। यद्यपि यह मार्ग बहुत ही कठिन है पर मानव जीवन की शान के अनुकूल यही मार्ग है और अपनी कठिनाईयों के बावजूद बड़ा ही मनोहारी मार्ग है यह। इस पर चलने के लिए कमर कस लो मेरे नौजवान दोस्तो, मुसाफ़िरों का रक्षक और पथिकों का रखवाला तुम्हारी यात्रा को बरकतों से भर दे।"

सन 1957, जूलाई, ज़ाकिर साहब बिहार के राज्यपाल नियुक्त हुए।

सन 1958, 12, से 14, दिसम्बर "Education Reconstruction in India" के शीर्षक से ज़ाकिर साहब ने सरदार वल्लभभाई पटेल मेमोरियल लेकचर दिया जो सितम्बर 1959 में पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ और जिसका उर्दू अनुवाद डा. सैय्यद आबिद हुसैन द्वारा मई 1962 में "हिन्दुस्तान में तालीम की अज़सरेनौ तंज़ीम" (भारत में शिक्षा का पुनर्गठन) के नाम से प्रकाशित हुआ।

सन 1962, 7, मई – ज़ाकिर साहब उपराष्ट्रपति चुने गए ।

सन 1962 – ज़ाकिर साहब को देश की सबसे बड़ी उपाधि "भारत रत्न" से सुशोभित किया गया ।

सन 1963 – ज़ाकिर साहब की कुछेक प्रसिद्ध और लोकप्रिय कहानियाँ जैसे - अब्बू ख़ान की बकरी, और 14 अन्य कहानियाँ भी प्रकाशित की गईं ।

सन 1963 – इटावा इस्लामिया हाईस्कूल की डाईमंड जुबली मनाई गई जिसमें ज़ाकिर साहब, उपराष्ट्रपति, भारत, ने विशेष अतिथि के रूप में भाग लिया ।

सन 1964 – भारत के राष्ट्रपति डा. राधा कृष्णन के कार्यवाहक के रूप में ज़ाकिर साहब ने राष्ट्रपति के दायित्व को निभाया ।

सन 1964 – ज़ाकिर साहब अलजीरिया, और मराकश के सदभावना मिशन पर गए। और कोवेत, सऊदी अरब, जार्डन, तुर्की और यूनान मई व जून 1965 में पहुंचे और जूलाई 1966 में अफ़ग़ानिस्तान गए । उनके जीवन काल के निष्ठ और निःस्वार्थ सहकर्मी प्रो. मुहम्मद मुजीब साहब ने अपनी पुस्तक "डा. ज़ाकिर हुसैन- एक जीवन वृतांत के अंत में लिखा है: "अपने पद की अवधि समाप्त होने तक वह ख़ामोशी के साथ अपने विचारों के हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानी का चित्र बनाने में व्यस्त रहे ।"

सन 1964, 27, मई– प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू के निधन पर उपराष्ट्रपति डा. ज़ाकिर हुसैन ने अपने गहरे दुख को व्यक्त करते हुए कहा: "हम अपने युग के अत्यंत महान विशिष्ट विभूतियों में से एक को श्रद्धांजली अर्पित कर रहे हैं जो 17 वर्ष तक हमारे गणतंत्र का मार्गदर्शन करता रहा । नेहरू एक ऐसी चट्टान थे जिस पर हमने अपने विश्वास और भरोसे की इमारत खड़ी की थी । वह एक अमीर अथवा धनी घराने में जन्मे थे । उनके स्वभाव में अमीरीपसंदी थी परंतु उन्होंने स्वयं को प्रजातांत्रिक आदर्शों, प्रजातांत्रिक संस्थानों और प्रजातांत्रिक कार्यपद्धति के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया था ।"

सन 1967, 9, मई – ज़ाकिर साहब भारत के राष्ट्रपति चुने गए । और 13, मई को उन्होंने राष्ट्रपति पद का दायित्व संभाला । इस अवसर पर भाषण देते हुए उन्होंने जो कुछ कहा उसका सारांश यह है : सारा भारत मेरा घर है और यहाँ के वासी मेरे परिवारजन । जनता ने कुछ समय के लिए मुझे इस परिवार का मुखिया चुना है । मैं सच्ची लगन से इस घर को सुदृढ़ और सुन्दर बनाने का प्रयास करूँगा ताकि यह घर उन महान व्यक्तियों की शान व मर्यादा के अनुरूप हो सके जो न्याय, ख़ुशहाली और शालीनता के सिद्धांतों पर जीवन को सँवारने में लगे हैं ।

जब ज़ाकिर साहब का राष्ट्रपति का चुनाव हुआ तो यह लेखक उस समय मासिक पत्रिका "सुबह" का संपादक था । महोदय की सफलता के पश्चात मैंने लिखा था । डा. ज़ाकिर हुसैन साहब हिन्दुस्तान के सबसे बड़े और आदरणीय पद के लिए अर्थात गणतंत्र के राष्ट्रपति पद के लिए बहुत भारी बहुमत से विजयी हो गए है । इसमें ज़रा भी संदेह की

गुंजाईश नहीं है कि इस बात को स्वतंत्र भारत के इतिहास में बड़ी महत्ता प्राप्त होगी। केवल इसलिए नहीं कि सांप्रदायिकता के मुक़ाबले में राष्ट्रीय विचार को, धार्मिक कट्टरपन के मुकाबले में व्यवहारिक वृत्ति को, बेचैनी और उथल-पुथल के विरुद्ध एकता को, और बहुसंख्यक समुदाय के प्रत्याशी के विरुद्ध अल्पसंख्यक सम्प्रदाय के एक व्यक्ति को शानदार सफलता प्राप्त हुई । इन बातों को भी महत्व प्राप्त है । परंतु मेरे विचार में इस सफलता का सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि जनता ने एक ऐसे व्यक्ति को देश का प्रमुख चुना है जिसने राजनीतिक उथल-पुथल, हंगामों से अलग रहकर बहुत ही खामोशी के साथ राष्ट्रीय शिक्षा की सेवा की थी और आधुनिक युग के जोड़ तोड़ के हुनर से वह अनभिज्ञ था ।

"सुबह" के उसी अंक में ज़ाकिर साहब के पुराने और निष्ठ सहकर्मी तथा मेरे गुरू डा. आबिद हुसैन का एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसका शीर्षक है "डा. ज़ाकिर हुसैन शैखुलजामिया से सदरे जमहूरिया तक" (डा. ज़ाकिर हुसैन - जामिया कुलपति से गणतंत्र के राष्ट्रपति तक)

सन 1969, 3, मई – अंततोगत्वा वह समय आ गया जिससे प्रत्येक व्यक्ति को गुज़रना है । अत: पौने ग्यारह बजे दिन के वह अपने मालिक की सेवा में उपस्थित हो गए । जीवन भर के साथी प्रो. मुहम्मद मुजीब साहब ने लिखा है: "ज़ाकिर साहब ने अनुभव किया कि आसाम और नैना के दौरे की थकान जो कुछ ही दिन पहले दूर हुई थी अब बाक़ी नहीं है । उन्होंने अपनी दिनचर्या पूर्ण करनी चाही । उधर डाक्टर उनके परीक्षण को आने वाले थे । पौने ग्यारह बजे वह सब एकत्र हो गए । वह डाक्टरों से एक मिनट की अनुमति लेकर बाथरूम चले गए । यह लोग प्रतीक्षा करते रहे परंतु ज़ाकिर साहब वापस नहीं आए। उनका निजी नौकर इसहाक़, जिसने उनकी लगभग 50 वर्ष बड़ी निष्ठा और मेहनत से सेवा की थी और केवल उसे ही इसकी अनुमति थी, घबराया और दरवाजा खटखटाया, जवाब न पाकर वह उस ओर गया जहाँ रौशन दान था और ऊपर चढ़कर नीचे देखा । उसने अपने मालिक को दरवाज़े के समीप पड़ा हुआ पाया । वह दरवाज़ा खोलने की कोशिश में गिर पड़े थे । डाक्टरों ने बड़े जतन किए परंतु थके हुए दिल को पुन: गति प्रदान न कर सके । तुरंत यह समाचार प्रसारित हुआ कि राष्ट्रपति विसाल (स्वर्गवास) पा गए । आगे लिखते हैं: "दु:ख व ग़म विश्वव्यापी था । सलतनतों के वरिष्ठ नेतागण और उनके अपने देशवासी लाखों की संख्या में उनके पार्थिव शरीर को श्रद्धांजली अर्पित कर रहे थे । उनके शव का दो दिन पश्चात सैन्य सम्मान के साथ अंतिम संस्कार हुआ । जनता के असंख्य लोगों ने अत्यंत धैर्य का प्रदर्शन किया जिसको वह (स्व. डा. ज़ाकिर हुसैन) पसंद करते थे । संभवत: भारत में या मुसलमानों के इतिहास में पहली बार मुस्लिम और ग़ैरमुस्लिम महिलाओं ने तीन तीन मुठ्ठी मिट्टी क़ब्र में डाली । और स्व. राष्ट्रपति के विचार के अत्यंत अनुरूप कि विशुद्ध इंसानी सम्बंधों का प्रदर्शन हो और भक्ति, पवित्रता के कर्म

में सभी एक जुट हों, यह अंतिम रस्म अदा की गई।

अब वह जामिया मिल्लिया के हाते में लगभग सौ फ़िट की ऊंचाई पर एक प्राकृतिक प्लेटफार्म पर जिसके पूर्व में मदरसा, उत्तर में मस्जिद, पश्चिम में पुस्तकालय है, दफ़न हैं। इससे अच्छा और बढ़िया स्थान दूसरा हो ही नहीं सकता था। वह अमन-सकून (शांति) से संतुष्ट हैं और चारों ओर वह वस्तुएं हैं जो उनके जीवन को सार्थक बनाती हैं अर्थात प्रगतिशील बुद्धि, विद्या और इबादत (उपासना)।"

पुस्तक तालिका:

1. डा. ज़ाकिर हुसैन — लेखक - प्रोफ़ेसर मुहम्मद मुजीब - अनुवादक - मुहम्मद तैय्यब जामई, प्रकाशन - सन 1976
2. वरूदे मस्ऊद — (स्वलिखित जीवनी), लेखक - प्रो. मस्ऊद हुसैन प्रकाशन - सन 1988
3. जामिया की कहानी — लेखक - अबदुलग़फ़्फ़ार मधोली, प्रकाशन तिथि - जनवरी 1965
4. यादों की दुनिया — लेखक - डा. युसुफ़ हुसैन ख़ाँ, प्रकाशन तिथि अंकित नहीं, प्राक्कथन की तिथि - 5, जनवरी 1967
5. हमारे ज़ाकिर साहब — लेखक - प्रो. रशीद अहमद सिद्दीक़ी, प्रकाशन तिथि - अगस्त 1973
6. शहीदे जुस्तुजू - डा. ज़ाकिर हुसैन - लेखक - प्रो. ज़्याउल हसन फ़ारूक़ी, प्रकाशन तिथि - अगस्त 1988
7. डा. ज़ाकिर हुसैन - शख़्सियत व मेमार - संकलनकर्ता-डा.फ़हमीदा बेगम, प्रकाशन तिथि- अक्तूबर - दिसम्बर 1995
8. डा. ज़ाकिर हुसैन सीरत व शख़्सियत - संकलनकर्ता - अबदुललतीफ़ आज़मी, प्रकाशन तिथि - अगस्त सन 1967
9. तालीमी ख़ुतबात - लेखक - डा. ज़ाकिर हुसैन, संकलनकर्ता - अबदुल लतीफ़ आज़मी, प्रकाशन तिथि - सितम्बर 1988

ग्रंथ, लेख, अभिभाषण निबंध और काव्य विवरणी

संकलनकर्ता

गुलज़ार नक़वी

ज़ाकिर साहब पर लिखित ग्रंथ:

1. **डा० ज़ाकिर हुसैन**, प्रो० मुहम्मद मुजीब, अनुवादक - मुहम्मद तैय्यब जामयी, प्रकाशन वर्ष - 1976 ई०
2. **वरूदे मसऊद (आत्म कथा)**, प्रो० मसउद हुसैन खां, प्रकाशन वर्ष 1998 ई०
3. **जामिया की कहानी**, अब्द-उल-ग़फ़्फ़ार मधौली, प्रकाशन तिथि जनवरी 1965 ई०
4. **यादों की दुनिया**, डा० यूसुफ़ हुसैन खां, प्रकाशन तिथि अज्ञात, भूमिका लेखन तिथि 5 जनवरी 1967 ई०
5. **हमारे ज़ाकिर साहब**, प्रो० रशीद अहमद सिद्दीक़ी, अगस्त 1988 ई०
6. **शहीदे जुस्तुजू**, प्रो० ज़्या-उल-हसन फ़ारूक़ी अगस्त 1988 ई०
7. **डाक्टर ज़ाकिर हुसैन :** शख़्सियत और मेमार, संकलनकर्ता - डा० फ़हमीदा बेगम, अक्तूबर-दिसम्बर 1995 ई०
8. **डाक्टर ज़ाकिर हुसैन : सीरत व शख़्सियत**, संकलनकर्ता - अब्द-उल-लतीफ़ आज़मी, अगसत, 1967 ई०
9. **मताअेफ़क़ीर : डाक्टर ज़ाकिर हुसैन**, आबिद रज़ा बेदार, इंस्टीटियुट आफ़ ओरियंटल स्टडीज़, 1969, पृष्ठ 176 (इस पुस्तक के अंत में विविध महत्वपूर्ण विषयों पर ज़ाकिर साहब के विचारों की एक लाभदायक और विस्तृत सूची सम्मिलित है ।
10. **डाक्टर ज़ाकिर हुसैन**, ख़ुरशीद आलम खां, बी० शेख़ अली, साहित्य अकदामी, देहली, 1995 ई०, पृष्ठ 148
11. **डाक्टर ज़ाकिर हुसैन**, डाक्टर ज़ाकिर हुसैन मेमोरियल कमेटी, हैदराबाद, मुसन्निफ़, हैदराबाद, 1972 ई०, पृष्ठ 200
12. **ज़ाकिर हुसैन : हिंदुस्तानी जमहूरियत की अलामत**, पब्लीकेशन डिवीज़न, नई दिल्ली, 1969 ई०, पृष्ठ 40
13. **ज़ाकिर साहब : ज़ाती यादें**, ख़ुदाबख़्श ओरियंटल पब्लिक लाएब्रेरी पटना, 1955 ई०, पृष्ठ 230
14. **हयाते ज़ाकिर हुसैन**, खुरशीद मुस्तफ़ा रिज़वी, मकतबा बुर्हान, देहली, 1969
15. **ज़ाकिर साहब की कहानी**, सईदा ख़ुरशीद आलम, नैशनल बुक ट्रस्ट, देहली, 1975 ई०, पृष्ठ 96
16. **हमारे ज़ाकिर साहब**, रशीद अहमद सिद्दीक़ी, मकतबा जामिया, नई दिल्ली 1973 ई०, पृष्ठ 191
17. **नक़्शे ज़ाकिर**, संपादक, अब्द-उल-हक़ खां (निबंध संग्रह), जामिया मिल्लिया (ज़ाकिर समारोह के अवसर पर) 1987, पृष्ठ 317
18. **तीसरे राष्ट्रपति डाक्टर ज़ाकिर हुसैन**, अब्द-उल-लतीफ़ आज़मी, माडर्न पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1982 ई०, पृष्ठ 48
19. **बच्चों के ज़ाकिर साहब**, संपादक - अब्दुल्लाह वली बख़्श क़ादिरी, 1998 ई०, पृष्ठ 88
20. **डाक्टर ज़ाकिर हुसैन और उनकी उर्दू ख़िदमात**, मुसन्निफ़, हैदराबाद, 1996 ई०, पृष्ठ 183 (एम०ए० उपाधि के लिये अभिलेख, जामिया उस्मानिया, हैदराबाद)
21. **नज़्रे ज़ाकिर**, मजलिसे नज़्रे ज़ाकिर, 1968 ई०, पृष्ठ 669 (निबंध संग्रह जो डाक्टर ज़ाकिर हुसैन को उनकी इखत्तरवीं वर्षगांठ पर भेंट किया गया । इसमें डा० तारा चंद का संपादकीय लेख सम्मिलित है ।
22. **ज़ाकिर मियां**, मुसन्निफ़, शिमला, पृष्ठ 37

ज़ाकिर साहब की रचनाएं:

ग्रंथ:

1. **तालीमी ख़ुत्बात**, संकलनकर्ता - अब्द-उल-लतीफ़ आज़मी, प्रथम संस्करण, मार्च 1943 ई०
2. **अब्बू खां की बकरी और चौदह कहानियां**, मकतबा जामिया, देहली, 1963 ई०, पृष्ठ 136 । इसमें सम्मिलित कहानियां : 1. अब्बू खां की बकरी 2. उक़ाब 3. सईदा की अम्मां 4. जुलाहा और बनिया 5. छद्दो 6. अंधा घोड़ा 7. आख़िरी क़दम 8. सच्ची मुहब्बत 9. मां 10. बेकारी 11. पूरी जो कढ़ाई से निकल भागी 12. मुर्ग़ी अजमेर चली 13. मुर्ग़ी का निराला बच्चा 4. इसी से ठंडा, इसी से गरम 15. आओ घर घर खेलें।
3. **अच्छा उस्ताद**, लतीफ़ी प्रेस, देहली, पृष्ठ 24
4. **अफ़लातून : रियासत या तहक़ीक़े अद्ल** (अनुवाद), साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1967, पृष्ठ 455
5. **बच्चों की तरबियत**, एजूकेशनल प्रेस, कराची, पृष्ठ 32
6. **तालीमी ख़ुत्बात**, मकतबा जामिया, देहली, द्वितीय संस्करण 1961 ई०, पृष्ठ 288
7. **हाली मुहिब्बे वतन**, उर्दू घर, देहली, 1943, पृष्ठ 46 (अक्तूबर 1935 ई० में हाली शताब्दी के अवसर पर लिखित)
8. **हुसैन और इंसानियत**, लतीफ़ी प्रेस, देहली, 1945, पृष्ठ 13
9. **दयानत (नाटक)**, मुरारी आर्ट प्रेस, देहली, 1931, पृष्ठ 16
10. **दीवान हकीम** अजमल खां शैदा, संकलनकर्ता, ज़ाकिर हुसैन कावियानी प्रेस, बरलिन, 1926
11. **ज़ाकिर साहब : अपने आइन-ए-लफ़्ज़ व मानी में**, संकलनकर्ता, प्रो० ज़्या-उल-हसन फ़ारूक़ी ज़ाकिर हुसैन इंस्टीटियुट आफ़ इस्लामिक स्टडीज़, 1977, पृष्ठ 231 (प्रो० ज़्या-उल-हसन फ़ारुक़ी ने ज़ाकिर साहब के लेखों को अपने विस्तृत अध्ययन के प्रकाश में अत्यंत सुचारू ढंग से संकलित और संपादित किया है।)
12. **ज़ाकिर साहब के ख़त**, ख़ुदाबख़्श ओरियंटल पब्लिक लाएब्रेरी, पटना, 1955 ई०
13. **ज़िक्रे हुसैन**, मकतबा जामिया, देहली, 1942, पृष्ठ 32
14. **कछुवा और ख़रगोश**, नैशनल बुक ट्रस्ट नई दिल्ली, 1970 ई०, पृष्ठ 71
15. **लेस्ट : माशियाते क़ौमी**, किताब मंज़िल, लाहौर, 1946, पृष्ठ 607 (फ्रेदरिश लेस्ट की पुस्तक का मूल जर्मन भाषा से उर्दू में अनुवाद। इसमें ज़ाकिर साहब ने पुस्तक की महत्ता पर प्रकाश डाला है और लेखक की जीवनी भी प्रस्तुत की है।)
16. **मबाद-ए-माशियात**, अनुवादक-ज़ाकिर हुसैन, अलीगढ़ जामिया मिल्लिया, अलीगढ़ 1922 ई०, पृष्ठ 140 (लंदन विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर एडवर्ड लैनिन की पुस्तक इलेमेंट्री इकोनोमी का उर्दू अनुवाद)
17. **माशियात: मक़सद और मिनहाज**, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, 1932 ई०, पृष्ठ 109
18. **निगारे मानी: इंतख़ाबे अशआरे फ़ारसी** : डाक्टर ज़ाकिर हुसैन की ब्याज़ से, संपादक और चयनकर्ता ज़्या-उल-हसन फ़ारूक़ी, ज़ाकिर हुसैन इंस्टीटियुट आफ़ इस्लामिक स्टडीज़, 1987, पृष्ठ 136
(ज़ाकिर साहब की विवरण पुस्तिका से चयनित शेरों के इस संकलन ने ज़ाकिर साहब के व्यक्तित्व और स्वभाव के निर्माण में फ़ारसी काव्य के प्रभावों को रेखांकित किया और उनकी रूचि और स्वभाव तथा उनके पसंद किये गए शेरों के बीच समरसता खोजने का एक सराहनीय प्रयत्न किया है।
19. **हमारा इत्तेहाद एक ज़िंदा हक़ीक़त है**, गुलाब संस, नई दिल्ली, पृष्ठ 5
20. **हिंदुस्तान में तालीम की अज़सरेनव तंज़ीम**, अनुवादक - डा० आबिद हुसैन, पब्लीकेशन डिवीज़न, देहली, 1958, पृष्ठ 88 (सरदार वल्लभ भाई पटेल लेक्चर्स 1958)
21. **इंतख़ाबे ग़ालिब**, संपादक - ज़ाकिर हुसैन, उर्दू विभाग, देहली विश्वविद्यालय, देहली, 1970, पृष्ठ 32 (ग़ालिब के फ़ारसी काव्य का चयन)

22. **ग़ालिब, असद उल्लाह खां, दीवाने ग़ालिब**, कावियानी, बरलिन, 1925 ई०, पृष्ठ 276
23. **क़ौमी तालीम कमेटी (वारधा)**, (बुनियादी क़ौमी तालीम: ज़ाकिर हुसैन कमेटी) मकतबा जामिया, देहली, 1938 ई०, पृष्ठ 240 (रिपोर्ट के अंग्रेज़ी संस्करण में गांधी जी की भूमिका सन्निद्ध है)

लेख

1. **आज़ादी**, ''जामिया'', दिल्ली, अंक जून, 1928 ई०
2. **अब्दियत या खिलौना** (अनुवादक असग़र अब्बास), उर्दू अदब, अलीगढ़, अंक 3, 1969 ई० पृष्ठ 113-118
   (ज़ाकिर साहब का यह लेख 1920 ई० में अलीगढ़ मैगज़ीन में अंग्रेज़ी में छपा था। इसमें अलीगढ़ विश्वविद्यालय की शिक्षा नीति के निर्माण के लिये एक सुस्थिर और स्पष्ट उद्देश्य प्रस्तुत किया गया है।)
3. **इटली, बर्तानिया और बहेरूम**, ''जामिया'', दिल्ली, अंक अप्रैल 1937
4. **इरशादात**, इदारा तालीम व तरक़्क़ी, दिसम्बर 1950 ई०, पृष्ठ 4
5. **इस्पेन**, ''जामिया'', दिल्ली, अंक-अप्रैल 1937 ई०
6. **इशतराक**, ''जामिया'', दिल्ली 12(2, 4) अंक-फ़रवरी-अप्रैल, 1929 ई०, पृष्ठ-14, 24, 276, 285
7. **अमरीका, रूस और जापान**, ''जामिया'', दिल्ली, अंक-फ़रवरी 1934 ई०
8. **इंग्लिस्तान, अमरीका और मईशते आलम: हिटलर का प्रोग्राम**, ''जामिया'', दिल्ली, 20(4) अप्रैल 1933 ई०, पृष्ठ 371-377
9. **ईस्टर का ख़ाब**, (अनुवादक ज़ाकिर हुसैन), ''जामिया'', दिल्ली, 1(5) मई 1923 ई० (वेल्हम शोवर से अनुवाद)
10. **बाबी मज़हब**, अलनाज़िर, लखनऊ, 12(70) अप्रैल 1915 ई०, पृष्ठ 21-36
11. **बरतानवी वज़ारत की तब्दीली, जापान, सियासी मुलाक़ातें और वस्ती योरप की तनज़ीम, इस्पेन**, ''जामिया'', दिल्ली, जुलाई 1937 ई०, पृष्ठ 575-584
12. **बरतानिया, आइरिस्तान, चीन व जापान**, ''जामिया'', अप्रैल, 1932 ई०
13. **बरतानिया और इटली, यूनान में शाही जज़ायर, फिलिपीन की आज़ादी**, ''जामिया'', दिल्ली, 24(12), दिसम्बर 1935 ई०, पृष्ठ 1063-1072
14. **बंदोबस्त दवामी**, ''जामिया'', दिल्ली, 7(5), नवम्बर 1926 ई०, पृष्ठ 371-384 (यह लेख उन पिछले दो लेखों से संबद्ध है जो रिसाल-ए-जामिया में हिंदुस्तान की मईशत (भारतीय अर्थव्यवस्था) के शीर्षक के अंतर्गत पिछले अंकों में प्रकाशित हो चुके हैं। इस लेख में भारतीय अर्थव्यवस्था के इतिहासकार की हैसियत से विद्वतापूर्ण चर्चा की गई है।)
15. **(i) बंगाल में अताबा दीवानी से क़ब्ल (ii) अताबा दीवानी के बाद**, ''जामिया'', दिल्ली, 7(2) अगस्त 1926 ई०, पृष्ठ 122-134
16. **बहादुर शाह ज़फ़र**, (अनुवादक, डा० आबिद हुसैन), ''जामिया'', दिल्ली, दिसम्बर 1962 ई०
17. **बैनुल अक़वामी क़र्ज़े, जरमनी और इंक़िलाब**, ''जामिया'', दिल्ली, 20(2) फ़रवरी, 1933, पृष्ठ 90-193
18. **तुर्की और जंगे अज़ीम**, ''जामिया'', दिल्ली, 13(2), 1929 ई०, पृष्ठ 99-108
19. **तुर्की क़ौम परस्ती और इत्तेहाद तूरानी** (अनुवादक, ज़ाकिर हुसैन) (ख़ालिदा अदीब ख़ानम की आत्मकथा के एक अध्याय का अनुवाद) ''जामिया'', दिल्ली, मार्च 1928 ई०, पृष्ठ 5
20. **तालीम और रवयाती क़द्रें**, (अनुवादक- डा० आबिद हुसैन), ''जामिया'', दिल्ली, नवम्बर, 1962 ई०

21. **तालीम व आज़ादी-ए-फ़िक्र**, (रसल के सामाजिक शिक्षा के सिद्धांत से अनुदित), "जामिया", दिल्ली, अप्रैल-जुलाई, 1923 ई०
22. **जापान और हिंदुस्तान, इंतेक़ाले अदन, मआशी कांफ़्रेंस, रूस और सरमायादार ममालिक**, "जामिया", दिल्ली, 21(1) जुलाई, 1933 ई०, पृष्ठ 80-88
23. **जापान : एक दिलचस्प दस्तावेज़**, "जामिया", दिल्ली, जुलाई, 1935 ई०
24. **जापान, फ्रांस, आस्ट्रिया, जरमनी**, "जामिया", दिल्ली, मई, 1934 ई०, पृष्ठ 291-302
25. **जापान का ज़ुल्म**, "जामिया", दिल्ली, 26(2), फ़रवरी, 1936 ई०, पृष्ठ 101-192
26. **जापान, मआशी कांफ्रेंस, जरमनी, आस्ट्रिया**, "जामिया", दिल्ली, 21(3), सितम्बर, 1933 ई०, पृष्ठ 272-277
27. **जामिया बैअत-उल-हिकमत**, हमदर्द जामिया, 11(2), मई, 1945 ई०, पृष्ठ 15-16 (इस्लामी विद्याओं के अनुशीलन के लिये जामिया में "बैअत-उल-हिकमत" नाम से संस्था स्थापित करने की अपील। व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवन संबंधी सही इस्लामी चिंतन का प्रसारण, राजनीति, अर्थव्यवस्था, सामाजिक जीवन और सभ्यता के नवीन विचारों और संस्थाओं की इस्लामी शिक्षा के प्रकाश में परख इसके विशेष प्रयोजन होंगे।
28. **जामिया कुतुबख़ाना**, हमदर्दे जामिया, 11(4), जुलाई, 1945 ई०, पृष्ठ 11-12 (इस्लामी और भारतीय संस्कृति एंव इतिहास के ग्रंथों का श्रेष्ठतम संग्रह किया जाए।)
29. **जामिया मिल्लिया ने क्या किया और क्या करना बाक़ी है** (मुसलमानाने हिंद से अपील, हमदर्दे जामिया, 11(1), अप्रैल, 1945 ई०
30. **जामिया का निशान**, "प्यामे तालीम", देहली, जुबली नम्बर, 28(2, 3) नवम्बर-दिसम्बर, 1946 ई०, पृष्ठ 55-57
31. **जामिया मिल्लिया क्या है ? मक़ासिद और प्रोग्राम**, "जामिया", दिल्ली, दिसम्बर, 1938 ई०
32. **जिगर को ख़ेराजे अक़ीदत**, "जामिया", दिल्ली, नवम्बर, 1963 ई०
33. **जमीअते अक़वाम और जंगे हबश, जापान व हबश**, नहर और हबश, जामिया, दिल्ली, 24(10), अक्तूबर, 1935 ई०, पृष्ठ 871-877
34. **जंगे हबश**, "जामिया", दिल्ली, 34(11), नवम्बर, 1935 ई०, पृष्ठ 967-971
35. **चेस्टरटन के एक मज़मून का तर्जुमा**, अलीगढ़ मैगज़ीन, अलीगढ़, फ़रवरी, 1921 ई०
36. **चीन और जापान, मंगोलिया की ख़ुदमुख़तारी, रूस और चीन का मुआहेदा**, "जामिया", दिल्ली, अक्तूबर, 1937 ई०, पृष्ठ 867-872
37. **चीन और मंचूरिया, जापान, फ्रांस, जुनूब मशरिक़ी योरप का मआशी इत्तेहाद**, "जामिया", दिल्ली, 18(5) मई 1932 ई०, पृष्ठ 472-478
38. **चीन, जापान और दवले मग़रिब, एक चीनी अख़बार से इक़्तबास**, "जामिया", दिल्ली, 26(1), जनवरी, 1936 ई०, पृष्ठ 88-97
39. **चीन में आअ्ला तालीम**, "जामिया", दिल्ली, मई, 1926, (बेजिंग विश्वविद्यालय के कुलाधिपति के लेख का अनुवाद।)
40. **चीन व जापान और मग़रिब, हबश और जमीअते अक़वाम**, "जामिया", दिल्ली, 25(1), जनवरी, 1936 ई०, पृष्ठ 88-94
41. **चीन व जापान, बरतानिया, आइरिस्तान, जरमनी**, "जामिया", दिल्ली, 18(3, 4) मार्च, अप्रैल, 1932 ई०, पृष्ठ 282-286, 384-388

42. चीन व जापान के तआलुक़ात, मंगोलिया, वसायले मआशी-चंद आदाद, जरमन मालियात, ''जामिया'', दिल्ली, 26(4), अप्रैल, 1936 ई०, पृष्ठ 379-393
43. हबश और इटली, इस्पेन, योगोस्लाविया, रोमानिया, यूनान, चीन, ''जामिया'', दिल्ली, 24(9), सितम्बर, 1935 ई०, पृष्ठ 763-777
44. हबश, अक़बा, तुर्की, इराक़ और ईरान, रूस, ''जामिया'', दिल्ली, 24(7), अगस्त, 1935 ई०, पृष्ठ 651-662
45. हुकूमते उड़ीसा का फ़ैसला, हमदर्दे जामिया, अप्रैल, 1941 ई० (''उड़ीसा सरकार द्वारा बुनियादी शिक्षा के पंद्रह स्कूलों को बंद करने के निर्णय पर ज़ाकिर साहब की प्रतिक्रिया।''
46. हकीम साहब (हकीम अजमल खां), ''जौहर'', जुबली नम्बर, दिल्ली, नवम्बर, 1946 ई०, पृष्ठ 174-179
47. ख़ालिदा अदीब ख़ानम से इंटर्वीव, ''जामिया'', दिल्ली, सितम्बर, 1923 ई०
48. दुनिया की रफ़्तार, हिंदुस्तान, जापान और हिंदुस्तान, इंतक़ाले अदन, ''जामिया'', दिल्ली, जुलाई, 1933 ई०
49. ज़ाकिर साहब ने कहा: व्यक्ति और सामाजिक दायित्व, उर्दू अदब, अलीगढ़, (3), 1969 ई०, पृष्ठ 119-137 (ज़ाकिर साहब ने विभिन्न संगोष्ठियों में विविध विषयों पर जो बातें कही हैं उन्हें संकलित करके एक विस्तृत लेख के रूप में पाठकों के सम्मुख पेश किया गया है। इनमें हिंदी मुसलमानों की समस्या, समन्वित संस्कृति, शिक्षा का मौलिक उद्देश्य, अध्यापक का उद्देश्य, व्यक्तित्व का निर्माण, बीते क्षणों की गूंज और आज़ादी का अर्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।)
50. ज़िक्रे हुसैन, ''अलीग'', अलीगढ़, 15 अगस्त, 1957
51. राहेअमल, ''जामिया'', दिल्ली, अप्रैल, 1923 ई० (बर्टेंड रसल की पुस्तक के एक अध्याय का अनुवाद।)
52. रूस और जापान, अमरीका, ''जामिया'', दिल्ली, फ़रवरी, 1934 ई०, पृष्ठ 90-98
53. रूस तख़्फ़ीफ़े अस्लहा, ''जामिया'', दिल्ली, 21(6), दिसम्बर, 1923 ई०, पृष्ठ 527-573
54. सऊदी अरबिया, मदीना, बिजनौर, 1 अक्तूबर, 1956 ई०
55. सीरत और किरदार की तश्कील, किताबी दुनिया, कराची, अगस्त-सितम्बर, 1967 ई०
56. शख़्सियत की तामीर, अलीग, अलीगढ़, 1(9), 10 जनवरी, 1957 ई०
57. शुमाली योरप, ''जामिया'', दिल्ली, सितम्बर, 1937 ई०
58. सनअती तालीम, ''जामिया'', दिल्ली, (1), जनवरी, 1923 ई०
59. इल्मे सियासत और इजतमाई तबाही, ''जामिया'', दिल्ली, 10(34), अक्तूबर, 1935 ई०, पृष्ठ 859-864 (इटली के विख्यात विद्वान मोस्का की रचना ''राजनीति: विद्या के रूप में'' का सारांश।)
60. अलीगढ़, अलीगढ़ मैगज़ीन, अलीगढ़ नम्बर, 1953, पृष्ठ 56
61. अलीगढ़ 1903 के बाद, अलीग, अलीगढ़, 1(9), जनवरी, 1957, पृष्ठ 8 (अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के इतिहास की समस्या)
62. फ़ाशिज़्म, (अनुवादक ज़ाकिर हुसैन), ''जामिया'', दिल्ली, 1(24), 1935, पृष्ठ 865-870 (मसोलिनी के अभिलेख का अनुवाद)
63. क़रार या फ़रार, नई रोशनी, 1(2), 24 जून, 1948 ई०, पृष्ठ 2 (2 अक्तूबर, 1947 ई० को गांधी जी के जन्म दिवस के अवसर पर डाक्टर ज़ाकिर हुसैन के भाषण का विवरण। 1947 ई० के भयंकर हंगामों से भयभीत होकर वतन छोड़ कर जाने वालों को साहस और धैर्य से परिस्थितियों का सामना करने का परामर्श दिया और कहा फ़रार (पलायन) समस्या का समाधान नहीं है।)

64. **क़ौमी तालीम का उद्देश्य**, "जामिया", दिल्ली, सितम्बर, 1935 ई० (काशी विद्यापीठ का दीक्षांत भाषण।)
65. **क़ोमी तालीम और जामिया मिल्लिया इस्लामिया, तालीम व तर्बियत**, खंड (4), अलीगढ़, अक्तूबर, 1928 ई०
66. **कांग्रेसी वज़ारतें**, "जामिया", दिल्ली, सितम्बर, 1937, पृष्ठ 789-793
67. **गांधी जी का रास्ता**, "जामिया", दिल्ली, 56(5), नवम्बर, 1967 ई० (गुजरात विद्यापीठ में दीक्षांत भाषण।)
68. **मज़हब**, तुलूअे इस्लाम, अंक 1, 1936 ई०
69. **मज़हबे इशतराक के बानी**, "जामिया", दिल्ली, 14(3), मार्च, 1930 ई०, पृष्ठ 179-190
70. **मशरिक़ व मग़रिब**, "जामिया", दिल्ली, 8(3), मार्च, 1927 ई०, पृष्ठ 161-172
71. **मआशी दुनिया**, "जामिया", दिल्ली, 44(4), अप्रैल, 1947, पृष्ठ 37-41
72. **मआशी कांफ्रेंस, रूस और सरमायादार ममालिक**, "जामिया", दिल्ली, जुलाई, 1933 ई०
73. **मआशियात**, "जामिया", दिल्ली, 6(4), अप्रैल, 1926 ई०, पृष्ठ 655-667
74. **मआशियाते क़ौमी**, किताब मंज़िल लाहौर, मार्च, 1946 ई०, पृष्ठ 6-7
75. **मकतूबाते जरमनी**, "जामिया", दिल्ली, जनवरी, 1923 ई०
76. **मोज़ा** (अनुवाद), "जामिया", दिल्ली, 36(3), पृष्ठ 280-283 (एक रूसी साहित्यकार की लघु कहानी का अनुवाद जिसमें तत्कालीन रूसी फ़ीताशाही का एक व्यंगात्मक रेखाचित्र प्रस्तुत है। लंदन के न्यु स्टेट्समैन ऐंड नेशन से उद्धृत।)
77. **मौलाना अबुलकलाम आज़ाद**, आजकल, आज़ाद नम्बर, दिल्ली, 1958 ई०
78. **निर्ख़े मबादला**, "जामिया", दिल्ली, 29(3), मार्च 1938, पृष्ठ 235-242 (वारधा शिक्षा योजना पर विभिन्न बुद्धिजीवियों की प्रतिक्रिया का ज़ाकिर साहब का उत्तर।)
79. **हस्पानिया, इलाक़ा सार, मीसाक़े बल्क़ान**, "जामिया", दिल्ली, मई, 1934, पृष्ठ 194-205
80. **हिंद और कशमीर का नाता**, आजकल, देहली, 8(8), दिसम्बर, 1949 ई०, पृष्ठ 2-4
81. **हज़ारसाला जरमन अदब**, "जामिया", दिल्ली, 6(5), मई, 1926 ई०, पृष्ठ 315-323 (जरमन विद्वान डाक्टर मोरेस गोल्ड इस्टाइन के लेख का अनुवाद।)
82. **हिंदुस्तान की मआशते ज़रई**, "जामिया", दिल्ली, 7(1), जुलाई, 1926, पृष्ठ 449-463
83. **हिंदुस्तान क्या है**, (हिंदुस्तान का लेसानी मसला नामक पुस्तक में) संकलनकर्ता, जेड अहमद, नवम्बर, 1940 ई०, पृष्ठ 97-100
84. **हिंद की मुशतरक ज़बान उर्दू**, तहरीक, दिल्ली, अक्तूबर, 1953 ई०
85. **योरप और आने वाली जंग - जरमन, फ्रांस, बरतानिया, बरतानिया में यहूदी**, "जामिया", दिल्ली, 20(5), मई, 1933 ई०, पृष्ठ 80-88
86. **योरप एक दिलचस्प दस्तावेज़**, "जामिया", दिल्ली, 24(7), जुलाई, 1935 ई०, पृष्ठ 543-553

रुक़ैय्या रेहाना के नाम से लिखित डाक्टर ज़ाकिर हुसैन की रचनाएं:

87. **आदमी की कहानी एक सितारे के ज़बानी**, रुक़ैय्या रेहाना (ज़ाकिर हुसैन ख़ां), प्यामे तालीम, दिल्ली, दिसम्बर, 1931 ई०
88. **बाछू**, रुक़ैय्या रेहाना (ज़ाकिर हुसैन ख़ां), प्यामे तालीम, दिल्ली, नवम्बर, 1928 ई०
89. **पनचक्की वाला**, रुक़ैय्या रेहाना (ज़ाकिर हुसैन ख़ां, प्यामे तालीम, दिल्ली, 21 अगस्त, 1928 ई०

90. जोगी, स्क्रैय्या रेहाना (ज़ाकिर हुसैन ख़ां), प्यामे तालीम, नई दिल्ली, मार्च, 1939 ई०

91. सच्ची मुहब्बत, स्क्रैय्या रेहाना (ज़ाकिर हुसैन ख़ां), प्यामे तालीम, नई दिल्ली, सितम्बर, 1937 ई०

92. खोटा सोना (नाटक), स्क्रैय्या रेहाना (ज़ाकिर हुसैन ख़ां), प्यामे तालीम, नई दिल्ली, जनवरी, 1939 ई०

93. महंगे अंडे, स्क्रैय्या रेहाना (ज़ाकिर हुसैन ख़ां), प्यामे तालीम, नई दिल्ली, फ़रवरी, 1930 ई०

प्राक्कथन और व्याख्यात्मक लेख:

1. इमाम ग़ज़ाली, उमर-उद-दीन, 1946 ई० (भूमिका)

2. क़ातेअ बुर्हान, संकलनकर्ता-क़ाज़ी अब्द-उल-वदूद (व्याख्यात्मक लेख), इदारये तहक़ीक़ाते उर्दू, पटना, 1967 ई०

3. तारीख़े मशायख़ चिश्त, ख़लीक़ अहमद निज़ामी (भूमिका), नदवत-उल-मुसन्नफ़ीन, देहली, 1953 ई०

4. तर्जुमानु-उल-कुरान, मौलाना अबुलकलाम आज़ाद (भूमिका), साहित्य अकादमी, देहली, 1964 ई०

5. मेरी याददाश्तें, मार्शल शाह वली खां (भूमिका), लक्ष्मी बुक स्टोर, नई दिल्ली, 1966 ई०

6. नेहरूनामा, सागर निज़ामी (भूमिका), 1967 ई०

7. तालीम और समाज, सईद अंसारी, (परिचय), 1944 ई०

8. तालीम की नई बुनियादें, रुदोल्फ़फ्रेज़र, अनुवादक - शेख़ गुलाम अली, (परिचय), मकतबा जदीद, लाहौर, 1958 ई०

9. हसरत मोहानी, अब्दुल्लाह वली बख़्श क़ादिरी, (प्राक्कथन)

10. फ़िक्रे इंसानी का सफ़रे इरतक़ा, ख़्वाजा गुलाम-उस-सैय्यदैन, (भूमिका)

सहयोगी

1. डॉ. फ़ारूक़ अब्दुल्ला : मुख्यमंत्री जम्मू व कश्मीर, शेरे कश्मीर शेख़ अब्दुल्ला के पुत्र।
2. राम कुमार : प्रसिद्ध चित्रकार, जाने-माने हिन्दी साहित्यकार, भारत और विदेशों में अनेक सोलो व ग्रूप प्रदर्शनी, कुछ पुस्तकों का अंग्रेज़ी में अनुवाद भी हुआ।
3. डॉ. सलामतउल्ला : भूतपूर्व प्राचार्य, टीचर्स कालिज जामिया, कश्मीर यूनिवर्सिटी में प्रोफ़ेसर व अध्यक्ष शिक्षा-विभाग, अनेक अंग्रेज़ी एवं उर्दू पुस्तकों के लेखक जिनमें एजूकेशन इन द सोशल कांटेक्स्ट; एजूकेशन ऑफ़ मुस्लिम इन सेक्युलर इंडिया सम्मिलित हैं।
4. अब्दुल लतीफ़ आज़मी : पत्रकार, अनुवादक, लेखक और सहायक-सम्पादक मासिक पत्रिका 'जामिया'
5. स्वर्गीय ख़लीक़ अहमद निज़ामी (प्रो.): कुलपति अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, पचास से उपर पुस्तकों के लेखक, एक तिहाई किताबें 'विश्व में मुसलमानों के इतिहास' से सम्बन्धित हैं।
6. प्रो. हिरेन्द्रनाथ मुखर्जी : आंध्रा और कलकत्ता यूनिवर्सिटी में इतिहास और राजनीतिशास्त्र के प्रोफ़ेसर, इतिहास, राजनीतिशास्त्र, अंग्रेज़ी और बंगाली साहित्य पर बड़ी संख्या में पुस्तकें लिखीं।
7. प्रो. बिमला प्रसाद : सम्मानार्थ अध्यक्ष, राजेन्द्र प्रसाद अकादमी, नई दिल्ली, एम.पी., जवाहर लाल नेहरू यूनिवर्सिटी में साऊथ एशियन स्टडीज़ के प्रोफ़ेसर, नेपाल में भारत के राजदूत।
8. सैय्यद ग़ुलाम हैदर : बारह पुस्तकों के लेखक, बाल साहित्य के विशेषज्ञ, 'बच्चों के अदबी ट्रस्ट' की नींव रखी।
9. ए.जी. नूरानी : स्तम्भ-लेखक, अनेक ग्रन्थों के रचयिता, जिनमें विशेषकर डॉ. ज़ाकिर हुसैन और बदरूद्दीन तैयब जी हैं।

10. डॉ. मु. इकराम ख़ाँ : शिक्षकों के प्रशिक्षण के विशेषज्ञ, एजूकेशन पर उर्दू में पुस्तकें, एक हिन्दी रचना।

11. डॉ. सैय्यद ज़हूर क़ासिम : नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ़ ओशियनोग्राफ़ी, गुआ के डायरेक्टर, आंटरटिका के पहले अभियान का नेतृत्व किया, अनेक पुस्तकें लिखीं और लगभग ढाई सौ सांइटिफ़िक लेख तैयार किए। जामिआ मिल्लिया इस्लामिया के भूतपूर्व कुलपति, प्लानिंग कमीशन के सदस्य।

12. अब्दुल्ला वली बख़्श क़ादिरी : शिक्षक और शिक्षा-शास्त्री के रूप में जामिया मिल्लिया इस्लामिया से जुड़े रहे। शिक्षाशास्त्र, मनोविज्ञान, बच्चों के साहित्य और उर्दू समालोचना पर पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

13. प्रो. बी. शैख़ अली : इतिहासकार, शिक्षाशास्त्री, बीस के उपर पुस्तकों के लेखक (चार ज़ाकिर हुसैन से सम्बन्धित हैं), मंगलौर और गुआ यूनिवर्सिटी के संस्थापक - कुलपति।

14. ख़ुर्शीद आलम ख़ाँ : भूतपूर्व गवर्नर कर्नाटक, कुलाधिपति जामिया मिल्लिया इस्लामिया, डॉ. ज़ाकिर हुसैन के दामाद।

15. सादिक़ अली : स्वतन्त्रता सेनानी, गाँधी स्मारक संग्रहालय समिति और गाँधी नैशनल मेमोरियल फ़ंड, नई दिल्ली के चेयरमैन, महाराष्ट्र और तमिल नाडू के भूतपूर्व गवर्नर।

16. डॉ. रफ़ीक़ ज़करिया : स्वतन्त्रता सेनानी, बीस वर्ष तक जामिआ उर्दू, अलीगढ़ के कुलाधिपति, अनेक पुस्तकों के लेखक और दर्जनों स्कूल व कालिज के संस्थापक। प्रधानमंत्री के विशेष दूत रहे और यू.एन. में तीन बार भारत का प्रतिनिधित्व किया।

17. राज मोहन गाँधी : रिसर्च प्रोफ़ेसर, सेन्टर फ़ॉर पालिसी रिसर्च, नई दिल्ली, कई किताबें लिखीं।

18. क़ैसर नक़वी : स्वतन्त्रता सेनानी, शिक्षक, डॉ. ज़ाकिर हुसैन के नेतृत्व में जामिया आन्दोलन से सम्बद्ध, इंडियन कॉनसिल फ़ॉर चाइल्ड वेल्फेयर में एक्ज़ेक्युटिव मेम्बर के रूप में कार्य किया। अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में सोशल एजूकेशन ऑफ़िसर के रूप में भी कार्यरत रहे।

19. आले अहमद सुरूर : प्रसिद्ध लेखक, आलोचक, कवि। आलोचनात्मक लेखों, आत्मकथा और साहित्य पर समालोचना, लगभग पन्द्रह पुस्तकों के लेखक, लगभग बीस पुस्तकें सम्पादित कीं।

20. डॉ. चित्रा नायक : मेम्बर (एजूकेशन) प्लानिंग कमीशन, अनौपचारिक प्राथमिक शिक्षा पर रिसर्च।

21. के. नटवर सिंह : राजनयिक, राजनीतिज्ञ, लेखक। इन्दिरा गाँधी मेमोरियल ट्रस्ट के उपाध्यक्ष, नेहरू मेमोरियल फ़ंड के सचिव।

22. प्रो. जगन्नाथ आज़ाद : उर्दू कवि, जम्मू यूनिवर्सिटी में प्रोफ़ेसर, 'ऑल इंडिया अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू,' नई दिल्ली के अध्यक्ष।

23. डॉ. सुशीला नायर : डॉ. ऑफ़ मेडिसिन, रजिस्ट्रार और प्रोफ़ेसर, लेडी हार्डिंग मेडिकल कालिज, नई दिल्ली, अनेक पुस्तकों की लेखिका, महात्मा गाँधी और कस्तूरबा गाँधी से बहुत निकट रहीं। स्टेट और यूनियन मंत्री के रूप में कार्य किया।

24. एल.पी. सिंह : उत्तर-पूर्वी राज्यों और आसाम के भूतपूर्व गवर्नर, नेपाल में राजदूत।

25. प्रो. सद्दीक़ुर्रहमान क़िदवाई : उर्दू प्रोफ़ेसर, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, भूतपूर्व संकायाध्यक्ष स्कूल ऑफ़ लैगुंएजेज़, भूतपूर्व चेयरमैन सेन्टर ऑफ़ इंडियन लैगुंएजेज़, उर्दू रचना, मास्टर रामचन्द्र, लेखों का संग्रह 'तास्सुर न कि तनक़ीद'।

26. चंचल सरकार : पत्रकार, प्रेस इंस्टीटयुट ऑफ़ इंडिया के भूतपूर्व डायरेक्टर।

27. मो. युनुस : स्वतन्त्रता आन्दोलन के सीनियर नेता, बादशाह ख़ान के आत्मिक वारिस, ख़ुदाई ख़िदमतगार आन्दोलन से जुड़े रहे, अनेक रचनाओं के रचयिता।

28. अब्दुलसत्तार : जामिआ के कार्यकत्ता, नाटककार, स्टेज कलाकार। 1968 ई. में पहला नाटक "ये दिल्ली है" की रचना की, निर्देशन किया और स्टेज भी किया। जामिआ के शैक्षिक समारोहों के अवसर पर दस अन्य नाटक स्टेज किये और निर्देशन भी किया।